समाजशास्त्र
(SOCIOLOGY)

वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा

पंचशील प्रकाशन, जयपुर

प्रकाशक :
पंचशील प्रकाशन
फिल्म कॉलोनी, चौड़ा रास्ता,
जयपुर-302 003

संस्करण : प्रथम, 1999

मूल्य : तीन सौ रुपये मात्र

शब्द-संयोजक :
गीतांजलि कम्प्यूटर्स
19, दादू मार्ग, हरियाणा कॉलोनी,
टोंक फाटक, जयपुर

मुद्रक :
शीतल प्रिन्टर्स
फिल्म कॉलोनी, चौड़ा रास्ता,
जयपुर-302 003

आमुख

प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय समाज और भारतीय समाज में परिवर्तन और विकास का समाजशास्त्रीय विवेचन किया गया है। यह पुस्तक पाठकों को भारतीय समाज को निकट से समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के अनुसार परिचित करवाने का अवसर प्रदान करती है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए पुस्तक को दो खण्डों में विभाजित किया गया है। प्रथम खण्ड भारतीय समाज, संस्कृति, विवाह, परिवार, नगरीय एवं जनजातीय समुदाय तथा भारतीय नारी की सामाजिक प्रस्थिति से परिचित कराता है। साथ ही भारतीय समाज की अनुसूचित जातियों, जनजातियों और पिछड़े वर्गों की समस्याओं से भी अवगत कराती है। द्वितीय खण्ड भारतीय समाज के परिवर्तन और विकास की ओर भी सभी का ध्यान आकृष्ट करता है। यह खण्ड पाठकों को भारतीय सामाजिक-धार्मिक और राष्ट्रीय आन्दोलनों के समाजशास्त्रीय-सप्रत्ययो से अवगत कराता है। इस खण्ड मे स्वातन्त्र्योत्तर भारत के विकास की सम्भावनाओ जैसे पचायती राज, पंचवर्षीय योजनाएँ, एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम आदि की सविस्तार विवेचना की गई है, जिससे पाठक भारत में हो रहे विकास कार्यों का सही आकलन कर सके। अपने अधिकार और कर्त्तव्यों की जानकारी हेतु विवाह, परिवार और जाति से सम्बन्धित विधानो का भी यथास्थान वर्णन किया गया है।

पुस्तक के प्रस्तुतीकरण में जिन समाजविदों की कृतियो का सहयोग लिया गया है, उनके प्रति लेखक आभार प्रकट करता है। पुस्तक के यथाशक्ति एव आकर्षक प्रकाशन के लिए श्री मूलचन्द गुप्ता धन्यवाद के पात्र हैं, जिनके सहयोग और अमूल्य सुझावो के बिना पुस्तक इस रूप को प्राप्त करने में सक्षम नहीं हो पाती।

वास्तव में पुस्तक के सही आकलनकर्ता सुविज्ञ पाठकजन हैं। पुस्तक की अधिकाधिक उपादेयता से ही लेखक के श्रम को सफलता प्राप्त होगी। पुस्तके के उत्तरोत्तर विकास के लिए सामाजिक विज्ञानो के विद्वानो, विद्यार्थियो और रुचिशील पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

अध्याय - 1

भारतीय समाज एवं संस्कृति : एकता और विविधता

(Indian Society and Culture : Unity and Diversity)

भारतवर्ष एक विविधतामय समाज है। यहाँ अनेक धर्म, भाषा, संस्कृति और प्रजाति के लोग निवास करते है। जलवायु व जनसंख्या के आधार पर लोगों में अनेक भिन्नताएँ मिलती हैं। यहाँ हिन्दू, बौद्ध, जैन, ईसाई, इस्लाम और सिक्ख आदि धर्मों के लोग रहते हैं। इनमें भी अनेक विविधताएँ भाषा, जनसंख्या, प्रजाति और संस्कृति की दृष्टि से दृष्टिगोचर होती हैं। आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी भारत के विभिन्न भागों में विषमताएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं, किंतु इन विविधताओं के उपरांत भी विभिन्न जातियो, प्रजातियों और समुदायों में राष्ट्रीय एकता के साक्षात् दर्शन होते हैं। वास्तव में भारत एक संगठित इकाई है जहाँ की संस्कृति न केवल भारतवर्ष मे अनुजीवित है अपितु बाहर भी, जैसे— साइबेरिया से सिंहल तक, ईरान तथा अफगानिस्तान से प्रशान्त महासागर के बोर्नियो बाली के द्वीपों तक के विशाल भूभाग पर अपनी अमिट छाप छोड़े हुए है।

भौगोलिक दृष्टि से भी भारत बहुआयामी देश है। भारत के उत्तर में हिमालय, दक्षिण में पठार व समुद्रतट, पश्चिम मे थार का रेगिस्तान, पूर्व में पहाड़ी भाग और मध्य मे मैदानी भाग वहाँ के लोगो के रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाजों व सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था में विविधता दर्शाते है। भारतीय संस्कृति की अनेक विशेषताएँ हैं जिनके कारण वह मानव-समाज की अमूल्य और अमर निधि है। इन अनेक विशेषताओं और विविधताओं के उपरात भी भारत एक संगठित राष्ट्र है। भारत का एक संविधान है जिसमें विभिन्न धर्मों, सम्कृतियों, भाषाओं और क्षेत्रों के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान सुरक्षित हैं, उनके हितों का ध्यान रखा जाता है। यह सब भारत की 'अनेकता मे एकता' की कहावत को चरितार्थ करते हैं।

भारत की भौगोलिक स्थिति

भारत जैसे विशाल, बहुआयामी देश को जानने के लिए उसकी भौगोलिक स्थिति और पर्यावरण को जानना आवश्यक है जिससे भारत की उन सांस्कृतिक विभिन्नताओ को समझा जा सके जो उसके धर्म, दर्शन, सभ्यता, संस्कृति आदि को प्रभावित करती है।

हिमालय से हिन्द महासागर तक विस्तृत इस उपमहाद्वीप को भारत क्यों कहा जाता है, इसका भी एक इतिहास है। पौराणिक मान्यताओं के अनुसार राजा दुष्यंत के पुत्र का नाम भरत था। इस न

चक्रवर्ती राजा बनकर अनेक राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। उसी के नाम पर इस देश का 'भारत' नाम पडा। कुछ विद्वानो के अनुसार भारत की महा-नदी **'सिंधु'** से **'भारत'** नाम की उत्पत्ति हुई है। कुछ के मतानुसार **'भारतखण्ड'** नाम से ही यह विख्यात है। कुछ विद्वानो के मतानुसार भारत को **'जम्बूद्वीप'** कहा जाता था जो कि सात द्वीपों में से एक था। आज भी पंडित लोग अपने मंत्रो मे **'जम्बूदीपे,आर्यावर्ते, भारतखण्डे...........'** जैसा सम्बोधन करते सुनाई पडते हैं।

यद्यपि भारत मे अनेक प्रकार के भूखण्ड, जलवायु, जीवजन्तु व वनस्पतियाँ आदि हैं, तदोपरांत भी प्रकृति ने इसे एकीकृत देश बनाया है। इसके उत्तर मे दुर्गम हिमालय एवं दक्षिण मे समुद्र की जल सीमा इसे घेरे हुए है। प्रकृति ने इसे एक भौगोलिक इकाई बनाया है, जो देश के आन्तरिक विभाजन को आच्छादित कर देती है। इसी कारण जो भौगोलिक अनेकरूपता दिखाई देती है, उसमे एक ऐसी मौलिक एकरूपता समाहित है जिसके द्वारा हिमालय से कन्याकुमारी तक का भारतीय जीवन एकता के सूत्र में पिरोया हुआ है। स्मिथ जैसे महान इतिहासकार ने भी यह स्वीकार किया, **''भारत निःसंदेह एक स्वतंत्र भौगोलिक इकाई है, जिसका एक नाम होना सर्वथा ठीक है।''** हमारे प्राचीन महाकाव्यो मे सम्पूर्ण देश का नामकरण **'भारतवर्ष'** ही किया गया है। विष्णुपुराण मे स्पष्टतया लिखा गया है कि समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण का सारा प्रदेश **'भारत'** है और उसके निवासी भारत की सन्तान है।

भारत की विशालता का परिचय इससे भी होता है कि दक्षिण से उत्तर तक यह एक विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ है और पूरे क्षेत्र मे हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, जैन, ईसाई और अन्य धर्मानुयायी रहते है। ये अनुयायी शहर, गाँव, कस्बो आदि मे साथ-साथ रहते है, सामाजिक और सास्कृतिक अवसरों पर परस्पर मिलते है और एक-दूसरे की सस्कृति से परिचित होते हैं। यही नही, प्रशासनिक और सवैधानिक व्यवस्थानुसार भी वे इस एकता को अक्षुण्ण बनाए हुए है।

भौगोलिक दृष्टि से भारत को पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) उत्तर का पर्वतीय प्रदेश, (2) गगा-सिन्धु का मैदान, (3) दक्षिण का पठार, (4) राजस्थान का मरुस्थल और (5) समुद्र का तटीय मैदान।

(1) उत्तर का पर्वतीय प्रदेश— उत्तर मे काश्मीर से नेफा तक हिमालय पर्वतमालाएँ फैली हुई है। इन पर्वतमालाओं पर अनेक महात्मा तपस्या करते है। कैलाश पर्वत एव मानसरोवर झील सर्वोत्तम पुण्य भूमि है। बद्रीनाथ, केदारनाथ और ऋषिकेश यहाँ के प्रमुख तीर्थस्थल है जहाँ हजारो श्रद्धालु प्रतिवर्ष दर्शनार्थ जाते है। अल्मोडा, नैनीताल, दार्जीलिग व मसूरी आदि भारत के दर्शनीय स्थल है। ऊँचाई पर स्थित होने के कारण ये स्थान बर्फ से आच्छादित रहते हैं, इस कारण ग्रीष्म ऋतु में ये पर्यटको को आकर्षित करते रहते है। हिमालय को गगा, सिन्धु और ब्रह्मपुत्र नदियो का जन्मस्थल माना जाता है। इस क्षेत्र मे अनेक जडी-बूटियाँ व विभिन्न खाद्य-पदार्थ प्रचुर मात्रा मे पाए जाते है। अनेक जनजातियाँ— नागा, मारो, मिकर व अवोट आदि इन क्षेत्रो मे निवास करती है।

(2) गगा-सिन्धु का मैदान— हिमालय से लेकर दक्षिणी पठार के बीच के मैदानी भाग मे गगा, ब्रह्मपुत्र, सिन्धु और सतलज नदियाँ बहती है, जिसके कारण यह भाग अत्यधिक उपज वाला है। यहाँ पर्याप्त खेती होती है। यमुना, चम्बल, नर्मदा और सोन नदियाँ भी बहुत महत्वपूर्ण है। दक्षिण के राज्यो मे कुछ नदियाँ— कृष्णा, कावेरी, गोदावरी और पेरियार बहती हैं, जिन्होने कृषि की उत्पादकता को बहुत बढाया है। अत्यधिक उपज वाला प्रदेश होने के कारण ही बाह्य आक्रमणकारी यहाँ आने के लिए सदैव उत्कठित रहे। इस क्षेत्र को बाह्य एव आन्तरिक सभ्यता और संस्कृति का

संगम-स्थल कहा जा सकता है क्योंकि यहाँ अनेक वैभवशाली साम्राज्य उत्पन्न हुए, बड़े-बड़े नगर बने और देश की जनसंख्या का बडा भाग यहाँ निवास करता है। हरिद्वार, प्रयाग व वाराणसी जैसे धार्मिक तीर्थ स्थान इसी क्षेत्र में स्थित हैं।

(3) दक्षिण का पठार— भारत का दक्षिणी भाग तीन ओर से समुद्र से घिरा हुआ है। भारतीय प्रायद्वीप एक पठारी प्रदेश है, समुद्र तट पर स्थित होने के कारण यहाँ प्रकृति ने अनेक साधन बिखेर दिए हैं। यह भाग अनेक बहुमूल्य धातुओं मे परिपूर्ण है। इस प्रदेश मे अनेक घने जंगल है, जिनमें विश्व की प्राचीनतम जनजातियाँ— चेंचू, ईरूला व कदाई आदि निवास करती है। नायर और टोडा जनजातियाँ भी इसी क्षेत्र की है। इस क्षेत्र मे द्रविड सभ्यता का प्राधान्य है क्योंकि मूल द्रविडों का यही मूल स्थान था। मराठा लोगो की भी यही कर्मभूमि रही है। कपास यहाँ की मुख्य उपज है।

(4) राजस्थान का मरुस्थल— पश्चिम मे अरावली पर्वतमाला सबसे प्राचीन है। गगा की घाटी के पश्चिम की ओर का शुष्क रेतीला भाग 'थार का मरुस्थल' कहलाता है। वर्षा और जल के अभाव के कारण यहाँ खेती बहुत कम होती है। राजस्थान की प्रसिद्ध नदी 'बनास' है। जयपुर जिले मे प्रसिद्ध नमक की झील— 'साँभर' मे है। विंध्याचल का पहाडी क्षेत्र उत्तर और दक्षिण के बीच की कडी माना जाता है। राजपूत राजाओ द्वारा शासित यह प्रदेश अपनी आन-बान-शान और बलिदानो के लिए प्रसिद्ध रहा है। यहाँ जौहर, सती-प्रथा ने इतिहास में प्रसिद्धि पाई। यहाँ का खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा और भाषा अपनी विशेषता लिए हुए है।

(5) समुद्र-तटीय मैदान— दक्षिणी पठारी प्रदेश के पूर्व और पश्चिम में समुद्र तटीय मैदान स्थित है। इस पश्चिमी तटीय भाग को कोंकण और मालाबार कहा जाता है। पूर्वी मैदानी भाग को तमिलनाडु और आंध्र-उडीसा तट कहा जाता है। इन तटीय प्रदेशों में बम्बई, सूरत, कालीकट, कोचीन, गोआ, मद्रास और विशाखापट्टनम आदि बन्दरगाह स्थित है। जहाँ से भारत के व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध बर्मा, श्याम, जावा, सुमात्रा, अरब, ईरान और फारस की खाड़ी आदि देशों से बने हुए हैं। हिन्दुओं का पवित्रतम तीर्थस्थल रामेश्वरम् भी यहीं स्थित है। यहाँ हजारों श्रद्धालु प्रतिवर्ष दर्शनार्थ आते हैं।

भारतीय समाज में विभिन्नता

भारतीय समाज और उसकी संस्कृति विश्व की संस्कृतियो में अपना अक्षुण्ण स्थान बनाए हुए है, इसका प्रमुख कारण इसकी सांस्कृतिक परम्परा कही जा सकती है। धर्म, कर्म, जातीयता, वर्ण-व्यवस्था, सहिष्णुता, आनुकूल्यन की विशेषता, आध्यात्मिकता व ग्रहणशीलता आदि अनेक विशेषताओ के कारण यह समाज विदेशी व बाह्य संस्कृतियो का आकर्षण का केन्द्र रहा है। संयुक्त परिवार, जातिगत मूल्य कर्म और धर्म की प्रधानता आज भी हमारा मार्गदर्शन कर रही है। आत्मसात् और सात्मीकरण की विशेषता के कारण ही हिन्दू और मुसलमान साथ-साथ रहते है। आज हिन्दू, मुसलमान, सिख, बौद्ध, जैन और ईसाई आदि धर्मो के अनुयायी भारत की संवैधानिक-व्यवस्था, शासनतंत्र और अन्य सार्वजनिक जीवन मे सहभागिता के साथ जीवन-यापन कर रहे है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि इन विशेषताओ के परिणामस्वरूप ही भारतीय समाज और संस्कृति मे निरन्तर एकता पाई जाती है।

इन विशेषताओ के साथ ही भारत को विविधतायुक्त समाज कहा जा सकता है। यहाँ अनेक जातियो-प्रजातियों के लोग साथ-साथ रहते हैं, जिनमे उच्चता-निम्नता का संस्तरण पाया जाता है। भारत मे अनेक भाषाएं प्रचलित हैं, अनेक धर्मानुयायी यहाँ रहते है जिनके मन्दिर, मस्जिद,

गुरुद्वारे और चर्च आदि यहाँ स्थित हैं। भौगोलिक दृष्टि से भी यहाँ पर्याप्त विविधता दिखाई देती है। रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा व आचार-व्यवहार में भी अनेकानेक भिन्नताएँ लोगों में मिलती हैं। नीचे भारत में व्याप्त विभिन्नताओं पर प्रकाश डाला जाएगा।

1. संजातीयता अथवा नृजातिकी— संजातीयता अथवा नृजातिकी समूह को किसी समाज की जनसंख्या के एक भाग के रूप में समझा जा सकता है, जिसकी भाषा, धर्म, संस्कृति एवं प्रथा आदि किसी दूसरे समूह से अलग हों अथवा संजातीयता लोगों का वह समूह होता है जिसके सदस्यों की भाषा, धर्म, प्रजाति, वेश-भूषा, खान-पान, व रहन-सहन आदि समान हों। इन समस्त लक्षणों में से केवल कुछ ही लक्षण किसी समूह में पाए जाने पर उसे एक **'संजाति-समूह'** की संज्ञा दी जा सकती है।

यदि किसी समाज के कुछ सदस्यों के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक **हितों की अभिव्यक्ति** और उसका संरक्षण होता हो तो उसे भी **संजातीयता** के अन्तर्गत लिया जा सकता है। उसी भाँति जब कोई समूह समाज में किसी विशिष्ट स्थिति और मान्यता को प्राप्त करने का प्रयास करता है तो उसे **संजातीय-चेतना** के नाम से अभिहित किया जा सकता है। एक संजातीय समूह की अपनी एक संस्कृति होती है अत संजातीयता को एक **सांस्कृतिक-तथ्य** के रूप में भी लिया जा सकता है इससे यह अर्थ भी निकलता है कि संजातीयता एक **सांस्कृतिक समूह** भी है।

कभी-कभी संजातीयता— सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी प्रयुक्त होती है। इस रूप मे यह **'उद्देश्य प्राप्ति का एक साधन'** भी मानी जा सकती है। इससे यह अर्थ निकलता है कि संजातीयता को समूह के रूप मे, हितों की अभिव्यक्ति के रूप मे, उद्देश्यों की प्राप्ति के रूप में और सांस्कृतिक-समूह या तथ्य के रूप में देखा जा सकता है।

एक संजातीय समूह के लोग परस्पर प्रेम, सहयोग और संगठन की भावना से रहते हैं और दूसरे संजातीय समूह से स्वय को श्रेष्ठ बताते हैं। उनमे अहं की भावना पाई जाती है इसलिए वे अपनी वेश-भूषा, भाषा, रहन-सहन, सस्कृति, रीति-रिवाजो और सस्कारों आदि को दूसरे से श्रेयस्कर मानते है जिसे **'संजातीय केन्द्रित प्रवृत्ति'** कहा जाता है। सजातीयता के आधार पर एक शक्तिशाली समूह दूसरे कमजोर सजातीय-समूह का शोषण करता है, भेदभाव का व्यवहार करता है तो समाज में असमानता, संघर्ष व तनाव का वातावरण बनता है। भारत मे समय-समय पर भाषा, धर्म, सम्प्रदाय आदि के आधार पर अनेक झगड़े हुए है।

कभी सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए संजातीय-समूह एक हो जाते है और दूसरे समूह के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार करते है। इसी भाँति एक भाषा-भाषी समूह दूसरे भाषा-भाषी समूह से असमानता का व्यवहार करते है। परिणामस्वरूप आन्दोलन होते है। ग्राम और नगर के आधार पर भी संजातीय समूहों में परस्पर टकराव हो जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सजातीयता लोगो में प्रेम, सहयोग और संगठन को बढ़ावा देती है और साथ ही दूसरे समूह के साथ भेदभाव की भावना को भी जन्म देती है। आज समाज मे भाषा, राज्य और ग्राम, नगर आदि तत्वो को लेकर अनेक आन्दोलन हो रहे हैं।

2. धार्मिक विभिन्नताएं— अनेक शताब्दियो से 'धर्म' भारत का मूल आदर्श रहा है। सभी जाति, वर्ग के लोग किसी न किसी धर्म को मानते है और अपने जीवन मे उन धार्मिक आदेशो की पालना करते है। भारत विविध सांस्कृतिक मान्यताओ का देश है अत यहाँ पर धर्मों की भी विविधता पाई जाती है। मुख्यरूप से हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिख, बौद्ध और जैन— ये छ धर्म भारत के

प्रमुख धर्म है। इन धर्मों के अंतर्गत भी अनेक मत-मतान्तर और समुदाय मिलते है, यथा— हिन्दू धर्म में वैष्णव, शाक्त व शैव, आदि मत वाले मिलते है; इस्लाम में शिया और सुन्नी; ईसाइयों में प्रोटेस्टेण्ट और कैथोलिक; सिखो में अकाली और गैर-अकाली; बौद्ध धर्म में हीनयान और महायान और जैनों में श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय प्रचलित हैं। इस प्रकार धर्मों की दृष्टि से भारत मे बहुलता पाई जाती है। सन् 1991 की जनगणना के अनुसार भारतवर्ष में विभिन्न धर्मों को मानने वाले व्यक्तियो का प्रतिशत निम्नलिखित प्रकार है—

क्रम सं.	धर्म	कुल जनसंख्या	कुल जनसंख्या का प्रतिशत
1.	हिन्दू	69.74 करोड़	82.63
2.	इस्लाम	9.58 करोड	11.35
3.	ईसाई	2.05 करोड	2 43
4.	सिक्ख	1.65 करोड	1.96
5.	बौद्ध	0 59 करोड	0.71
6.	जैन	0.41 करोड	0.48
7.	पारसी एव अन्य	0.35 करोड	0.43

उपर्युक्त तालिका के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू धर्म को मानने वाले लोगो की संख्या अन्य धर्मों को मानने वालों की तुलना मे अत्यधिक है। हिन्दू धर्म मे अनेक देवी-देवताओं की आराधना, धार्मिक उत्सव, दान, यज्ञ, व्रत व तीर्थ-यात्रा आदि का विशेष महत्त्व है। अन्य धर्मों के अनुयायी अल्प मात्रा मे हैं किन्तु सभी धर्मों को आदर की दृष्टि से देखा जाता है जिससे राष्ट्रीय एकता विच्छिन्न होने से बची हुई है। किन्तु कभी-कभी धर्म भी विघटनकारी भूमिका निभाता है। कुछ संस्थान आदि विशिष्ट धर्मों के लिए ही कार्य करते है जो कभी-कभी एकता मे बाधक होते है।

3. भाषा सम्बन्धी विभिन्नताएँ— विचाराभिव्यक्ति का सबसे सशक्त साधन भाषा है। भाषा के ही माध्यम से विचारों का आदान-प्रदान एक पीढी से दूसरी पीढी को व्यक्तियो द्वारा किया जाता है। भारत में अनेक भाषा-भाषी लोग रहते है। यहाँ 189 भाषाएँ तथा 544 बोलियाँ प्रचलित हैं। भारतीय सविधान द्वारा स्वीकृत 15 भाषाएँ— हिन्दी, सस्कृत, उर्दू, सिन्धी, बगाली, कश्मीरी, तमिल, तेलगू, कन्नड, मलयालम, मराठी, गुजराती, पजाबी, उडिया और असमी हैं जिनमें प्रत्येक की अपनी-अपनी लिपि है। इसके अतिरिक्त अनेक भाषाएँ, जैसे— भोजपुरी, मैथिली, मालवी, राजस्थानी आदि भाषाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। भाषाओ के कारण अनेक प्रकार की सांस्कृतिक विभिन्नताएँ देखने को मिलती हैं जिनमें एक क्षेत्र के लोगों का दूसरे क्षेत्र के लोगों से तनाव व संघर्ष बना रहता है और यह सघर्ष राष्ट्रीय एकता में भी महत्त्वपूर्ण बाधक तत्त्व का कार्य करता है।

4. क्षेत्रीय विभिन्नताएँ— भारत मे क्षेत्र विशेष के कारण व्यक्तियों के रहन-सहन, वेशभूषा, खान-पान मे अंतर आ जाता है। क्षेत्रीय विभिन्नताओं के परिणामस्वरूप सामाजिक व्यवस्था मे भी परिवर्तन आ जाता है। उदाहरण के लिए भारत के उत्तर मे पहाड हैं, दक्षिण मे समुद्री तट है, पश्चिम में एक ओर गगा-जमुना का उपजाऊ मैदान है और दूसरी ओर पहाडी, पठारी व जंगली प्रदेश है जहाँ लोगो को आजीविका के लिए भी कठिन प्रयास करना पडता है।

इसी प्रकार कहीं पर विलासिता व सुख-वैभवमय जीवन है तो कहीं अभावपूर्ण जिन्दगी है; कहीं कृषि, पशुपालन पर जोर है, तो कहीं बड़े-बड़े कल-कारखाने जीवन की व्यस्तता को बता रहे है। कहीं-कहीं आज भी आदिम, जंगली व अभावमय जीवन व्यतीत करने के लिए लोग बाध्य हैं। इस प्रकार अनेक क्षेत्रों में रहने वाले लोगों का जीवन वैविध्यपूर्ण है जो भारतीय समाज व संस्कृति की विविधता को स्पष्ट करता है।

5. सांस्कृतिक विभिन्नताएँ— भारत विभिन्न संस्कृतियों वाला देश कहा जाता है। ये सांस्कृतिक विभिन्नताएँ वेश-भूषा, खान-पान, रहन-सहन, संगीत, नृत्य, लोक-गीत, विवाह-प्रणाली, जीवन-संस्कार आदि अनेक क्षेत्रों में दिखाई देती हैं। प्रत्येक क्षेत्र विशेष में रहने वाले लोगो की अपनी-अपनी प्रथाएँ, रुचियाँ, इच्छाएँ, आदि हैं जिनके कारण उनमें अनेक अन्तर स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं, जैसे— हिन्दू और मुसलमानों की वेशभूषा, खान-पान, विवाह-प्रणाली आदि में पर्याप्त अंतर है। शाकाहारी व मांसाहारी, लोगों की रुचियों मे अन्तर उनकी संस्कृति को प्रभावित करता है।

इसी प्रकार संगीत, कला, नृत्य आदि के क्षेत्र में विभिन्नताएँ मिलती है। चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला के विविध रूप दिखाई देते है, जैसे— मन्दिर, मस्जिद, चर्चों तथा स्तूपों की कला की भिन्नता उनसे सम्बन्धित धर्मों की संस्कृति को स्पष्ट करती है। लोगों के व्यवहार, नैतिकता, विश्वास, रीति-रिवाज, वैवाहिक तरीके व निषेध आदि मे भी अत्यधिक विभिन्नता देखने को मिलती है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृतियाँ किस रूप में भिन्नता लिए हुए है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत मे अनेक संस्कृतियाँ है और सभी की अपनी एक विशेषता है जो उसे अन्य संस्कृतियो से भिन्न करती है।

6. प्रजातीय विभिन्नताएँ— भारतवर्ष मे अनेक प्रजातियाँ हैं— द्रविड़ और आर्य प्रजाति के लोग यहाँ अधिक मात्रा मे है लेकिन इनके अतिरिक्त मगोलायड, ग्रीक, शक, हूण, कुषाण, यवन आदि प्रजातियो के लोग आक्रमणकारियों के रूप मे भारत में आए और धीरे-धीरे भारतीय समाज के एक अंग बनकर यहाँ रह गए। इन प्रजातियो के परस्पर विवाह-सम्बन्ध आदि के कारण प्रजातियो का मिश्रण स्पष्ट दिखाई देता है। काकेशायड, मगोलायड, नीग्रोयड के शारीरिक लक्षण यहाँ की जनसख्या मे भी देखे जा सकते है, जैसे— पहाड़ी प्रदेश में रहने वाले लोग मंगोल प्रजाति के लोगों के समान शारीरिक विशेषताएँ रखते है तो कुछ लोग नीग्रो प्रजाति के समान काले घुंघराले बालो वाले पाए जाते है। इसीलिए कहा गया है कि "भारत प्रजातियों का एक अजायबघर है।"

7. जनसंख्यात्मक विभिन्नताएँ— भारतीय समाज व संस्कृति मे जनसख्या की दृष्टि से अनेक वैभिन्य दिखाई देते हैं— सन् 1901 मे भारत की जनसख्या 23 करोड से कुछ अधिक थी- सन् 1981 मे यह बढ़कर 68.52 करोड हो गई तथा 1991 में यह जनसख्या 84 63 करोड़ थी और वर्तमान मे यह बढकर 89 करोड़ हो गई है। इससे स्पष्ट होता है कि जनसख्या भारत में कितनी तीव्र गति से बढ़ रही है। इतनी विस्तृत जनसंख्या मे अनेक प्रकार की भिन्नताएँ होना स्वाभाविक है। आधुनिकता व प्राचीन आदिम अवस्था, नगरीय व ग्रामीण सभी प्रकार का जीवन एक समय मे लोगों द्वारा व्यतीत किया जा रहा है। जनसंख्या के साथ-साथ जनसख्या घनत्व मे भी भिन्नता दिखाई देती है। जैसे देश के किसी भाग मे जनसख्या का घनत्व अधिक है तो किसी भाग में कम। सम्पूर्ण देश की दृष्टि से जनसंख्या का घनत्व 267 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर है। जनसंख्या मे स्त्री और पुरुष के अनुपात मे भी अलग-अलग क्षेत्रो मे भिन्नता मिलती है। देश की 1991 की जनगणना के अनुसार 43 923 करोड़ पुरुष और 40 707 करोड़ स्त्रियाँ है अर्थात् जनसंख्या मे पुरुषों की तुलना मे स्त्रियों का अनुपात

कम है। ग्रामीण जनसंख्या की तुलना में नगरीय जनसंख्या का प्रतिशत कम है। इसी तरह साक्षरता का अनुपात भी निरक्षरता की तुलना में बहुत कम है। कुल जनसंख्या में 52.21 प्रतिशत साक्षरता है। इस प्रकार जनसंख्या की दृष्टि से संख्यात्मक एवं गुणात्मक दोनों ही प्रकार के परिवर्तन निरन्तर हो रहे हैं— निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारतीय समाज में जनसंख्या की दृष्टि से पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगोचर होती है।

8. जलवायु सम्बन्धी विभिन्नताएँ— जलवायु की दृष्टि से भी भारत में अनेक विभिन्नताएँ मिलती हैं जो संस्कृति को भी प्रभावित करती हैं। भौगोलिक दृष्टि से भारत देश को पाँच बड़े प्राकृतिक खण्डों में विभाजित किया गया है— (1) उत्तर का पर्वतीय प्रदेश, (2) उत्तरी भारत का बड़ा मैदान, (3) दक्षिण का पठारी प्रदेश, (4) राजस्थान का मरुस्थल, एवं (5) समुद्री तटीय मैदान। इन खण्डों में जलवायु सम्बन्धी भिन्नता स्पष्ट दिखाई देती है। जैसे पहाड़ी क्षेत्रों में प्रायः ठंड अधिक रहती है तो रेगिस्तानी प्रदेशों में गर्मी की मात्रा अधिक रहती है, कहीं पर अधिकांश समय वर्षा होती रहती है, तो कहीं-कहीं पर कभी-कभी ही थोड़ी-सी मात्रा में वर्षा हो पाती है। समुद्री तटों पर मौसम में प्रायः कोई विशेष परिवर्तन दिखाई नहीं देता तो मैदानी प्रदेशों में ऋतु परिवर्तन के साथ-साथ तापमान में भी परिवर्तन हो जाता है। इस तरह जलवायु सम्बन्धी भिन्नता के कारण रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा आदि में अन्तर आ जाता है *जिससे संस्कृति भी प्रभावित हो जाती है। अतः यह कहा जा सकता है कि जलवायु सम्बन्धी भिन्नताएँ भारतीय समाज व संस्कृति में विविधता व भिन्नता लाने के* लिए उत्तरदायी है।

9. जातीय विभिन्नता— भारतीय समाज में जाति के आधार पर भी विभिन्नता के दर्शन होते हैं। *भारत में अनुमानतः तीन हजार जातीय समूह हैं जिनके निश्चित व्यवसाय, खान-पान, रीति-रिवाज और वैवाहिक सम्बन्ध आदि होते हैं। विभिन्न जातियों में परस्पर उच्चता और निम्नता के* आधार पर एक प्रकार का संस्तरण भी पाया जाता है जिसके आधार पर वे एक-दूसरे को नीचा या ऊँचा मानती हैं। उनमें छुआछूत की भावना भी पाई जाती है। इसके उपरान्त भी सभी जातियाँ अपने-अपने कर्त्तव्यों को ही अपना धर्म मानकर उनकी परिपालना करती हैं और अन्य जातियों के साथ अपने सम्पर्क बनाए रखती हैं। ग्रामीण व्यवस्था में सभी जातियाँ, जैसे— कुम्हार, बढ़ई, नाई, धोबी, किसान और पंडित— एक-दूसरे के साथ सम्बन्धित रहकर सहयोग से जीवन-यापन करते हैं। उनमें विविधता में एकता के साक्षात् दर्शन होते हैं। इस प्रकार विभिन्न जातियों के होते हुए भी समाज में संगठन बना हुआ है।

10. जनजातीय भिन्नता— सन् 1991 की जनगणना के आधार पर भारतवर्ष में 6.78 करोड़ जनजातीय लोग रहते हैं। ये जनजातीय समूह अपनी-अपनी संस्कृति का निर्वाह करते हुए जीवन जीते हैं। कुछ जनजातियाँ आदिम अवस्था में ही रहती हैं जबकि कुछ ने आधुनिक सुख-साधनों को थोड़ा- बहुत अपनाया है। मध्य प्रदेश में इन जातीय लोगों का प्रतिशत सर्वाधिक है, वैसे देश के *सभी भागों, जैसे— उड़ीसा, बिहार, गुजरात, राजस्थान, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश और असम आदि में ये लोग निवास करते हैं।* इन जनजातियों में व्यवसाय, खान-पान, रहन-सहन, वैवाहिक- सम्बन्ध और रीति-रिवाजों में अनेक भिन्नताएँ मिलती हैं— कुछ जनजातियाँ कृषि-कार्य करती हैं, तो कुछ पशुपालन, शिकार, फल-फूल एकत्र करने आदि के कार्य करती हैं। इस प्रकार अनेक जनजातीय-लोग अपनी-अपनी संस्कृति का निर्वाह करते हुए परस्पर समूहों में रहते हैं। इनमें अनेकता में एकता के दर्शन होते हैं।

11. अभिजात एवं जनसाधारण– भारतवर्ष में दो वर्ग– अभिजात और जनसाधारण– देखे जा सकते है, जिनके बीच बहुत बड़ा अन्तर मिलता है। जनसाधारण स्वदेशी संस्कृति का पोषक, सामान्य शिक्षा प्राप्त और परम्परावादी भारतीय शैली को अपनाने वाले होते हैं, जबकि अभिजात वर्ग उच्च शिक्षा प्राप्त विदेशी व अत्याधुनिक सस्कृति वाले व उच्च व्यवसाय वाले होते है। भारत मे शिक्षितों का प्रतिशत 52.21 है, जो कम ही है अत अन्य देशों की तुलना मे यहाँ जनसाधारण वर्ग का प्रतिशत ऊँचा और अभिजात वर्ग का प्रतिशत निम्न है। इन दोनों की परम्पराओ, व्यवहारो आदि में बहुत अन्तर होता है। इन दोनों के मध्य संचार भी कम ही पाया जाता है, दोनों की जीवन-शैली मे बहुत अन्तर होता है। भारतीय समाज में विदिधता के दर्शन इन दोनों वर्गों की भाषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज, सस्कृति और शिक्षा आदि द्वारा किए जा सकते हैं।

भारतीय समाज तथा संस्कृति में विविधता में एकता

भारतीय समाज एवं संस्कृति के अन्तर्गत पाई जाने वाली विभिन्नताओं के साथ-साथ भारतीय संस्कृति अनेक रूपों मे एक है जिसने युगों पूर्व की विशेषताओं को आज तक जीवित रखा है जैसा कि पिछले पृष्ठो में देखा जा चुका है भारत में प्रजाति, संस्कृति, भाषा, धर्म, जलवायु, जनसंख्या एवं भौगोलिक दृष्टि से अनेक भिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथाओं, रूढ़ियों, रीति-रिवाज आदि में पर्याप्त भिन्नता हर स्थान पर दिखाई देती है किन्तु इन विविधताओं के पीछे जो आधारभूत एकता है वह विचारणीय है। राधाकमल मुकर्जी ने अपनी पुस्तक "फन्डामेण्टल यूनिटी ऑफ इण्डिया" में भारत की एकता के सम्बन्ध मे पं. नेहरू के विचारो का इस प्रकार उल्लेख किया है– पं नेहरू ने एक बार कहा था "भारत का सिहावलोकन करने वाले भारत की अनेकता और विभिन्नता से बहुत अधिक प्रभावित हो जाते है, वे भारत की एकता को साधारणत नहीं देख पाते। यद्यपि युगो-युगों से भारत की मौलिक एकता ही उसका महान एव मौलिक तत्त्व रहा है।"

भारत की एकता के सम्बन्ध मे सर हर्बर्ट रिजले ने कहा है, "भारत में धर्म, रीति-रिवाज और भाषा तथा सामाजिक और भौतिक विभिन्नताओ के होते हुए भी जीवन की एक विशेष एकरूपता कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक देखी जा सकती है।" भारतीय संस्कृति की एकता के विषय में सी.ई.एम. जोड का मानना है, "जो भी कारण हो, विचारो तथा जातियों के अनेक तत्त्वों मे समन्वय, अनेकता मे एकता उत्पन्न करने की भारतीयो की क्षमता एव तत्परता ही मानव जाति के लिए इनकी विशिष्ट देन रही है।"

इन कथनों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि भारत में अनेकताओ के होते हुए भी भारतीय संस्कृति की एकता के महत्त्व को नकारा नही जा सकता। अब निम्नलिखित रूपों में भारतीय संस्कृति की एकता पर विचार किया जायेगा।

1. भौगोलिक विविधता में एकता– भारत की एकता उसकी भौगोलिक एकता पर आधारित है। वर्षा, तापमान, जलवायु, पृथ्वी की उत्पादन-क्षमता, जीव-जन्तु एवं वनस्पतियाँ आदि अनेक विविधताओ के होते हुए भी प्रकृति ने इसे एकता प्रदान की है जो आन्तरिक विभाजनों को प्रच्छन्न कर देती है। भौगोलिक दृष्टि से जो अनेकरूपता है उसमे एक ऐसी एकता दृष्टिगत होती है जिसने भारतीय जीवन व उसकी सस्कृति को हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक एकता के सूत्र मे पिरो दिया है। स्मिथ जैसे आलोचक इतिहासकार का भी यह मानना है कि "भारत निस्सदेह एक स्वतत्र भौगोलिक इकाई है जिसका एक नाम होना सर्वथा ठीक ही है।"

भौगोलिक विषमताओं के होते हुए भी अनेक लक्षण भारत को समीपवर्ती देशों से स्पष्ट रूप से पृथक् कर देते हैं, ऐसा भूगोलवेत्ताओं का मानना है। भारतीयों को प्राचीन काल से ही इस भौगोलिक एकता का ज्ञान है। कोई भी ऐसा कवि, साहित्यकार, वैयाकरणाचार्य, नीतिकार और राजनीतिज्ञ नहीं हुआ जिसने भारत के किसी भाग को दूसरे देश का समझा हो। हमारे प्राचीनतम महाकाव्यों में भी इस देश का नाम 'भारतवर्ष' ही मिलता है। 'विष्णुपुराण' के एक श्लोक में तो स्पष्ट रूप से यह उल्लिखित है कि "समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण का सारा प्रदेश 'भारत' है और उसके सब निवासी भारत की सन्तान हैं।[1]"

तीसरी-चौथी शती से भारत के विद्वान देश की भौगोलिक एकता से पूर्ण रूप से भिज्ञ थे और वे यह मानते थे कि देश की एकता एवं अखण्डता भौगोलिक दृष्टि से अक्षुण्ण रहेगी।

2. सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता में एकता— भारत में विभिन्न धर्मावलम्बी, जाति, प्रजाति आदि के लोगों के अनेक धर्म, रीति-रिवाज, रहन-सहन, वेश-भूषा, विवाह-नियम आदि है किन्तु भारतीय संस्कृति की एकता प्रबल रूप से स्पष्ट होती है, इसमें आध्यात्म का विशेष स्थान है। उदाहरणार्थ— भारत के प्रत्येक क्षेत्र में संयुक्त-परिवार प्रणाली, वर्णाश्रम व जाति-व्यवस्था, सामाजिक-धार्मिक उत्सव, त्यौहार आदि समान रूप से मान्य है। होली, दीवाली, रक्षा-बन्धन, राम-नवमी जैसे त्यौहार सर्वत्र समान रूप से मनाए जाते हैं। शिव, राम, कृष्ण, हनुमान, गणेश, दुर्गा, सीता, लक्ष्मी, पार्वती, सरस्वती आदि की उपासना प्रत्येक क्षेत्र में की जाती है। अनेक प्रथाएं, रूढ़ियाँ आदि वैवाहिक संस्कार, जन्म व मृत्यु संस्कार, भारतीय संस्कृति की एकता के स्वरूप के परिचायक हैं। यम, नियम सदाचार, शील आदि को प्रत्येक सम्प्रदाय महत्त्वपूर्ण मानते हैं— तीर्थ-स्थानों का महत्त्व सभी के लिए समान रूप से मान्य है। इन सब को देखते हुए भारतीय-सांस्कृतिक एकता स्वत स्पष्ट है।

3. राजनैतिक एवं ऐतिहासिक विविधता में एकता— प्राचीन काल से ही भारत में अनेक विदेशियों के आक्रमण होते रहे है। आक्रमणकारी भारत की प्राकृतिक वैभव, सम्पदा व प्रसिद्धि से मोहित होकर यहाँ आते रहे व बहुत-सी अनमोल सम्पदा लूट कर ले जाते रहे। अनेक लोग यहाँ आकर बस भी गए जिससे उन्होने एक समन्वित संस्कृति का निर्माण किया। किन्तु उस समय भी भारत की राजनैतिक और ऐतिहासिक एकता विखंडित नहीं हो सकी क्योंकि प्राचीन समय से ही भिन्न-भिन्न धर्मो व जातियो आदि ने एक समान इतिहास की रचना की है।

राजनैतिक एकता भी प्राचीन काल में देश की विशालता और यातायात के पर्याप्त साधनो के अभाव में यद्यपि पूर्ण रूप से स्थापित न हो सकी किन्तु मगध के अजातशत्रु मौर्य, आन्ध्र और गुप्त सम्राटों ने राजनैतिक परम्परा की एकता को बनाए रखा। मध्य युग मे भी अकबर, औरंगजेब व मराठो के पेशवाओं ने भारत को राजनैतिक एकता की दृष्टि से बाँधे रखा। उस समय भी केन्द्र से सारे साम्राज्य का शासन संचालित होता था। आधुनिक युग में विदेशी शक्ति से देश को स्वतत्र कराने के लिए किए गए आन्दोलनो ने तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरात एक-सी शासन व्यवस्था, कानून, सविधान आदि सभी ने राजनैतिक एकता को सुदृढता प्रदान की है।

---

1 उत्तर यत्समुद्रस्य हिमाद्रे श्रेव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारत नामा भाती यत्र सतति॥

4. धार्मिक विविधता में एकता— भारत में अनेक धर्मों व सम्प्रदायो के लोग निवास करते हैं। विदेशों से अनेक धर्मो के लोग यहाँ आए किन्तु सभी के सिद्धान्तो में एकता व समानता पाई जाती है। सभी धर्म ईश्वर, आध्यात्मिक शक्ति, सत्य, न्याय, दया, अहिंसा आदि में विश्वास करते है। स्नान करते सभी व्यक्ति गगा, गोदावरी, सरस्वती, कावेरी आदि नदियों का स्मरण करते है। मंदिरों-तीर्थो आदि के प्रति सभी व्यक्ति श्रद्धा रखते हैं।

यह सब भारतीय संस्कृति की एकता की पहचान है। बद्रीनाथ, केदारनाथ की यात्रा, द्वारिका, पुष्कर, मानसरोवर आदि में स्नान भारतीय एकता को गहरे सूत्र में बाँधे हुए है। सभी के लिए भारत एक पुण्य स्थली है।

5. जातीय विविधता में एकता— भारत मे अनेक जातियो का सम्मिश्रण हो गया है। सभी जातियो की अपनी-अपनी विशेताएँ हैं, किन्तु अनेक विभिन्नताओं के उपरान्त भी अनेक समानताएँ ऐसी है जो सम्पूर्ण भारत की सांस्कृतिक एकता को आभासित करती है। हिन्दू, मुसलमान, पारसी, सिख, बौद्ध, जैन सभी आधारभूत सिद्धान्तो मे विश्वास करते है। कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष, सस्कार, पुरुषार्थ आदि को सभी जातियाँ किसी न किसी रूप में स्वीकार करती है, इसी तरह कला-शैली आदि अनेक रूपो मे भारतीय सस्कृति की एकता सभी स्थानो पर दृष्टिगोचर होती है।

6. प्रजातीय विविधता में एकता— प्रजातियों की दृष्टि से भी भारत को प्रजातियो का 'अजायब घर' कहा जाता है। विश्व की प्रमुख तीन प्रजातियाँ— श्वेत, पीत एवं कृष्ण तथा उसकी उपशाखाएँ भारत मे विद्यमान है— उत्तरी भारत मे आर्य तथा दक्षिण भारत मे द्रविड प्रजाति के लोगों का बाहुल्य है। प्रजातियो की भिन्नता के उपरान्त भी यहाँ सघर्ष की स्थिति नही है। परस्पर सहयोग, सद्भाव की भावना उनमें भारतीय एकता को बनाए रखने में सहायक होती है।

7. भाषाई विविधता में एकता— यह सत्य है कि भारत मे भाषा के नाम पर सदैव विवाद रहा है। यहाँ 15 भाषाएँ सविधान द्वारा स्वीकृत हैं तथा अनेक अन्य भाषाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं जो भारत के विभिन्न क्षेत्रों में बोली जाती हैं, लेकिन भाषाई अनेकरूपता के उपरान्त भी त्रिभाषा सूत्र के अन्तर्गत शिक्षण-सस्थाओ मे जो तीन प्रमुख भाषाएँ (हिन्दी, अंग्रेजी व एक अन्य प्रान्त की भाषा) सिखाई व पढाई जाती है वे विभिन्न भाषा-भाषियो को एकता के सूत्र मे बाँधे हुए है। भारतीय सविधान मे हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप मे स्वीकार किया गया है,जो भाषाई एकता का ही उदाहरण है।

8. मानसिक एकता— उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत मे अनेक जातियाँ, भाषाएँ, धर्म आदि है जिनकी अनेक सस्कृतियाँ है। प्रत्येक की अपनी-अपनी विशिष्टताएँ है जो मानसिक रूप से व्यक्तियो को प्रभावित करती है, किन्तु इस विविधता मे भी मानसिक एकता स्पष्ट दिखाई देती है। उदाहरण के लिए यहाँ राष्ट्रीय हित सर्वोच्च है इसका प्रमाण युद्ध आदि के समय स्पष्ट देखा जा सकता है। सन् 1962 में भारत-चीन व सन् 1965 मे पाकिस्तान के साथ युद्ध के समय सम्पूर्ण भारत की आँखो के समक्ष राष्ट्र की रक्षा का हित स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा था।

बाह्य रूप से भारतीय समाज, सस्कृति व जन-जीवन में विभिन्नता होते हुए भी भारत मौलिक रूप मे एक है। इसी सास्कृतिक, सामाजिक व राजनैतिक चेतना के आधार पर 'राधाकृष्णन्' का कहना उचित ही है कि "भारत की सस्कृति में एकता के चिन्ह पाए जाते है यद्यपि परीक्षण करने पर वे विभिन्न प्रकार के रगो मे बिखरे हुए दिखते है। यह भिन्नता पूर्ण रूप से समाप्त नही हो सकी है। यद्यपि

(3) प्रोटेस्टेण्ट और कैथोलिक किस धर्म के समुदाय है। (पारसी/ईसाई)

(4) हिन्दुओं के बाद देश में सर्वाधिक जनसंख्या .... की है। (मुसलमानों/बौद्धों)

[उत्तर-(1) 1.96, (2) 0.41करोड, (3) ईसाई, (4) मुसलमानों]

अतिलघु-उत्तरीय प्रश्न

1. 'संजातीय-चेतना' को स्पष्ट कीजिए।
2. भौगोलिक दृष्टि से भारत के पाँच प्राकृतिक भाग कौन-कौन से है ?
3. 'संजातीयता' तनाव और संघर्ष को किस प्रकार जन्म देती है ?
4. 'सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता में एकता' को स्पष्ट कीजिए।
5. क्षेत्रीय विभिन्नताओ का इस देश को विविधता प्रदान करने में क्या योगदान है ?
6. 'भारत' इस उप-महाद्वीप का नाम क्यों पडा ?
7. सिद्ध कीजिए कि भारत में विभिन्नता मे एकता पाई जाती है। (उत्तर सीमा 1 पृष्ठ)
8. भारत मे 'धार्मिक विभिन्नता' पर प्रकाश डालिए।
9. सांस्कृतिक एकता को स्पष्ट कीजिये।
10. भारतीय समाज मे एकता उत्पन्न करने वाले किन्हीं दो तत्त्वों को समझाइए।

लघु-उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए-

1. भारत मे जनसंख्यात्मक भिन्नता।
2. भारत मे मानसिक एकता।
3. राजनैतिक और ऐतिहासिक एकता।
4. जातीय एकता
5. भारतीय समाज और संस्कृति मे विविधता मे एकता।
6. सजातिकी।
7. भारत की भौगोलिक एकता।
8. भाषा सम्बन्धी विभिन्नताएँ।

□□□

अध्याय - 2

भारत में ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय

(Rural and Urban Communities in India)

भारत अनेक समुदायो से मिलकर बना है। इनमें प्रमुख समुदाय ग्रामीण तथा नगरीय समुदाय हैं। इन दोनों समुदायों की अपनी-अपनी विशेषताएँ है। नगर और ग्राम दोनो का पर्यावरण पूर्णतया भिन्न है। जहाँ ग्रामीण जीवन प्रकृति के प्रत्यक्ष सम्पर्क का परिणाम है वहाँ नगरीय जीवन प्राकृतिक पर्यावरण का परिमार्जित रूप है। चूँकि पर्यावरण का जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है इस कारण ग्रामीण और नगरीय दोनो के सामाजिक, आर्थिक आदि लक्षणो मे भी पर्याप्त अतर होता है। इन भिन्नताओं को जानने के लिए हमे इन दोनो महत्त्वपूर्ण समुदायो के सामाजिक सगठन को जानना होगा क्योंकि किसी भी समुदाय का सामाजिक सगठन वहाँ पर विद्यमान पर्यावरण और परिस्थितियो का ही परिणाम होता है। ग्रामीण और नगरीय परिस्थितियाँ—जनसख्या, रहन-सहन, खान-पान, व्यवसाय और सामाजिक सम्बन्ध आदि अनेक क्षत्रो मे भिन्नता लिए हुए होती है। इन लक्षणो मे भिन्नता होते हुए भी ग्रामीण और नगरीय समुदाय परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित तथा अन्योन्याश्रित भी होते है। ग्राम अपनी कृषि की पैदावार, खाद्यान्न, सब्जी, दूध और कच्चा माल आदि नगरो को प्रदान करता है तो दूसरी ओर नगर भी ग्रामो को अपने अनेक उत्पाद दवाइयाँ, मशीने, वाहन तथा अन्य उपभोग की वस्तुएँ प्रदान करता है। ग्रामवासी नगरो की सुख-सुविधाओ से आकर्षित होकर नगरों की ओर प्रवसन करते है। इन का समीप से अध्ययन करने के लिए आवश्यक है कि ग्रामीण और नगरीय दोनो समुदायों का विस्तार से अध्ययन किया जाए। इस अध्याय मे भारत के ग्रामीण समुदाय तथा नगरीय समुदाय के विभिन्न पहलुओ का अध्ययन किया जाएगा।

भारतीय ग्रामीण समुदाय

अनेक विद्वानो का कहना है कि भारत ग्रामो का देश है। सन् 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में छ लाख से कुछ अधिक ग्राम है। इन ग्रामो मे भारतवर्ष की 74 3% जनसख्या निवास करती है। ओमैली ने कहा है, "भारत वर्ष ग्रामो का देश कहकर पुकारा जाता है।" जर्मन विद्वान मेक्स वेबर का कथन है, "भारतवर्ष ग्रामो का देश रहा है।" समाजशास्त्र मे भारतीय समाज को समझने के लिए ग्रामीण समुदायो का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। इस अध्ययन के अभाव मे हम भारतीय समाज को नही समझ सकते। इसी महत्त्व के अनुसार अब हम भारतीय ग्रामीण समुदाय के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करेगे। सर्वप्रथम ग्रामीण समुदाय का अर्थ समझने का प्रयास करेंगे।

ग्रामीण समुदाय का अर्थ एवं परिभाषा— ग्रामीण समुदाय तथा नगरीय समुदाय परस्पर एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी सम्बन्धित है। एक की परिभाषा और अर्थ दूसरे के सापेक्ष है। इनको एक-दूसरे के संदर्भ मे ही विद्वानो ने परिभाषित किया है। विभिन्न वैज्ञानिको ने ग्रामीण समुदाय की परिभाषाएँ व्यवसाय, जनसंख्या, सामाजिक सम्बन्ध, सामाजिक पर्यावरण आदि के आधार पर दी है। ये परिभाषाएँ निम्नलिखित है—

1. एन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशियल साइन्सेज में लिखा है, "एकाकी परिवार से बड़ा सम्बन्धित तथा असम्बन्धित लोगों का समूह जो एक बडे मकान या निवास के अनेक स्थानो पर रहता हो, घनिष्ठ सम्बन्धो मे आबद्ध हो तथा कृषि योग्य भूमि पर मूल मे संयुक्त रूप मे कृषि करता हो, ग्राम कहलाता है।"

2. फेयरचाइल्ड ने कहा है, "ग्रामीण समुदाय पड़ौस की अपेक्षा विस्तृत क्षेत्र है, जिसमें आमने-सामने के सम्बन्ध पाए जाते है, जिसमें सार्मूहिक जीवन के लिए अधिकाशत सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, धार्मिक एवं अन्य सेवाओं की आवश्यकता होती है और जिसमें मूल अभिवृत्तियो एव व्यवहारो के प्रति सामान्य सहमति होती है।"

3. डी. सेण्डर्सन के अनुसार, "एक ग्रामीण समुदाय संघ का वह स्वरूप है जो एक स्थानीय क्षेत्र मे जनता एव उनकी सस्थाओ के बीच पाया जाता है जिसमे वे बिखरे हुए खेतों की झोपडियो में एवं एक ग्राम मे रहते है, जो प्राय उनकी सामान्य गतिविधियों का केन्द्र होती है।"

जनसंख्या के आधार पर ग्राम और नगर की परिभाषा अलग-अलग देशो मे भिन्न-भिन्न है। भारतवर्ष मे पॉच हजार से कम जनसंख्या वाले आबादी के क्षेत्र को ग्राम कहा गया है तथा पाँच हजार या इससे अधिक जनसख्या वाले क्षेत्र को नगर कहा गया है। जनसंख्या के घनत्व के आधार पर ग्रामीण क्षेत्र में 400 व्यक्ति प्रति किलोमीटर से कम निवास करते हैं। व्यवसाय के अनुसार ग्रामीण समुदाय मे 75% या इससे अधिक जनसंख्या कृषि कार्यो को करने वाली होती है। कुछ विद्वानों ने सामाजिक सम्बन्धो के आधार पर ग्रामीण समुदाय उस समाज को कहा है जिनमे व्यक्तियो मे परस्पर आमने-सामने के घनिष्ठ तथा प्राथमिक सम्बन्ध होते हैं। जहाँ तक प्राकृतिक पर्यावरण का सम्बन्ध है ग्रामीण समुदाय प्रकृति से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते हैं।

निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण समुदाय आकार मे छोटे होते हैं। उनकी जनसख्या तथा जनसख्या का घनत्व कम होता है। ये समुदाय कृषि प्रधान होते है। विशेष रूप से हलीय कृषि पर आधारित होते हैं। इन समुदायों के लोगों मे सामाजिक सम्बन्ध घनिष्ठ तथा आमने-सामने के होते है। इनमे 'हम' की भावना होती है। इनमे व्यवसाय, खान-पान, वेशभूषा, आचार-विचार, दिनचर्या, धार्मिक-विचार आदि मे समरूपता पाई जाती है।

भारतीय ग्रामीण समुदाय की विशेषताएँ

भारतीय ग्रामीण समुदाय की विशेषताओ का वर्णन श्यामा चरण दुबे, ए आर. देसाई, योगेन्द्र सिंह, एम.एन श्रीनिवास आदि ने किया है जो निम्नलिखित प्रकार है—

1. लघु आकार— समाजशास्त्रियो ने लिखा है कि भारत के ग्रामीण समुदाय को भौगोलिक क्षेत्र के आधार पर देखे तो यह समुदाय आकार मे छोटा होता है। इसका भौगोलिक क्षेत्रफल नगरो की तुलना में बहुत छोटा होता है। ग्रामीण समुदाय पूर्ण रूप से तथा प्रत्यक्ष रूप से प्रकृति पर निर्भर

होते हैं। इसका मुख्य व्यवसाय कृषि तथा पशुपालन होता है। जिस स्थान पर ग्राम बसा होता है वह तो आकार में छोटा होता है लेकिन खेत, खलिहान आदि दूर तक फैले होते है।

2. न्यून जनसंख्या— ग्रामीण समुदाय की जनसंख्या बहुत कम होती है प्रति वर्ग किलोमीटर के दृष्टिकोण से देखें तो गाँव की जनसंख्या का घनत्व भी नगरों की तुलना में कम होता है। ग्रामवासियो के पास प्रति व्यक्ति या प्रति परिवार कृषि भूमि या खेत होते हैं। सार्वजनिक चरागाह होते है। कृषि का व्यवसाय तथा पशुपालन के लिए प्रति व्यक्ति भूमि की अधिक आवश्यकता पडती है। इसीलिए ग्रामीण समुदायों की जनसंख्या तथा जनसंख्या का घनत्व न्यून होना है।

3. प्राथमिक सम्बन्धों की प्रधानता— ग्रामीण समुदाय आकार में छोटा तथा कम जनसंख्या वाला होने के कारण सभी ग्रामवासी परस्पर एक-दूसरे को निकटता से जानते हैं। सभी जातियो के सदस्य परस्पर अपनी विभिन्न आवश्यकताओ तथा जजमानी व्यवस्था के कारण एक-दूसरे से पीढ़ी-दर-पीढ़ी अन्योन्याश्रित होते है। उनमें परस्पर आमने-सामने के सम्बन्ध होते हैं। उनमें अनौपचारिक सम्बन्ध होते है। ग्रामीण समुदाय में पारम्परिक, सामाजिक सम्बन्धो का आधार, परिवार, पडौस, जाति-प्रथा तथा जजमानी-प्रथा, और नातेदारी आदि होते है। आपस में एक-दूसरे को नातेदारी शब्दावली से सम्बोधित करते है, जैसे—काका, बाबा, बुआ आदि। इसीलिए इन समुदायो मे प्राथमिक सम्बन्धो की प्रधानता मिलती है।

4. सरल एवं सादा जीवन— सभी ग्रामवासियों का जीवन लगभग एक-सा होता है। दिनचर्या एक-सी होती है। उनका जीवन प्रकृति के निकट एव प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होता है। इसलिए शुद्ध हवा, सादा भोजन, मोटे वस्त्र वाला साधारण जीवन होता है। जो कुछ प्रकृति तथा पशुधन से प्राप्त करते हैं उसी से जीवनयापन करते हैं। उनकी दिनचर्या कृषि के कार्य, पशुपालन तथा जीविका की व्यवस्था करने मे ही पूर्ण हो जाती है। इसलिए सभी ग्रामीण अपना जीवन कृत्रिमता तथा शहरी जीवन से भिन्न सरल, सादा तथा सीधा जीवन व्यतीत करते है।

5. प्रकृति पर निर्भरता एवं घनिष्ठता—भारतीय ग्रामीण समुदाय प्रकृति पर अनेक प्रकार से निर्भर होता है। ग्रामवासियों का प्रमुख व्यवसाय कृषि का होता है। कृषि का व्यवसाय उपजाऊ भूमि, वर्षा सर्दी, गर्मी, नदी आदि पर निर्भर होता है। ग्रामीण समुदाय की खुशहाली प्राकृतिक लक्षणों पर आधारित होती है। इनका जीवन कृषि, पशुपालन, खाद्य सकलन, मछली, कन्दमूल और फल-फूल से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होता है। ग्रामीणो का इन सब प्राकृतिक सम्पदाओं से सीधा सम्बन्ध होने के कारण वह प्रकृति पर बहुत अधिक निर्भर होते है। ग्रामीण जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रकृति के बीच रहता है।

6. मुख्य व्यवसाय कृषि— भारतीय ग्रामीण समुदाय की परिभाषा मे कृषि के व्यवसाय को प्रधान माना है। जब किसी समुदाय की आधी से अधिक जनसख्या एक ही प्रधान व्यवसाय कृषि का कार्य करने वाली होती है तो उसी को ग्रामीण समुदाय कहते है। भारतीय ग्राम की प्रमुख विशेषता कृषि का मुख्य व्यवसाय ही है जिसमें 70 से लेकर 80 प्रतिशत ग्रामीण किसी-न-किसी प्रकार से सम्बन्धित होते है तथा अपनी जीविका अर्जित करते है। ग्रामीण समुदाय मे अन्य उप-व्यवसाय भी होते है, जैसे—पशुपालन, खाद्य सकलन, रस्सी, चटाई, टोकरी, कपडा, मिट्टी और धातु के बर्तन बनाना आदि । कई जातियाँ अन्य जातियो की सेवा करती है परन्तु वे भी कृषि के व्यवसाय से किसी-न-किसी रूप में सम्बन्धित होती है। इस प्रकार भारतीय ग्रामीण समुदाय मुख्य रूप से कृषि प्रधान होते है।

7. संयुक्त परिवार– ग्रामीण समाज का प्रमुख व्यवसाय कृषि होता है जिसमें अनेक कार्य होते हैं। इसमें अनेक श्रमिकों की आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि भारतीय ग्रामीण समुदाय में संयुक्त परिवार अधिक होते हैं । इस परिवार में तीन या तीन से अधिक पीढ़ियाँ होती हैं। बाल-विवाह अधिक मात्रा में होते हैं। परिवार के सभी सदस्य स्त्री-पुरुष, बड़े-बूढ़े, जवान, बच्चे अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार कृषि कार्य में लगे होते हैं। सभी साथ-साथ एक छत के नीचे रहते हैं। एक चूल्हे पर बना भोजन करते है। परिवार का सबसे बड़ा पुरुष मुखिया होता है। वही संयुक्त परिवार के सभी सदस्यों का नियंत्रण और श्रम-विभाजन करता है। ग्रामीण समुदाय में परम्परागत पितृसत्तात्मक, हलीय कृषि पर आधारित, संयुक्त परिवार अधिक प्रतिशत में होते हैं। अगर कृषि का व्यवसाय ट्रैक्टर तथा अन्य आधुनिक मशीनों द्वारा होगा तो संयुक्त परिवारों का प्रतिशत घट जाएगा। ऐसा परिवर्तन अब देखने में आ रहा है।

8. जाति-प्रथा– भारतीय ग्रामीण समुदाय की संरचना एवं कार्य जाति-व्यवस्था के द्वारा संचालित, नियन्त्रित एवं निर्देशित होता है। जाति-व्यवस्था के द्वारा भारत के ग्राम विभिन्न जातियों मे स्तरित या उच्चता और निम्नता के क्रम में विभाजित होते हैं। ग्राम मे विभिन्न जातियाँ परम्परागत व्यवसाय करती हैं। ग्रामीण समुदाय में सदस्यता का निर्धारण जन्म के आधार पर जातियाँ करती हैं। ग्रामीणों के विवाह का क्षेत्र जातिगत होता है। जो जिस जाति का होता है उसका अपनी ही जाति में विवाह करना अनिवार्य होता है। ग्रामीण समुदाय के सदस्यों का खान-पान, रीति-रिवाज, सामाजिक सहवास, सदस्यता, व्यवसाय, विवाह आदि जाति के द्वारा निर्धारित होते है। इनका उल्लंघन करने वाले को जाति, पंचायत अन्तर्जाति-पंचायत तथा ग्राम- पंचायत जुर्माना, बहिष्कार आदि दण्ड देती है। जाति-पंचायते ग्रामीण समुदाय की विभिन्न जातियों के सम्बन्धों का भी संचालन करती है।

9. जजमानी-प्रथा– जजमानी प्रथा के अनुसार ग्रामों में प्रत्येक जाति अन्य जातियों से किसी-न-किसी रूप में अन्योन्याश्रित होती है। शूद्र वर्ण के स्तर की जातियाँ, धोबी, नाई, बढ़ई, कुम्हार, लुहार आदि अपनी सेवाएँ द्विज वर्ण के स्तर की जातियो (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों) को देती हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण अन्य सम्बन्धित जातियों के उत्सव, त्यौहार तथा संस्कार करवाते हैं। प्रत्येक जाति का परिवार अन्य सम्बन्धित जाति के परिवार से सेवा के बदले मे कुछ नकद, वस्त्र, भोजन आदि लेता है। किसान फसल मे निश्चित हिस्सा नाई, कुम्हार, बढ़ई आदि को देता है। विभिन्न जातियो के परिवार एक-दूसरे से पीढ़ी-दर-पीढ़ी सम्बन्धित रहते हैं। ये सम्बन्ध परम्परागत होते हैं। भारतीय ग्रामो मे आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक आदि श्रम का विभाजन जजमानी प्रथा के द्वारा होता रहा है।

10. ग्राम पंचायत– भारत में प्राचीन काल से ग्रामों में ग्राम पचायत रही हैं। ग्राम पंचायतों के मुख्य कार्य परिवारो मे भूमि का वितरण, विकास कार्यो को करना, सफाई आदि का ध्यान रखना, ग्रामीणो के झगडों को निपटाना, जाति के प्रतिबंधो को कार्यान्वित करना आदि था। केन्द्रीय शासक को कर एकत्र करके पहुँचाना तथा ग्राम की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक स्थिति का समय-समय पर समाचार देना था। वर्तमान में भारत के ग्रामों में तीन स्तरीय पचायती राज-व्यवस्था कार्य कर रही है।

11. जनमत का महत्त्व– भारतीय ग्राम आकार में छोटे होने के कारण जनमत का विशेष महत्त्व होता है। आमने-सामने के सम्बन्ध होने के कारण जनमत का कोई विरोध नही करता है। सभी

ग्रामीण जनमत का सम्मान करते हैं। पंच को परमेश्वर मानते हैं। जनमत का विरोध करने वाले की निंदा की जाती है। उसका समाज में सम्मान घट जाता है। ग्रामीण समुदाय में जनमत के द्वारा सामाजिक नियंत्रण किया जाता है।

12. सामुदायिक भावना— भारतीय ग्राम की जनसंख्या इतनी कम होती है कि सभी एक-दूसरे को निकट से जानते हैं। उनमें परस्पर 'हम' की भावना होती है। सभी एक-दूसरे के सुख-दु:ख के साथी होते हैं। विवाह, उत्सव, जन्म या मृत्यु संस्कार, अकाल, महामारी, बाढ़ आदि में सामूहिक रूप से एक-दूसरे का साथ देते हैं। सार रूप में कह सकते है कि ग्रामों मे सामुदायिक भावना बहुत प्रबल होती है।

13. धर्म का महत्त्व— ग्रामों मे धर्म अनेक कार्य करता है। भारतीय ग्रामों में तो प्रात काल से लेकर सोने तक, वर्ष के प्रथम दिन से लेकर अंतिम दिन तक तथा जन्म से लेकर मृत्यु तक पग-पग पर धर्म ही सब कुछ नियंत्रित तथा सचालित करता है। धर्म सर्वोपरि होता है। जन्म सस्कार, विवाह सस्कार, मृत्यु संस्कार, होली, दीवाली, रक्षाबंधन, दशहरा, मृत्यु भोज, जातिप्रथा, व्यवसाय, सदस्यता आदि धर्म के अनुसार ही होते हैं। स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा, सुख-दु:ख सब कुछ धर्म के द्वारा निश्चित होते हैं। अनेक अच्छी-बुरी प्रथाएँ धर्म के कारण आज भी प्रचलित है। धर्म ने ग्रामीणो को अंधविश्वासी तथा परम्परावादी बना दिया है।

14. भाग्यवादिता, रूढ़िवादिता एवं अशिक्षा— ग्रामीण समुदायो की अधिकाश जनसख्या अशिक्षित है। इसी अशिक्षा के कारण ग्रामवासी भाग्यवादी तथा रूढिवादी हैं। अशिक्षा के कारण वे आज भी जादू-टोना, झाड़ा-फूंक आदि मे अटूट अधविश्वास रखते है। आज भी ग्रामवासी पिछड़ा जीवन व्यतीत कर रहे है। इस अज्ञानता के कारण उनका शोषण हो रहा है। पुरुषो की तुलना में स्त्रियों की स्थिति तो और भी निम्न है। कन्या-वध, बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, विधवा-पुनर्विवाह पर रोक आदि स्त्रियो की दयनीय स्थिति को स्पष्ट करते हैं। अशिक्षा के कारण इनका विकास भी बहुत धीरे-धीरे हो रहा है।

15. समरूपता— ग्रामवासियो के जीवन स्तर, दैनिक जीवनचर्या, वेश-भूषा, खान-पान, रहन-सहन आदि मे समानता पाई जाती है। उनके विचार, आदर्श, मानसिकता, विश्वास, धारणाएँ, व्यवहार एक-से होते हैं। सामाजिक चेतना, जनमत, धर्म एव भक्तिवाद आदि मे एकरूपता मिलती है। इनमे परम्परा का प्रभुत्व मिलता है तथा वैयक्तिकता और व्यक्तिवाद का अभाव होता है। निष्कर्ष रूप में यह कह सकते है कि भारतीय ग्रामों में सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि में समरूपता होती है।

16. आत्मनिर्भरता— भारत के ग्रामो की आत्मनिर्भरता के सम्बन्ध मे दो मत है। सर हेनरी मैन, मुनरो; मैटकॉफ; मार्क्स और बैडेन-पॉवेल ने भारतीय ग्रामों को पृथक् तथा बंद इकाई बताया है। मैटकॉफ ने तो कुछ अधिक ही आत्म-निर्भर, स्वतंत्र और गणतंत्र संगठन बताया है। आपने लिखा है, "ग्रामीण समुदाय लघु गणतंत्र है, उनमे उनकी आवश्यकताओं की लगभग सभी वस्तुएँ पाई जाती हैं और वे सभी विदेशी सम्बन्धों से लगभग स्वतंत्र हैं।" रेडफील्ड ने लघु-समुदाय की चार विशेषताएँ— विशिष्टता, लघुता, एकरूपता और आत्मनिर्भरता— बताते हुए लिखा है कि भारतीय ग्रामो और कृषक समुदायों में भी ये विशेषताएँ देखी जा सकती है। लेकिन इन उपर्युक्त वैज्ञानिकों के विचारों की कटु आलोचना दुबे, मैरिट, मजूमदार आदि ने करते हुए लिखा कि भारतीय ग्रामीण समुदाय पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर और स्वतंत्र गणतत्र इकाई नहीं है। दुबे ने लिखा है कि भारतीय

ग्रामीण समुदाय को वृहद् समुदाय (पूर्ण भारत) के संदर्भ मे समझना चाहिए। यही विचार मैरिट, मजूमदार, मदन और मैंडेल बॉम ने भी व्यक्त किए हैं। दुबे ने भारतीय ग्राम के अध्ययन को निम्न दो संदर्भों में करने का सुझाव दिया है—

(1) भारतीय ग्राम एक पृथक् इकाई के रूप में, तथा

(2) भारतीय ग्राम बड़े समुदाय के अंदर एक छोटा समुदाय।

हम भारतीय ग्राम की विवेचना इसी संदर्भ में देखेंगे—

(1) भारतीय ग्राम एक पृथक् इकाई के रूप में— दुबे एवं मैरिट के अनुसार भारतीय ग्राम को एक पृथक् इकाई के संदर्भ में रखकर इसकी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक और भौगोलिक संरचना का अध्ययन करना चाहिए। दुबे ने ग्राम की संरचना चित्र-1 के द्वारा स्पष्ट की है। ग्राम की सबसे छोटी इकाई व्यक्ति, उसके बाद परिवार, निकट बंधुत्व समूह, वंश समूह, रक्त और वैवाहिक सम्बन्धी, उप-जाति और जातियाँ, तथा वर्ण हैं।
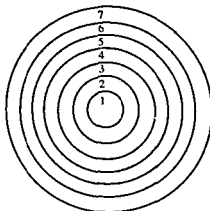
चित्र : 1- ग्राम की संरचना बंधुत्व और जाति द्वारा संगठित
स्रोत : श्यामा चरण दुबे . एक भारतीय ग्राम

भारतीय ग्राम मे परम्परागत संयुक्त परिवार कृषि पर आधारित होते हैं। ग्राम के विभिन्न कार्य-कलापों मे अधिकाधिक घनिष्ठतया भाग लेते हैं। यह उत्पादन और उपभोग की इकाई होती है। दक्षिण भारत में विवाह निकट सम्बन्धियों मे होते हैं। ग्राम में भी विवाह हो जाते है परन्तु उत्तर तथा मध्य भारत मे गोत्र-बहिर्विवाह तथा ग्राम-बहिर्विवाह होते है। दक्षिण भारत के ग्राम विवाह के दृष्टिकोण से आत्मनिर्भर हैं परन्तु उत्तर भारत के ग्राम आत्मनिर्भर नहीं हैं।

जाति-व्यवस्था तथा जजमानी व्यवस्था के द्वारा ग्राम की विभिन्न जातियाँ परस्पर आर्थिक रूप से अन्योन्याश्रित होती है। जजमानी-प्रथा के द्वारा कृषि सम्बन्धी व्यवसायी सेवाएँ, सामाजिक और धार्मिक जीवन सम्बन्धी सेवाएँ जातियाँ एक-दूसरे को प्रदान करती हैं। आपस में आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेती है। जन्म, विवाह, मृत्यु सस्कारो को जातियाँ आपस में मिलजुल कर सम्पन्न कर लेती हैं। भुगतान नकद, वस्तुओं तथा सेवा के बदले सेवा के रूप मे भी होता है।

ग्राम के स्तर पर जाति-पंचायत, अंतर्जाति-पंचायत और ग्राम-पंचायत के द्वारा अनेक स्थानीय कार्य जैसे—शिक्षा, सफाई, मनोरंजन, उत्सव के कार्य, झगड़े निपटाना आदि सम्पन्न किए जाते

हैं। ग्राम-पंचायत स्थानीय प्रशासन भी देखती है। जाति-पंचायत जाति के लिए कार्य करती है। वह ग्राम के स्तर पर जाति के बंधन, प्रथाओं और जाति के झगडो का निपटारा अपनी जाति के पंचों तथा सदस्यों द्वारा पूर्ण करवाती है। भारतीय ग्राम को ग्रामवासियों की दिन-प्रतिदिन की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक शैक्षिक, आर्थिक आदि आवश्यकताओं को पूर्ण करने के रूप मे एक पृथक् आत्मनिर्भर इकाई के रूप में देख सकते हैं। परन्तु ग्राम वृहद्, भारत मे भी सम्बन्धित हैं।

(2) भारतीय ग्राम बड़े समुदाय के अंदर एक छोटा समुदाय-- एक सीमा तक भारतीय ग्रामों को पृथक् आत्मनिर्भर इकाई के रूप में देखने के बाद दुबे ने ग्राम को वृहद् भारतीय समाज के संदर्भ में निम्न रूप में पाया। ग्राम क्षेत्रीय दृष्टिकोण से अन्य बड़ी इकाइयों से सम्बन्धित है। आपने चित्र-2 में विभिन्न इकाइयाँ स्पष्ट की हैं। व्यक्ति परिवार से, परिवार ग्राम से, ग्राम अंतर्ग्रामीण संगठन से, फिर प्रदेश तथा राष्ट्र से परस्पर सम्बन्धित होते है।
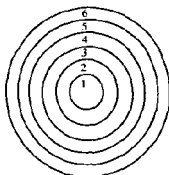
चित्र : 2- ग्राम की सरचना दैशिक सम्बन्धो से सगठित
स्रोत : वही

वृहद् स्तर पर ग्राम तथा उसके निवासी देश के साथ विभिन्न प्रकार से जुडे होते है। समाज की गतिविधियो, चार-धाम की यात्रा, राजनैतिक गतिविधियों, सभ्यता के प्रतिमानो आदि मे हिस्सा लेते हैं। गाँव को दो स्तरो तथा सदर्भो मे देखना चाहिए। ग्रामो मे बहिर्विवाह होते हैं। पास के गाँव मे भी विवाह निषिद्ध है। इस प्रकार ग्राम की लडकियाँ विवाह के द्वारा गाँव से बाहर चली जाती हैं और उसी प्रकार विवाह के द्वारा बहुओ के रूप में बाहर की स्त्रियाँ गाँव मे आती हैं। उनके साथ बाहर की भाषा, रीति-रिवाज, खान-पान, रहन-सहन, सस्कृति भी आती है। इस प्रकार भारत के ग्राम वृहद् स्तर के सदर्भ में दूसरे समाजो पर आश्रित भी हैं। लगभग 50% जनसख्या का आगमन और निगमन होता है। धर्म के सदर्भ मे चार-धाम की यात्रा प्रत्येक हिन्दू के लिए बताई गई है। ग्रामीण धार्मिक यात्रा के द्वारा भारत के विभिन्न स्थानों पर जाते है तथा हजारों किलोमीटर की यात्रा करते हैं।

ग्राम की जातियाँ अन्य ग्रामो, क्षेत्रो तथा अखिल भारतीय स्तर पर जातीय सगठन से सम्बन्धित होती हैं। ये सम्बन्ध ग्राम की सीमा से बाहर वृहद् स्तर पर होते हैं। मजूमदार ने लिखा है, ''भारतीय ग्राम अब चारदिवारी तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि वे भारत के बड़े समुदाय से भी सम्बन्धित हैं। ब्रितानिया शासन ने ग्रामो की आत्मनिर्भरता को कम किया तथा भारतीय ग्रामों को अपनी अनेक आवश्यकताओ के लिए बाहर के प्रदेशो और बाजारो पर आश्रित बना दिया। ग्राम

अपना उत्पादन निर्यात करता है तथा बाहर से अनेक वस्तुओं का आयात करता है। फसल बाहर बेचते हैं। पशुओं की खरीद-बेच भी बाहर करते हैं। ग्राम के व्यापारी शहर से वस्तुएँ लाते हैं और अपनी दुकान पर बेचते हैं। राजनैतिक दृष्टिकोण से गाँव हमेशा राष्ट्र से सम्बन्धित रहे हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय ग्राम भारतीय संविधान से नियंत्रित और संचालित होता है। केंद्र तथा राज्य सरकारें ग्रामों का पंचायत, तहसील, जिला, प्रांत तथा केन्द्रीय स्तरों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से शासन करती हैं।

निष्कर्ष – यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय ग्राम की संरचना तथा प्रकृति को दो संदर्भों में देखना चाहिए– (1) भारतीय ग्रामों की संरचना एक पृथक् इकाई के दृष्टिकोण से कितनी आत्मनिर्भर है, और (2) ग्राम अपनी अनेक आवश्यकताओं के लिए बृहद् समुदाय, पंचायत, तहसील जिला, राज्य और केन्द्र से कैसे सम्बन्धित है। भारतीय ग्राम एक पृथक् इकाई भी है और एक वृहद् समुदाय मे छोटा समुदाय भी है।

भारतीय ग्रामीण समुदायों का विकास

भारत में ग्रामीण समुदायों के विकास को प्रमुख तीन कालों—(1) प्राचीन काल, (2) मध्यकाल और (3) आधुनिक काल में बाँट कर देखा जा सकता है, जो निम्नलिखित प्रकार है—

(1) प्राचीन काल– प्राचीन काल में ग्रामीण समुदायों की व्यवस्था तथा संगठनों का वर्णन धर्म- सूत्रों, स्मृतियों, रामायण, महाभारत ग्रंथों, कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र', बुद्ध काल के ग्रंथों, पाली भाषा के ग्रंथो आदि मे मिलते है। **आपस्तम्ब धर्मसूत्र** में वर्णन मिलता है कि राजा गाँवों तथा नगरों के लिए राज्य- पदाधिकारियो (अध्यक्ष या अधिपस) की नियुक्ति करते थे। 1, 10 और 100 गाँवों पर अधिकारियों की एक शृंखला की नियुक्ति का वर्णन **विष्णु स्मृति** में भी मिलता है। **रामायण** और **महाभारत** काल में **घोष** (ग्वालों के छोटे गाँव) तथा **ग्राम** (किसानों के बड़े गाँव) का उल्लेख मिलता है। गाँवो के मुखिया को '**ग्रामिक**', 10 गाँवों के अधिकारी को '**दासी**', 20 गाँवों का अधिकारी '**निशान्ती**', 100 गाँवों का '**शती**' और 1000 गाँवों के अधिकारी को '**ग्रामाधिपति**' कहा जाता था।

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में ग्राम और नगर के लिए तीन श्रेणियो के अधिकारियों का उल्लेख मिलता है— **गोप, स्थानिक** और **समहर्त्त** या **प्रदेस्ता**। 5 से 10 ग्रामो का अधिकारी **गोप** होता था। कुछ गाँवो से मिलकर जो मण्डल बनता था उसका अधिकारी **स्थानिक** कहलाता था। चार मण्डलों से मिलकर एक जनपद बनता था जिसका अधिकारी **समहर्त्त** कहलाता था। इन अधिकारियों के कार्य जनता के जान-माल की रक्षा करना, कर एकत्र करना, राजस्व का हिसाब रखना, बकाया तथा घाटे के आँकडे रखना, दीवानी और फौजदारी झगडे निपटाना था। इन अधिकारियों या मुखियाओं का पद वंशानुगत था तथा राजा द्वारा पुष्टि होना अनिवार्य था। एक जातक कथानुसार गाँवों में ग्रामसभाएँ होती थी जो गाँवों के कार्यों की व्यवस्था करती थी। पण्ड्या और चौल शासन मे सुसंगठित ग्रामसभाएँ होती थी। जनता द्वारा उनका चुनाव होता था। ये सभाएँ ईमानदार और न्यायप्रिय थीं। इसलिए ये बहुत प्रतिष्ठित थीं। ये राजा के संरक्षण में कार्य करती थीं। इनके कार्य मंदिरों के कोषों की व्यवस्था करना, झगड़े निपटाना, भूमिदान, अस्पताल, दानशील संस्थाओं की देखभाल करना था।

बुद्ध काल में ग्राम स्वायत्त इकाई के रूप में थे। शिक्षा, झगडों का निपटारा, सार्वजनिक कार्य तथा राजस्व-कार्य ग्राम पंचायतें करती थीं। राजा कर वसूलने के लिए जिसे नियुक्त करता था 'ग्रामभोजक' कहलाता था। यह लोगों को लूटता था तथा उनके जीवन में भी हस्तक्षेप करता था। इस काल में मेले, नट-बाजी, जादू के खेल, नाच और नाटक, पशुओं की लडाई आदि की व्यवस्था मनोरंजन के लिए की जाती थी। शासक और शासित का भेद स्पष्ट था। मदिरापान, जुआ और वेश्यावृत्ति की समस्याएँ भी सामान्य रूप में विद्यमान थीं। ग्रामवासियों के राजा के सम्बन्ध शहरियों के साथ थे। ग्रामीणों तथा शहरियों पर राजा द्वारा नियुक्त अधिकारियों का शासन था।

(2) मध्य काल— मध्यकाल के प्रारंभ में कृषि लोगों का प्रधान व्यवसाय हो गया था। भूमि की बहुलता थी। ग्रामीणों को खाद्य सामग्री सस्ती और प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी। गाँव की आर्थिकी आत्मनिर्भर और स्वावलम्बी थी। उनका जीवन सरल, सादा, अप्रगतिशील तथा विलग था। गाँव की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति, कारीगर, नौकर, पुजारी और साहूकार करते थे। ग्रामीण संयुक्त परिवार में रहते थे।

मध्यकाल में हिन्दू शासक प्रजा के प्रति अपने कर्त्तव्य निभाने में उदासीन होते गए। जनता को अपना ध्यान स्वयं रखना आवश्यक हो गया। मंदिर और पंचायतें लोगों का ध्यान रखने लगी। पंचायतों ने राजा के शोषण से जनता को सुरक्षा प्रदान की। अब लोगों की सुख, सुविधा, स्वास्थ्य तथा अन्य जीवन सम्बन्धी बातों का ध्यान पंचायतें और मंदिर रखने लगे। मंदिर ग्रामीण समाज के लिए अनेक बातों के संगठन के केन्द्र बन गए। मंदिर लोगों को व्यवसाय दिलाने, विद्वानों को संरक्षण प्रदान करने तथा हजारों लोगों को प्रतिदिन भोजन देने का कार्य करने लगे । मंदिर ग्राम के लिए धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि अनेक कार्य करने लगे। धीरे-धीरे मंदिर तथा पंचायतें महत्त्वपूर्ण संगठन बनते चले गए। जो रिक्त स्थान राजाओं की उदासीनता से पैदा हुआ था उसका स्थान मन्दिरों तथा पंचायतों ने ले लिया था। इन्होंने भारत की संस्कृति को स्थिरता भी प्रदान की थीं। बाद मे मस्जिदें भी शिक्षा का काम करने लगी थीं तथा इनको सरकार का संरक्षण भी प्राप्त था। इस मध्यकाल में समाज की प्रगति के लिए कोई विशेष कार्य नवाचार या परिवर्तन के रूप मे नही किए गए।

(3) आधुनिक काल— जब भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापित हो गया तब ग्रामीण समुदाय मे अनेक परिवर्तन आए। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि इस अंग्रेजी शासन के बाद ग्रामीण गणराज्य समाप्त होने लगे। मार्क्स, मुनरो, मैटकॉफ, मैन और बैडेन-पॉवेल ने भारतीय ग्रामों का अध्ययन किया और इन्हें बंद और पृथक् व्यवस्था कहा। मैटकॉफ का कहना है, "ग्रामीण समुदाय लघु गणतंत्र है, उनमें उनकी आवश्यकताओं की लगभग सभी वस्तुएँ पाई जाती है और वे सभी विदेशी सम्बन्धों से लगभग स्वतंत्र हैं। एक राजवंश के बाद दूसरा राजवंश बनता-बिगडता रहा, कई बाह्य आक्रमणकारी आए, किन्तु भारतीय ग्राम स्थिर, आत्मनिर्भर और अपरिवर्तनीय रहे।"

विभिन्न विद्वानों ने इस कथन की आलोचना की है। भारतीय ग्राम वृहद् समाज से हमेशा सम्बन्धित रहे है इनमें श्रम-विभाजन, विशेषीकरण और स्तरीकरण था। 1950 से 1960 के दशक मे अनेक अध्ययन हुए। इन अध्ययनों ने स्पष्ट किया कि भारतीय ग्राम बहिर्विवाही, बाजारों के लिए नगरो पर निर्भर, अतग्रामीण आर्थिकी वाले, विशेषीकृत व्यवसाय, धार्मिक स्थानों की यात्रा वाली विशेषताओं वाले भारतीय ग्राम हैं। विभिन्न गाँव अन्य गाँवों, कस्बों, नगरो, तीर्थ स्थानो से अनेक प्रकार से सम्बन्धित हैं। दुबे, मैरियट, मैंडेल बॉम आदि ने लिखा है कि भारतीय ग्राम को हमें दो

संदर्भों में समझना चाहिए— (1) भारतीय ग्रामों की संरचना एक पृथक् इकाई के दृष्टिकोण से कितनी आत्मनिर्भर है, और (2) भारतीय ग्राम बडे समुदाय के अंदर एक छोटा समुदाय किस प्रकार हैं। ग्राम अपनी अनेक आवश्यकताओं के लिए बडे समुदायों— जिला, राज्य केन्द्र एवं अन्य देशो से कैसे सम्बन्धित है। भारतीय ग्राम एक पृथक् इकाई भी है और यह एक वृहद् भारतीय समाज का छोटा सम्बन्धित अन्योन्याश्रित समुदाय भी है।

अंग्रेजी शासन ने भारतीय ग्रामों की राजनैतिक शक्ति, झगडों का निपटारा, पंचायत के प्रभुत्व को समाप्त किया। अंग्रेजो ने गाँवों में जमींदारी तथा रैयतवाडी लागू की। जमींदार अंग्रेजी सरकार के लिए लगान वसूल करते थे तथा कमीशन प्राप्त करते थे। रैयतवाडी के अंतर्गत किसान एक निश्चित राशि देकर भू-स्वामी बन जाता था। स्वतंत्रता के बाद ज़मीदारी समाप्त की गई तथा सरकारी कर्मचारी लगान वसूल करने लगे। ब्रितानिया शासन काल में ग्रामों पर अनेक नवाचारों का प्रभाव पडा, जैसे— औद्योगीकरण, नगरीकरण, नवीन यातायात एवं संचार के साधन आदि। इनसे ग्रामों के गृह एव कुटीर उद्योग समाप्त हुए, जजमानी-प्रथा समाप्त होने लगी, जाति-प्रथा तथा संयुक्त परिवार में परिवर्तन आए। हलीय-कृषि पर मशीनीकरण तथा यत्रो का प्रभाव पडा। आर्थिक क्षेत्र में परम्परागत व्यवसायों पर प्रभाव पडा, वस्तु-विनिमय का स्थान मुद्रा-विनिमय ने लिया। गाँव, नगरों और महानगरों पर अधिक आश्रित होता गया। ग्रामों में परिवर्तन की प्रक्रिया तेज हो गई।

ग्रामीण समुदायों में परिवर्तन

भारतीय ग्रामीण समुदायों के अध्ययनों से स्पष्ट होता है कि ग्रामों की विभिन्न विशेषताओ, प्रथाओ, व्यवस्थाओं तथा इकाइयो में परिवर्तन हो रहे हैं। विभिन्न समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवशास्त्रियों— श्यामा चरण दुबे एक भारतीय ग्राम; मैकम मैरियट (सम्पादित)· ग्रामीण भारत; श्रीनिवास (सम्पादित)· इडियाज विलेजेज; डी.एन. मजूमदार (सम्पादित) रूरल प्रोफाइल्स; के अध्ययनों मे भारतीय ग्रामों में निम्नलिखित परिवर्तनों का उल्लेख मिलता है। ये परिवर्तन नगरीकरण, औद्योगीकरण, यातायात तथा संचार के नवीन साधन, पंचवर्षीय तथा सामुदायिक विकास योजनाएँ, शिक्षा के प्रसार आदि के कारण हो रहे हैं।

1. सामाजिक परिवर्तन— ग्रामो के सयुक्त परिवार, विवाह के क्षेत्र, नातेदारी, जाति-प्रथा, जजमानी व्यवस्था, सामाजिक स्तरीकरण आदि मे परिवर्तन हो रहे हैं। अनेक अध्ययनों के निष्कर्ष है कि ग्रामों मे संयुक्त परिवार एकाकी परिवार मे बदल रहे हैं। नातेदारी के सम्बन्ध पहले जैसे प्रभावशाली नहीं रहे हैं। शिक्षा के प्रसार के कारण बाल-विवाहों का प्रतिशत घट रहा है। गोत्र बहिर्विवाह तथा अपनी ही जाति मे विवाह, उत्सवो, त्यौहारो, सामाजिक-सांस्कृतिक समारोहों में आज भी जाति प्रभावशाली है। समाज में सदस्यों का निर्धारण जाति करती है। लेकिन खान-पान के प्रतिबध, परम्परागत व्यवसायों का पालन तथा पारस्परिक सम्बन्धो में शिथिलता आई है। इन क्षेत्रो में जाति के प्रतिबंध कमजोर पड रहे हैं। विधवा पुनर्विवाह, विवाह-विच्छेद तथा अन्तर्जातीय विवाहों की प्रक्रिया शुरू हो गई है। सामाजिक स्तरीकरण के निर्णायक जातिगत लक्षण कमजोर पड़ते जा रहे है। व्यक्ति के गुण, शिक्षा तथा व्यवसाय का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। जाति पंचायतें भी प्रभावहीन होती जा रही है। व्यक्ति जाति के बंधनों के प्रति उदासीन होते जा रहे है।

2. आर्थिक परिवर्तन— ग्रामों की आर्थिकी के प्रमुख लक्षणों में अनेक परिवर्तन आए हैं। इन परिवर्तनो के प्रमुख कारक शिक्षा, मशीनीकरण, विद्युतीकरण, आधुनिक सिचाई के साधन, शहरी सम्पर्क, प्रवसन, ट्रैक्टर आदि हैं। गाँवों का आर्थिक स्वरूप परम्परागत से आधुनिकता की ओर

तेजी से बदल रहा है। जजमानी-प्रथा टूट गई है। वस्तु-विनिमय समाप्त हो गया है। मुद्रा विनिमय पूर्ण रूप से छा गया है। पारम्परिक साहूकारी का वर्चस्व प्रायः समाप्त होता जा रहा है। कर्ज के नए साधन बैंक तथा सहकारी समितियाँ ग्रामीणों को ऋण देती हैं। कृषक श्रमिकों की सौदा करने की क्षमता बढ़ी है। उनके पारिश्रमिक समय-समय पर बढ़ते रहते हैं। कृषि के नए-नए उपकरण, अधिक उपजाऊ बीज और खाद के प्रयोग से कृषि के क्षेत्र में हरित क्रांति हुई है। इससे ग्रामों में परिवर्तन की प्रक्रिया में तेजी आई है। पहले किसान अपने ग्रामीण समुदाय की आवश्यकताओं के अनुसार खेती करता था लेकिन अब वह लाभ के अनुसार नक्द खेती (कैश क्रॉप) करता है। आज कृषक अपने समुदाय तक सीमित नहीं है। वह राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय बाजार में जुड़ गया है। आज भारतीय ग्रामीण समुदाय की आर्थिकी में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं।

3. राजनैतिक परिवर्तन— स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले ग्रामों की राजनैतिक व्यवस्था का नियंत्रण, निर्देशन तथा संचालन जाति-प्रथा, जाति-पंचायत, ग्राम-पंचायत, न्याय-पंचायत, वंशानुगत मुखिया तथा सरपंच आदि करते थे। परन्तु अब भारत के ग्रामों की राजनैतिक व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन हो गया है। जाति-पंचायतें अब अपने सदस्यों पर पहले जैसा नियंत्रण नहीं रखती हैं। कभी-कभी सम्पूर्ण जाति के गंभीर मामलों में जाति-पंचायत की अनौपचारिक समिति विवाद को निपटाने का प्रयास करती है। चुनाव की राजनीति ने गाँव के परम्परागत तथा वंशानुगत पंचों तथा सरपंचों को हटा दिया है। उनका स्थान युवा पीढ़ी ने ले लिया है। ग्रामीण शक्ति संरचना का रूप प्रजातांत्रिक हो गया है। ग्राम में न्याय-पंचायतें भी परम्परागत नहीं रही हैं। आज नेतृत्व का निर्धारण मतों की संख्या, शिक्षा, वंश, परिवार, जाति, सम्पत्ति, आयु, भू-स्वामित्व तथा नेतृत्व की योग्यता के आधार पर निश्चित होता है। स्त्रियों की राजनीति में सहभागिता में वृद्धि हुई। निम्न-जातियों को मत का अधिकार तथा पदों में आरक्षण के प्रावधान ने ग्रामीण राजनीति को बहुत प्रभावित किया हैं। ग्रामो में जातिगत प्रतिबंधों में परिवर्तन हुआ है तथा अस्पृश्यता भी समाप्त हुई है। सभी जातियों को मत का अधिकार तथा चुनाव लड़ने का अवसर की सुविधा ने भारत के ग्रामो की संरचना को बहुत अधिक परिवर्तित किया है।

4. सांस्कृतिक परिवर्तन— अनेक कारकों के प्रभावों के कारण ग्रामीण संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों मे परिवर्तन आए है। आधुनिक शिक्षा तथा शहरों के सम्पर्क के कारण उनके खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा, जीवन के उद्देश्य आदि में परिवर्तन हुआ है। सरकार द्वारा शिक्षण संस्थाएँ स्थापित की गई है। उनमें निम्न-जातियाँ तथा अस्पृश्य-जातियाँ भी शिक्षा प्राप्त करने लगी है। इन जातियो को अनेक सुविधाएँ प्रदान की गई हैं जिसके फलस्वरूप ये अनुसूचित-जातियाँ उच्च-जातियो के व्यवसायो तथा नौकरियों में आने लगी हैं। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया का अनुकरण निम्न-जातियाँ करके ऊपर उठ रही हैं। गाँवों मे आधुनिक मनोरंजन के साधन रेडियो, चल-चित्र, टेलीविजन, टेपरिकार्डर, ट्रांजिस्टर, वीडियो आदि पहुँच गए है। आधुनिक खेल-कूद शिक्षण संस्थाओं के माध्यम मे ग्रामों में पहुँच गए है, जैसे— फुटबाल, वॉलीबाल, क्रिकेट, हॉकी, बैडमिंटन आदि। ग्रामो मे धार्मिक विश्वास पहले जैसा प्रभावशाली नहीं है। धार्मिक तथा अन्य संस्कारों, कर्मकाण्डो, अनुष्ठानों आदि में ग्रामीणों की रुचि घटी है। अब ग्रामीण भौतिकवादी संस्कृति अधिक अपना रहे है।

भारतीय ग्रामीण समुदाय का महत्व भारतवर्ष के संदर्भ में अनेक प्रकार से है। इसकी संरचना तथा संगठन के ज्ञान का विशिष्ट स्थान है। इनको अभी और अधिक गहनता से समझना आवश्यक है जिसके लिए विभिन्न ग्रामों का क्षेत्रीय अध्ययन होना चाहिए।

नगरीय समुदाय

(URBAN COMMUNITY)

भारतीय समाज को पूर्ण रूप से समझने के लिए इसके नगरों को समझना आवश्यक है। नगर का जन्म कब हुआ, निश्चित रूप से बताना बहुत कठिन है। लेकिन यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि नगरो का जन्म ग्रामों के जन्म के बहुत बाद मे हुआ है। नगर प्राचीन काल से विद्यमान हैं। नगरों की उत्पत्ति और विकास का सुनिश्चित इतिहास उपलब्ध नहीं है। **गिस्ट** और **हेलबर्ट** ने कहा है, "सभ्यता के जन्म के समान ही नगरों का जन्म भी भूत के अंधकार में खो गया है।" नगर की अवधारणा ग्रामीण अवधारणा के संदर्भ में देखी जाती है। नगर, नगरीकरण तथा नगरवाद महत्त्वपूर्ण अवधारणाएँ है। पहले हम इनका अध्ययन करेंगे।

नगर की परिभाषा एवं अर्थ

1. विलकॉक्स की परिभाषा— आपने नगर की परिभाषा कृषि व्यवसाय के आधार पर निम्नलिखित रूप मे दी है, "जहाँ मुख्य व्यवसाय कृषि है, उसे गाँव तथा जहाँ कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय प्रचलित है, उसे नगर कहेंगे।"

2. लुइस वर्थ के अनुसार, "समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से एक नगर की परिभाषा सामाजिक भिन्नता वाले व्यक्तियों के बडे, घने बसे हुए एवं स्थायी निवास के रूप में की जा सकती है।"

3. जनसंख्यानुसार परिभाषा— नगर की परिभाषा जनसंख्या के आकार के आधार पर दी गई है और उनको मान्यता भी प्राप्त है। फ्रांस में 2,000 या अधिक, मिस्र में 11,000 और अमेरिका में 25,000 या अधिक जनसंख्या वाले स्थान को नगर के नाम से परिभाषित किया गया है। भारत में एक लाख या इससे अधिक जनसंख्या वाले स्थान को नगर कहा गया है। पाँच हजार या इससे अधिक जनसंख्या वाले स्थान को **कस्बा** के नाम से परिभाषित किया गया है। कस्बे के लिए निम्नलिखित तीन आधार भी आवश्यक हैं— (1) पाँच हजार से अधिक जनसंख्या, (2) जनसंख्या का घनत्व 400 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर या अधिक होने पर और (3) कम से कम 75% वयस्क पुरुष जनसंख्या गैर-कृषि कार्यों में कार्यरत होनी चाहिए।

नगरीकरण की अवधारणा— नगरीकरण आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण सार्वभौमिक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का आशय नगरों की उत्पत्ति, विकास और परिवर्तन से सम्बन्धित होता है। बर्गल, डेविस और एण्डरसन ने इसकी निम्नलिखित परिभाषाएँ दी हैं—

1. बर्गल— आपने लिखा है, "ग्रामीण क्षेत्रों के नगरीय क्षेत्रों में परिवर्तन होने की प्रक्रिया को ही हमें नगरीकरण कहना चाहिए।"

2. डेविस के अनुसार, "नगरीकरण एक सुनिश्चित प्रक्रिया है, परिवर्तन का वह चक्र है जिसमें कोई समाज कृषक-समाज से औद्योगिक-समाज मे परिवर्तित हो जाता है।"

3. नेल्स एण्डरसन— आपने नगरीकरण के निम्नलिखित तीन अर्थ बताए हैं— (1) लोगों का ग्राम से नगर की ओर गमन करना, (2) कृषि के स्थान पर गैर-कृषि कार्यों को अपनाना, और (3) बिना गमन किए अपने विचारों तथा व्यवहारो में नगरीय होना। इस प्रकार नगरीकरण ग्रामीण से नगरीय बनने की एक प्रक्रिया है।

नगरवाद— नगरवाद एक प्रकार की मानसिकता और मनोवृत्ति की अवस्था या दशा है। नगर में रहने वाले लोगो की विशिष्ट प्रकार की भावना तथा चेतना नगरवाद को जन्म देती है। नगरवाद नगर में निवास करने वालों की एक विशिष्ट जीवन-शैली है। नगरवाद को शहर मे रहने वाले लोगो की भाषा, रहन-सहन, व्यवसाय, शिष्टाचार, वेश-भूषा, खान-पान आदि के प्रति दृष्टिकोण मे देख सकते हैं। नगरवाद के कारण ही शहरी लोग अपने को ग्रामवासियो की तुलना में सुसंस्कृत, सभ्य और श्रेष्ठ मानते हैं। ये लोग ग्रामवासियों को गँवार, पिछड़ा हुआ, असभ्य तथा हीन मानते है। *नगरवाद नगरीय-जीवन, व्यवसाय, संस्कृति आदि की श्रेष्ठता के प्रति दृष्टिकोण तथा मनोवृत्ति को* कह सकते हैं। नगरवाद जीवन का तरीका तथा व्यवहार करने की विधि है। नगरवाद प्रतिमानों और मनोवृत्तियों की ऐसी व्यवस्था है जो अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धो के अन्तर्गत व्यक्तिवाद, औपचारिकवाद तथा गुमनामी के रूप मे होती है।

नगरीय विकास के कारक

नगर के विकास के अनेक कारक हैं। उनमें प्रमुख कारक कृषि मे क्रान्ति, जनसंख्या मे वृद्धि, संचार एवं यातायात के साधन, अनुकूल भौगोलिक पर्यावरण, सांस्कृतिक कारक आदि है। इनका विवरण निम्नलिखित है—

1. कृषि में क्रान्ति— जब से कृषि के क्षेत्र मे अधिक पैदावार के बीज, खाद, सिंचाई के साधनो में विकास, बिजली तथा मशीनो का प्रयोग बढा है तब से खेती के कार्य मे श्रमिको की संख्या घटी है। कुछ व्यक्ति मशीनों द्वारा आधुनिक उपकरणो तथा साधनो से खेती का कार्य कर लेते है। इससे ग्रामों में बेकारी बढ़ी है। इन बेरोजगार लोगो ने नगरों की ओर प्रवसन किया है इससे नगरो की जनसंख्या और जन-घनत्व मे वृद्धि हुई है। इससे नगरीकरण की प्रक्रिया तेज हुई है।

2. जनसंख्या में वृद्धि— ग्रामों में जनसंख्या मे निरन्तर वृद्धि होती रही है। भूमि पर अधिक दबाव पड़ना, खेती की भूमि का जनसंख्या में वृद्धि के कारण कम पड़ना, ग्रामीणो का अपने गाँवो को छोड़ कर नगरो की ओर व्यवसाय की खोज मे जाना, आदि कारको से नगरो की जनसंख्या मे वृद्धि होती रहती है।

3. उद्योग-धन्धे— उद्योग-धन्धो ने नगरो के विकास को तेज किया है। एक स्थान पर मशीनीकरण के कारण उद्योगों का केन्द्रीयकरण हो गया है। एक स्थान पर अनेक कल-कारखाने खुले। औद्योगीकरण जहाँ-जहाँ हुए वहाँ-वहाँ पर जनसंख्या भी बढ़ी। धीरे-धीरे ये स्थान कस्बे, नगर और महानगर बन गए।

4. व्यापार और वाणिज्य— प्राचीनकाल और मध्यकाल मे नगरीकरण का मुख्य कारण व्यापार और वाणिज्य थे। सिम्स के अनुसार, "व्यापार नगर के अस्तित्व के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि एक प्राणी के लिए रक्त का परिचालन होता है।" नगरो का विकास व्यापार और वाणिज्य के विकास के साथ-साथ हुआ है। जहाँ-जहाँ व्यापार और वाणिज्य बढ़ता गया वैसे-वैसे जनसंख्या तथा जनघनत्व बढ़ा और बड़े नगर बन गए। इन केन्द्रो मे आसपास के गाँवो के लोग आकर बस गए।

5. अनुकूल भौगोलिक पर्यावरण— जो स्थान मानव की आवश्यकताओ की पूर्ति सरलता से करते हैं, व स्वास्थ्यवर्धक होते है, समतल भूमि होती है; सिंचाई के साधन होते हैं। अर्थात् भौगोलिक पर्यावरण अनुकूल होता है वहाँ मानव की सभ्यता और संस्कृति का विकास होता है।

मानव वहाँ पर बस जात हैं। धीरे-धीरे ये स्थान नगर का रूप धारण कर लेते है। मानव इतिहास इस बात का प्रमाण है कि नगर और महानगर वहीं पर विकसित हुए हैं जहाँ का भौगोलिक पर्यावरण मानव के लिए अनुकूल था।

6. यातायात एवं संचार के साधन-- जो स्थान समतल थे; आवागमन के लिए सुगम थे; आसपास के ग्रामो तथा क्षेत्रों से लोग सरलता से आ-जा सकते थे; वह स्थान नगरों मे विकसित हो गए है। सड़क, मोटर, रेल, वायुयान, जहाज आदि आधुनिक यातायात के साधनों ने भी नगरों के विकास में योगदान दिया है। इन साधनों से लोगो की गतिशीलता में वृद्धि हुई है। लोग विभिन्न स्थानो पर सुगमता से आ-जा सकते है। डाक-तार, टेलीफोन, एस.टी.डी. आदि सुविधाओ ने नगरो के विकास मे योगदान दिया है।

7. सांस्कृतिक कारक-- धार्मिक, शैक्षिक, खेल-कूद आदि के कारण भी नगरों का विकास हुआ है। जब कोई स्थान तीर्थ-स्थल बन जाता है; उसकी धार्मिक महत्ता बढ जाती है तो वहाँ पर तीर्थ- यात्री आने लगते है, तो वह स्थान धीरे-धीरे नगर में विकसित हो जाता है। भारतवर्ष में काशी, गया, प्रयाग, पुरी, अजमेर आदि इसके उदाहरण हैं। इसी प्रकार शिक्षण संस्थाएँ भी शिक्षा के महत्त्व के कारण नगर बन जाते हैं। ऑक्सफोर्ड, कोलम्बिया, बनारस आदि शिक्षा के केन्द्र के कारण भी महत्त्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार खेल-कूद, फिल्म-उद्योग, संगीत, नाटक आदि के कारण भी नगरो का विकास हुआ है। बम्बई, मद्रास, हॉलीवुड इसके उदाहरण है।

8. राजनैतिक कारक-- राजा, महाराजा, राज सत्ताधारी अपने केन्द्र सुरक्षित स्थान पर बनाते है। प्रदेश या प्रान्त के बीच मे बनाते है। राजनैतिक सत्ता होने के कारण ऐसे स्थानों पर सभी प्रमुख मुख्यालय होते है। सेना अधिक सख्या में रखी जाती है। वह राजधानी बन जाती है। इन स्थानों की जनसंख्या तेजी से बढ़ती है। ये स्थान अन्य स्थानो की तुलना में तेजी से नगर और महानगर बनते हैं। दिल्ली, जयपुर, भोपाल, चंडीगढ़ इसके उदाहरण है।

9. सुरक्षा की भावना-- ग्रामों की तुलना मे नगरो में अनेक सुख-सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं। व्यवसायो की बाहुल्यता, चिकित्सा एव स्वास्थ्य शिक्षा, पुलिस न्यायालय, डाक व तार, बैंक, ऋण आदि की सुविधा होने के कारण सभी नगरो मे रहना-बसना चाहते हैं। वहाँ व्यक्ति को शारीरिक और मानसिक सुरक्षा का अनुभव होता है। ये सुविधाएँ नगरों का विकास करने में विशेष प्रभाव डालती है।

10.मनोवैज्ञानिक कारक-- ऐसे अनेक मनोवैज्ञानिक कारक है जो नगरों मे होते है और व्यक्ति उनसे आकर्षित होकर नगर मे बसना चाहता है। ये कारक है--भौतिक सुख-सुविधाएँ, आधुनिक फैशन, नवीनतम जीवनशैली, अत्याधुनिक मनोरजन के साधन, होटल, क्लब, सिनेमाघर, वस्त्र, आभूषण, मकान आदि।

भारत में कस्बे और नगर

भारत की ग्रामीण और नगरीय जनसंख्या में सन् 1901 से लेकर अब तक परिवर्तन हुआ है। भारत मे अन्य देशो की तुलना मे नगरीकरण की गति धीमी है। नगरों में जितनी सुविधाएँ है उससे कहीं अधिक लोग रहते है। पिछले दो दशकों मे राजधानियों की जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई है। दिल्ली, जयपुर और बगलौर में यह गति अधिक रही है। सन् 1921 से लेकर अब तक नगरो की जनसंख्या मे दुगने से कुछ अधिक वृद्धि हुई है। सन् 19. 1 में नगरों में निवास करने वालों का

प्रतिशत 11.27% था जो सन् 1991 में बढकर 25 7% हो गया है। यह जनसंख्या का प्रतिशत 1971 में 19.09%, 1981 में 23 31% और 1991 में 25 7% था। भारत में सन् 1991 की जनगणनानुसार नगरों और कस्बों की कुलसंख्या 4,689 तथा नगरीय जनसंख्या 21 17 करोड थी। जिसमें एक लाख या इससे अधिक जनसंख्या वाले नगर 317 तथा जनसंख्या 14 करोड थी और 10 लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगर 23 थे तथा जनसंख्या 7 1 करोड थी। एक लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगरों में 62 2% जनसंख्या निवास करती थी।

नगरों में जनसंख्या की वृद्धि दर सन् 1971-81 के दशक में 3.83 थी और सन् 1981-91 के दशक में 3 07 हो गई। सन् 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में सबसे बडा नगर बम्बई है और इसकी जनसंख्या 1.26 करोड है। कलकत्ता 1 09 करोड, दिल्ली 84 लाख, मद्रास 54 लाख, हैदराबाद 43 लाख तथा बंगलोर 41 लाख जनसख्या वाले महानगर है। विश्व के महानगरों में बम्बई का स्थान छठा, कलकत्ता का दसवाँ और दिल्ली का बीसवाँ स्थान है, मैक्सिको का प्रथम स्थान है।

भारत में जनसंख्या के आधार पर नगरों को निम्न 6 श्रेणियों मे विभाजित किया गया है-

प्रकार	जनसंख्या
(1) छोटे कस्बे	5,000-10,000
(2) कस्बे	10,000-20,000
(3) विशाल कस्बे	20,000-50,000
(4) नगर	50,000-1,00,000
(5) महानगर	1,00,000-10,00,000
(6) मैट्रोपॉलिटन नगर	10,00,000-1,00,00 000

भारतीय नगरों को उनमे होने वाले कार्यों या किसी विशेषता के आधार पर निम्न सात प्रकारो में विभक्त कर सकते है—

1. धार्मिक केन्द्र— भारत मे अनेक शहर ऐसे हैं जो महत्वपूर्ण तीर्थ स्थान रहे हैं। ये धार्मिक गतिविधियों तथा क्रियाकलापो के महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। इसके अतर्गत हरिद्वार, अजमेर, गया, पुरी, काशी, प्रयाग, मथुरा आदि आते हैं।

2. राजनीतिक केन्द्र— जो स्थान राजनीतिक गतिविधियों के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान बन जाते हैं उन्हें इसके अंतर्गत रखा जाता है। ऐसी गतिविधियो में राजधानी का बनना भी एक कारक है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में अनेक राजधानियाँ बनाई गईं, जो आज बड़े-बडे नगर बन गए हैं, जैसे— जयपुर, भोपाल, चंडीगढ़, लखनऊ, मद्रास, दिल्ली आदि।

3. व्यापार और वाणिज्य के केन्द्र— अंग्रेजो के भारत में आने के कारण बदरगाह बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्र बन गए। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों ने कई स्थानो को वाणिज्य का केन्द्र बनाया। इन स्थानों मे वस्तुओं का थोक क्रय-विक्रय होता है। बैंक-साख, यातायात के साधन तथा सचार के साधनो की सुविधाएँ होती है। ऐसे नगर इस श्रेणी मे रखे जाते है। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, कानपुर आदि इसी प्रकार के नगर हैं।

4. उत्पादन के केन्द्र-- ऐसे शहर जो लोहा, इस्पात, कपडा, चीनी आदि का उत्पादन बड़ी मात्रा में करते हैं। जहाँ बड़े-बडे उद्योग, कारखाने, मिले हैं वे इस वर्ग में आते है। दुर्गापुरा, भिलाई, जमशेदपुर, अहमदाबाद आदि ऐसे नगर हैं।

5. शिक्षण केन्द्र-- कुछ स्थान शिक्षा और संस्कृति के कारण महत्त्वपूर्ण होते हैं। लोग वहाँ अध्ययन तथा अध्यापन के लिए जाते हैं। वे धीरे-धीरे नगर में विकसित हो जाते है। इलाहाबाद, बनारस, आगरा, लखनऊ, नालंदा, तक्षशिला ऐसे नगरों के उदाहरण हैं।

6. सैनिक केन्द्र-- जो नगर सैनिक क्रिया के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन जाते हैं; जहाँ सैनिक छावनियाँ, सेना के प्रशिक्षण केन्द्र, हथियार रखे जाते है वे इस प्रकार के नगर कहलाते हैं। इनमें मेरठ, बरेली, अम्बाला, देहरादून, जोधपुर आदि नगर आते है।

7. स्वास्थ्य एवं मनोरंजन के केन्द्र-- कुछ स्थान मनोरजन के केन्द्र होते हैं। वहाँ की जलवायु स्वास्थ्यवर्धक होती है। ये पर्यटन के केन्द्र भी बन जाते है । ऐसे स्थानो को इस वर्ग में रखा गया है। माउण्ट आबू, नैनीताल, मसूरी, शिमला आदि इस प्रकार के नगर है।

भारतवर्ष मे नगर तीर्थ-स्थान, राजधानियाँ, व्यापारिक केन्द्र, शिक्षण केन्द्र आदि के परिणाम हैं। ये कारण पूर्व-औद्योगिक भी कहे जा सकते हैं। आज तो भारत में अनेक नगरो का विकास नगर से महानगर की ओर अनेक कस्बों के कारण हो रहा है।

भारतीय समाज पर नगरीकरण के प्रभाव

नगरीकरण एक मानसिकता और मनोवृत्ति की परिचायक हे जो ग्रामीण जीवन से भिन्न होती है। यह एक प्रकार की जीवन शैली है जिसका प्रभाव विवाह के प्रकारो, मूल्यो, विधियों, स्वरूपो पर पड़ता है । इसी प्रकार परम्परागत संयुक्त परिवार की संरचना, कार्यों तथा मूल्यों पर भी नगरीकरण के प्रभाव पड़े है। जाति-व्यवस्था भी इससे अछूती नही रही है। नगरीकरण के प्रभाव निम्नलिखित है--

1. विवाह पर प्रभाव-- नगरीकरण ने हिन्दू विवाह के उद्देश्यो तथा प्रथाओं को बदला है। विवाह का उद्देश्य अब धर्म न होकर रति हो गया है। प्रेम-विवाहो का प्रचलन पढता जा रहा है। विधवा पुनर्विवाह, विवाह विच्छेद, अतर्जातीय विवाह अधिक होने लगे हैं। विवाह जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध नही रहा। नगरों मे विवाह केवल वर-वधु के सम्बन्ध स्थापित करता है। पहले विवाह के द्वारा दो परिवार परस्पर सम्बन्धित होते थे। नगरीकरण ने नातेदारी के सम्बन्धो को शिथिल कर दिया है तथा मित्रो के परस्पर सम्बन्धो को घनिष्ठ बनाया है।

2. परिवार पर प्रभाव-- नगरीकरण ने परम्परागत सयुक्त परिवारो को एकाकी परिवारों में बदला है। नगरों मे आवास की समस्या के कारण तीन या तीन पीढी से अधिक के सदस्य एक छत के नीचे नहीं रह पाते है। एक चूल्हे पर बना भोजन नहीं करते है। नगरो में व्यक्ति की आकाक्षाएँ बहुत बढ़ जाती हैं। वे अपना जीवन स्तर उच्च रखना चाहते है। शहर की महँगाई के कारण व्यक्ति अपने एकाकी परिवार तक सिमट कर रह जाता है। शहरी शिक्षा के कारण नगर का वासी व्यक्तिवादी हो जाता है। समूहवाद की भावना नष्ट हो जाती है। इस प्रकार नगर, नगरीकरण तथा नगरवाद के प्रभाव के कारण संयुक्त परिवार का ढाँचा और कार्य एकाकी परिवार के ढाँचे और कार्यों में बदल रहे है।

3. जाति-प्रथा पर प्रभाव-- नगरो में जाति के विभिन्न प्रतिबन्धो मे शिथिलता आई है। जाति में सदस्यता, व्यवसाय, विवाह, खान-पान, सामाजिक सम्बन्ध, छुआछूत आदि प्रतिबन्ध होते

हैं। नगरीकरण के फलस्वरूप छुआछूत सम्बन्धी नियमों तथा प्रतिबन्धों में उदारता आई है। नगरों में ये प्रतिबन्ध समाप्त से हो गए हैं। इसी प्रकार व्यक्ति अपनी पसंद का व्यवसाय करता है। विवाह बाहर की जातियों में होने लगे हैं। नगरों में जाति-पंचायत कम महत्त्वपूर्ण है। खान-पान सम्बन्धी प्रतिबन्ध तो बिलकुल समाप्त हो गए हैं। नगरों में व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्णय उसके जन्म द्वारा निर्धारित नहीं होता है। व्यक्ति अपने गुणों के द्वारा प्रस्थिति को प्राप्त करता है। नगरीकरण ने प्रस्थिति को प्रदत्त से अर्जित में बदल दिया है।

4. स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन— नगरीकरण ने स्त्रियों की स्थिति को पुरुषों के बराबर लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। नगरों में स्त्रियाँ घरों की चारदीवारी से बाहर आ गई हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त करती हैं। स्वयं नौकरी, व्यापार तथा राजनैतिक क्षेत्रों में कार्य करती हैं। नगरों में पर्दाप्रथा काफी कम हो गई है। बाल-विवाह की प्रथा नगरों में देखने को कम मिलती है। प्रेम विवाह, विधवा-पुनर्विवाह, अंतर्जातीय विवाहों का प्रतिशत दिन-प्रति-दिन नगरों में बढ़ता जा रहा है। परिवार मे पति तथा पत्नी की प्रस्थिति समान होती जा रही है। नगरों में स्त्रियाँ डॉक्टर, इंजीनियर, प्रशासक, मंत्री, विधायक, सांसद, प्राध्यापक आदि पदों पर सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं। नगरीकरण के द्वारा स्त्रियों की प्रस्थिति और भूमिका में उल्लेखनीय प्रगति हुई है।

5. सामाजिक गतिशीलता में परिवर्तन— नगरीकरण ने सामाजिक गतिशीलता को प्रोत्साहन दिया है। जाति-प्रथा में जो निम्न-जाति में जन्म लेता है आजन्म उसी जाति का सदस्य रहता है। जाति में सामाजिक गतिशीलता नहीं थी। नगरों में जाति के बंधन शिथिल हो गए है। व्यक्ति अपने गुणों, मेहनत, ईमानदारी, शिक्षा, लगन आदि के द्वारा अपनी स्थिति सुधार कर उच्च वर्ग में जा सकता है। नगरों में व्यक्ति को विकास करने के अवसर प्राप्त हैं। इसीलिए नगरीकरण के द्वारा सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि हुई है।

6. अन्य परिवर्तन— नगरीकरण के द्वारा समाज के अन्य अनेक क्षेत्रों में भी परिवर्तन हुए हैं। नगर का व्यक्ति विकास करता है। उच्च शिक्षा प्राप्त करता है। उनका सोच तार्किक हो जाता है। वह कम अन्धविश्वासी होता है। धार्मिक दृष्टि से भी वह आस्तिक कम और वैज्ञानिक विचारधारा वाला अधिक बन जाता है। नए-नए परिवर्तनों का स्वागत करता है। समस्याओं के कारणों की खोज करता है। भाग्य पर कम विश्वास रखता है। सामाजिक नियंत्रण के साधनों में भी नगरों में परिवर्तन देखने को मिलते है। सामाजिक नियंत्रण के प्राथमिक, अनौपचारिक तथा प्रत्यक्ष साधनों के स्थान पर नगरों में द्वितीयक, औपचारिक, अप्रत्यक्ष, संगठित साधन होते है। धर्म के स्थान पर सरकार, पुलिस, कोतवाली, न्यायालय, सेना आदि के द्वारा नगरों मे सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखा जाता है। नगरीकरण के भारतीय समाज पर अनेक प्रभाव पड़े है।

नगरीय सामाजिक संरचना और स्तरीकरण

नगरीय सामाजिक संरचना को समझने के लिए आवश्यक है कि हम नगरों के स्तरीकरण का अध्ययन करें। स्तरीकरण दो प्रकार के होते है— (1) बन्द स्तरीकरण, (2) खुला स्तरीकरण। बन्द स्तरीकरण मे व्यक्ति जिस श्रेणी या खण्ड मे जन्म लेता है आजन्म उसी का सदस्य बना रहता है। उसे अपनी श्रेणी या खण्ड की सदस्यता छोड़कर उच्च या निम्न श्रेणी मे जाने का अवसर नहीं दिया जाता है। ऐसे स्तरीकरण में व्यक्ति की सदस्यता प्रदत्त (जन्म पर आधारित) होती है। इस प्रकार का स्तरीकरण और सामाजिक संरचना भारतीय ग्रामो मे जाति-व्यवस्था के रूप में देखा जा सकता है। दूसरा खुला स्तरीकरण का प्रकार है। इसमें व्यक्ति की सदस्यता अर्जित होती है अर्थात् व्यक्ति

अपनी शिक्षा, व्यवसाय और आय के द्वारा अपनी सदस्यता एक श्रेणी या खण्ड से दूसरी श्रेणी या खण्ड में प्राप्त कर सकता है। सदस्यता जन्म पर आधारित नहीं होती है। सदस्यता परिवर्तनीय तथा गतिशील होती है। इस प्रकार का स्तरीकरण वर्ग व्यवस्था है जो पश्चिम के समाजों तथा भारतीय नगरों में देखी जा सकती है।

भारत के नगरों में दूसरा प्रकार खुला स्तरीकरण मिलता है जिसमें व्यक्ति अपनी प्रस्थिति शिक्षा, व्यवसाय, आय, सम्पत्ति आदि को कठोर परिश्रम, गुण व योग्यता आदि के द्वारा बदल सकता है। भारत के नगरों मे सामाजिक संरचना का आधार संयुक्त परिवार के स्थान पर एकाकी परिवार है तथा स्तरीकरण जाति के स्थान पर वर्ग पर आधारित है। ग्रामो मे स्तरीकरण अगतिशील और प्रदत्त होता है तथा नगरों में गतिशील और अर्जित होता है।

भारतीय नगरीय सामाजिक संरचना और स्तरीकरण का अध्ययन विद्वानों ने उपर्युक्त संदर्भ में ही किया है। भारत के नगरीय समाजशास्त्री विक्टर एस. डिसूज़ा ने चण्डीगढ शहर के स्तरीकरण का अध्ययन किया। आपने बन्धुता, जाति, वर्ग, धर्म और विस्थापित अवस्थाओं के आधार पर अध्ययन किया। आपने वर्ग की परिभाषा देते हुए लिखा कि सामाजिक वर्ग व्यक्तियों की एक श्रेणी है जिनकी सामाजिक प्रतिष्ठा या प्रस्थिति लगभग समान होती है। आपने व्यावसायिक प्रतिष्ठा वर्ग स्थिति को सबसे अधिक विश्वसनीय सूचक माना है। भारत के नगरों को चार प्रमुख वर्गों मे बाँटा गया है—(1) उच्च वर्ग, (2) उच्च-मध्यम वर्ग, (3) मध्यम वर्ग, और (4) श्रमिक वर्ग। ये निम्नलिखित प्रकार है—

1. उच्च वर्ग— समाज में सर्वोपरि स्थान उच्च वर्ग के लोगों का होता है। ये लोग अत्यधिक साधन सम्पन्न होते हैं। इनमे विलासिता की वस्तुओं का अधिकतम उपभोग पाया जाता है। ये लोग उच्च-स्तरीय राजनैतिक अभिजात होते है। इस वर्ग के लोग बडी-बडी मिलों, कारखानों, फर्मों, उद्योगों, व्यापारिक प्रतिष्ठानो के मालिक होते है। राजनैतिक दलो मे भी इन धनी लोगों का वर्चस्व बढ रहा है। ये लोग सभी प्रकार से अधिकतम सम्पन्न होते है।

2. उच्च-मध्यम वर्ग— इस वर्ग के अतर्गत उच्च आय वाले व्यवसायी, वैज्ञानिक, तकनीकिज्ञ, बडे सौदागर, उद्योग मे व्यावसायिक प्रबधक, न्यायाधीश आदि होते हैं। इस वर्ग के सदस्य साधन सम्पन्न होते हैं, परन्तु उच्च वर्ग से कुछ कम होते है।

3. मध्यम वर्ग— इस वर्ग के सदस्यों मे निम्नस्तरीय अधिकारी, स्कूल के अध्यापक, निजी फर्मों में संलग्न लिपिक, छोटे दुकानदार, छोटे स्तर के उद्यमी आदि आते है। इनकी आर्थिक स्थिति संतोषजनक कही जा सकती है।

4. श्रमिक वर्ग— यह वर्ग स्तरीकरण के सोपान मे निम्नतम स्तर पर होता है। इस वर्ग के सदस्यो की आय बहुत कम होती है। इस वर्ग में सेवा करने वाले श्रमिक, कारीगर, घरेलू उद्योगों के श्रमिक, अप्रशिक्षित मजदूर, फेरी वाले, मकान निर्माण करने वाले श्रमिक आदि होते है। इनके जीविकोपार्जन के साधनो की स्थिति अनिश्चित-सी रहती है। कभी-काम मिलता है, कभी नही मिलता है। इनकी आय निश्चित नही होती है।

डिसूज़ा ने 'उत्तरदाता स्वयं अपने को किस वर्ग का मानते हैं'— को भी वर्ग-निर्माण में ध्यान में रखा है। आपने वर्ग निर्माण में वैज्ञानिक का वस्तुपरक तथा उत्तरदाता का व्यक्तिपरक दोनों ही दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर अध्ययन किया है। ये वर्ग हैं—(1) उच्च वर्ग, (2) मध्यम वर्ग, (3)

श्रमिक वर्ग और (4) निम्न वर्ग। आपका मानना है कि नगरों में भाँति-भाँति के व्यवसायिक वर्ग भी होते हैं। इनमें अध्यापन, चिकित्सा और कानून सेवा आदि कार्य आते हैं। भारत में प्रति 10,000 कर्मियों के पीछे 171 ही व्यवसायी कार्यकर्त्ता हैं। इसकी तुलना में फिलीपीन मे 294, मलेशिया में 314, चीन में 349, श्रीलंका में 446 और जापान में सर्वाधिक 489 व्यवसायी कार्यकर्त्ता प्रति 10,000 हैं। भारत में व्यवसायों में अधिकतर उच्च जातियों तथा नगरों के लोग है। पंजीकृत उद्योगों के आँकड़ो से यह तथ्य सामने आता है कि लगभग 70% कर्मचारी नगरों मे निवास करते हैं।

ग्राम और नगर में स्तरीकरण के आधार भिन्न हैं। नगरों में स्तरीकरण के आधार शिक्षा, व्यवसाय और आय हैं। गाँवों में जाति प्रथा है। जाति का प्रभाव नगरो में भी है। नगरो मे उच्च-जातियाँ उच्च-वर्ग में तथा निम्न-जातियाँ निम्न-वर्ग में परिवर्तित हो रही है। नगरो में शिक्षा, पद, व्यवसाय जाति से सम्बन्धित हैं। उच्च-जातियों में ही उच्च-शिक्षा, पद, व्यवसाय, आय मिलती है तथा मध्यम एवं निम्न वर्ग में शिक्षा, पद, व्यवसाय, आय आदि का स्तर क्रमश मध्यम और निम्न मिलता है। आई.पी. देसाई का कहना है कि एक प्रकार से भारत के नगर भारत के ग्रामों के ही विस्तृत रूप है। क्योंकि इनकी सामाजिक संरचनाओं में बहुत अधिक अन्तर नहीं मिलता है।

ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों में अन्तर

ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों मे अन्तर विभिन्न वैज्ञानिकों—बोगार्डस, सोरोकिन, जिमरमैन, सिम्स, रॉस, नेल्स एण्डरसन आदि ने बताए हैं जो निम्न तालिका मे प्रस्तुत किए गए है—

अन्तर के आधार	ग्रामीण समुदाय	नगरीय समुदाय
1 जनसंख्या	5,000 से कम जनसंख्या।	5,000 या इससे अधिक जनसंख्या।
2. जनसंख्या का घनत्व	400 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर से कम।	400 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर से अधिक।
3 व्यवसाय	70 से 75 प्रतिशत लोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि कार्य मे सलग्न।	75 प्रतिशत वयस्क पुरुष जनसंख्या गैर-कृषि कार्यों में सलग्न।
4 प्रकृति से सम्बन्ध	प्रत्यक्ष और घनिष्ठ सम्बन्ध।	अप्रत्यक्ष और सामान्य सम्बन्ध।
5 आकार	छोटा आकार, न्यून जनसख्या, पारस्परिक सम्बन्धों की घनिष्ठता।	विस्तृत आकार, जनसख्या की अधिकता, औपचारिक सम्बन्धों की प्रधानता।
6 परिवार	कृषि व्यवसाय पर आधारित, पितृवंशीय, पितृस्थानीय परम्परागत सयुक्त परिवार, सामान्य निवास, सामूहिक सम्पत्ति एव समूहवाद की प्रधानता।	एकाकी परिवार, पति-पत्नी की समान स्थिति, स्त्रियों और बच्चो का महत्त्व, प्रेम एव वात्सल्य पर आधारित व्यक्तिवाद- एव व्यक्तिगत हितो की प्रधानता।
7. विवाह	परिवारजनों द्वारा विवाह का निर्धारण, अत जातीय-विवाह व बाल-विवाह की अधिकता। विवाह एक धार्मिक सस्कार।	प्रेम विवाह, लड़के-लड़की की इच्छा की प्रधानता। तलाक, विधवा-विवाह एव अतर्जातीय विवाहो का अधिक प्रतिशत, न्यून बाल-विवाह।

	तलाक एवं विधवा-विवाह की न्यूनता।	
8. स्त्रियों की स्थिति	पर्दा-प्रथा, जीवन घर की चार-दीवारी में सीमित, शिक्षा का अभाव, पुरुषों पर आश्रित, अंध विश्वासी, भाग्यवादिता, निम्न-सामाजिक स्थिति।	शिक्षा प्राप्ति की स्वतंत्रता, पर्दा-प्रथा में कमी, आर्थिक क्षेत्र में स्वावलम्बी, न्यून-अंधविश्वास, स्वच्छन्द जीवन, पुरुषों के समान स्थिति।
9. सामाजिक	जाति-प्रथा पर आधारित, प्रदत्त, स्थाई एव अपरिवर्तनशील प्र-स्थिति, न्यून विषमताएँ।	वर्ग पर आधारित, अर्जित, गतिशील, परिवर्तनशील प्रस्थिति, अत्यधिक विषमताएँ, शिक्षा, व्यवसाय एवं आय पर आधारित।
10 स्थायित्व	'घड़े में शांत जल के समान' स्थायित्व की प्रधानता।	'केतली में उबलते जल के समान' गतिशीलता की प्रधानता।
11 सामाजिक सम्बन्ध	प्रत्यक्ष एवं घनिष्ठता के सम्बन्ध, अनौपचारिक वैयक्तिक एव प्राथ-मिक सम्बन्ध।	अप्रत्यक्ष, औपचारिक, द्वितीयक, एवं अवैयक्तिक सम्बन्ध।
12 सामाजिक नियंत्रण	अचेतन, प्रत्यक्ष, अनौपचारिक, आमने-सामने के सम्बन्धो पर आधारित।	चेतन, अप्रत्यक्ष, औपचारिक, लि-खित, एव द्वितीयक।
13 धर्म	ईश्वर एवं प्रकृति मे अनंत विश्वास, निष्ठा पर आधारित धर्म एव अतिभाग्यवादी।	विवेक पर आधारित धर्म, भाग्यवादिता का अभाव।
14 सांस्कृतिक जीवन	परम्पराओ का अत्यधिक महत्त्व, रूढ़िवादिता की प्रधानता, मूल्यो की प्रधानता, कृत्रिमता का अभाव	गत्यात्मक एवं परिवर्तनशीलता, नवीनतम फैशन एवं कृत्रिमता की प्रधानता एव भौतिकवादी।
15 आर्थिक व्यवस्था	न्यून श्रम-विभाजन एव विशेषी-करण, कृषि-प्रधान व्यवसाय, मितव्ययता, उत्पादन व उपभोग की आर्थिकी।	अधिक श्रम-विभाजन एवं विशेषी-करण, गैर-कृषि व्यवसायों की प्रधानता, उद्योग, व्यापार आदि की बाहुल्यता।
16 राजनैतिक व्यवस्था	जनमत का अधिक महत्त्व, पंच-का निर्णय सर्वोपरि, जाति एव ग्राम पंचायत का प्रभाव, परम्परा द्वारा मुखिया का निर्धारण।	जनमत का अभाव, कानून का महत्त्व, पंचो का अभाव, मतदान द्वारा नेतृत्व का चुनाव, राजनैतिक विचार व्यक्ति-गत।
17 सामाजिक समस्याएँ	न्यून विघटन, मानसिक संघर्ष, तनाव तथा निराशा की न्यूनता, न्यून अपराध।	व्यक्तिगत विघटन की अधिकता, मान-सिक संघर्ष, तनाव तथा निराशा की अधिकता, अपराधों की अधिकता।

प्रश्न

1. ग्रामीण समुदाय की परिभाषा दीजिए। भारतीय ग्रामीण समुदायों की विशेषताएँ बताइये। (उत्तर तीन पृष्ठों से अधिक नहीं)

(मा शि बो , अजमेर, 1994)

2 भारतीय ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों में अन्तर कीजिए।
3 प्राचीन भारत में ग्रामीण समुदायों का उल्लेख कीजिए।
4. "भारतीय ग्राम एक पृथक् इकाई के रूप मे" पर निबन्ध लिखिए।
5. "भारतीय ग्राम बड़े समुदाय के अन्दर एक छोटा समुदाय" पर निबन्ध लिखिये।
6 नगर और ग्राम के बीच विभेद कीजिए।
7 नगरीकरण किसे कहते है ? नगरीकरण के लिए उत्तरदायी कारको की विवेचना कीजिए।
8. भारतीय समाज पर नगरीकरण के प्रभावों को बताइए।
9 भारत मे ग्रामीण समुदाय के विकास का इतिहास बताइए।
10 *ग्रामीण समुदायों में परिवर्तनों की विवेचना कीजिए।*
11 नगरीय विकास के प्रमुख कारको का वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (उत्तर-संकेत सहित)

1. निम्नलिखित के सही जोड़े बनाइए–

(1) नगर	(अ) 6 लाख से कुछ अधिक
(2) महानगर	(ब) एक लाख से दस लाख तक
(3) ग्रामों की संख्या	(स) 50 हजार से 1 लाख तक
(4) कलकत्ता	(द) 1 26 करोड़ जनसंख्या
(5) बम्बई	(क) 1 09 करोड़ जनसंख्या
(6) जाति	(ख) अर्जित
(7) वर्ग	(ग) प्रदत्त

[उत्तर- 1 (स), 2 (ब), 3 (अ), 4 (क), 5 (द), 6 (ग), 7 (ख)]

2. निम्न वाक्यों में रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए-

(1) भारत का सबसे बड़ा नगर ______ है। (बम्बई/कलकत्ता)
(2) सन् 1991 की जनगणना के अनुसार भारत मे. ______ *प्रतिशत लोग गाँवो मे* निवास करते है। (80 / 74 3)
(3) नगरो की प्रमुख विशेषता ______ है। (कृषि/व्यापार)
(4) नगरो मे स्तरीकरण ______ होता है। (प्रदत्त /अर्जित)
(5) ग्रामों का आकार ______ होता है। (छोटा /बड़ा)
(6) ______ *मे स्त्रियों की स्थिति पुरुषों के समान होती है। (नगर /ग्राम)*

[उत्तर- (1) बम्बई, (2) 74 3, (3) व्यापार, (4) अर्जित, (5) छोटा, (6) नगर]

3. निम्नलिखित प्रश्नों /कथनो के सामने उनके उत्तर के विकल्प दिए गए है आप इनमे से सही विकल्प का चुनाव कीजिए–

(1) नगरो मे किस प्रकार के सम्बन्धो की प्रधानता पायी जाती है ?

(अनौपचारिक /प्राथमिक /द्वितीयक)

(2) नगरों में सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख आधार क्या है ?

(जन्म /व्यवसाय/परिवार)

(3) ग्रामीण क्षेत्रों में किस प्रकार के सम्बन्धों की प्रधानता पायी जाती है ?

(औपचारिक /कृत्रिम /प्राथमिक)

(4) भारत में 10 लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगरो की संख्या सन् 1991 की जनगणना के अनुसार कितनी है ?

(10 /15 /12 /23)

(5) ऐसे समुदाय को किस नाम से पुकारते हैं जहाँ जीवन-यापन मुख्यत कृषि पर निर्भर करता है ?

(नगर /कस्बा /ग्राम)

[उत्तर- (1) द्वितीयक, (2) व्यवसाय, (3) प्राथमिक, (4) 23, (5) ग्राम]

अतिलघु-उत्तरीय प्रश्न

1 नगरो मे सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख तीन आधारों को बताइए।
2. नगरीकरण की किन्ही दो प्रमुख विशेषताओ का उल्लेख कीजिए।
3 ग्रामीण समुदाय की कोई तीन विशेषताएँ बताइए।
4 ग्रामीण परिवार मे जो परिवर्तनहो रहे हैं उनको 50 शब्दों में स्पष्ट कीजिए।
5 1981 की जनगणना के अनुसार भारत के नगरो की कुल कितनी सख्या है ?
6 ग्रामीण समुदाय का अर्थ 30 शब्दो मे बताइए।
7. *नगरवाद पर 30 शब्दो में टिप्पणी लिखिए।*
8 नगर और नगरीकरण मे तीन अन्तर बताइए।

लघु-उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित पर एक पृष्ठ में संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए–

1 *ग्रामीण समुदाय*
2 नगरीकरण
3 नगरवाद
4 भारतीय ग्रामो की विशेषताएँ
5 भारतीय नगरों का वर्गीकरण
6 नगरीय स्तरीकरण का वर्गीकरण
7. ग्राम और नगर मे अन्तर
8 नगरो के परिवार
9 नगरो मे स्त्री की स्थिति
10 ग्रामो मे स्त्री की स्थिति।

□□□

अध्याय - 3

भारत में जनजातीय समुदाय
(Tribal Community in India)

भारत विविध मान्यताओं का देश है जहाँ अनेक संस्कृति, भाषा, धर्म, प्रजाति एवं समुदाय के लोग बसते हैं। इन विविधताओं का एक कारण भारत की भौगोलिक विशेषता कही जा सकती है। भौगोलिक विशेषता के कारण यहाँ अनेक ऐसे जनजातीय समुदाय बसते है, जो आज भी *सभ्यता से अत्यधिक दूर हैं क्योंकि ये लोग सुदूर जंगलों, पहाड़ों अथवा पठारी क्षेत्रों में अपना* जीवन-यापन करते हैं। इस कारण ये लोग अत्यधिक पिछड़े हुए है। ये लोग खानाबदोशी झुण्ड, कबीले, गोत्र समूह, भ्रातृदल, मोइटी आदि के रूप में रहते हैं। इन्हें जनजाति, आदिवासी अथवा वन्यजाति आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। इन जनजातीय समुदायों को विद्वानो ने विविध नामो से उच्चारित किया है— हट्टस इन्हें आदिम जाति कहते है, जिसका अर्थ है देश के वास्तविक निवासी। रिसले, लैसी, ग्रिग्सन, ठक्कर, एलविन एवं सोवर्ट आदि विद्वान इन्हे **आदिवासी** नाम से सम्बोधित करते हैं। टैलेंट्स, सैंजनिक तथा मार्टिन ने इन लोगो को सर्वजीववादी कहा है। सरवेन्स ने इन्हें **पर्वतीय-जनजातियाँ** कहा है। वेन्स ने इन्हें **वन्यजाति** नाम दिया है, जबकि जी.एस. घुर्ये ने इन्हें तथाकथित आदिवासी अथवा पिछड़े हुए हिन्दू नाम दिया है। भारतीय संविधान में इनका नाम **अनुसूचित जनजातियाँ** दिया गया है। एक नाम इनका **गिरिजन** भी विद्वानो द्वारा दिया गया है। ये जनजातीय समुदाय सन् 1991 की जनगणनानुसार 560 से कुछ अधिक है तथा सम्पूर्ण भारत की जनसंख्या का 8.006% हैं। सन् 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में इनकी जनसंख्या 6,77,58,380 है। इनमे से 6,27,51,026 आदिवासी ग्रामो मे तथा 50,07,354 नगरों मे निवास करते है। इनके विषय मे विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के पूर्व इनकी परिभाषा जानना आवश्यक है।

जनजाति का अर्थ एवं परिभाषाएँ

1. गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, "स्थानीय आदिम समूहों के किसी भी संग्रह को, जो एक सामान्य क्षेत्र मे रहता हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो और एक सामान्य संस्कृति का अनुसरण करता हो, जनजाति कहते है।"

2. मजूमदार के शब्दो मे, "एक जनजाति परिवारों या परिवारों के एक समूह का संकलन होता है, जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसके सदस्य एक निश्चित भू-भाग में रहते है, समान भाषा बोलते हैं और विवाह, व्यवसाय या उद्योग के विषय मे निश्चित निषेधात्मक नियमों का पालन करते है और पारस्परिक कर्त्तव्यों की एक सुविकसित व्यवस्था को मानते हैं।"

3. राल्फ पिडिंगटन ने एक जनजाति की व्यक्तियों के एक समूह के रूप में व्याख्या की है, जो एक समान भाषा बोलता हो, समान भू-भाग में निवास करता हो तथा जिसकी संस्कृति में समरूपता पाई जाती हो।

4. इम्पिरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया के अनुसार, "एक जनजाति परिवारों का एक सकलन है, जिसका एक नाम होता है, जो एक बोली बोलती है, एक सामान्य भू-भाग पर अधिकार रखती है या अधिकार जताती है और प्राय अन्तर्विवाह नहीं करती रही है।"

ई. ई. ईवान्स-प्रिचार्ड का कहना है कि जब मानवशास्त्री, सामाजिक मानवशास्त्री या समाजशास्त्री जनजाति शब्द का प्रयोग करते हैं तो उनका सन्दर्भ उस समाज से होता है जिसकी निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं–

1. छोटा आकार– जनजातियों की जनसंख्या, भौगोलिक क्षेत्र तथा सामाजिक सम्पर्क के दृष्टिकोण से आकार छोटा होता है।

2. सरल तकनीकी– विकसित समाजों की तुलना मे इनकी तकनीकी सरल और सादा होती है।

3. सरल आर्थिकी– इन समाजो की आर्थिकी विकसित समाजो की तुलना में सरल तथा सादा होती है। संभरणात्मक आर्थिकी होती है। बचत की आर्थिकी नहीं होती है।

4. न्यून विशेषीकरण– सामाजिक कार्यों मे न्यून विशेषीकरण होता है। श्रम का विभाजन न्यून अथवा नही के बराबर होता है।

रॉबर्ट-रेडफील्ड ने इन समाजों की निम्नलिखित विशेषताएँ और बताई हैं–

5. साहित्य का अभाव,

6. व्यवस्थित कला का अभाव,

7. व्यवस्थित विज्ञान का अभाव तथा

8. व्यवस्थित ईश्वरज्ञान /अध्यात्म विद्या का अभाव।

निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि जनजातियाँ वे मानव समाज है जो आकार में छोटे होते है तथा विकसित समाज की तुलना मे उनकी तकनीकी, आर्थिकी, विशेषीकरण, साहित्य, कला, विज्ञान, ईश्वरज्ञान आदि प्रारम्भिक तथा सरल अवस्था मे होते है। इनका बहुमुखी विकास होना शेष होता है। जनजातियाँ दुर्गम स्थानो मे निवास करती हैं।

जनजातीय समुदाय की विशेषताएँ– *भारतीय जनजातीय समुदायो की निम्नलिखित विशेषताएँ है–*

1. सामान्य भाषा– एक जनजाति के लोग सामान्य भाषा का प्रयोग करते हैं जिसके माध्यम से वे अपने विचारो का स्पष्टीकरण करते है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी यह भाषा हस्तातरित होती रहती है। इससे उनकी पारस्परिक एकता एव सगठन विकसित होता रहता है।

2. सामान्य संस्कृति– एक जनजातीय समुदाय की सामान्य सस्कृति होती है जिसके अनुसार उनके रीति-रिवाज, प्रथा, कानून, नियम, खान-पान, मूल्य, विश्वास एव लोकाचारों आदि मे

समानता पाई जाती है, सभी इनका समान रूप से पालन करते हैं। जिससे उनके जीवन के तरीके, व्यवहार, दृष्टिकोण आदि में एकरूपता नियंत्रित और संचालित होती है।

3. सामान्य भू-भाग— एक जनजाति की प्रमुख विशेषता यह है कि वह एक निश्चित भू-भाग में रहती है, जिसके फलस्वरूप इनमें सामुदायिकता की भावना विकसित होती है, किन्तु कुछ विद्वानों के मत में जनजाति की यह विशेषता आवश्यक नहीं है। वह घुमन्तू समाज भी हो सकती है।

4. एक नाम— प्रत्येक जनजातीय समुदाय का कोई न कोई नाम अवश्य होता है जो उस जनजाति की पहचान होता है। उसी नाम के आधार पर उस विशेष जनजाति की विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं।

5. अन्तर्विवाह— जनजातीय समुदाय की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि एक जनजाति के सदस्य सामान्यतया अपनी जनजाति में विवाह सम्बन्ध स्थापित करते हैं। अपवाद रूप में कोई-कोई जनजातियाँ बहिर्विवाही भी हो सकती हैं।

6. सामान्य निषेध— मजूमदार ने जनजातीय समुदाय की यह भी विशेषता बताई है कि एक जनजाति के सदस्य विवाह, व्यवसाय, खान-पान व उद्योग आदि के विषय में सामान्य निषेध का पालन करते हैं। इसके फलस्वरूप उनमें एक सुदृढ़ व्यवस्था विकसित होती है।

7. राजनैतिक संगठन— प्रत्येक जनजातीय समुदाय का एक निश्चित राजनैतिक संगठन होता है। समाज का कोई प्रमुख अथवा वयोवृद्ध व्यक्ति उनका मुखिया होता है जिसकी आज्ञा का पालन करना सभी का कर्त्तव्य होता है। आज्ञा का उल्लंघन करने पर दण्ड की व्यवस्था रहती है।

8. आर्थिक आत्म-निर्भरता— जनजातियों के खान-पान का आधार फल-फूल, जंगली जानवरों का शिकार अथवा पशुओं से प्राप्त दूध एवं कृषि आदि होता है अतः प्रत्येक जनजाति अपनी आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं करती है। फल-फूल इकट्ठा करना, शिकार करना, पशु चराना एवं कृषि आदि साधनों से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेती है, मात्र ही कभी-कभी पड़ोसियों से विनिमय करके आवश्यकताओं को पूरा कर लेती है। इस तरह वह आत्म-निर्भर होती है।

9. विस्तृत आकार— जनजातीय समुदाय की एक विशेषता यह भी है कि जनजातियाँ कई परिवार, गोत्र, भ्रातृदल व मोइटी आदि से युक्त होती हैं। इनमें कई वंश समूह होते हैं इसलिए इनका आकार संगठित होता है। नातेदारी के आधार पर इनका सामाजिक संगठन अतिविस्तृत होता है।

जनजातीय सामाजिक संरचना तथा वर्गीकरण

भारत में अनेक जनजातीय समुदाय हैं। उनकी सामाजिक संरचना भिन्न-भिन्न है। इन जनजातियों की सामाजिक संरचना तथा संगठन को समझने के लिए कोई एक आधार या वर्गीकरण निश्चित नहीं किया जा सकता है क्योंकि इनमें व्यवसाय, भाषा, धर्म, पर्यावरण, निवास-स्थान, संस्कृति आदि अनेक भिन्नताएँ मिलती हैं। इन्हीं विशेषताओं के प्रभाव के कारण जनजातीय समुदाय विभिन्न श्रेणियों तथा खण्डों में विभाजित होते हैं जो इनके आन्तरिक विभेदीकरण या स्तरीकरण को स्पष्ट करते हैं। जनजातीय सामाजिक संरचना का वर्गीकरण कुछ महत्त्वपूर्ण आधारों

को निश्चित करके किया जा सकता है। ये प्रमुख आधार भौगोलिक पर्यावरण, प्रजातीय भिन्नता, भाषा, संस्कृति और आर्थिकी हो सकते हैं। इन्हीं आधारों के अनुसार गुहा, रिजले, एलविन आदि विद्वानों ने जनजातीय सामाजिक संरचनाओं के वर्गीकरण किए हैं जो निम्नलिखित प्रकार हैं—

(1) भौगोलिक वर्गीकरण— बी.एस. गुहा ने भौगोलिक निवास स्थान के आधार पर भारत की जनजातियो को निम्नलिखित तीन क्षेत्रों में वर्गीकृत किया है—

1. उत्तर तथा उत्तरी- पूर्वी क्षेत्र— गुहा ने इस क्षेत्र में कश्मीर, पूर्वी पजाब, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश और आसाम के पहाड़ी भाग को रखा है। भोटिया, थारू, नापा, गारो, खासी आदि इस क्षेत्र के प्रमुख जनजातीय समुदाय हैं।

2. मध्यवर्ती क्षेत्र— बंगाल, बिहार, दक्षिणी उत्तर प्रदेश, दक्षिणी राजस्थान, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के उत्तरी भाग को गुहा ने मध्यवर्ती क्षेत्र में रखा है। सन्थाल, मुण्डा, उराँव, हो, खरिया, बिरहोट, गोड, बेगा, कोली, मीणा, भील आदि इस क्षेत्र की प्रमुख जनजातियाँ हैं। इनका प्रमुख व्यवसाय कृषि है। बिहार तथा उड़ीसा की जनजातियाँ खानों, उद्योगों तथा कारखानों में भी काम करती हैं।

3. दक्षिणी क्षेत्र— भारत के शेष क्षेत्र— मैसूर, ट्रावनकोर, कोचीन, हैदराबाद, आन्ध्र, तमिलनाडु, अण्डमान तथा निकोबार द्वीप इस क्षेत्र में आते हैं। नीलगिरी के टोडा, कोटा, पनियन, कदार, हैदराबाद के चेंचू, कुरुम्बा उराली तथा अण्डमान तथा निकोबार की जनजातियाँ प्रमुख हैं।

(2) प्रजातीय वर्गीकरण— रिजले का मत है कि भारत की जनजातियों में द्रविड़ और मंगोल प्रजातियों के लक्षण मिलते हैं। लेकिन गुहा नीग्रिटो, आदि-आग्नेय, मंगोल आदि विशेषताओं का वर्णन करते है जो निम्नलिखित हैं—

1. नीग्रिटो— गुहा का कहना है कि भारत की प्राचीनतम प्रजाति नीग्रिटो है। आपके अनुसार दक्षिण भारत की जनजातियो मे नीग्रिटो प्रजातीय लक्षण मिलते है।

2. आदि-आग्नेय— आदि-आग्नेय प्रजातीय तत्त्व भारत की जनजातियों में मुख्य रूप से मिलते है। प्रोटो-आग्नेय प्रजातीय तत्त्व मध्य भारत की लगभग सभी जनजातियो मे पाए जाते है। गुहा के अनुसार भील तथा चेंचू जनजातियों के लोग इसी प्रजाति के है।

3. मंगोल— मगोल प्रजातीय लक्षण प्रमुख रूप से भारत के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र की जनजातियों में मिलते हैं।

(3) भाषायी आधार पर वर्गीकरण— भारत की जनजातियो का वर्गीकरण भाषा के आधार पर तीन भाषायी परिवारो मे किया गया है जो निम्नलिखित है—

1. द्रविड़-भाषायी-परिवार— दक्षिण भारत की जनजातियाँ द्रविड़ भाषा बोलती हैं। मध्य भारत मे निवास करने वाली गोंड जनजाति भी यही भाषा बोलती है। ये जनजातियाँ द्रविड़-भाषायी-परिवार मे रखी गई हैं।

2. आस्ट्रिक-भाषायी-परिवार— इस भाषायी परिवार मे मध्य-पूर्वी भारत की कोल, मुण्डा भाषाएँ, आसाम की खासी, निकोबार द्वीप की निकोबारी बोलियाँ तथा मध्य प्रदेश की आस्ट्रिक बोलियाँ आती है। आस्ट्रिक-भाषायी परिवार में मध्य-पूर्वी भारत, आसाम की खासी, निकोबार द्वीप तथा मध्य प्रदेश की जनजातियाँ रखी गई है।

3. चीनी-तिब्बती-भाषायी-परिवार— सिक्किम, नेपाल, पूर्वी कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, भूटान, पूर्वी पंजाब, आसाम, दार्जिलिंग, त्रिपुरा, मणिपुर, उत्तर-पूर्वी बंगाल के क्षेत्रों की जनजातियाँ चीनी-तिब्बती-भाषायी-परिवार की बोलियाँ बोलती हैं।

भारत मे अनेक जनजातियाँ ऐसी हैं जो अपनी भाषा के साथ-साथ अपने पडौसी समुदायों की भाषा भी बोलती हैं। इनको द्वि-भाषी जनजातियाँ कहा जा सकता है; जैसे— मध्यवर्ती क्षेत्र मे अधिकतर जनजातियाँ अपनी भाषा के अतिरिक्त हिन्दुस्तानी या बगाली भाषा भी जानती हैं।

(4) सांस्कृतिक वर्गीकरण— वैरियर एलविन ने भारत की जनजातियों को सांस्कृतिक विकास के स्तर, स्थानान्तरित खेती तथा अन्य संस्कृतियों के सम्पर्क के आधार पर निम्नलिखित चार श्रेणियो में वर्गीकृत किया है—

1. प्रथम श्रेणी— एलविन ने प्रथम श्रेणी में उन जनजातियों को रखा है जो दुर्गम तथा घने जगलो में निवास करती हैं। इनका सामाजिक एवं सास्कृतिक जीवन सरल, सादा तथा सयुक्त होता है। *हर बार नए जंगल को जलाकर खेती करते हैं अर्थात् 'स्थानान्तरित खेती' करते है।* इसे 'झूम खेती' भी कहते हैं। अधिकतर आदिम जनजातियाँ इस श्रेणी में आती हैं।

2. दूसरी श्रेणी— एलविन ने इस श्रेणी में उन जनजातियों को रखा है जो प्रथम श्रेणी की जनजातियों से कुछ अधिक विकसित अवस्था में पहुँच जाती हैं। ये जनजातियाँ परम्परावादी तो होती है परन्तु सामूहिक जीवन के स्थान पर व्यक्तिवादी हो जाती हैं। इनमें गरीबी और अमीरी का भेदभाव मिलता है। झूम या स्थानान्तरित खेती नहीं करती हैं।

3. तीसरी श्रेणी— इस श्रेणी में वो जनजातियाँ रखी गई हैं जो सभ्यता एवं संस्कृति के सम्पर्क में आ चुकी हैं। अपनी मूल संस्कृति को खो चुकी हैं। इनकी अपनी आदिम संस्कृति प्राय नष्ट हो चुकी है। इनका अपना जनजातीय धर्म, कला, विश्वास, प्रथा, परम्परा, सामाजिक संगठन आदि छिन्न-भिन्न हो चुका होता है। इस श्रेणी में उन जनजातियों को रखा जाता है जो अपने मूल स्वरूप को खोकर कष्ट में जीवन-यापन करती हैं।

4. चौथी श्रेणी— चौथी श्रेणी की जनजातियाँ अन्य समाजो और संस्कृतियों के सम्पर्क के कारण बदल तो जाती है परन्तु अपनी मौलिकता को बनाए रखती है। इनमे भारत की प्राचीन कुलीन वर्ग की जनजातियाँ आती है। भील और नागा जनजातियाँ इसके उदाहरण है। इनमे परिवर्तन होते हुए भी इनकी मौलिकताओं को देखा जा सकता है। हट्टन, एस.सी. राय, मजूमदार तथा मदान ने ऐसी जनजातियों का वर्णन किया है। इन्होंने हिन्दुओ, ईसाई मिशनरियों, ग्राम एवं नगरीय समुदायों की संस्कृतियों के सम्पर्क के फलस्वरूप जनजातियों मे आए परिवर्तनो का अध्ययन किया है। इन मानवशास्त्रियों ने पाया है कि इस श्रेणी की जनजातियाँ किसी भी प्रकार की कठिनाइयों या परेशानियो का अनुभव नही कर रही हैं।

(5) आर्थिक वर्गीकरण— आदिम अर्थ-व्यवस्था के आधार पर जनजातियों का वर्गीकरण अनेक मानवशास्त्रियों तथा सामाजिक मानवशास्त्रियों ने किया है। ये प्रमुख आधार— विनिमय का माध्यम, विकास के स्तर, व्यवसाय, उत्पादन और खाद्य संकलन-आदि हैं। मजूमदार, श्यामाचरण दुबे, थर्नवाल्ड, एडम स्मिथ आदि के द्वारा दिए गए आर्थिक वर्गीकरण के आधार पर भारत की जनजातियों को अग्रलिखित पाँच भागों में बाँटा जा सकता है—

1. खाद्य संकलन एवं शिकारी जनजातियाँ— इस प्रथम अवस्था वाली जनजातियो के पास कोई उत्पादन का ज्ञान नही होता है। वह शिकार करके तथा कन्दमूल खाकर अपना पेट भरते हैं। ये खाद्य-पदार्थों को एकत्र करते है। आदिवासी अपने चारो ओर जो कुछ देखते हैं, प्रकृति जो कुछ खाद्य-पदार्थ उन्हें प्रदान करती है, उससे अपना जीवन-यापन करते है। पेड़-पौधों पर उगने वाले कन्दमूल, फल-फूल, शहद आदि के द्वारा पेट भरते है। थोड़ा-बहुत एकत्र कर लेते हैं। आदिमानव स्वयं कोई भी उत्पादन का कार्य नही करता है, जैसे— पेड-पौधे उगाना, खेती करना आदि। मछली पकड़ना तथा शिकार करके जानवरों को मारकर खाना भी ये जानते हैं, भारत की बिरहोर, खरिया, चेंचू, मालपंतारम्, कादर, पलियान, पनियान, यानाडी, कुरुम्बा आदि जनजातियाँ इस प्रथम चरण की अवस्था की आर्थिकी मे जीवन-यापन कर रही हैं।

2. पशुपालक जनजातियाँ— सामाजिक, मानवशास्त्री पशुपालक आर्थिकी वाली जनजातियो को विकास के क्रम में द्वितीय चरण बताते हैं। आदिमानव को जब पालतू पशुओं, जैसे— कुत्ता, बिल्ली, बकरी, घोड़ा, गाय, भैंस, बैल, ऊँट, भेड़ आदि का ज्ञान हुआ कि इनको मारने के स्थान पर पालना अधिक उपयोगी है तो उसने इन्हें पालना प्रारम्भ किया। संसार के सभी आदिम समाजों में किसी-न-किसी प्रकार का पशुपालन अवश्य मिलता है। जब मानव पशु पालने लगा तो वह उस स्थान पर रुक कर रहने लगा जहाँ उसे अपने पशुओं के लिए घास तथा चारा मिलता था। भारत की विभिन्न जनजातियाँ अपने प्राकृतिक पर्यावरण के अनुसार भिन्न-भिन्न पशुओं को पालती है। रेगिस्तान के आदिवासी ऊँट पालते हैं; टोडा आदिवासी भैस पालते हैं।

भारत की जनजातियो में नीलगिरी के टोडा तथा हिमालय के गुज्जर पशुपालक हैं। ये अपनी जीविका दूध और दूध उत्पादनो से प्राप्त करते हैं। दूध तथा इसके उत्पादनों का पड़ोसी जनजातियों से विनिमय करके अन्य आवश्यकताओं की वस्तुएँ खरीदते हैं। इसका सामाजिक, आर्थिक तथा अन्य संगठन भैसों पर आधारित होता है। भैसों तथा दुग्धशालाओ की व्यवस्था, रख-रखाव आदि का कार्य टोडा पुरुष करते है। उत्तर प्रदेश के भोटिया लोग पशुपालक एवं कृषि आर्थिकी के मध्य की स्थिति में हैं।

3. कृषक जनजातियाँ— जनजातियो के आर्थिक-व्यवस्था के विकास का तीसरा महत्त्वपूर्ण चरण कृषि की आर्थिकी है। जब मानव को बीजों द्वारा पेड़-पौधों को उगाने की कला का ज्ञान हो गया तो उसने फल-फूल देने वाले पेड़-पौधे उगाने प्रारम्भ कर दिए। विद्वानो का मत है कि फल-फूल उगाने का कार्य प्रारम्भ में उत्तर-भारत की घाटियों, दक्षिण-पूर्व एशिया मे हुआ। भारत के कई आदिम समाजों मे स्थानान्तरित खेती भी की जाती है। आदिवासी जंगल को आग लगा कर जला देते है, तीन-चार साल वहाँ खेती करते है, पैदावार कम होने पर उन स्थानो को छोड़ देते है। दूसरे जंगल जला कर खेत तैयार कर लेते है; तीन-चार साल वहाँ खेती करते हैं। यह स्थानान्तरित खेती कहलाती है।

मजूमदार तथा मदान के अनुसार, भारतवर्ष में उराँव, मुंडा, भील, संथाल, मझवार, खारवार, बैगा, कोरवा, गोंड, हो तथा आसाम की जनजातियाँ प्रमुख है जो कृषि का कार्य करती है। इनमे स्त्री-पुरुष समान रूप से भाग लेते है। इनका जीवन-स्तर नव-पाषाण कालीन आर्थिकी से ऊपर कभी भी नही उठ पाया है। कृषि पर आधारित जनजातियो का आर्थिक जीवन भारत की कई अन्य जनजातियों से काफी अविकसित और पिछड़ा हुआ है। स्थानान्तरित खेती भारतवर्ष में काफी प्रचलित थी। नागा इसे झूम; बस्तर के मारिया इसे पेंडा; खोड इसे पोडु और बैगा इसे बेवार कहते

हैं। भुइया में इसके दो प्रकार— डाही और कामन— प्रचलित हैं। हल जोत कर स्थाई खेती गोंड, मुंडा, संथाल, खासी, भील आदि अनेक जनजातियाँ करती हैं।

4. दस्तकारी जनजातियाँ— इस आर्थिकी वाली जनजातियों को विकास का चौथा चरण कहा जा सकता है— टोकरी बनाने, कताई और बुनाई, शराब बनाना, धातु का कार्य, बेत का काम, बर्तन बनाने, फर्नीचर बनाने, वाद्य उपकरण बनाने, अस्त्र, रस्से, चटाइयाँ आदि बनाने; हल, पहिए आदि बनाने का कार्य भारत की विभिन्न जनजातियाँ करती हैं। ये व्यवसाय अधिकतर सहायक व्यवसाय के रूप में किए जाते हैं। मारिया गोंड शराब बनाते हैं। दस्तकारी के कार्य सओरा, कोण्ड, गोंड, कोरव, अगारिया, थारू, इरुला आदि जनजातियाँ करती हैं। घासी जनजाति के लोग पशुओं की अँतड़ियों से ताँतें बनाते हैं।

5. औद्योगिक आर्थिकी वाली जनजातियाँ— इस आर्थिकी वाली जनजातियों को विकास की पाँचवीं और अंतिम अवस्था कहा जाता है। औद्योगिक आर्थिक स्तर की अर्थव्यवस्था बहुत कम जनजातियों में मिलती है। जनजाति के लोग औद्योगिक व्यवसाय के सम्पर्क में तो आए हैं परन्तु इस प्रकार की आर्थिकी जनजातियों में पनपी नहीं है। इनके क्षेत्रों में उद्योग स्थापित होने के कारण इनकी अर्थ-व्यवस्था बदली है या ये लोग औद्योगिक केन्द्रों में जाकर बस गए हैं। चाय-बागानों में विभिन्न कार्य करने के लिए बंगाल, बिहार एवं आसाम की जनजातियों के अनेक संथाल, कोण्ड और गोंड के आदिवासी चले गए हैं। बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रदेश से भी अनेक आदिवासी श्रमिकों के रूप में अनेक औद्योगिक केन्द्रों में जाते रहते हैं। भारत के अनेक जनजातीय क्षेत्रों में कोयला, लोहा, इस्पात आदि बड़े-बड़े उद्योग स्थापित हो गए हैं जहाँ पर संथाल के आदिवासी कुशल श्रमिक बन गए हैं। मध्य प्रदेश के मैंगनीज उद्योग में लगभग पचास प्रतिशत श्रमिक जनजातीय क्षेत्रों के हैं। अभ्रक उद्योग में भी इनकी बड़ी संख्या कार्य कर रही है। जनजाति के लोग वन उत्पादनों, लकड़ी कटाई, सड़क निर्माण, विभिन्न औद्योगिक केन्द्रों, चाय-बागानों, सड़क तथा रेल निर्माण, खानों आदि में श्रमिक के रूप में कार्यरत हैं।

भारत की जनजातियों में सामाजिक स्तरीकरण

भारत में अनेक जनजातियाँ हैं। आर्थिकी के आधार पर विद्वानों ने इनके कई प्रकारों का उल्लेख किया है। कुछ जनजातियाँ जो कृषि करती हैं तथा उद्योगों, चाय-बागानों, खानों तथा कारखानों में काम करती हैं उनमें सामाजिक स्तरीकरण भी पनप रहा है। आन्द्रे बितेंड ने भारत की जनजातियों को भाषा, धर्म और पृथकता की मात्रा के आधार पर विभिन्न स्तरों में वर्गीकृत किया है। इन्होंने जनजातियों को जीवन-यापन के आधार पर भी वर्गीकृत किया है। श्यामाचरण दुबे ने उत्पादन और भोजन संकलन के आधार पर जनजातियों को निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया है— (1) संकलन आखेटक स्तर, (2) पशुपालन स्तर और (3) कृषि स्तर। आपने कृषि के दो उप-प्रकार (i) फलोद्यान आश्रित आर्थिकी और (ii) कृषि आश्रित आर्थिकी बताए हैं। कृषि आर्थिकी के भी निम्न दो उप-प्रकार निश्चित किए हैं— (अ) सरल कृषि-व्यवस्था और (ब) विकसित कृषि-व्यवस्था। एन.के.बोस ने जनजाति के लोगों को— (1) शिकारी, मछुआरे और खाद्य संकलन वाले, (2) स्थानान्तरित खेती करने वाले और (3) स्थायी खेती करने वाले कृषक — में बाँटा है। मजूमदार तथा मदान का कहना है कि भारत की अधिकतर जनजातियाँ खाद्य संकलन तथा पौध उत्पादक आर्थिकी वाली हैं। जिन जनजातियों में व्यावसायिक समूह पनप गए हैं उनमें स्तरीकरण का प्रारम्भिक रूप ही देखने को मिलता है, जैसे— उराँव जनजाति में व्यावसायिक समूहों

के रूप में स्तरीकरण देखा जा सकता है। इनमें भू-स्वामी, कृषक और रैयत की विभिन्न श्रेणियाँ मिलती हैं। वे जनजातियाँ जो स्थाई रूप से खेती करती हैं उनमें सामाजिक स्तरीकरण भू-स्वामी और भूमिहीन कृषक के रूप मे देखा जा सकता है। एफ.जी. बेली ने उडीसा की जनजातियों के अध्ययन में गोंड वासियों आदि को कृषक के रूप में पाया। भारत की अधिकतर जनजातियों में ग्रामों और नगरो जैसा विकसित स्तरीकरण नहीं देख सकते है क्योंकि वहाँ पर विकसित और विशेषीकृत श्रम-विभाजन का अभाव है। जो जनजातियाँ ग्रामों, उद्योगों, कल-कारखानों, खानो आदि समाजों के सम्पर्क में आई है उनमें सामाजिक स्तरीकरण पनप रहा है।

राजस्थान में अनुसूचित जनजातियाँ

राजस्थान सरकार द्वारा सन् 1981 की जनगणना के आधार पर अनुसूचित जनजातिया की एक सूची प्रकाशित की गई है। उस सूची में लिखित 12 अनुसूचित जनजातियाँ एव उनकी उप-जनजातियाँ निम्नलिखित प्रकार से वर्णित हैं—

1. भील, भील-गरासिया, ढोली-भील, डूंगरी-भील, डूंगरी-गरासिया, मेवाती-भील, रावल-भील, ताडवी-भील, भागलिया, भिलाल, पातड़ा, बसवा, वसावे।
2. भील-मीणा।
3 डामोर, डामरिया
4 धानका, ताडवी, तेवरिया तालवी।
5 गरासिया (राजपूत गरासिया को छोडकर)।
6 काथोड़ी, कथकारी, घोर काथोड़ी, सोन काथोड़ी, सोन कटकडी, धोड कथकारी।
7. कोकना, कोकनी, कुकना।
8 कोली, धोड़, तोकरे कोली, कोलचा, कोलगा।
9 मीणा।
10 नायक, नायकड़ा, चोलीवाल-नायक, कापड़िया नायका, मोटा नायक, नाना नायक।
11 पटेलिया।
12 सहरिया, सहारिया।

राजस्थान में जनजातियों की जनसंख्या

जनजातियाँ सम्पूर्ण भारत में पर्याप्त रूप से फैली हुई हैं। सन् 1991 की जनगणनानुसार भारत में कुल 6,77,58,380 आदिवासी लोग हैं, जो भारत की कुल जनसंख्या (84,63,02,688) का 8 006% हैं।

1981 की जनगणना के अनुसार भारतीय संविधान मे 212 जनजातियों का वर्णन है, जो भारत के विभिन्न राज्यो मे निवास करती है। सन् 1991 की जनगणना के अनुसार सम्पूर्ण भारत मे इनकी कुल जनसख्या 6,77,58,380 है। राजस्थान में सन् 1991 के अनुसार इनकी कुल जनसंख्या 54,74,881 है जो कि राजस्थान की कुल जनसंख्या (4,40,05,990) का 12 44 प्रतिशत है। सन् 1981 में यह 12.21 प्रतिशत था। सम्पूर्ण भारत के विभिन्न राज्यो में से इन जनजातियों की सर्वाधिक जनसंख्या मध्य प्रदेश (1,53,99,039) में है। दूसरे स्थान पर महाराष्ट्र (73,18,281),

फिर क्रमश: उड़ीसा (70,32,214), बिहार (66,16,914), गुजरात (61,61,775) एवं राजस्थान (54,74,881) है। राजस्थान जनजातियों की जनसंख्या की दृष्टि से सन् 1981 तथा 1991 में छठे स्थान पर ही है। अन्य राज्यों में इनकी जनसंख्या भिन्न-भिन्न है।

राजस्थान के उदयपुर जिले में सर्वाधिक जनजाति के लोग (10,63,071) निवास करते हैं। उसके पश्चात् बाँसवाड़ा (8,49,050), डूँगरपुर (5,75,805), जयपुर (5,31,652), सवाईमाधोपुर (4,43,469), चित्तौड़गढ़ (3,00,971) तथा कोटा (2,88,367) में हैं। राजस्थान की प्रमुख जनजातियाँ मीणा, भील, रावल, गरासिया व मेहरात हैं। 1956 के अध्यादेश के अनुसार इनकी जनसंख्या इस प्रकार है— (1) मीणा 7,59,400, (2) भील 7,49,748, (3) रावल 1,13,460, (4) गरासिया 51,440 तथा (5) मेहरात 27,977। समस्त जनजाति जनसंख्या का प्रतिशत क्रमश: 44.5, 44.0, 6.5, 2.9 और 1.6 है।

राजस्थान की जनजातियों का भौगोलिक वितरण— भौगोलिक वितरण की दृष्टि से राजस्थान की जनजातियों को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) दक्षिणी राजस्थान— दक्षिणी राजस्थान के अंतर्गत डूँगरपुर, बाँसवाड़ा, उदयपुर, चित्तौड़ व सिरोही जिले आते हैं। सन् 1991 की जनगणनानुसार राजस्थान की कुल जनजातीय जनसंख्या का 53.7% भाग इस क्षेत्र में है। भील, मीणा, गरासिया एवं दमोर जनजातियाँ इस क्षेत्र की प्रमुख जनजातियाँ हैं। डूँगरपुर, बाँसवाड़ा एवं उदयपुर में 70 प्रतिशत भील लोग निवास करते हैं। भील-मीणा जनजाति के 18.07 प्रतिशत लोग बाँसवाड़ा जिले में तथा 6.38 प्रतिशत लोग डूँगरपुर जिले में निवास करते हैं। दमोर जनजाति का 96.82 प्रतिशत भाग डूँगरपुर जिले में निवसित है। इस जिले की सीमलवाड़ा पंचायत समिति में ये लोग सर्वाधिक मात्रा में रहते है। चित्तौड़गढ़ जिले में भी भील लोग निवास करते हैं। सिरोही जिले में गरासिया जनजाति के लोगों का 19.74 प्रतिशत भाग निवास करता है। सर्वाधिक मात्रा में गरासिया जनजाति के लोग उदयपुर जिले में हैं। वहाँ इन लोगों की संख्या 56.63 प्रतिशत है। इसके अतिरिक्त सिरोही जिले में इन जनजातियों के अतिरिक्त भील-गरासिया, ढोली-भील, पावरा, भारवा, काठौड़िया, कालीधोर, नेकदा, पटलिया, टाडवी व वालवी आदि जनजातियों का अधिकांश भाग निवास करता है। इस दृष्टि से इस क्षेत्र की कुल जनसंख्या का 65.23 प्रतिशत भाग जनजातियों का है। इसी से इनकी निवास-स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है।

(2) पश्चिमी राजस्थान— राजस्थान का दूसरा भाग पश्चिमी राजस्थान है जिसमें— झुंझुनूं, सीकर, चूरू, गंगानगर, बीकानेर, नागौर, जैसलमेर, जोधपुर, पाली, बाड़मेर तथा जालौर— ये 11 जिले आते हैं। सन् 1991 के अनुसार इस क्षेत्र में राजस्थान की कुल जनजातीय संख्या का 8.19 प्रतिशत भाग निवास करता है। भील व मीणा इस क्षेत्र की प्रमुख जनजातियाँ है। जालौर जिले में भील-मीणा जनजाति का 61.94 प्रतिशत भाग निवास करता है। गरासिया जनजाति का 20.11 प्रतिशत भाग पाली जिले में निवासरत है। इस प्रकार दक्षिणी राजस्थान की तुलना में इस भाग में जनजातियों की संख्या अति न्यून है।

(3) दक्षिणी-पश्चिमी राजस्थान— इस क्षेत्र के अन्तर्गत अलवर, भरतपुर, सवाई माधोपुर, अजमेर, टोंक, भीलवाड़ा, बूँदी, कोटा तथा झालावाड़ जिले आते है, साथ ही चित्तौड़गढ़, सिरोही एवं उदयपुर जिलों के कुछ भाग आते है। इस क्षेत्र में भील, भील-मीणा, मीणा तथा सहरिया जनजातियाँ निवास करती है। अलवर जिले में मीणा जनजाति का कुछ भाग रहता है। भील-मीणा

जनजाति का 7 95 प्रतिशत भाग अजमेर जिले में निवास करता है। जयपुर, सवाई माधोपुर, कोटा व बूंदी जिलों में मीणा जनजाति के लोग निवास करते हैं। सहरिया जनजाति का 99.47 प्रतिशत भाग कोटा जिले में बसा हुआ है। इस प्रकार राजस्थान के इस क्षेत्र में भील, मीणा, भील-मीणा व सहरिया जनजाति के लोग प्रमुखतया रहते हैं।

ग्रामीण एवं शहरी जनसंख्या— राजस्थान की जनजातियाँ अधिकांशत पहाड़ों, जंगलों व दुर्गम स्थानों में निवास करती हैं जो शहरों से दूर होते हैं। इन स्थानों को जनजातीय ग्राम कहते हैं। सन् 1991 की जनगणना के अनुसार इन ग्रामो में आदिवासियों की कुल जनसंख्या 52,20,549 निवास करती है। यह जनजातियों की कुल जनसंख्या का 95 4 प्रतिशत है। शहरों में निवास करने वालों की कुल जनसंख्या 2,54,332 है, जो कि जनजातियों की कुल जनसंख्या का 4 64% है। अधिकांशत. जनजातियाँ बाँसवाड़ा व डूँगरपुर जिले में, उदयपुर के 7 ब्लाकों में, चित्तौड के दो ब्लाकों में, व सिरोही जिले के एक ब्लाक में बसी है। सन् 1991 की जनगणना के अनुसार इस क्षेत्र में 29 41 लाख आदिवासी रहते हैं। यह क्षेत्र राजस्थान के कुल क्षेत्रफल का केवल 5 77% है। इन तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि कुल जनजातियों का लगभग बीसवाँ भाग ही नगरो में निवास करता है। निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि राजस्थान में जनजातियाँ प्रधानत ग्रामों में निवास कर रही है। संलग्न तालिका मे प्रदर्शित सन् 1991 की जनगणना के तथ्यों से भी यही स्पष्ट होता है।

राजस्थान की जनजातियों की जनसंख्या

1991

क्रम संख्या	राज्य/जिला	स्थान		योग
		ग्राम	नगर	
	राजस्थान	*52,20,549*	*2,54,332*	*54,74,881*
1.	गंगानगर	3,601	5,344	8,945
2	बीकानेर	1,378	1,817	3,195
3	चूरू	5,277	2,542	7,819
4.	झुंझुनूं	28,164	2,364	30,528
5	अलवर	1,77,383	7,665	1,85,048
6.	भरतपुर	35,055	3,157	38,212
7.	धौलपुर	33,923	506	34,429
8.	सवाई माधोपुर	4,33,925	9,544	4,43,469
9.	जयपुर	4,67,601	64,051	5,31,652
10	सीकर	44,919	3,968	48,887
11.	अजमेर	31,378	8,386	39,764
12.	टोंक	1,13,972	1,976	1,15,948
13	जैसलमेर	14,854	1,843	16,697
14.	जोधपुर	43,292	17,527	60,819
15.	नागौर	4,233	563	4,796
16.	पाली	73,166	7,099	80,265
17.	बाड़मेर	80,501	3,731	84,232
18.	जालौर	91,704	4,620	96,324

19.	सिरोही	1,42,826	10,179	1,53,005
20.	भीलवाडा	1,32,733	11,015	1,43,748
21.	उदयपुर	10,35,573	27,498	10,63,071
22.	चित्तौडगढ	2,93,946	7,025	3,00,971
23.	डूँगरपुर	5,65,666	10,139	5,75,805
24.	बाँसवाडा	8,40,631	8,419	8,49,050
25.	बूँदी	1,51,213	4,788	1,56,001
26.	कोटा	2,65,863	22,504	2,88,367
27.	झालावाड़	1,07,772	6,062	1,13,834

लिंग अनुपात— अध्ययनों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि जनजातियो में पुरुष की तुलना में स्त्रियों की संख्या कुछ कम है। सन् 1991 की जनगणना के अनुसार जनजातियो में पुरुषों की संख्या 28,37,014 है और स्त्रियों की की संख्या 26,37,867 है। अनुमानत राजस्थान में प्रति एक हजार पुरुषों के पीछे 993 स्त्रियाँ है। सन् 1971 में डूँगरपुर जिले के अतिरिक्त राजस्थान के अन्य प्रान्तों में पुरुषों की तुलना में स्त्रियो की संख्या कम थी।

वैवाहिक स्थिति— राजस्थान राज्य में जनजातियों में 46 29 प्रतिशत व्यक्ति विवाहित हैं। 49.30 प्रतिशत व्यक्ति अविवाहित, 4 31 प्रतिशत व्यक्ति विधुर अथवा विधवा महिलाएँ हैं, और 0.06 प्रतिशत व्यक्ति तलाक प्राप्त हैं। कुछ व्यक्तियो की स्थिति अस्पष्ट है। जिलों के आधार पर भी यह संख्या असमान है। उदाहरणार्थ, चूरू जिले मे अविवाहित पुरुषो की अधिकता है, जबकि अजमेर जिले में अविवाहितों की संख्या कम है।

साक्षरता— राजस्थान में जनजातियों मे बहुत कम लोग साक्षर है। सन् 1991 के अनुसार राजस्थान मे 15 3 प्रतिशत जनजाति के लोग साक्षर है। सम्पूर्ण राजस्थान राज्य मे 19.07 प्रतिशत साक्षर हैं। जनजाति लोगों में पुरुषो की तुलना मे महिलाओ में साक्षरता कम है। सन् 1991 मे 7,45,369 पुरुष तथा 91,353 स्त्रियाँ साक्षर पाये गए है। सन् 1971 मे प्राथमिक शिक्षा प्राप्त जनजाति के लोग 32,887, हाईस्कूल शिक्षा प्राप्त जनजातियों के लोग 3,939 एवं स्नातक व स्नातकोत्तर शिक्षा प्राप्त जनजातीय लोग संख्या में मात्र 163 थे। सन् 1981 मे सम्पूर्ण राजस्थान में साक्षरता का प्रतिशत बढ़कर 24.38 हो गया जिसमें जनजाति लोगों मे यह प्रतिशत 7.53 था। सन् 1991 में बढकर 15.3% हो गया जिसे देखकर स्पष्ट होता है कि इन जनजातियो में साक्षरता कम है। राज्य के बीकानेर जिले मे साक्षरता सर्वाधिक है। वहाँ 34.29 प्रतिशत जनजाति के लोग साक्षर हैं जबकि नागौर क्षेत्र में सबसे कम साक्षरता है जो 1.27 प्रतिशत है। स्त्रियों का साक्षरता प्रतिशत तो बहुत कम है।

व्यवसाय— सन् 1991 की जनगणनानुसार राजस्थान में कुल आदिवासी जनसंख्या के 34.86 प्रतिशत (19,08,531) आदिवासी कार्यरत हैं। 11.56 प्रतिशत (6,33,006) सीमान्त श्रमिक हैं तथा 53.57 प्रतिशत (2,93,334) अश्रमिक है। स्त्री-पुरुषो के आधार पर कुल जनसंख्या मे से 28 6 प्रतिशत पुरुष तथा 18.3 प्रतिशत स्त्रियाँ किसी-न-किसी व्यवसाय मे कार्यरत हैं तथा 24 9% पुरुष तथा 28 2% स्त्रियाँ बेरोजगार है।

अधिकाश जनजाति के लोग सुदूर ग्रामों में निवास करते है जो कृषि पर निर्भर हैं। इनमें कुछ लोग खेतिहर मजदूर हैं। प्रमुखतया ये लोग कृषि द्वारा ही अपना जीवन-यापन करते हैं और

खेती करने का ढँग अन्य कृषक जातियो की तुलना में काफी पिछड़ा है। सन् 1991 की जनगणना के अनुसार राज्य की 86 6 प्रतिशत जनजातीय जनसंख्या प्राय कृषि का कार्य करती है। 76.1 प्रतिशत जनजातीय लोग स्वयं की भूमि पर कृषि-कार्य करके अपना जीविकोपार्जन करते हैं। 13.54 प्रतिशत जनजातीय कृषि मजदूरी मे लगे हैं। पशुपालन, मछली पकडना, शिकार आदि मे 1.2 प्रतिशत कार्यरत हैं। 6 02 प्रतिशत लोग खान, व्यापार, भवन निर्माण, यातायात एवं सचार एवं गृह-उद्योग आदि कार्यों में लगे है। 3.12 प्रतिशत जनजातीय लोग सेवा कार्य या अन्य व्यावसायिक कार्यों को करते है किन्तु व्यवसाय की दृष्टि से ये बहुत पिछडे है जैसे ये लोग जंगल के एक भाग के पेड काटकर और उन्हें जलाकर वहाँ खेती करते हैं। अपनी आय की वृद्धि हेतु ये 1 2% लोग पशु व मुर्गी-पालन, मछली-पालन, शिकार आदि का कार्य भी करते हैं।

संस्कृति— जनजातियो मे जादू-टोने पर अधिक विश्वास पाया जाता है। विशेष कार्यों के विशेष परिणामों पर विश्वास रहता है, इस कारण ये लोग विधिवत् अनुष्ठान करते हैं। इनमें लिखित कानून नहीं होता, किन्तु कानून को सामाजिक नियमों से आसानी से अलग नहीं किया जा सकता। जनजातियों में बाल-विवाह भी प्रचलित है, किन्तु अधिकांश वर-वधू एक-दूसरे का चयन स्वयं की पसन्द से करते हैं। विवाह अपने गोत्र में नहीं होते है किन्तु अन्तर्विवाह होते हैं, जैसे— उजले-भील उजले-भीलों में तथा मैले-भील मैले-भीलों में ही विवाह करते हैं— इस प्रकार जनजातियों का सामाजिक संगठन, सस्था, रीति-रिवाज व आर्थिक व्यवस्था आदि अलग-अलग व अपने ढँग की है।

जनजाति तथा जाति

जनजातियों तथा जातियो में अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक समानताएँ और भिन्नताएँ है। जनजातियाँ एकात तथा दुर्गम स्थानो में निवास करती थीं। कठोर जीवन व्यतीत करती थीं। यातायात के साधनों का अभाव था। संचार के साधन नहीं थे। नवीन संचार, यातायात एवं औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप आधुनिक समय में जनजातियों की सामाजिक व सास्कृतिक स्थिति मे अनेक परिवर्तन हुए है। सबसे बडा परिवर्तन इनका हिन्दूकरण होना है। अनेक लोग हिन्दू जाति मे परिवर्तित हो गए है। बिहार के भुइन्या और मुशार, मिर्जापुर तथा पालायाड के खारवार; कूचबिहार, दीनाजपुर, रंगपुर तथा जलपयाईगुडी के पोलिया लोग अब जाति-व्यवस्था में बदल गए हैं। ग्रिफियस के अनुसार कोल जाति का हिन्दूकरण हुआ है। श्रीनिवास के अनुसार कई जनजातियों में संस्कृतिकरण की प्रक्रिया भी हुई है। ओराँव लोग हिन्दुओं के देवी-देवताओं को पूजने लगे है। छोटा नागपुर के पंच-परगना के मुण्डा लोग अपने सस्कारो को सम्पन्न कराने के लिए ब्राह्मणों को बुलाने लगे हैं— इस प्रकार इनका संस्कृतिकरण हुआ है। श्रीनिवास के अनुसार थारू जनजाति (उत्तर प्रदेश) जाति प्रथा मे सम्मिलित हो गई है। सुरजीत सिन्हा ने मध्य भारत की भूमि जनजाति, सहाय ने पालामाउ की पहारी जनजाति एव राची के आराँवो का अध्ययन किया है और बताया है कि ये जनजातियाँ शराब पीना, गो-मास खाना छोड़ चुकी है और हिन्दुओ के समान हनुमान चालीसा का पाठ, सत्यनारायण की कथा आदि धार्मिक संस्कारों को करने लगी हैं तथा ग्रहण के समय पुरोहितों से सस्कार कराती है। हिन्दुओ के समान होली, दीवाली, दशहरा आदि त्यौहार मनाती हैं तथा विवाह आदि के सस्कार विधिवत् सम्पन्न करती है। पूर्णिमा, जन्माष्टमी, शिवरात्रि आदि के व्रत करती है। अनेक जनजातियाँ बहुविवाही प्रथा को त्याग रही हैं और एक विवाह को अपना रही है। संयुक्त परिवार के स्थान पर इनमे एकाकी परिवार देखने को मिलते है।

हिन्दुओं और ईसाइयों के सम्पर्क के कारण इनमें परिवार, विवाह गोत्र व नातेदारी की व्यवस्थाओं में भी परिवर्तन हो रहे हैं। नागा, गारो, गौंड भील व छोटा नागपुर एवं उत्तरी, उत्तरी-पूर्वी सीमा प्रान्तों की अनेक जनजातियाँ ईसाई धर्म स्वीकार कर चुकी हैं। गोत्र-व्यवस्था जो पहले इन जनजातियों के सामाजिक, धार्मिक, शैक्षिक व राजनैतिक जीवन का आधार थी अब उसमें भी परिवर्तन आ गया है, जबकि नातेदारी व्यवस्था आज भी सक्रिय है। पलायन-विवाह, हठ-विवाह, विनिमय- विवाह एवं क्रय-विवाह आदि की प्रथाओं में भी परिवर्तन आ रहा है। इस प्रकार के विवाह अब कम देखने को मिलते हैं।

इन जातियों की संस्कृति के परिवर्तन के साथा-साथ इनके सामाजिक स्तरीकरण में भी परिवर्तन हुआ है। पहले इनमें स्तरीकरण प्रस्थिति-प्रदत्त था। अब शिक्षा, योग्यता, धनार्जन व राजनैतिक स्थिति आदि के आधार पर व्यक्ति की स्थिति समाज में उन्नत होने लगी है। पहले कुछ जातियों में युवागृह संस्था का प्रचलन था किन्तु आज उसे पिछडेपन का सूचक मानकर त्यागा जा रहा है। जो लोग अच्छे पद-प्रस्थिति को प्राप्त कर लेते हैं वे अन्य लोगों को हेय दृष्टि से देखने लगते हैं।

जनजातियाँ धीरे-धीरे जातियों में परिवर्तित हो रही हैं। रिजले ने भी लिखा है कि सन् 1873 से जनजातियाँ जातियों में बदल रही है। जनजातियाँ हिन्दू होना प्रतिष्ठा का सूचक तथा गौरव की बात मानती हैं। भूमिज तथा भील जनजातियाँ अन्य जनजातियों की तरह हिन्दू जाति व्यवस्था में आत्मसाद् हो गई हैं।

जनजातीय समस्याएँ—सन् 1991 की जनगणना के अनुसार भारत की जनजातियो की संख्या 6 78 करोड़ है तथा 560 से भी अधिक जनजातियाँ हैं। इनमें साक्षरता बहुत कम है। इनकी समस्याओं का समय-समय पर अनेक विद्वानों तथा संगठनों ने अध्ययन किया है। इनकी प्रमुख समस्याएँ दुर्गम स्थानों में निवास होना है। इनकी आर्थिक स्थिति सदैव दयनीय रही है। इनका भौगोलिक पर्यावरण प्रतिकूल होने के कारण कड़ी मेहनत के बाद खाद्य पदार्थ एकत्र कर पाते है। घुर्ये,मजूमदार और मदान का कहना है कि आदिवासियो की आर्थिक समस्याएँ कृषि तथा औद्योगिक श्रमिकों जैसी है। इनका शोषण व्यापारी, सूदखोर, ठेकेदार तथा उद्योगपति करते है।

सामाजिक समस्याएँ भी अनेक हैं। नगरीय लोगो के सम्पर्क के कारण बाल-विवाह होने लगे हैं। वेश्यावृत्ति तथा यौन भ्रष्टाचार फैल गया है। ये कन्या का मूल्य लेने लगे हैं। ईसाई मिशनरियो के सम्पर्क में आने के कारण कई भारतीय जनजातियो ने अपने रहन-सहन के तरीको, जीवन-यापन की पद्धति, सामाजिक व्यवहार, भाषा आदि छोड कर इन ईसाइयों की संस्कृति को अपना लिया है। इससे सांस्कृतिक संतुलन बिगड गया है तथा अनेक समस्याएं पैदा हो गई हैं। इनकी एक विकट समस्या धर्म-परिवर्तन तथा साम्प्रदायिकता की है। कई जनजातियो ने ईसाई धर्म अपना लिया है। इनमें ईसाई, गैर-ईसाई, हिन्दू तथा अहिन्दू के भेदभाव पैदा हो गए हैं। धार्मिक भेदभाव बढ गया है।

अनेक जनजातियों मे राजनैतिक समस्याएँ पैदा हो गई है। अलग प्रान्त की माँग करने लगे हैं। गैर-जनजाति लोगों से घृणा करते हैं। नए राजनैतिक अधिकारों, चुनावों तथा पदों के कारण वंशानुगत मुखिया की व्यवस्था खतरे में पड गई है। इससे बडी पीढ़ी और युवा नेताओं की पीढ़ी मे

संघर्ष पैदा हो गया है। एकीकरण की समस्या, स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्या, भूमि समस्या, आदि अनेक समस्याएँ जनजातियों में पैदा हो गई हैं।

ए.आर. देसाई ने संक्षिप्त में जनजातियों की समस्याओं को निम्नलिखित रूप मे प्रस्तुत किया है, "जनजातियों की समस्याएँ आर्थिक और राजनैतिक हैं। उनकी आजीविका की समस्या प्रमुख है। उनकी समस्या रोजगार की सुरक्षा, उच्च जीवन स्तर, आधुनिक जीवन की सुविधाएँ, शिक्षा आदि हैं।" आप ये भी मानते हैं कि जनजातियों की समस्याएँ शोषण के कारण हैं। सभी लोग इनका शोषण कर रहे हैं।

जनजातियों की समस्याओं, परिवर्तन तथा समाधान के प्रयास, आंदोलन आदि की विस्तार से विवेचना "अनुसूचित जनजातियाँ" अध्याय में की गई है।

प्रश्न

1 जनजाति की परिभाषा दीजिए। जनजाति की विशेषताएँ बताइए।
2 भारत की जनजातियों की विशेषताएँ बताइए।
3 भारत की जनजातियों के वर्गीकरण के प्रमुख आधार क्या-क्या हैं ? उनका संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
4 भारत की जनजातियों की प्रमुख समस्याओ का वर्णन कीजिए।
5 'जनजातियो मे सामाजिक स्तरीकरण' पर निबन्ध लिखिए।
6 सामाजिक सरचना के संदर्भ में जनजातियो का महत्त्व बताइए।
7 'राजस्थान में अनुसूचित जनजातियाँ' पर लेख लिखिए।
8 भारत की जनजातियों के भौगोलिक, सांस्कृतिक तथा भाषायी वर्गीकरणों का उल्लेख कीजिए।

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1 जनजाति की तीन परिभाषाएँ दीजिए तथा उनका अर्थ बताइए।
2. जनजाति के प्रजातीय वर्गीकरण पर एक पृष्ठ लिखिए।
3 जनजाति की प्रमुख विशेषताएँ कौन-कौन सी हैं ? (एक पृष्ठ मे उत्तर दीजिए)
4 'भारत मे जनजातीय समुदाय' पर एक पृष्ठ लिखिए।
5. 'भारत की जनजातियों में सामाजिक स्तरीकरण' पर एक पृष्ठ लिखिए।
6 जाति और जनजाति में तुलना कीजिए। (उत्तर एक पृष्ठ में लिखिए)

अतिलघु-उत्तरीय प्रश्न

1 जनजाति की कोई एक परिभाषा दीजिए। (मा.शि बो , अजमेर, 1994)
2 सन् 1991 की जनगणना के अनुसार भारत मे जनजातियो की जनसख्या क्या है ?
3 जनजातियों की चार प्रमुख विशेषताएँ बताइए। (मा.शि बो., अजमेर, 1994)
4 जनजाति की चार प्रमुख समस्याएँ बताइए।
5 स्थाई खेती करने वाली चार जनजातियों के नाम बताइए।

6 'झूम-खेती' का अर्थ बताइए।
7. बी.एस. गुहा ने भारत की जनजातियों को किन भौगोलिक क्षेत्रों में बाँटा है ?
8. भारत की जनजातियों के प्रजातीय प्रकार बताइए।
9. भारत की जनजातियों के भाषायी प्रकार बताइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न
(उत्तर सहित)

1. निम्नलिखित में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–
   (1) सन् 1991 की जनगणनानुसार भारत की जनजातियों की जनसंख्या....... .....करोड़ है।
   (2) भारत मे लगभग.......जनजातीय समुदाय है।
   (3) सन् 1991 की जनगणनानुसार भारत में. ....करोड़ आदिवासी ग्रामों में रहते है।
   (4) सन् 1991 की जनगणनानुसार भारत में..... .. .आदिवासी नगरो मे रहते है।
   (5) जनजाति का आकार.. .... होता है।
   (6) जनजातियो में विशेषीकरण ... ...होता है।
   (7) जनजातियों में लिखित साहित्य का . .. .. . होता है।
   (8) जनजाति के लोग हिन्दू संस्कृति को अपने से . ....समझते हैं।
   (9) जनजातियों मे साक्षरता का प्रतिशत . ... होता है।
   (10) भारत की नीलगिरी की टोडा जनजाति... ....है।

   [उत्तर- (1) 6 78 करोड़, (2) 560, (3) 6.27 करोड़, (4) 50 लाख, (5) छोटा, *(6) न्यून, (7) अभाव, (8) श्रेष्ठ, (9) निम्न, (10) पशुपालक]*

2. कथनों/प्रश्नों के बाद कोष्ठक में उनके उत्तरों के विकल्प दिए गए हैं, आपको उनमें से सही उत्तर का चयन करना है–
   (1) भारत की जनजातियों की सन् 1991 की जनगणनानुसार जनसंख्या क्या है ?
   (8.76 करोड /7.86 करोड /6.78 करोड)
   (2) भारत की नीलगिरि टोडा जनजाति क्या है ?
   (शिकारी /कृषक /पशुपालक)
   (3) भारत के कितने आदिवासी ग्रामों में निवास करते है ?
   (6 27 लाख /7 62 लाख / 8.27 करोड)
   (4) जनजाति की प्रमुख विशेषता क्या है ?
   (व्यवसाय /संस्कृति /धर्म /भाषा /निश्चित भू-भाग)
   (5) भारत की जनजातियो का भौगोलिक आधार पर वर्गीकरण किसने किया ?
   (मजूमदार /कापडिया /मैकाइवर / गुहा)

(6) "स्थानीय आदिम समूहों के किसी भी संग्रह को, जो एक सामान्य क्षेत्र में रहता हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो और एक सामान्य संस्कृति का अनुसरण करता हो, जनजाति कहते है।" यह कथन किस का है ?

(रिवर्स /हॉवल /मजूमदार/ गिलिन एवं गिलिन)

[उत्तर-(1) 6.78 करोड़, (2) पशुपालक, (3) 6.27 करोड़, (4) निश्चित भू-भाग, (5) गुहा, (6) गिलिन एवं गिलिन)]

3. निम्नलिखित के सही जोड़े बनाइए—

(1) नीलगिरी टोडा जनजाति	(अ) गुहा
(2) सन् 1991	(ब) मध्य भारत की जनजातियाँ
(3) सन् 1981	(स) 5.16 करोड़
(4) भौगोलिक वर्गीकरण	(द) 6.78 करोड
(5) आदि-आग्नेय	(क) पशुपालक

[उत्तर- (1) क, (2) द, (3) स, (4) अ, (5) ब]

□□□

अध्याय - 4

भारत में विवाह

(Marriage in India)

समाज मे जितनी भी संस्थाएँ और समितियाँ है उनका मानव की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए कोई-न-कोई महत्त्वपूर्ण कार्य अवश्य होता है। विवाह भी एक ऐसी ही संस्था है जो विश्व के सभी समाजो में पाई जाती है। विवाह स्त्री तथा पुरुष को यौन इच्छाओं की पूर्ति के लिए पारिवारिक जीवन मे प्रवेश करवाने की एकमात्र संस्था है। अगर विवाह किये बिना कोई स्त्री-पुरुष साथ-साथ रहते है, परस्पर यौन सम्बन्ध रखते हैं, उनके बच्चे पैदा होते है तो ऐसे स्त्री-पुरुष तथा उनकी उत्पन्न सन्तानों को समाज में मान्यता नहीं मिलेगी। सन्तानों को अवैध माना जायेगा। इसलिए सभी समाजो में विवाह एक ऐसी संस्था है जिसमे लडके-लडकी को वर-वधू के रूप में परिवार स्थापित करने की अनुमति प्रदान की जाती है जिसमे वे पति-पत्नी के रूप में जीवन व्यतीत करते हैं, यौन सन्तुष्टि करते हैं तथा संभावित बच्चो का पालन-पोषण करते हैं।

विवाह का अर्थ एवं परिभाषा

'विवाह' शब्द संस्कृत भाषा के 'उद्वह' शब्द से बना है जिसका अर्थ है वधू को वर के घर पर ले जाना। विवाह की कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

1. बोगार्डस के अनुसार, "विवाह स्त्रियों और पुरुषो को पारिवारिक जीवन मे प्रवेश करवाने की एक संस्था है।"

2. डब्ल्यू.एच.आर. रिवर्स की परिभाषा— 'जिन साधनो द्वारा मानव समाज यौन सम्बन्धों का नियमन करता है, उन्हें विवाह की संज्ञा दी जाती है।"

3. मजूमदार और मदान की परिभाषा— "इसमें (विवाह मे) कानूनी या/और धार्मिक आयोजनो के रूप में उन सामाजिक स्वीकृतियों का समावेश होता है जो दो विभिन्न लिंगियों का यौन क्रिया और उनसे सम्बन्धित सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों में सम्मिलित होने का अधिकार प्रदान करती है।"

4. वेस्टरमार्क की परिभाषा— "विवाह एक या अधिक पुरुषो का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला वह सम्बन्ध है जिसे प्रथा या कानून स्वीकार करता है और जिसमे विवाह करने वाले व्यक्तियों के और उनसे पैदा हुए सम्भावित बच्चो के बीच एक-दूसरे के प्रति होने वाले अधिकारों और कर्त्तव्यों का समावेश होता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि विवाह समाज एवं कानून द्वारा मान्यता प्राप्त पद्धति है जिसके द्वारा स्त्री-पुरुष परिवार की स्थापना करते हैं तथा पारिवारिक जीवन प्रारम्भ करते हैं। यौन इच्छा की पूर्ति करते हैं। सन्तानोत्पत्ति, बच्चों का पालन-पोषण तथा सामाजीकरण करते हैं। पति-पत्नी तथा सन्तानों में परस्पर सामाजिक, आर्थिक, कानूनी अधिकार तथा कर्त्तव्यों की व्यवस्था होती है।

विवाह के उद्देश्य

भिन्न-भिन्न समाजों में विवाह के उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं। हिन्दू समाज मे विवाह का सर्वोपरि उद्देश्य धार्मिक है। कापड़िया ने लिखा है, "हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है। ...जिसके उद्देश्य धर्म, प्रजा (सन्तान) और रति (आनन्द) हैं।" विवाह के निम्नलिखित उद्देश्य सभी समाजों में मिलते हैं—

1. यौन-सन्तुष्टि— मुरडॉक ने बताया कि समाजों में विवाह का प्रथम उद्देश्य यौन-इच्छा की पूर्ति करना है। मजूमदार तथा मदान ने भी विवाह का उद्देश्य समाज स्वीकृत विभिन्न लिंगियों को यौन क्रिया करने का अधिकार प्रदान करना बताया है। अगर विवाह द्वारा उस उद्देश्य की व्यवस्था नही की जाये तो समाज मे कामाचार अथवा व्यभिचार की स्थिति पैदा हो जायेगी। इसलिए विवाह का यह प्रथम और महत्त्वपूर्ण कार्य है जो परिवार की व्यवस्था के लिए अत्यावश्यक है।

2. सन्तानोत्पत्ति— मुरडॉक, लूसी मेयर, वेस्टरमार्क आदि ने विवाह का उद्देश्य स्त्री-पुरुष से जन्मे बच्चों को कानूनी अधिकार तथा वैधता प्रदान करना बताया है। सामाजिक वैज्ञानिकों का कहना है कि समाज की निरंतरता के लिए वैध सन्तानोत्पत्ति आवश्यक है जिसे विवाह की संस्था द्वारा समाज मे नियमित तथा नियन्त्रित किया जाता है।

3. आर्थिक सहयोग— मुरडॉक ने आर्थिक सहयोग को तीसरे स्थान पर रखा है। आदिम समाजो मे आर्थिकी बड़ी कष्टदायक स्थिति मे होती है। विवाह सस्था के द्वारा पति-पत्नी परस्पर आर्थिक हितो के सम्बन्धों में बन्ध जाते हैं तथा बच्चो का पालन-पोषण भी करते हैं।

4. व्यक्तित्व का विकास— विवाह के बाद ही स्त्री और पुरुष का एक पति अथवा पत्नी के रूप मे विकास होता है, उससे व्यक्तित्व भी विकसित होता है। समाज में व्यक्ति के अनेक सामाजिक गुणो का विकास विवाहोपरान्त ही होता है। अविवाहित या तलाक प्राप्त स्त्री-पुरुष समाज में इतने व्यवहारकुशल, गम्भीर और समायोजन करने वाले नही होते है जितने पति, पत्नी, पिता, माता आदि प्रस्थितियो के व्यक्ति करते है। मनुष्य का विवाह के बाद ही पूर्ण व्यक्तित्व विकसित होता है। विवाह से पूर्व व्यक्ति का निर्माण नही हो पाता। पूर्ण व्यक्ति तो तब बनता है जब उसके सन्तान उत्पन्न हो जाती है। पूर्ण व्यक्ति वही कहलाता है जिसके पत्नी और सन्ताने हो।

5. पारिवारिक उत्तरदायित्व— व्यक्ति की स्थिति परिवार मे दो प्रकार की होती है— एक सन्तान के रूप मे तथा दूसरी, पिता के रूप मे होती है। जब वह छोटा होता है तो उसके माता-पिता तथा अन्य स्वजन उसका पालन-पोषण करते है। इस ऋण को चुकाने के लिए विवाह करके अपने वृद्ध जनो की सेवा पत्नी के साथ करनी चाहिए।

6. सामाजिक उत्तरदायित्व— समाज की निरंतरता को बनाये रखने का उत्तरदायित्व समाज के सदस्यों पर होता है। मानव नश्वर है। इसलिए नये सदस्यों का जन्म, पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा,

सामाजीकरण आदि नहीं होगा तो समाज एक दिन नष्ट हो जायेगा। इस सामाजिक उत्तरदायित्व को व्यक्ति विवाह करके ही सम्पन्न कर सकता है। अगर सदस्य विवाह न करे तो सामाजिक व्यवस्था असन्तुलित हो जायेगी। भ्रष्टाचार फैल जायेगा।

विवाह के प्रकार— विवाह के द्वारा परिवार की स्थापना होती है। जिस प्रकार का विवाह होगा उसी के अनुसार परिवार की संरचना होगी। यहाँ विवाहों के उन प्रकारो की विवेचना की जाएगी जो पति-पत्नी की संख्या पर आधारित हैं।

विवाह के विभिन्न प्रकारों का वर्णन विभिन्न वैज्ञानिकों ने किया है जिनको निम्न चित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है—
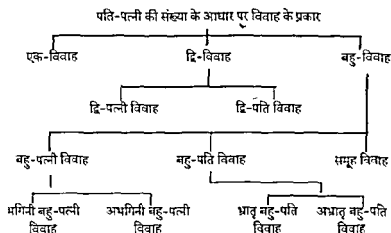
अब हम इनका क्रम से वर्णन करेंगे।

(1) एक-विवाह

एक समय में एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करता है तो वह 'एक-विवाह' कहलाता है। 'एक-विवाह' सामाजिक और कानूनी आधार पर वह भी कहलाता है जब पति-पत्नी में से किसी एक की मृत्यु हो जाए अथवा उनका विवाह विच्छेद हो जाए, उसके बाद विधुर अथवा विधवा अथवा तलाक शुदा पुरुष या स्त्री पुन ऐसे व्यक्ति से विवाह करे, जो इनके जैसा हो अर्थात् अविवाहित या तलाक शुदा हो तो वह भी 'एक-विवाह' कहलाता है। ऐसे 'एक-विवाह' द्वारा एक-विवाही परिवार उस स्थिति मे होगा जब पुन विवाह करने वालों में से किसी के भी पहले से सन्तान नहीं हो। अन्यथा जैसा मुरडॉक का कहना है कि इनमे से पहले से सन्तान होगी तो ऐसा परिवार 'एक-विवाही परिवार' न कहला कर 'सम्मिश्र परिवार' कहलाएगा।

(2) द्वि-विवाह

जब एक समय में एक पुरुष दो स्त्रियों से अथवा एक स्त्री दो पुरुषों से विवाह करती है तो यह द्वि-विवाह कहलाता है। इस विवाह के निम्नलिखित दो प्रकार है— द्विपत्नी विवाह मे एक पुरुष दो

स्त्रियों से विवाह करता है तथा द्वि-पति विवाह में एक स्त्री दो पुरुषों से विवाह करती है। मुरडॉक ऐसे परिवार को सम्मिश्र परिवार कहता है। द्वि-पत्नी विवाह भारत के आदिम, ग्रामीण तथा नगरों में मिलते हैं।

(3) बहु-विवाह

बहु-विवाह उस विवाह को कहते है जिसमें एक पुरुष अनेक स्त्रियों से या एक स्त्री अनेक पुरुषों से अथवा अनेक पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह करते हैं। इसके अनुसार विवाह के निम्नलिखित तीन प्रकार हैं- (1) बहु-पत्नी विवाह (2) बहु-पति विवाह और (3) समूह विवाह।

3.1 बहु-पत्नी विवाह— जब एक पुरुष एक समय में दो से अधिक स्त्रियों से विवाह करता है उसे बहु-पत्नी विवाह कहते हैं तथा इससे बनने वाला परिवार बहु-पत्नी विवाही परिवार कहलाता है। भारत की नागा, गोंड, बैगा, टोडा, लुशाई, खासी, संथाल, कादर, छोटा नागपुर के 'हो', आदि जनजातियों में ऐसे विवाह मिलते हैं। मुसलमानों में पुरुष को चार विवाह करने की धर्म के अनुसार अनुमति है। प्राचीन काल में राजा, महाराजा, जागीरदार, धनी कृषक आदि भी ऐसा विवाह करते थे तथा ऐसे परिवार इनमें मिलते थे। अब कानून के अनुसार एक विवाह से अधिक विवाह नहीं कर सकते हैं।

विश्व में सबसे अधिक बहु-पत्नी विवाह अफ्रीका मे प्रचलित हैं। यहाँ पर राजा और अन्य लोग अनेक पत्नियाँ रख सकते है। विवाह की यह प्रथा कुछ भिन्नताओं के साथ युगाण्डा, मलेशिया, ओसीनिया आदि समाजों में भी पाई जाती है। धनी लोगों में यह प्रथा अधिक मिलती है।

बहु-पत्नी विवाह के प्रकार

बहु-पत्नी विवाह के निम्नलिखित दो प्रकार हैं—

(1) भगिनी बहु-पत्नी विवाह— इस विवाह में एक पुरुष दो या दो से अधिक सगी बहिनो से विवाह करता है।

(2) अभगिनी बहु-पत्नी विवाह— इसमे पुरुष जिन दो या अधिक स्त्रियों से विवाह करता है वे आपस मे बहिने नहीं होती है।

बहु पत्नी विवाह के कारण—

1. स्त्रियों का अधिक होना— जिन समाजों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों के अनुपात में अधिक होती है उन समाजों में बहु-पत्नी विवाह प्रथा का होना स्वाभाविक है। यह जनसंख्यात्मक कारण है।

2. आर्थिक कारण— जो समाज प्रतिकूल भौगोलिक पर्यावरण में निवास करते हैं। उपजाऊ भूमि का अभाव होता है। जीवन-यापन के लिए प्रकृति से कड़ा संघर्ष करना पड़ता है, उनमें अधिक पत्नियाँ जीविकोपार्जन में विभिन्न प्रकार से मदद करती हैं। ये मजदूरी, खेती तथा गृह कार्य आदि मे सहायक रहती है।

3. सामाजिक प्रतिष्ठा— विद्वानों ने लिखा है कि अधिक पत्नियाँ होना समाज मे प्रतिष्ठा का प्रतीक माना जाता है। विभिन्न समाजों में बड़े जमींदार, धनवान, राजा आदि समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए बहु-पत्नियाँ रखते हैं।

4. नवीनता की तृष्णा— वेस्टरमार्क ने लिखा है कि बहु-पत्नी विवाह का प्रमुख कारण पुरुषों में विविधता की इच्छा है। पुरुष नवीनता की इच्छा रखने के कारण अधिक स्त्रियों से सम्पर्क करना चाहता है इसलिए वह अनेक स्त्रियों से विवाह करता है।

5. पुत्र प्राप्ति की इच्छा— हिन्दू समाज में पुत्र का होना धार्मिक दृष्टि से मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक होता है। जब एक पत्नी के पुत्र नहीं होता है तो पुरुष दूसरा विवाह करता है। पुरुष अधिक सन्तानों की इच्छा के कारण भी बहु-विवाह करता है।

6. साली-विवाह— कुछ जनजातियों में साली-विवाह की प्रथा है। एक पुरुष को अपनी पत्नी की सभी बहिनों से प्रथानुसार विवाह करना होता है जो इस बहु-विवाह का कारण बन जाता है।

7. देवर विवाह— कई समाजों में भाई की मृत्यु के बाद व्यक्ति को अपने मृत भाई की विधवा पत्नी से विवाह करना होता है जो बहु-पत्नी विवाह को बढ़ावा देता है। इस प्रकार से पत्नियों की संख्या बढ़ जाती है।

8. बाधित ब्रह्मचर्य— वेस्टरमार्क ने बताया कि कुछ बहुत पिछड़े आदिम समाजों में ऐसी धारणा है कि गर्भवती स्त्री तथा बच्चे को दूध पिलाने वाली माता के साथ पुरुष को सहवास नहीं करना चाहिए। समाजों में बाधित ब्रह्मचर्य की प्रथा के कारण पुरुष अधिक पत्नियाँ रखता है।

9. स्त्रियों की वृद्धावस्था— पुरुषों की तुलना में स्त्रियाँ शीघ्र वृद्ध हो जाती हैं। उनका यौवन शीघ्र ढलने के कारण पुरुष दूसरा विवाह कर लेते हैं।

10. युद्ध तथा स्त्रियों का अपहरण— युद्ध बहु-पत्नी विवाह को दो प्रकार से प्रोत्साहित करता है। पहला, पुरुष युद्ध में मारे जाते हैं उससे उनकी संख्या कम हो जाती है तथा स्त्रियों की संख्या पुरुषों के अनुपात में बढ़ जाती है। दूसरा, युद्ध में स्त्रियों का अपहरण किया जाता है तथा उनसे विवाह कर लिया जाता है।

11. श्रम-विभाजन— आदिम समाजों में पुरुष घर, खेत तथा अनेक आर्थिक कार्यों के बँटवारे के लिए अनेक स्त्रियों से विवाह करता है। ऐसा भारत की बेगा, लुशाई, गोंड आदि जनजातियों मे पाया गया है।

12. स्त्री का अधिक पीहर जाना भी बहु-पत्नी विवाह का कारण अफ्रीका की जनजातियों मे मिलता है। स्त्री जब वर्ष में कई बार अपने पिता के घर जाती है तो पीछे से घर की देखभाल आदि का ध्यान रखने के लिए पुरुष दूसरी स्त्री से विवाह करके उसे घर ले आता है।

बहु-पत्नी विवाह के लाभ— बहु-पत्नी विवाह के निम्नलिखित लाभ हैं—

1. इसका प्रमुख लाभ आर्थिक क्षेत्र में है। आदिवासी जीवनयापन के लिए अनेक स्त्रियों की सहायता से प्रकृति से कठोर संघर्ष कर पाते हैं। अनेक स्त्रियाँ विभिन्न कार्यों, खेती, मजदूरी, गृह कार्य आदि में सहायता पहुँचाती हैं।

2. पति की मृत्यु होने पर विधवा स्त्री का विवाह देवर से हो जाने से उसको सामाजिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक आदि सुरक्षा प्राप्त हो जाती है।

3. बच्चों का पालन-पोषण सुचारु रूप से हो जाता है।

4. समाज मे व्यभिचार को रोकता है। पुरुष अपनी विवाहिता तथा नवीनता की इच्छा परिवार मे ही तृप्त कर लेता है। घर के बाहर भटकता नही फिरता है।

5 युद्ध मे अपहरण की गई स्त्रियों को पारिवारिक जीवन का पुन: अवसर मिल जाता है। उनका जीवन नष्ट होने से बच जाता है।

6 घर में श्रम विभाजन की व्यवस्था अच्छी हो जाती है।

बहु-पत्नी विवाह की हानियाँ—

1. आर्थिक भार— कई बार प्राकृतिक विपदा के कारण जीविकोपार्जन के साधन कम पड़ जाते है। परिवार में सदस्यों की संख्या अधिक होने के कारण आर्थिक भार वहन करना कठिन हो जाता है। आर्थिक भार के कारण समाज में इन विवाहो का लोप होता जा रहा है।

2. गृह-कलह— परिवार में अनेक पत्नियाँ आपस में लड़ती-झगड़ती हैं। उनमे आपस में बात-बात पर तानाकशी, ईर्ष्या, वैमनस्य, मनमुटाव आदि होते रहते हैं। पुरुष के लिए अनेक पत्नियों को नियंत्रण में रखना कठिन हो जाता है। इस प्रकार से परिवार की व्यवस्था बिगड जाती है।

बहु-पत्नी विवाह अब धीरे-धीरे समाप्त हो रहे हैं तथा उनका स्थान एक-विवाह लेता जा रहा है।

3.2 बहु-पति विवाह

बहु-पति विवाह बहु-विवाह का एक प्रमुख प्रकार है जो भारत तथा विश्व के अनेक समाजों में प्रथा के रूप मे प्रचलित है। इसकी निम्नलिखित परिभाषाएँ हैं—

1. रिवर्स के अनुसार, "एक स्त्री का कई पतियों के साथ विवाह सम्बन्ध बहुपति विवाह कहलाता है।"

2. हॉबल के अनुसार, "एक स्त्री का एक समय में दो या अधिक पुरुषों से विवाह को बहुपति विवाह कहते है।"

3. मजूमदार तथा मदान के अनुसार, "एक स्त्री का अनेक पुरुषो से विवाह बहुपति विवाह है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि जब एक स्त्री दो से अधिक पुरुषों से विवाह करती है तो वह विवाह बहुपति विवाह कहलाता है तथा इससे बहु-पति विवाह परिवार का निर्माण होता है। इस प्रकार के विवाह और परिवार भारत तथा विश्व के अनेक समाजो में मिलते है। दक्षिण भारत के द्रविड़ सास्कृतिक समूहो में प्रचलन है। मालाबार के लोगो, उत्तर भारत के खस राजपूतों, नायरों, कुर्ग निवासियों आदि में समाज द्वारा बहु-पति विवाह मान्य है। नीलगिरी के टोडा, कोटा जनजातियों, मालाबार के हरावन और कम्पाला, तियाना, आसाम, लद्दाख,सिक्किम,तिब्बत, कोचीन और ट्रावनकोर की अनेक जनजातियों, पूर्वी अफ्रीका, एस्किमो, नवादा, शूशान तथा चूँकची आदि भी इसी प्रकार के विवाह वाले समाज हैं।

बहु-पति विवाह के दो उप प्रकार हैं— (1) भ्रातृ-बहु पति विवाह (2) अभ्रातृ-बहु-पति विवाह। जब सगे भाई एक स्त्री से विवाह करते हैं तो उसे भ्रातृ-बहु-पति विवाह कहते है। द्रौपदी

बहुपति विवाह के प्रभाव— बहुपति विवाह के प्रभाव निम्नांकित हैं—

(1) कम जन्म दर— ऐसा देखने में आया है कि जिन स्त्रियों का विवाह अनेक पुरुषों से होता है उनके कम सन्तानें पैदा होती है। इतना ही नहीं, उनके पुत्र अधिक होते हैं।

(2) बाँझपन— कई बार ऐसी स्त्रियों के कोई सन्तान नही होती हैं जिनके अनेक पति होते हैं। बहुपति विवाह के कारण स्त्रियों मे बाँझपन मे वृद्धि हो जाती है।

(3) नैतिकता का दोहरा मापदण्ड— कुछ जनजातियों में जहाँ बहुपति विवाह की प्रथा है दोहरी नैतिकता का मापदण्ड मिलता है। खस जनजाति में वधुओं को अपने ससुराल में वैवाहिक सम्बन्धी नियमों तथा प्रतिबन्धों का कठोरता से पालन करना होता है। परन्तु अपने पिता के घर उन्हें यौन सम्बन्धी पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। यह छूट विवाहोत्तर यौन व्यवहार को बढावा देती है।

(4) गुप्त रोगों में वृद्धि— जब एक स्त्री से अनेक पुरुष यौन सम्बन्ध रखते हैं तो उससे छूत की बीमारियाँ फैलती है। गुप्त रोग बढ जाते है। कभी-कभी तलाक तक की स्थिति आ जाती है।

3.3. समूह विवाह

जब कई पुरुष मिलकर अनेक स्त्रियो से एक साथ विवाह करते हैं जिसमें प्रत्येक पुरुष सभी स्त्रियो का पति तथा प्रत्येक स्त्री सभी पुरुषो की पत्नी होती है तो उसे समूह विवाह कहते है। एक पुरुषों का समूह एक स्त्रियों के समूह से विवाह करता है। इससे जो परिवार स्थापित होगा वह समूह विवाही परिवार होगा। भारत की टोटा जनजाति; तिब्बत, भारत तथा श्रीलंका के समाजों में बहु-पति विवाह पाये जाते है। आस्ट्रेलिया की जनजातियों में एक वंश की सभी पुत्रियाँ दूसरे वश की भावी पत्नियाँ समझी जाती है।

हिन्दू विवाह

अर्थ— अन्य समाजों मे विवाह को एक समझौता माना जाता है किन्तु हिन्दू समाज मे विवाह को एक धार्मिक सस्कार माना जाता है। मनु ने विवाह के सम्बन्ध में लिखा है कि विवाह इस लोक तथा परलोक के सुख के लिए आवश्यक है। ए.एस. अल्टेकर ने 'द पोजिशन ऑफ वूमन इन हिन्दू सिविलाइजेशन' में लिखा है कि वेदो में उस व्यक्ति को अपवित्र बताया गया है जो विवाहित नही है। धर्मशास्त्रो तथा शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है कि व्यक्ति को पत्नी प्राप्त करनी चाहिए तथा सन्तान पैदा करनी चाहिए तभी वह पूर्ण व्यक्ति कहलाएगा।

के.एम. कापड़िया के विचार— के.एम. कापड़िया ने अपनी कृति 'मैरेज एण्ड फैमिली इन इण्डिया' में लिखा है, "हिन्दू विवाह एक संस्कार है।" अन्य समाजो मे विवाह विच्छेद का प्रावधान है। परन्तु हिन्दू विवाह को जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध मानते है जिसे तोडा नही जा सकता है। अन्य समाजो में विवाह को सामाजिक या कानूनी आधार पर समाप्त किया जा सकता है। परन्तु हिन्दू समाज में विवाह एक अटूट सम्बन्ध है। कापड़िया ने कहा है, "विवाह प्राथमिक रूप से कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए होता है, इसलिए विवाह का मौलिक उद्देश्य धर्म है।" हिन्दू विवाह मे धर्म का प्रथम स्थान है। पुत्र प्राप्ति का स्थान द्वितीय है तथा रति (काम वासना) का तीसरा और अंतिम स्थान है।

मेधातिथी के अनुसार, "हिन्दू विवाह कन्या को पत्नी बनाने के लिए एक निश्चत क्रम मे किया जाने वाला, अनेक विधियों से सम्पन्न होने वाला पाणिग्रहण-सस्कार है, जिसकी अतिम विधि सप्तपिदर्शन है।"

हिन्दू विवाह धार्मिक कर्त्तव्यों की पूर्ति, पुत्र-प्राप्ति, पितृ-ऋण से मुक्ति, पुरुषार्थों की पूर्ति, सामाजिक एकता, पारिवारिक सुख, सामाजिक कर्त्तव्यो की पालना करने के लिए स्री और पुरुष का निश्चित विधि-विधान के अंतर्गत गृहस्थ आश्रम मे प्रवेश का साधन या धार्मिक संस्कार है।

हिन्दू-विवाह के उद्देश्य एवं महत्त्व

हिन्दुओं के जीवन में चार आश्रमों में दूसरा आश्रम– गृहस्थ आश्रम है, जिसमे व्यक्ति अपने सारे ऋणों– देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण, अतिथि ऋण और भूत ऋण को पूरा करता है। गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति विवाह संस्कार के द्वारा प्रवेश करता है। उसके बाद ही वह गृहस्थ आश्रम से सम्बन्धित ऋणों को पूरा कर सकता है। इस गृहस्थ आश्रम मे व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के द्वारा अपना जीवन सफल बना सकता है। हिन्दु समाज मे विवाह के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1. धार्मिक उद्देश्य– कापडिया लिखते है, "हिन्दू-विवाह एक सस्कार है। हिन्दू-विवाह के उद्देश्य धर्म, प्रजा (सन्तान), और रति (आनद) माने गए है।" आपका कहना है कि विवाह का प्रथम उद्देश्य धर्म अथवा धार्मिक कर्त्तव्यो की पूर्ति करना है। अन्य उद्देश्य उसके बाद प्राथमिकता के अनुरूप हैं। विवाह के द्वारा पुरुष पत्नी को प्राप्त करता है जिसके साथ वह अपने धार्मिक कर्त्तव्यो को पूरा करता है। विवाह तब पूर्ण माना जाता है जब होम (पवित्र अग्नि मे आहुति), पाणिग्रहण (वधू का हाथ पकड़ना) और सप्तपदी (पति-पत्नी साथ-साथ सात कदम चलते है।), ये प्रमुख संस्कार पूर्ण किए जाते हैं। पति पत्नी के ही साथ यज्ञ तथा धार्मिक सस्कार कर सकता है। याज्ञवल्क्य के अनुसार पत्नी की मृत्यु के बाद पुरुष को धार्मिक सस्कार करने के लिए दूसरा विवाह करना अनिवार्य है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि विवाह का मौलिक उद्देश्य धर्म है।

2. पुत्र-प्राप्ति– कापडिया के अनुसार पुत्र की प्राप्ति विवाह का दूसरा उद्देश्य है। मनु सहिता और महाभारत में पुत्र शब्द का अर्थ है वह जो पिता को नरक मे जाने से बचाता है। परिवार मे पुत्र की महिमा इतनी अधिक बताई जाती थी कि सन्तानोत्पत्ति परिवार और समुदाय के लाभ के लिए यह एक कर्त्तव्य माना जाता था। पुत्र पिता का दाह-सस्कार करके उसे मोक्ष दिलाता है। ऋग्वेद मे पुत्र प्राप्ति का महत्त्व अनेक स्थानो पर मिलता है। गुरु, पिता, माता, स्वजन आदि पति-पत्नी या वर-वधू को उत्तम सन्तान का आशीर्वाद देते है। व्यक्ति विवाह के बाद सन्तानो को जन्म देकर ही पितृ ऋण से उऋण होता है। अप्रत्यक्ष रूप से देखा जाय तो अच्छा पुत्र वृद्ध माता-पिता की अच्छी सेवा करता है। समाज की निरन्तरता के लिए भी सन्तानोत्पत्ति आवश्यक है।

3. रति– कापड़िया के अनुसार विवाह का तीसरा उद्देश्य यौन सन्तुष्टि है। विवाह मे यौन सम्बन्ध की निम्नतम भूमिका पर बल देने के लिए लिखा है कि शूद्र के लिए विवाह का उद्देश्य केवल आनंद प्राप्त करना है। परन्तु उच्च वर्णों तथा जातियो के लिए रति का उद्देश्य निम्नतम है। ब्राह्मण विधानवेत्ताओं ने शूद्र पत्नी को केवल आनन्द के लिए विवाह द्वारा प्राप्त करने का उद्देश्य बताया है। ऐसे भी वर्णन मिलते है जिसमें यौन इच्छाओं की पूर्ति को आवश्यक माना गया है परन्तु वह

निम्न वर्णों के लिए है। धर्मशास्त्रों में यौन इच्छाओं को ध्यान में रखा गया है तथा इसको पूर्ण करने का प्रावधान ही विवाह है। वात्स्यायन का कथन है कि रति आनन्द की व्यवस्था समाज में होनी चाहिए कुछ के लिए इन्होने इसकी तुलना ब्रह्मानन्द से की है।

4. व्यक्तित्व का विकास — विवाह के बाद ही स्त्री और पुरुष का एक पति अथवा पत्नी के रूप में विकास होता है उससे व्यक्तित्व भी विकसित होता है। समाज में व्यक्ति के अनेक सामाजिक गुणों का विकास विवाहोपरान्त ही होता है। अविवाहित या तलाक प्राप्त स्त्री-पुरुष समाज में इतने व्यवहार कुशल, गम्भीर और समायोजन करने वाले नहीं होते हैं जितने पति, पत्नी, पिता, माता आदि प्रस्थितियों के व्यक्ति होते हैं। मनु का कहना है कि मनुष्य का विवाह के बाद ही पूर्ण व्यक्तित्व विकसित होता है। पूर्ण व्यक्ति वही कहलाता है जिसके पत्नी और संतानें हो।

5. पारिवारिक उत्तरदायित्व — व्यक्ति की स्थिति परिवार में दो प्रकार की होती है— एक सन्तान के रूप में तथा दूसरी पिता के रूप में होती है। जब वह छोटा होता है तो उसके माता-पिता तथा अन्य स्वजन उसका पालन-पोषण करते है। इस ऋण को चुकाने के लिए विवाह करके अपने वृद्धजनों की सेवा पत्नी के साथ करनी चाहिए। अनेक उत्तरदायित्वों को जो परिवार से सम्बन्धित होते हैं वह व्यक्ति अकेला नहीं कर सकता। पति-पत्नी मिलकर ही अपनी सन्तानों का पालन-पोषण अच्छा कर सकते है।

6. सामाजिक उत्तरदायित्व — समाज की निरन्तरता को बनाए रखने का उत्तरदायित्व समाज के सदस्यों पर होता है। मानव नश्वर है। इसलिए नए सदस्यों का जन्म, पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, सामाजीकरण आदि नहीं होगा तो समाज एक दिन नष्ट हो जाएगा। इस सामाजिक उत्तरदायित्व को व्यक्ति विवाह करके ही सम्पन्न कर सकता है।

हिन्दू विवाह : एक धार्मिक संस्कार

हिन्दू विवाह की प्रकृति, विशेषताएँ, उद्देश्य आदि का अध्ययन करने के बाद कापड़िया ने हिन्दू विवाह को धार्मिक विशेषताओं का वर्णन किया है, जो निम्नलिखित हैं-

1. धार्मिक आधार — हिन्दू-विवाह का प्रथम और सर्वोपरि उद्देश्य धार्मिक है। प्रत्येक हिन्दू अपने जीवन में अनेक धार्मिक कार्य करता है जो वह पत्नी के साथ ही कर सकता है अकेला नहीं, जैसे — प्रतिदिन पंच महायज्ञ, पिण्डदान, तर्पण, कन्यादान आदि। इसके अनेक धार्मिक आधार हैं, जैसे— अविच्छेद्य विवाह, वेदमंत्रों का उच्चारण, अग्नि का साक्षी होना, धार्मिक आदेश एवं निषेध आदि।

2. धार्मिक आदेश तथा निषेध -- हिन्दू-विवाह में एक दम्पत्ति को गृहस्थ जीवन मे प्रवेश करवाने से पहले उन्हे अनेक धार्मिक आदेशो तथा निषेधों से अवगत कराया जाता है। ईश्वर की पूजा-पाठ करना, पंच महायज्ञ करना, दान देना, अतिथि सत्कार करना और समय-समय पर धार्मिक कृत्य करना हिन्दू के लिए आवश्यक है। दम्पत्ति के लिए धर्मशास्त्रों में अनेक निषेधो का भी उल्लेख किया गया है जिन्हे विवाह के समय और बाद में ध्यान में रखना एवं आचरण करना आवश्यक है।

3. विवाह के लिए धार्मिक अनुष्ठान-और संस्कार—' पी.वी काणे ने हिन्दू-विवाह सम्पन्न होने में 39 अनुष्ठानों तथा संस्कारो का वर्णन किया है। हिन्दू-विवाह तभी सम्पन्न माना जाता है जब

इन धार्मिक कृत्यों को पूर्ण किया जाता है। होम, पाणिग्रहण, सप्तपदी, कन्यादान, अग्निपरिणयन आदि विवाह के प्रमुख संस्कार हैं।

4. वेदमंत्रों का उच्चारण— हिन्दू-विवाह के समय वैदिक मंत्रों का उच्चारण किया जाता है। मंत्रों के माध्यम से ईश्वर, देवी-देवताओ का आह्वान विवाह संस्कार के प्रारम्भ मे किया जाता है तथा विवाह संस्कार के समाप्त होने पर उन्हें विदा किया जाता है।

5. अग्नि की साक्षी— हिन्दू धर्म मे अग्नि को पवित्र तथा धार्मिक माना जाता है। यज्ञ, होम, अनुष्ठान आदि अग्नि को साक्षी करके ही किए जाते हैं। हिन्दू विवाह के समय अग्नि को साक्षी करके वर-वधू से सारे संस्कार करवाए जाते हैं। वर-वधू अग्नि तथा देवी-देवताओ से स्वयं के दाम्पत्य जीवन को सुखी और आनन्दमय होने की प्रार्थना करते हैं।

6. पुरोहित की उपस्थिति— हिन्दू धर्म मे जितने भी धार्मिक-कार्य, अनुष्ठान, संस्कार आदि होते हैं उन्हें पुरोहित सम्पन्न करता है। विवाह क्योंकि धार्मिक सस्कार है इसलिए पुरोहित द्वारा सम्पन्न करवाया जाना आवश्यक है। वही वर-वधू को दम्पत्ति के रूप मे पारिवारिक जीवन मे वेद-मंत्रों के उच्चारण के साथ प्रवेश की प्रक्रिया पूर्ण करता है।

7. कन्यादान— धर्मशास्त्रों के अनुसार दम्पति के लिए कन्यादान एक श्रेष्ठ दान है। अगर कोई अपने जीवन में कन्या का दान नहीं करता है तो उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। कन्या का देना तथा लेना एक आवश्यक धार्मिक कृत्य माना गया है। यह दान दम्पत्ति ईश्वर, अग्नि, ब्राह्मण, सगे सम्बन्धियों, मंत्रों आदि की उपस्थिति मे किया जाता है।

8. पत्नी के संबोधन शब्द— हिन्दुओ में पत्नी को ''धर्म-पत्नी'', सहधर्मचारिणी, सह-धर्मिणी आदि शब्दों से सम्बोधित किया जाता है। इन शब्दो का अर्थ है धार्मिक कार्यों, संस्कारों, अनुष्ठानों आदि में बराबर का सहयोग करने वाली। पति के लिए पतिदेव शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह इस सत्य के प्रमाण है कि विवाह एक धार्मिक सस्कार है।

9. अविच्छेदक विवाह— हिन्दू-समाज की यह धार्मिक मान्यता है कि पति-पत्नी के सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर के होते हैं जिन्हें तोडा नही जा सकता है। पिछले जन्मो में जो पति-पत्नी थे वे इस जन्म में पति-पत्नी बने हैं तथा अगले जन्मों मे भी पति-पत्नी बनते रहेंगे। इसी मान्यता तथा परम्परा के कारण कोई भी विवाह विच्छेद नही कर सकता।

10. स्त्री के लिए एकमात्र संस्कार— विवाह ही एक ऐसा सस्कार है जो स्त्री के जीवन मे प्रथम और एक मात्र सस्कार है जो वह स्वतत्र रूप से करती है। विवाह के बाद वह पति के साथ धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करती है। स्त्री का जब तक विवाह सस्कार नहीं होता उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

11. पतिव्रत धर्म— हिन्दू स्त्री का विवाह होने के बाद पति ही उसका सब कुछ होता है। विवाहित स्त्री का यह धर्म है कि वह अपने पति की सेवा करे। पति उसके लिए ईश्वर और स्वा. है। पतिव्रत धर्म निभाना उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। पतिव्रत धर्म का अर्थ है कि पत्नी अपना जीवन पति के चरणों में अर्पित कर दे, उसकी सेवा करे।

12. ऋणों से उऋण— हिन्दू धर्म में व्यक्ति को दैव-ऋण, पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण आदि से उऋण होना होता है। उसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थों की प्राप्ति करनी होती है। यह सब व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में रहकर ही करता है। गृहस्थ आश्रम में बिना विवाह के प्रवेश करना असम्भव है। विवाह वह धार्मिक संस्कार है जिसके द्वारा व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करके अपने सारे ऋणों से उऋण होता है।

हिन्दू-विवाह की उपयुक्त विशेषताएँ और प्रकृति यह स्पष्ट करती हैं कि हिन्दू-विवाह एक धार्मिक संस्कार रहा है। भारत सरकार ने हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 पारित करके इसे एक सामाजिक और वैधानिक समझौता मात्र बना दिया है। इस अधिनियम के द्वारा विवाह के लिए धार्मिक संस्कार करने आवश्यक नहीं हैं। अब विवाह विच्छेद सम्भव है जिससे विवाह को जन्म-जन्मान्तर का अटूट सम्बन्ध नहीं माना गया है। यह बात दूसरी है कि हिन्दू समाज का बड़ा प्रतिशत अभी भी धर्म के द्वारा संचालित है।

हिन्दू-विवाह के स्वरूप (विधियाँ)

हिन्दू-विवाह के स्वरूप से यहाँ पर अर्थ है विवाह करने की वे आठ विधियाँ या पद्धतियाँ जिनका वर्णन मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतिकारों ने किया है। गृह्य-सूत्रों तथा धर्म-सूत्रों में भी इनका उल्लेख मिलता है। यह निम्नलिखित हैं—

1. ब्राह्म विवाह — ब्राह्म विवाह सभी प्रकार के हिन्दू विवाहों में सर्वश्रेष्ठ विवाह माना गया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार, "ब्राह्म विवाह वह विवाह है जिसमें वर को बुलाकर अपनी सामर्थ्य के अनुसार अलंकारों से अलंकृत करके कन्यादान किया जाता है। ऐसे विवाह से उत्पन्न पुत्र इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करने वाला होता है।" मनु ने इस विवाह की व्याख्या मनुस्मृति में निम्न प्रकार की है, "वेदों के ज्ञाता शीलवान वर को स्वयं बुलाकर वस्त्र और आभूषणों आदि से अलकृत कर पूजा एवं धार्मिक विधि से कन्यादान करना ही ब्राह्म विवाह है।"

2. दैव विवाह— मनुस्मृति के अनुसार, "सद्कर्म मे लगे पुरोहित को जब वस्त्र और आभूषणों से अलकृत कन्या दी जाती है तो इसे दैव विवाह कहते हैं।" प्राचीनकाल में धार्मिक अनुष्ठानों का विशेष महत्व था। जो इन पवित्र कार्यों को करते थे उन यज्ञ करवाने वाले यजमान पुरोहित के साथ कन्या का विवाह कर दिया जाता था। याज्ञवल्क्य तथा गौतम ने दैव विवाह के सम्बन्ध में लिखा है कि यज्ञ करवाने वाले पुरोहित को दक्षिणा के रूप में कन्या को आभूषणो से सुसज्जित करके दान कर देना ही दैव विवाह कहलाता है। यज्ञ के लुप्त होने के साथ दैव विवाह भी लुप्त हो गया।

3. आर्ष विवाह— मनुस्मृति के अनुसार आर्ष विवाह में कन्या का पिता विवाह के इच्छुक ऋषि से एक जोड़ा बैल और एक गाय लेकर उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर देता था। बैल आदि के बारे में शास्त्रकारों मे मतभेद है। कुछ का कहना है कि ऋषि का विवाह करने का पक्का इरादा मालूम करने के लिए पशु लिए जाते थे। आर्ष का सम्बन्ध ऋषि शब्द से होने के कारण इसे आर्ष विवाह की सज्ञा दी गई। शास्त्रों में धर्म का प्रतीक बैल है तथा पृथ्वी का गाय। इन्हीं को विवाह के समय माँगा जाना हिन्दू धर्म में इनके महत्त्व को स्पष्ट करता है। याज्ञवल्क्य का कहना है—दो गाय लेकर कन्यादान दिया जाए तो वह विवाह आर्ष-विवाह कहलाता है।

4. प्राजापत्य विवाह—प्राजापत्य वह विवाह है जिसमें कन्या का पिता वर को कन्यादान करते हुए कहता है, "तुम दोनों एक साथ मिलकर आजीवन धर्म का आचरण करो।" इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न सन्तान अपने वंश की बारह पीढ़ियों को पवित्र करती है, ऐसा याज्ञवल्क्य का मानना है। वशिष्ठ और आपस्तम्ब ने इस विवाह का उल्लेख नहीं किया है। अल्तेकर के अनुसार विवाहों के कराने की विधियों की आठ संख्या करने के लिए इसे बाद में जोडा गया है।

5. आसुर विवाह— यह एक प्रकार से वधू-मूल्य के द्वारा किए गए विवाह का ही एक प्रकार है। मनुस्मृति के अनुसार, "जब कन्या (अथवा उसके पिता) को जानबूझ कर यथाशक्ति धन देकर उससे स्वच्छन्दतापूर्वक विवाह किया जाए तो वह आसुर विवाह है।" मजूमदार के अनुसार यह विवाह निम्न कोटि का है। उच्च जातियाँ ऐसे विवाह नहीं करती हैं। गौतम एवं याज्ञवल्क्य के अनुसार अधिक धन देकर कन्या को ग्रहण करना आसुर विवाह है। कुछ लोग कन्या को बिना कुछ दिए लेना कन्या का तथा स्वयं का अपमान समझते है इसलिए बदले मे कुछ न कुछ अवश्य देते हैं। यह कन्या के परिवार से चले जाने की एक प्रकार से क्षतिपूर्ति का तरीका है।

6. गांधर्व विवाह— प्रारम्भ में यह विवाह रूपवान गांधर्वो और कामुक किन्नरियो में होते थे। मनु के अनुसार, "कन्या और वर की इच्छा से पारस्परिक प्रेम द्वारा काम और मैथुन भावो से जो विवाह किया जाए उसे गांधर्व विवाह कहते हैं।" याज्ञवल्क्य के अनुसार, "प्रेम द्वारा होने वाले विवाह को गांधर्व विवाह कहते है।" आधुनिक समय मे इसे प्रेम-विवाह कहते हैं। दुष्यन्त और शकुन्तला का विवाह गांधर्व विवाह था। बौद्धायन और वात्स्यायन इसे आदर्श विवाह मानते है। क्योंकि यह वर और वधू की स्वतंत्र इच्छा तथा पसंद पर आधारित है।

7. राक्षस विवाह— मनु के अनुसार, युद्ध में स्त्री का हरण करके उससे विवाह किया जाता है तो वह विवाह राक्षस-विवाह कहलाएगा। याज्ञवल्क्य के अनुसार, युद्ध मे कन्या का अपहरण करके उसके साथ विवाह करना राक्षस विवाह कहलाएगा। विभिन्न समाजो मे प्राचीन काल मे युद्ध अधिक हुआ करते थे तथा स्त्री को पुरस्कार माना जाता था तब ऐसे विवाह अधिक हुआ करते थे। महाभारत काल में ऐसे विवाहों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। श्रीकृष्ण का रुक्मणी के साथ तथा अर्जुन का सुभद्रा के साथ जो विवाह हुआ था वह राक्षस विवाह था। भीष्म ने अपने भाइयों के विवाह के लिए काशी के राजा की पुत्रियों अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका का हरण किया था।

8. पैशाच विवाह— मनु के अनुसार, "सोई हुई, उन्मत्त, घबराई हुई, मदिरा पान की हुई या राह मे जाती हुई लड़की के साथ बलपूर्वक कुकृत्य करके बाद मे उससे विवाह करना पैशाच विवाह है।" इस विवाह को शास्त्रो में सबसे निकृष्ट और अधर्म माना है। आपस्तम्ब और वशिष्ठ ने इस विवाह को मान्यता नहीं दी। इस विवाह मे कन्या का कोई दोष नहीं होने के कारण तथा उसका जीवन सुरक्षित करने के लिए धर्मशास्त्रकारों ने इस निकृष्ट विवाह को मान्यता देना उचित समझकर मान्यता दी थी। इस मान्यता से कन्या का कौमार्य भग हो जाने के बाद भी सामाजिक अपमान तथा बहिष्कार से सुरक्षा प्रदान करने तथा सम्मान से जीवन व्यतीत करने के लिए अधर्म होते हुए भी यह प्रावधान रखा गया।

निष्कर्ष— उपर्युक्त आठ प्रकार के विवाहों मे ब्राह्म विवाह सर्वोत्तम, दैव विवाह और प्राजापत्य को मध्यम; आर्ष, आसुर और गाधर्व को निकृष्ट तथा राक्षस और पैशाच विवाह को महाभ्रष्ट विवाह

माना गया है। आजकल केवल ब्राह्म विवाह आर आसुर विवाह ही अधिक प्रचलित हैं। मजूमदार का कहना है कि ब्राह्म विवाह उच्च जाति के लोगों में तथा आसुर विवाह निम्न जाति के लोगों में होते हैं।

हिन्दू-विवाह के नियम

हिन्दू समाज में विवाह से सम्बन्धित कई नियम देखे जा सकते हैं जो विवाह के विभिन्न प्रकारों को नियंत्रित और व्यवस्थित करते है। विभिन्न समाजशास्त्रियों ने हिन्दू विवाह मे सम्बन्धित विभिन्न निषेधों, वरीयताओं और भोगाधिकारों को अन्तर्विवाह, बहिर्विवाह, अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों में वर्गीकृत किया है जो निम्नलिखित प्रकार है—

बहिर्विवाह

बहिर्विवाह अंग्रेजी शब्द एग्जोगेमी (Exogamy) का हिन्दी अनुवाद है। एग्जोगेमी ग्रीक शब्द से बना है। Exo का अर्थ है Outside अर्थात् बाहरी भाग और Gamy का अर्थ है विवाह करना। Exogamy का पूर्ण अर्थ हुआ बाहरी लोगों में विवाह करना। प्रत्येक समाज में निकट सम्बन्धियों के साथ विवाह करना निषेध है, जैसे— भाई-बहिन, माता-पुत्र, पिता-पुत्री आदि। बहिर्विवाह से तात्पर्य है कि एक व्यक्ति अपने निकट सम्बन्धियों के समूह के बाहर विवाह करे। हिन्दुओं में बहिर्विवाह की प्रथा तथा निषेधो के अनुसार व्यक्ति एकाकी परिवार, संयुक्त परिवार, वंश गोत्र, सप्रवर और सपिण्ड समूहों से बाहर विवाह कर सकता है। हिन्दुओं में बहिर्विवाह के निम्नलिखित स्वरूप हैं—

1.1. सगोत्र बहिर्विवाह- सगोत्र बहिर्विवाह से तात्पर्य है जो व्यक्ति जिस गोत्र समूह का सदस्य है उस गोत्र समूह के बाहर विवाह करे। हिन्दुओं में सगोत्र विवाह निषेध है। गोत्र एक बड़ा बन्धुत्व समूह होता है। कई एकाकी परिवार मिलकर संयुक्त-परिवार, कई संयुक्त-परिवार मिलकर वंश-समूह और कई वंश-समूह मिलकर सगोत्र समूह का निर्माण करते हैं। इस प्रकार से हिन्दू समाज में परिवार, सयुक्त-परिवार, वंश-समूह और गोत्र-समूह बहिर्विवाह-समूह होते है जिनमें व्यक्ति विवाह नही कर सकता। इनके बाहर विवाह की अनुमति है।

गोत्र की व्याख्याएँ भिन्न— भिन्न मिलती है। गोत्र का शाब्दिक अर्थ है गो+त्र अर्थात् गायों को बाँधने का स्थान (गौशाला) अथवा गायों का पालन करने वाला समूह है। सामान्य रूप से गोत्र एक व्यक्तियों का समूह है जो अपनी उत्पत्ति एक ही पूर्वज से मानते हैं। 'सत्याषाढ़ हिरण्यकेशी श्रोतसूत्र' के अनुसार, आठ ऋषियों—विश्वामित्र, गौतम, भारद्वाज, वशिष्ठ, अत्रि, कश्यप, जमदग्नि और अगस्त्य की सन्तानों को गोत्र नाम से पहिचाना जाता था। गोत्र शब्द को गौशाला, गाय का समूह, किला या पर्वत आदि अर्थों मे भी प्रयुक्त किया जाता था। लोग गोपालन करते थे। जो लोग परस्पर मित्र, या रक्त सम्बन्धी होते थे तथा अपनी गायों को एक स्थान पर रखते या बाँधते थे। उनमे कुछ नैतिकता के कर्त्तव्य विकसित हो गये होंगे। वे लोग आपस में विवाह करना ठीक नहीं समझते होंगे। यही कालांतर मे जाकर गोत्र बहिर्विवाह के निषेध में विकसित हो गया होगा। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अनुसार गोत्र बहिर्विवाह का निषेध समाप्त घोषित कर दिया गया है फिर भी विवाह निश्चित करते समय गोत्रों का ध्यान रखा जाता है।

समूहों में विवाह करने लगा। इस प्रकार यह समूह अन्तर्विवाह-समूह बन गए तथा वर-वधू के चुनाव का क्षेत्र सीमित तथा संकुचित हो गया।

अन्तर्विवाह के कारण— अन्तर्विवाह के निम्नलिखित कारण बताए गये हैं—

1. प्रजाति— रिज़ले, घुर्ये और मजूमदार के अनुसार विभिन्न प्रजाति के लोग भारत में आए। यह अपनी रक्त की शुद्धता बनाए रखना चाहते थे। लेकिन इनके साथ स्त्रियाँ कम आई थीं। आवश्यकतानुसार इन्होंने स्थानीय स्त्रियों से विवाह किया तथा बाद में ऐसे विवाहों पर रोक लगा दी। इससे अन्तर्विवाह का विकास हुआ।

2. सांस्कृतिक भिन्नता— आक्रमणकारियों तथा स्थानीय लोगों की संस्कृति में काफी भिन्नता थी। उनकी भाषा, खान-पान, वेशभूषा आदि भिन्न था जिससे विवाहो के सामंजस्य में कठिनाई पैदा होती थी। इससे सुरक्षा का एक ही उपाय था कि आपस मे विवाह नहीं करे। इस सांस्कृतिक भिन्नता ने भी अन्तर्विवाह को प्रोत्साहित किया।

3. प्रदत्त सदस्यता— समाज में सदस्यता दो प्रकार की होती है— कर्म पर आधारित और जन्म पर आधारित। वर्ण व्यवस्था में कर्म से व्यक्ति को सदस्यता प्राप्त होती थी। परन्तु धीरे-धीरे जन्म का महत्त्व बढ़ गया। जो जिस जाति अथवा उपजाति मे पैदा होता उसे उसी समूह की सदस्यता मिलती। उसका विवाह भी उसी समूह में होता।

4. व्यावसायिक सुरक्षा— नैसफील्ड के अनुसार— जातियाँ अपना व्यवसाय सुरक्षित रखने के लिए अन्य समूहो से विवाह नही करती थी। वे अपनी ही जाति-समूह मे विवाह करतीं तथा वंशजों के लिए व्यवसाय सुरक्षित रखती। इसी उद्देश्य से अन्तर्विवाह की ओर आकर्षण बढ़ता गया और धीरे-धीरे यह एक प्रथा बन गई।

5. उपजातियों का क्षेत्रीय केन्द्रीयकरण— विभिन्न उपजातियाँ भिन्न-भिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में पृथक-पृथक् निवास करती थीं। प्राचीन काल में भारतवर्ष मे यातायात के तथा संचार के साधनों का विशेष अभाव था। इससे विभिन्न उपजातियों मे परस्पर सम्पर्क नही होने के कारण वे अपने ही क्षेत्रो में बसी उपजातियों में विवाह को प्राथमिकता देते-देते इसे नियम के रूप मे मानने लग गए तथा वह अन्तर्विवाह मे विकसित हो गया।

6. जैन और बौद्ध धर्म— जैन और बौद्ध धर्म ब्राह्मणवाद के विरुद्ध एक आंदोलन था, जिसने ब्राह्मणो के प्रभाव तथा वर्चस्व को कम कर दिया। बाद में जैन और बौद्ध धर्मों का प्रभाव कम हो गया। ब्राह्मणो ने भी अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा और प्रभाव को पुन प्राप्त करने के लिए जाति से सम्बन्धित नियमो को विशेष सख्त बनाया, उनमे अन्तर्विवाह सबसे कठोर नियम था। इसका पालन कठोरता से किया गया।

7. मुसलमानों का आक्रमण— मुसलमानो ने भारत पर आक्रमण किए। अपने धर्म को भारत मे फैलाया। वे यहाँ की हिन्दू लड़कियो से विवाह करते। इससे सुरक्षा के लिए बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा तथा अनेक अन्य प्रतिबन्ध लगाए गए। उसमे से सबसे कठोर प्रतिबन्ध अपने समूह, जाति, उप-जाति आदि के बाहर विवाह पर निषेध लगा देना था। हिन्दू समाज अनेक छोटे-बड़े अन्तर्विवाह समूहो मे विभाजित हो गया।

अनुलोम विवाह

अनुलोम विवाह अंग्रेज़ी के शब्द (Hypergamy) हाइपरगेमी का हिन्दी रूपान्तर है। हाइपरगेमी ग्रीक शब्द से बना है। *Hyper* का अर्थ है *Over* ऊपर और *Gamy* का अर्थ है विवाह करना। Hypergamy का पूर्ण अर्थ है ऊपर विवाह करना। इस विवाह के प्रकार में वर और वधू की सामाजिक श्रेणी, जाति, वर्ग, कुल आदि देखे जाते हैं। अगर वर वधू से उच्च सामाजिक श्रेणी, वर्ग, जाति, वर्ग अथवा कुल का है तो ऐसा विवाह अनुलोम विवाह या कुलीन विवाह कहलाता है। इसमें उच्च सामाजिक स्थिति का वर होता है तथा निम्न सामाजिक स्थिति की वधू होती है। ब्राह्मण लड़के का विवाह क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र लड़की से होता है तो ऐसा विवाह अनुलोम विवाह कहलाता है। ऐसे विवाह प्राचीन काल में मान्य थे।

मनुस्मृति और मदन ने अनुलोम विवाहों का वर्णन किया है। मनु तथा याज्ञवल्क्य भी ब्राह्मण को चार (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र), क्षत्रिय को तीन (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र), वैश्य को दो (वैश्य और शूद्र) और शूद्र को एक (केवल अपने शूद्र वर्ण) विवाह करने की अनुमति की बात कही है। शूद्र वर्ग की लड़की से द्विजों के विवाह को निम्न कोटि का माना जाता था। जैसे-जैसे वर्ण *विभिन्न जातियों और उपजातियों में विभाजित होते गए तथा अन्तर्विवाह की प्रथा फैलती गई* वैसे-वैसे अनुलोम विवाह की प्रथा भी समाप्त होती गई।

अनुलोम विवाह के प्रभाव—अनुलोम विवाह के अनेक प्रभाव हिन्दू समाज में देखने को मिलते हैं। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण प्रभाव निम्नलिखित हैं—

1. उच्च कुलों में लड़कों की कमी— सभी माता-पिता और स्वजन अपनी लड़कियों का विवाह उच्च वर्ग, कुल, जाति आदि में करते हैं इससे उच्च वर्ग, कुल आदि में लड़कों की माँग बढ़ जाती है। इससे उच्च कुल की लड़कियों को योग्य वर नहीं मिल पाता है और कभी-कभी वे अविवाहित भी रह जाती हैं।

2. निम्न कुलों में लड़कियों की कमी— जब निम्न कुल की लड़कियों का विवाह उच्च कुल में करते हैं तो निम्न कुल के लड़कों के लिए लड़कियों की कमी हो जाती है और वे अविवाहित रह जाते हैं।

3. वर मूल्य प्रथा— जब हर कोई अपनी लड़की का विवाह उच्च कुल में करना चाहते हैं तो उच्च कुल के लड़कों की संख्या तो कम होती है तथा उनकी माँग बढ़ने से वर-मूल्य या दहेज की माँग बढ़ जाती है।

4. बेमेल एवं बाल-विवाह—अनुलोम विवाह सामाजिक प्रतिष्ठा की बात होती है। प्रत्येक माता-पिता अपनी पुत्री का विवाह उच्च कुल में करने के कारण बड़ी उम्र के पुरुष से कर देते हैं। बंगाल और बिहार में ऐसा खूब होता रहा है। लड़की बालिका तथा छोटी उम्र की होती है तथा पुरुष वृद्ध, अधेड़ या बहुत अधिक उम्र का होता है। कन्या के माता-पिता तथा स्वजन अच्छे वर की तलाश में रहते हैं।

5. बाल-विधवाओं की समस्या— बेमेल विवाह में पति वृद्ध और अधेड़ होने के कारण आयु की तुलना में जल्दी मर जाते हैं तथा लड़की विधवा हो जाती है। बाल-विवाह में भी पति छोटी उम्र

का होता है, वह बीमार होकर मर जाता है तो कन्या विधवा हो जाती है। कुलीन विवाह से बाल-विवाह, बेमेल-विवाह और फिर विधवा की समस्या का इससे जन्म हुआ है।

6. बहु-विवाह का प्रचलन— अन्तर्विवाह ने बहुपति विवाह तथा बहुपत्नी विवाह को बढावा दिया है। कन्या के संरक्षक जब उच्च कुल में विवाह करना उद्देश्य बना लेते हैं तो उच्च कुल में सीमित लड़कों का विवाह अनेक कन्याओं से कर दिया जाता है। बंगाल तथा बिहार में ऐसे अनेक उदाहरण मिले है जिसमें लड़के का विवाह 50 से 100 कन्याओं तक से हुआ है। पति रजिस्टर रखते हैं उसमें अपनी पत्नियों के नाम-पते लिखकर रखते है। इतनी सारी पत्नियों को याद रखना भी कठिन है। विवाह के बाद पत्नियाँ अपने माता-पिता के पास रहती हैं।

सामाजिक बुराइयाँ— अनुलोम विवाह से अनेक सामाजिक बुराइयाँ तथा समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। विलम्ब विवाह, बेमेल विवाह, विधवाओं का बढ़ना, बाल-विवाह, दहेज, कन्या-मूल्य आदि के अतिरिक्त और भी बहुत सी समस्याएँ पैदा हो जाती हैं, जैसे— भ्रष्टाचार, नैतिक पतन, आत्महत्याएँ आदि। उच्च कुल के परिवारों में भ्रष्टाचार फैल जाता है।

प्रतिलोम विवाह

प्रतिलोम विवाह अंग्रेजी के शब्द हाइपोगेमी (Hypogamy) का अनुवाद है। हाइपोगेमी ग्रीक शब्द से बना है। Hypo का अर्थ है Below तथा Gamy का अर्थ है विवाह करना। पूर्ण अर्थ हुआ निम्न वर्ण, जाति, श्रेणी आदि में विवाह करना। अनुलोम विवाह का विपरीत रूप प्रतिलोम विवाह है। यह वह विवाह है जिसमें वधू उच्च श्रेणी, वर्ण, वर्ग, जाति, कुल या वंश की होती है तथा वधू की तुलना में वर निम्न श्रेणी, वर्ण, वर्ग, जाति या कुल या वंश का होता है। कापड़िया के अनुसार- "एक निम्न वर्ण के व्यक्ति का उच्च वर्ण की स्त्री के साथ विवाह प्रतिलोम विवाह कहलाता था। ब्राह्मण लड़की का विवाह क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र लड़के से; क्षत्रिय लड़की का विवाह वैश्य या शूद्र लडके से तथा वैश्य लड़की का विवाह शूद्र लड़के से होना प्रतिलोम विवाह कहलाता है।"

प्रतिलोम विवाह में लड़की उच्च-कुल की होती है तथा लड़का निम्न-कुल का होता है। स्मृतिकारों ने इस प्रकार के विवाहों को कभी भी मान्यता नहीं दी। वे इसकी आलोचना करते थे। प्रतिलोम विवाह अर्थात् उच्च वर्ण की स्त्री तथा निम्न वर्ण के पुरुष से उत्पन्न संतानों को 'चाण्डाल' अथवा 'निषाद' कहते थे। पहले यह विवाह वैध नहीं थे। परन्तु भारत सरकार ने समय-समय पर नियम पारित करके इन विवाहों को वैध घोषित कर दिया है। यह नियम है— हिन्दू विवाह वैधता अधिनियम, 1949 और हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 जिनके द्वारा अनुलोम और प्रतिलोम विवाहो को कानूनी वैधता प्रदान कर दी गई है।

हिन्दू-विवाह में आधुनिक परिवर्तन

हिन्दू समाज में निरन्तर परिवर्तन होते रहे है। परिवर्तन समाज की प्रकृति है। हिन्दू-विवाह मे भी परिवर्तन तो होते रहे परन्तु इसकी गति कभी बहुत धीमी हो गई तो कभी तेज। वर्तमान समय में नगरीकरण, औद्योगीकरण, पाश्चात्य संस्कृति, नवीन कानूनो का प्रभाव, महिला आंदोलन, विज्ञान का प्रसार, धर्म के प्रभाव मे कमी, स्त्रियो की शिक्षा तथा आर्थिक स्वतन्त्रता ने विवाह के विभिन्न लक्षणो, लक्ष्यो, स्वरूपों आदि को प्रभावित किया है। विवाह से सम्बन्धित अग्रलिखित परिवर्तन उल्लेखनीय है जो विगत वर्षों मे हुए है—

उद्देश्यों में परिवर्तन– धर्मशास्त्रों के अनुसार हिन्दू विवाह के उद्देश्य धर्म, प्रजा और रति है। परन्तु अब धार्मिक उद्देश्य गौण हो गया है अथवा समाप्त हो गया है। विवाह का तीसरा उद्देश्य रति-आनन्द (यौन इच्छा की पूर्ति) प्रथम तथा एकमात्र उद्देश्य हो गया है। परिवार नियोजन की आवश्यकता के कारण तथा जनसंख्या की समस्या के समाधान के कारण अनेक दम्पति अब पुत्र प्राप्ति को महत्त्व नहीं देते हैं। पुत्र प्राप्ति को मोक्ष के लिए आवश्यक नहीं मानते हैं। दो पुत्रियों के जन्म के बाद सन्तानोत्पत्ति का विचार नहीं रखते।

2. विवाह आवश्यक संस्कार नहीं रहा– हिन्दुओं की युवा पीढ़ी पहले की तरह विवाह को आवश्यक धार्मिक संस्कार नहीं मानती है। लड़के-लड़कियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त करने को महत्त्व देते है। आर्थिक रूप से स्वावलम्बी होने के साथ-साथ अच्छी आय कमाना चाहते हैं। इससे विवाह को वे महत्त्व कम देते हैं। स्त्रियाँ शिक्षा प्राप्त करने तथा अच्छे व्यवसाय को पाना ज्यादा पसंद करती हैं। विवाह को एक बन्धन मानते हैं। सुयोग्य वर के अभाव में विवाह टलता रहता है और अनेक स्त्री-पुरुष बाद में अविवाहित रहना पसंद करने लग जाते हैं।

3. विवाह के संस्कारात्मक आधार में परिवर्तन– हिन्दू-विवाह का आधार धार्मिक था। विवाह को जन्म-जन्मान्तर का अटूट सम्बन्ध मानते थे। अब कानूनी आधार पर भी विवाह एक कानूनी समझौता या संविदा है। पहले विवाह विच्छेद की बात कोई सोच भी नहीं सकता था। अब न्यायिक पृथक्करण और तलाक होने लगे है। धार्मिक आधार घट रहा है और कानूनी समझौते का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। स्त्री शिक्षा का प्रभाव अधिक पड़ा है।

4. रीति-रिवाजों में परिवर्तन– विवाह धार्मिक विधि-विधान से पूर्ण किया जाता था। अब शास्त्रों के अनुसार विवाह पूर्ण विधि-विधान से सम्पन्न नहीं होते है। विवाह की रस्में पंडित द्वारा कुछ घण्टों में सम्पन्न कर दी जाती हैं। विवाह से सम्बन्धित संस्कारों को केवल मात्र औपचारिकता के रूप मे पुरोहित जल्दी तथा सूक्ष्म रूप में पूरी करता है जिसका क्या अर्थ है, उद्देश्य है वही जानता है। विवाह होटलो में सम्पन्न होते है। रीति-रिवाजों में समयाभाव के कारण काफी परिवर्तन आ गया है।

5. निषेधों में परिवर्तन– हिन्दू-विवाह संस्था से सम्बन्धित अनेक निषेध थे, जैसे–अन्तर्विवाह, बहिर्विवाह, सपिण्ड तथा सगोत्र विवाह निषेध तथा अन्तर्जातीय निषेध। अब हिन्दू लोग इन निषेधों का ध्यान नहीं रखते है। अन्तर्जातीय विवाह होने लगे है। गोत्र और प्रवर का ध्यान नहीं रखा जाता है। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अनुसार उपर्युक्त निषेध समाप्त घोषित कर दिए गए है। हिन्दू विवाह के निषेध शास्त्रों की वस्तु मात्र रह गए है।

6. बाल और विलम्ब विवाहों में परिवर्तन– नगरीकरण, औद्योगीकरण, आधुनिक शिक्षा, यातायात तथा संचार के साधनों ने बाल-विवाह का प्रतिशत घटाया है। परन्तु दूसरी ओर विलम्ब विवाहो का प्रतिशत बढ़ा है। प्रत्येक लड़का तथा लड़की विवाह से पहले अपने जीवन मे आर्थिक रूप मे स्वावलम्बी तथा अच्छी आर्थिक स्थिति प्राप्त करना चाहते है। उसमे समय लगता है। इससे देर से विवाह करने का रिवाज-सा होता जा रहा है। शिक्षा पूर्ण करने में समय अधिक लग जाता है। बाल-विवाहो का प्रतिशत घट रहा है तथा विलम्ब-विवाह का प्रतिशत बढ़ रहा है।

7. दहेज का प्रभाव बढ़ना– आधुनिक समय मे भौतिकवाद की ओर सबका आकर्षण बढ़ रहा है। आधुनिक उपभोग की वस्तुएँ, जैसे–रंगीन टेलीविजन, रेफ्रीजरेटर, वी.सी.आर., कार, स्कूटर

आदि वस्तुएँ हर कोई चाहता है। लोगों ने इन्हे प्राप्त करने का सरल तरीका दहेज द्वारा पूर्ण करना अपना लिया है। वर पक्ष वाले धन, आभूषण, मकान तथा वस्तुओं की माँग करते हैं। पहले दहेज वधू पक्ष की इच्छा पर निर्भर करता था परन्तु अब यह व्यापार-सा हो गया है।

8. विधवा पुनर्विवाह का बढ़ना— हिन्दुओं में विधवा पुनर्विवाह निषेध था। कोई भी स्त्री पति की मृत्यु के बाद दूसरा विवाह नहीं कर सकती थी। भारत सरकान ने हिन्दू विवाह अधिनियम के द्वारा विधवा पुनर्विवाह को सुविधा प्रदान कर दी है। अब कुछ यदा-कदा विधवा पुनर्विवाह होने लगे हैं। विवाह अब जन्म-जन्मान्तर का पवित्र अटूट सम्बन्ध नहीं माना जाता है। इसमें परिवर्तन हो रहा है।

9. वैवाहिक अधिकारों में परिवर्तन— हिन्दुओं मे धर्मशास्त्रों के अनुसार पुरुष को स्त्री की तुलना में अधिक अधिकार प्राप्त थे, जैसे— पुरुष अनेक विवाह कर सकता था, पत्नी की मृत्यु के बाद विवाह कर सकता था। स्त्री केवल एक विवाह तथा पति की मृत्यु के बाद पुन विवाह नही कर सकती थी। सरकार ने कानून के द्वारा सभी स्त्री-पुरुष के लिए एक-विवाह का कानून बना दिया है। विवाह विच्छेद सम्भव कर दिया है। विवाह के मामले में स्त्री-पुरुष सब समान हैं। पति-पत्नी कोई भी समानरूप से अपने अधिकारों का उपयोग कर सकते हैं।

10. विवाहित और अविवाहित में समानता— पहले हिन्दू के लिए विवाह करना एक आवश्यक सस्कार माना जाता था। अविवाहित को निम्न या हेय दृष्टि से देखा जाता था। समाज में उसका सम्मान विवाहित से कम था। स्त्री के लिए तो अविवाहित रहना लगभग असम्भव था। परन्तु अब इनको समान रूप से देखा जाता है। विवाह करना या नहीं करना व्यक्तिगत मामला माना जाने लगा है। अब समाज के प्रतिबन्ध इस मामले में पहले जैसे कठोर नहीं रहे।

11. वैवाहिक साथी के चुनाव में स्वतंत्रता— हिन्दू-विवाह मे माता-पिता तथा स्वजन लड़के-लडकियों के लिए वैवाहिक साथी की खोज करते थे। विवाह सम्बन्ध स्थापित करने में परिवार तथा खानदान देखा जाता था। विवाह के द्वारा दो परिवार परस्पर सम्बन्धित होते थे। परन्तु अब इसमें परिवर्तन आ रहा है। अब लडके तथा लड़कियाँ भी अपने जीवन साथी चुनने लगे हैं। माता-पिता लड़के तथा लडकी की राय जानकर ही 'हाँ' करते हैं। विवाह की आयु अधिक होने तथा लड़के-लड़कियाँ स्वावलम्बी होने के कारण स्वयं भी जीवन साथी पसंद कर लेते हैं।

12. वैवाहिक साथी की खोज के तरीकों में परिवर्तन— पहले पुरोहित, नाई तथा सम्बन्धी विवाह के लिए माता-पिता को लडके-लड़कियाँ बताया करते थे। अब समाचार-पत्रों में विज्ञापन दिए जाते है। विज्ञापनो के माध्यम से पत्र-व्यवहार करके विवाह निश्चित किए जाते है। इस प्रकार का तरीका धीरे-धीरे बढ़ रहा है। लड़के-लडकियाँ भी अपना जीवन साथी स्वय पसन्द करके माता-पिता को बता देते हैं।

13. प्रेम-विवाहों में वृद्धि— नगरों तथा महानगरों में लडके-लड़कियाँ परस्पर सम्पर्क में आते हैं। उनमें रोमांस चलता है तथा प्रेम होने पर विवाह कर लेते हैं। माता-पिता से अनुमति माँगते हैं। जहाँ माता-पिता सहमति दे देते हैं व्यवस्था बनी रहती है। अनुमति नही देने पर सम्बन्ध टूट जाते है। वर-वधू विवाह कर लेते हैं तथा कुछ वर्षों बाद सब ठीक हो जाता है। इस क्षेत्र में परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई है।

14. अन्तर्जातीय विवाह— हिन्दू समाज में जाति व्यवस्था के प्रतिबन्ध बहुत कठोर थे। विवाह से सम्बन्धित प्रतिबन्ध, "जो जिस जाति का है वह उसी जाति में विवाह करेगा" सबसे कठोर नियम तथा प्रतिबन्ध था। अब यह प्रतिबन्ध शहरों, नगरों तथा महानगरों में टूट रहे हैं। कमजोर पड़ते जा रहे हैं। शिक्षित लड़के-लड़कियाँ अपनी पसंद के लड़के-लड़कियों से विवाह करते हैं चाहे वे किसी भी जाति, धर्म या भाषाई क्षेत्र के हों। अन्तर्जातीय विवाहों का प्रतिशत दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इसका कारण नगरीकरण, स्त्री-शिक्षा, यातायात के साधन, व्यवसायों की बाहुल्यता आदि हैं।

हिन्दू-विवाह में अनेक परिवर्तन हो रहे हैं। यह परिवर्तन पति-पत्नी, परिवार तथा समाज से सम्बन्धित हैं। विवाह के अनेक लक्षण बदल रहे हैं, जैसे— विवाह की आयु, उद्देश्य, प्रकार, निषेध, विधि-विधान, रीति-रिवाज, पति-पत्नी के अधिकार, संस्कारात्मक प्रकृति आदि। इनमें परिवर्तन होना अवश्यम्भावी है क्योंकि अनेक कारण हैं, जैसे— नगरीकरण, पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण, औद्योगिकीकरण, संचार तथा यातायात के साधन, आधुनिक शिक्षा, व्यवसायों की बाहुल्यता आदि। हिन्दू-विवाह धार्मिक संस्कार से एक सामाजिक और कानूनी समझौता बनता जा रहा है।

मुस्लिम विवाह

अर्थ— मुसलमानों में विवाह के लिए 'निकाह' शब्द का प्रयोग किया जाता है। निकाह (विवाह) का शाब्दिक अर्थ है— नर-नारी का विषयी समागम। हिन्दुओं में विवाह एक धार्मिक संस्कार है परन्तु मुसलमानों में निकाह एक धार्मिक संस्कार नहीं है बल्कि एक समझौता है जो निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्त्री-पुरुष के बीच किया जाता है— घर बसाना, सन्तानोत्पत्ति करना और उन्हें वैधता प्रदान करना। मुस्लिम विवाह की निम्नलिखित कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ हैं जिनसे इस विवाह की विशेषताएँ, उद्देश्य तथा स्वरूप स्पष्ट हो जाएगा—

1. डी.एफ. मुल्ला के अनुसार, "निकाह (विवाह) एक विशिष्ट समझौता है जिसका उद्देश्य बच्चे उत्पन्न करना और उनको वैध घोषित करना है।"

2. मुस्लिम विवाह कानून के अनुसार, "विवाह स्त्री-पुरुष के बीच किया गया वह बिना शर्त का समझौता है जिसका उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति कर बच्चों को वैध रूप प्रदान करना है।"

3. अमीर अली के अनुसार, "मुस्लिम विवाह एक कानूनी संविदा है जिसके लिए न तो किसी मुल्ला (पुरोहित) की आवश्यकता है और न किसी धार्मिक कर्मकाण्ड की।"

4. हेदया के अनुसार, "मुस्लिम विवाह एक समझौता है जिसका उद्देश्य यौनिक सम्बन्धों और बच्चों के प्रजनन को कानूनी रूप देना है, और समाज के हित में पति-पत्नी और उनसे उत्पन्न सन्तानों के अधिकारों एवं कर्तव्यों को निर्धारित करके सामाजिक जीवन का नियमन करना है।"

5. कापड़िया ने लिखा है, "इस्लाम में विवाह एक अनुबन्ध है जिसमें दो साक्षियों के हस्ताक्षर होते हैं। इस अनुबन्ध का प्रतिफल अर्थात् 'मेहर' वधू को भेंट दी जाती है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि मुस्लिम विवाह एक समझौता है जो दो विषम लिंगियों के बीच होता है। मुस्लिम विवाह में भारतीय समझौता अधिनियम की निम्न सभी शर्तें होती हैं— (1) समझौता दो पक्षों के बीच होता है। मुस्लिम विवाह में भी दो पक्ष स्त्री-पुरुष होते

हैं। (2) समझौते मे एक पक्ष प्रस्ताव रखता है। मुस्लिम विवाह में वर-पक्ष की ओर से विवाह का प्रस्ताव रखा जाता है। (3) दूसरा पक्ष स्वीकृति देता है। इसमें वधू से स्वीकृति ली जाती है। (4) समझौता करने के लिए दोनों पक्ष सक्षम हो। वर-वधु वयस्क हों। अगर अवयस्क होते है तो इस विवाह में संरक्षकों द्वारा विवाह की स्वीकृति दी जाती है। (5) समझौते के प्रतिफल के रूप में धन का लेन-देन होना चाहिए। मुस्लिम विवाह में वर के द्वारा वधू को मेहर देने का वायदा किया जाता है। इस प्रकार मुस्लिम विवाह एक समझौता है और यह विवाह तभी पूर्ण माना जाता है जब उपर्युक्त शर्तें पूरी की जाती है। निम्नलिखित मुस्लिम विवाह की शर्तें तथा उद्देश्य इसे और स्पष्ट कर देते हैं कि यह एक सामाजिक और कानूनी समझौता है।

मुस्लिम विवाह के उद्देश्य

1. स्त्री-पुरुष को यौन सम्बन्ध स्थापित करने की वैधता प्रदान करना अर्थात् सामाजिक और कानूनी मान्यता देना।

2 सन्तानो को जन्म देना तथा उनके पालन-पोषण की उचित व्यवस्था करना।

3 'मेहर' के द्वारा पति-पत्नी के पारस्परिक अधिकारो को स्वीकृति प्रदान करना।

4 एक संविदा (समझौता) के रूप मे पति-पत्नी को यह अधिकार देना कि किसी भी पक्ष द्वारा संविदा का पालन नहीं करने पर दूसरा पक्ष उसे छोड़ सकता है।

5. बच्चों के उचित पालन-पोषण के लिए मुस्लिम समाज मे बहु-पत्नी विवाह प्रथा को मान्यता प्रदान करना।

मुस्लिम विवाह की शर्तें (विशेषताएँ)

1 प्रत्येक मुसलमान जो 15 वर्ष का हो चुका हो, पागल न हो और सही मस्तिष्क का हो, निकाह कर सकता है।

2 नाबालिग बच्चो का विवाह उनके सरक्षकों (वली) की स्वीकृति से हो सकता है। वर-वधू ऐसे विवाह को बालिग होने पर समाप्त करने का अधिकार रखते हैं। यह अधिकार 'ख्यार-उल-बुलूग' या बालिग होने का विकल्प कहलाता है। सामान्यतया पिता या दादा द्वारा स्वीकृत विवाह समाप्त नही किए जाते है।

3 लड़के और लड़की की विवाह की स्वीकृति काजी के समक्ष दी जानी चाहिए। स्वीकृति स्वतत्र इच्छा से होनी चाहिए उसमें धोखा या जबरदस्ती नहीं होनी चाहिए।

4 विवाह की स्वीकृति के समय गवाही के रूप में दो पुरुष अथवा एक पुरुष और दो स्त्रियों का होना आवश्यक है।

5. एक मुसलमान एक समय में अधिक से अधिक चार स्त्रियो से विवाह कर सकता है। मुस्लिम स्त्री एक समय में केवल एक पुरुष से विवाह कर सकती है।

6. विवाह में 'मेहर' की राशि का भुगतान कर दिया गया हो अथवा निश्चित कर ली गई हो।

7 विवाह के समय दोनों पक्ष (वर और वधू) सामान्य स्थिति मे होने चाहिए व शराब या किसी नशीली वस्तु के नशे में नही हों।

8. दोनों पक्ष निषेधात्मक निकट सम्बन्धी न हों।

मुस्लिम विवाह के निषेध

निम्नलिखित अवस्थाओं में विवाह शून्य या बातिल हो जाता है, विवाह को समाप्त कर दिया जाता है–

1. अगर कोई स्त्री पहले पति के रहते दूसरा विवाह कर लेती है तो दूसरा विवाह रद्द हो जाता है तथा प्रथम विवाह बना रहता है।

2. निकट सम्बन्धियों में विवाह निषेध है। ये सम्बन्धी हैं– माता, दादी, नानी, मास, पुत्र, सगी बहन, चाची, भाभी, दोहती आदि। इनमें विवाह होने पर रद्द माना जाता है।

3. कोई भी मुसलमान स्त्री या पुरुष किसी भी मूर्तिपूजक से विवाह नहीं कर सकते है। मुसलमान पुरुष किसी भी किताबिया धर्मावलम्बी स्त्री से विवाह कर सकता है। परन्तु मुसलमान स्त्री केवल मुसलमान पुरुष से विवाह कर सकती है।

4. तीर्थ-यात्रा के समय वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना वर्जित है।

5 एक मुसलमान पुरुष चार पत्नियों के बाद पाँचवीं स्त्री से विवाह नहीं कर सकता है।

6. जब स्त्री इद्दत की अवधि में होती है तो उससे विवाह करना निषेध है। चार मासिक धर्मों के बीच की तीन की अवधि इद्दत कहलाती है। यह स्त्री के गर्भवती होने का पता लगाने के लिए किया जाता है।

7. पागल अथवा अल्पवयस्क बिना संरक्षकों की अनुमति के विवाह करते है तो वह विवाह बातिल अथवा गैरकानूनी माना जाता है।

8. गर्भवती स्त्री को तलाक दिए जाने पर वह स्त्री बच्चे को जन्म देने के बाद ही पुन: विवाह कर सकती है।

विवाह से सम्बन्धित अनियमितताएँ

मुस्लिम विवाह से सम्बन्धित कुछ अनियमितताएँ हैं जिनको बाद में भी पूरा किया जाने पर विवाह नियमित हो जाता है। ये अनियमित परिस्थितियाँ निम्नलिखित है–

1. पाँचवीं स्त्री से विवाह– एक मुसलमान पुरुष को एक समय मे चार स्त्रियो से विवाह करने की अनुमति है। अगर वह पाँचवीं स्त्री से विवाह कर लेता है तो यह पाँचवाँ विवाह अनियमित है। वह पुरुष किसी भी एक पत्नी को तलाक देकर इस पाँचवे विवाह को नियमित कर सकता है।

2. साक्षियों का अभाव– मुस्लिम विवाह के समय साक्षी के रूप मे दो पुरुष अथवा एक पुरुष और दो स्त्रियों का होना आवश्यक है। साक्षियो के अभाव मे विवाह अनियमित माना जाता है।

3. विधर्मियों से विवाह– मुस्लिम विवाह में दूसरे धर्मों की स्त्रियो से विवाह करने का भी प्रावधान है जिसके अनुसार एक मुसलमान पुरुष किताबिया (जिस धर्म मे किताब की पूजा होती हो) स्त्री से विवाह कर सकता है परन्तु स्त्री केवल मुसलमान पुरुष से ही विवाह कर सकती है। इन

नियमों का उल्लंघन करने पर विवाह अनियमित हो जाता है। ये अग्निपूजक पारसियों से भी विवाह कर सकते हैं।

मुस्लिम विवाह के प्रकार या भेद

मुसलमानों मे विवाह एक समझौता होता है। विवाह एक अस्थाई बन्धन है। विवाह बन्धन की प्रकृति के आधार पर मुस्लिम विवाहों को तीन प्रकारो में बाँटा जा सकता है। ये निम्नानुसार हैं—

1. निकाह या वैध विवाह— जब मुस्लिम विवाह उनकी पूर्ण रीति-रिवाजों तथा विधि-विधान के अनुसार किया जाता है। सभी निषेधों तथा बातों का ध्यान रखा जाता है , विवाह की सारी शर्तों का ध्यान रखा तथा पालन किया जाता है और विवाह की प्रकृति स्थाई होती है तो ऐसे विवाह को वैध-विवाह या सही-विवाह अथवा निकाह कहते है। यह विवाह पति-पत्नी की स्वतंत्र रूप से सहमति से किया जाता है। मुसलमानों में इस विवाह का प्रचलन सबसे अधिक मिलता है। सुन्नियों में एकमात्र इसी विवाह को मान्यता प्रदान की गई है।

2. मुताह विवाह— शिया मुसलमानों में अस्थाई विवाह भी होते है जिसे मुताह विवाह कहते हैं। सुन्नियों में केवल मात्र निकाह अथवा स्थाई विवाह को ही मान्यता है तथा प्रचलन है। मुसलमानो मे स्त्री-पुरुष परस्पर एक निश्चित तथा विशेष अवधि के लिए वैवाहिक सम्बन्धो का अनुबन्ध करते हैं। अवधि के समाप्त होने पर विवाह स्वत. ही समाप्त हो जाता है। इस विवाह की पहली शर्त सहवास की अवधि निश्चित होना है जो एक दिन, एक माह, एक वर्ष या निश्चित वर्षों तक की हो सकती है। मेहर का निश्चित निर्धारण इस विवाह की दूसरी शर्त है। इसमें से कोई एक शर्त के अनिश्चित होने पर विवाह अवैध माना जाता है। यदि पति अवधि की समाप्ति से पहले विवाह समाप्त करता है तो उसे पूरी मेहर देनी पडती है। अगर पत्नी विवाह सम्बन्ध समाप्त करती है तो उसे अवधि के अनुसार मेहर का भुगतान करना पडता है। इस विवाह से उत्पन्न सन्तानों का पिता की सम्पत्ति पर अधिकार होता है। ऐसी पत्नी को पति की सम्पत्ति मे कोई अधिकार नही होता है। स्त्री को भरण-पोषण का अधिकार भी नही होता है। प्रारम्भ में अरबी समाज मे यह विवाह प्रचलित था परन्तु इस्लाम धर्म के विकास के साथ-साथ इस विवाह को निन्दा की दृष्टि से देखा जाने लगा। भारतवर्ष के मुसलमानों में इस मुताह विवाह का प्रचलन नहीं है।

3. फासिद अथवा अनियमित विवाह— जब विवाह में कोई कमी अथवा अनियमितता रह जाती है या विवाह में कोई कठिनाई (फसाद) पैदा हो जाती है तो उस विवाह को फासिद विवाह अथवा अनियमित विवाह कहते हैं। जब उस अनियमितता को नियमित कर दिया जाता है तो वह पुन नियमित हो जाता है। उदाहरण के रूप में पाँचवाँ विवाह फसाद है, कठिनाई है, नियमविरुद्ध है लेकिन विवाह के बाद चार मे से किसी एक पत्नी को तलाक देने से यह पाँचवाँ विवाह नियमित हो जाता है। गैर-मुस्लिम स्त्री से विवाह करना अनियमितता है। अगर वह स्त्री मुसलमान धर्म अपना ले तो विवाह नियमित हो जाता है। जब तक शर्त पूरी नही की जाती विवाह फासिद अथवा अनियमित कहलाएगा।

मुस्लिम विवाह में मेहर या स्त्री-धन

मुस्लिम विवाह मे मेहर अथवा स्त्री-धन का प्रावधान है। विवाह एक दीवानी समझौता है जिसकी एक आवश्यक शर्त यह होती है कि वर के द्वारा वधू को विवाह करने पर धन अथवा सम्पत्ति

सम्मान के रूप में देनी होती है। इस धन या सम्पत्ति को जो वर द्वारा वधू को सम्मान में दी जाती है, मेहर कहते हैं। यह धन अथवा सम्पत्ति जो मेहर है, वर विवाह के समय, विवाह से पूर्व या बाद में भी तय कर सकते हैं। मेहर के द्वारा पति पर तलाक का दुरुपयोग न करने देने का तरीका है। मेहर निम्नांकित चार प्रकार की होती है—

1. सत्वर या निश्चित मेहर— जब मेहर की रकम जो पाँच रुपयों से लेकर हजारों रुपयों तक हो सकती है पति द्वारा पत्नी को विवाह से पहले अथवा विवाह के समय दे दी जाती है तो वह निश्चित मेहर कहलाती है। मेहर की राशि के तुरन्त भुगतान के कारण इसे 'सत्वर मेहर' भी कहते है। इस मेहर का प्रचलन बहुत कम है।

2. स्थगित मेहर— जब मेहर की रकम, धन अथवा सम्पत्ति तय तो कर दी जाती है परन्तु भुगतान विवाह के अवसर पर नहीं किया जाता है तथा विवाह विच्छेद के समय अथवा भविष्य मे किसी और समय के लिए स्थगित कर दिया जाता है तो ऐसी मेहर 'स्थगित मेहर' कहलाती है। मुसलमानो में सबसे अधिक प्रचलन इस स्थगित मेहर का ही है।

3. उचित मेहर— जब मेहर की राशि, सम्पत्ति अथवा धन विवाह के समय न तो तय ही किया जाता है और न ही भुगतान किया जाता है और बाद में पति द्वारा पत्नी को तलाक दे दिया जाता है अथवा स्त्री किसी कारण माँग करती है तब मुस्लिम कानून के अनुसार पति अथवा श्वसुर की आर्थिक स्थिति को देख कर जो मेहर तय की जाती है उसे उचित मेहर कहते है। इसे पति-पत्नी आपस मे भी तय कर सकते है। अदालत पत्नी की अन्य बहिनो को कितनी मेहर मिली है उसके आधार पर भी मेहर की रकम तय कर सकती है।

मेहर के द्वारा पुरुष पर एक से अधिक पत्नी रखने या विवाह करने पर नियंत्रण रहता है क्योंकि उसे धन, सम्पत्ति या रकम देनी होती है। पति जल्दी-जल्दी तलाक भी नहीं कर सकता। जिसकी आर्थिक स्थिति अच्छी होगी वह अधिक पत्नियाँ और तलाक करेगा। ऐसी स्थिति मे बाद वाले विवाहो में मेहर की रकम बडी हो जाती है। जिस प्रकार हिन्दुओं मे दहेज की माँग दिनो-दिन बढती जा रही है उसी प्रकार मुस्लिम विवाह मे मेहर के रूप मे रकम माँगी जाने से समस्या बढती जा रही है।

मुसलमानों में विवाह-विच्छेद

मुसलमानों में विवाह एक सामाजिक और कानूनी समझौता है इसलिए इनमे इस समझौते को समाप्त करने के अनेक तरीके है जिसे तलाक तथा उसके प्रकार कहते है। मुसलमानों मे तलाक अथवा विवाह-विच्छेद के दो प्रकार हैं— (1) बिना अदालत की सहायता से, और (2) अदालत की सहायता से। ये निम्नलिखित है—

I. बिना अदालत के विवाह विच्छेद— मुसलमान धर्म मे विवाह एक समझौता है जो पति-पत्नी के बीच होता है। इस समझौते को पुरुष आसानी से तोड सकता है। इसके लिए उसे अदालत में जाने की आवश्यकता नही पड़ती है। विवाह विच्छेद के मामले मे मुस्लिम समाज मे स्त्रियो की स्थिति पुरुषों से ज्यादा खराब है। जो तलाक के निम्नलिखित प्रकारो से भी स्पष्ट हो जाएगा—

1. तलाक— मुस्लिम धर्म के अनुसार कोई भी बालिग और स्वस्थ मस्तिष्क वाला पति अकारण अपनी पत्नी को 'तलाक' दे सकता है। 'तलाक' शब्द के बोलने मात्र से ही तलाक हो जाता

है चाहे पत्नी सामने भी न हो तथा पति चाहे नशे में ही क्यों न हो। निम्नलिखित मौखित तलाक के तीन प्रकार हैं—

1.1 तलाके अहसन— तलाके अहसन मे पति द्वारा तलाक की घोषणा पत्नी के तुहर (मासिक धर्म) के समय की जाती है। इसके बाद पति-पत्नी इद्दत में सहवास नहीं करते हैं। इद्दत की अवधि चार मासिक धर्म के बीच के तीन माह को कहते हैं जिसमें पति-पत्नी तलाक के इरादे पर विचार कर के पुन. साथ रहने का निर्णय ले सकते हैं तथा अगर पत्नी गर्भवती है तो इसका भी पता चल जाता है।

1.2 तलाके हसन— इसमें पति तीन तुहरों के समय तलाक देने की घोषणा करता है। इस अवधि में सहवास निषेध होता है। इद्दत की अवधि समाप्त होने पर तलाक हो जाता है।

1.3 तलाक उल बिद्दत— पति पत्नी के मासिक धर्म के अवसर पर तलाक की तीन बार घोषणा करता है। तलाक की घोषणा के समय पत्नी या गवाह की उपस्थिति अनिवार्य है। इद्दत की अवधि के बाद तलाक हो जाता है।

2. इला— इस तलाक में पति खुदा को हाजिर-नाजिर करके कसम खाकर कहता है कि वह अपनी पत्नी के साथ चार महीने या अधिक समय तक सहवास नहीं करेगा। अवधि समाप्त होने पर तलाक मंजूर हो जाता है।

3. जिहर— जब पति तलाक चाहता है तो वह पत्नी की तुलना ऐसे सम्बन्धी से करता है जिससे विवाह करना निषेध होता है, पत्नी को जैसे—माँ, बहन, दादी के समान बताना, तो पत्नी अपने पति से प्रायश्चित करने को कहती है। प्रायश्चित नहीं करने पर पत्नी अदालत में जाती है तथा अदालत तलाक की मंजूरी दे देती है और जिहर तलाक हो जाता है।

4. खुला— इस तलाक के लिए आवश्यक है कि पति-पत्नी दोनों बालिग हों, तथा उनकी दिमागी हालत अच्छी हो। पत्नी तलाक की इच्छा व्यक्त करती है। मेहर छोड़ने को कहती है। दोनों की सहमति होने पर तलाक हो जाता है।

5. मुबारत— मुबारत तलाक खुले तलाक की तरह होता है। अन्तर केवल यह है कि पत्नी मेहर नही लौटाती है। पत्नी इद्दत काल में पति के पास रहती है। इसमे दोनों की सहमति या रजामंदी आवश्यक होती है।

6. लियान— इस तलाक में पति द्वारा पत्नी पर व्यभिचार का आरोप लगाया जाता है। पत्नी इसका विरोध करती है। अदालत में प्रार्थना करती है। या तो पति आरोप को वापिस ले लेता है अथवा खुदा की कसम खाकर कहता है कि आरोप सही है। आरोप सिद्ध होने पर तलाक हो जाता है। आरोप वापिस लेने पर मुकदमा समाप्त हो जाता है , असत्य सिद्ध होने पर पत्नी को तलाक देने का अधिकार मिल जाता है।

7. तलाके तफबीज— इसमें पति द्वारा पत्नी को विवाह के समय दिए गए अधिकारों के आधार पर पत्नी तलाक की माँग करती है तथा उसे तलाक मिल जाता है।

II. अदालत द्वारा विवाह विच्छेद— मुस्लिम विवाह में दो अधिनियमों के द्वारा तलाक की व्यवस्था है—

1. शरीयत अधिनियम, 1937 के अनुसार पत्नी को दो आधारो पर तलाक मिल सकता है, ये निम्नलिखित है—

1.1. पति नपुंसक हो, **1.2.** पति ने पत्नी पर व्यभिचार का झूठा आरोप लगाया हो। इस अधिनियम के अन्तर्गत इला तथा जिहर तलाक भी हो सकता है।

2. मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम, 1939— इस अधिनियम के अन्तर्गत मुस्लिम स्त्री को निम्नलिखित आधारों पर विवाह विच्छेद करने के अधिकार प्रदान किए गए हैं—

1. यदि पति चार वर्ष से लापता हो।

2. यदि पति अपनी पत्नी का दो वर्षों से भरण-पोषण करने में असमर्थ रहा हो।

3. यदि पति को सात या अधिक वर्षों के लिए जेल हुई हो।

4. यदि पति तीन वर्ष से वैवाहिक कर्त्तव्यों को बिना किसी कारण के निभाने में असफल रहा हो।

5. यदि पति नपुंसक हो।

6. यदि पति पागल हो।

7. यदि पति संक्रामक, यौन रोग या कोढ़ से पीड़ित हो।

8 यदि उसका विवाह पिता या अन्य सरक्षको द्वारा 15 वर्ष से कम आयु में किया गया हो और उस अवधि में उनमे यौन सम्बन्ध नही हुए हो तथा विवाह के विरुद्ध प्रतिवेदन लड़के की आयु 18 वर्ष पूर्ण होने से पहले कर दिया गया हो।

9. यदि पति पत्नी के साथ क्रूरता का व्यवहार करता हो। चरित्रहीन स्त्रियों से सम्बन्ध रखता हो। पत्नी को व्यभिचारपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए दबाव डालता हो।

10. यदि पति पत्नी की सम्पत्ति को बेचता हो। पत्नी के सम्पत्ति के अधिकारों में बाधा पहुँचाता हो।

11 यदि पति एक से अधिक पत्नियाँ होने पर समान व्यवहार नही करता हो।

12 यदि पति पत्नी के धार्मिक कार्यों मे बाधा पैदा करता हो।

13 उन आधारो पर भी तलाक दिया जा सकता है जो ऊपर नहीं आए हो तथा मुस्लिम कानून के अनुसार तलाक के आधार माने जाते हो।

मुस्लिम समाज में तलाक का प्रावधान है। उपर्युक्त तथ्यो से स्पष्ट हो जाता है कि उनमे विवाह-विच्छेद सरलता से हो जाता है। पति के लिए तलाक देना बहुत आसान है। लेकिन इतनी सुविधाएँ होते हुए भी मुसलमानों मे तलाक अधिक नही होते है। मुसलमानो मे तलाक ने गंभीर रूप धारण नही किया है। इनमे भी अन्य समाजो की तरह आधुनिकीकरण, पश्चिमीकरण, यातायात के साधन

तथा संचार के साधन, शिक्षा आदि के द्वारा परिवर्तन हो रहा है। स्त्रियों की स्थिति में भी सुधार होने प्रारम्भ हो गए हैं।

हिन्दू और मुस्लिम विवाहों में तुलना

भारतवर्ष मे हिन्दू और मुसलमान सदियो से साथ रहे हैं। इनमे परस्पर सम्पर्क होने स्वाभाविक हैं। इनकी सामाजिक सस्थाओं में कुछ समानताएँ विकसित हो गई हैं। इसी बात को ध्यान में रख कर इनके विवाहो की *संस्थाओं की तुलना (समानताओं और भिन्नताओं) का अध्ययन करना* आवश्यक है। यहाँ पहले समानताओं का अध्ययन करेंगे—

1. हिन्दू और मुस्लिम विवाह में समानताएँ—

1.1. बहुपत्नी विवाह— हिन्दू समाज में बहुपत्नी विवाह विभिन्न क्षेत्रो मे प्रचलित रहा है। इसमें पति कितनी ही स्त्रियों से विवाह कर सकता है। पत्नियों की संख्या निश्चित नहीं है। मुस्लिम विवाह मे बहुपत्नी विवाह की व्यवस्था है। लेकिन इसमें एक पुरुष एक समय मे चार से अधिक पत्नियाँ नहीं रख सकता है। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अनुसार हिन्दू अब केवल एक-विवाह ही कर सकता है, बहु-विवाह निषेध है।

1.2. बाल-विवाह— हिन्दू और मुसलमान दोनों ही समाजो मे बाल-विवाह प्रथा है। मुसलमानों में पति-पत्नी बालिग होने पर अपना विवाह रद्द कर सकते हैं। हिन्दुओं मे ऐसी कोई *व्यवस्था नहीं है।*

1.3. विवाह विच्छेद— मुसलमानो में विवाह विच्छेद की व्यवस्था सदियों से है। अब हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के द्वारा हिन्दुओ में भी विवाह विच्छेद का प्रावधान हो गया है।

1.4. पुरोहित /मौलवी की उपस्थिति— हिन्दुओं में विवाह को पुरोहित सम्पन्न करवाता है। मुसलमानों में मौलवी की उपस्थिति में विवाह सम्पन्न करना आवश्यक है।

1.5. बहिर्विवाह— हिन्दुओ मे बहिर्विवाह मे सम्बन्धियों का क्षेत्र व्यापक है जिनमें विवाह करना निषेध है। इनमे गोत्र बहिर्विवाह होता है। मुसलमानो मे बहिर्विवाह मे सम्बन्धियों का क्षेत्र छोटा है जिसमें विवाह करना निषेध है। माँ, पुत्री, दादी, नानी,पोती,नाती आदि है।

1.6. पितृस्थानीय और पितृवंशीय— हिन्दू तथा मुसलमानो मे विवाह के बाद वर-वधू, वर के माता-पिता के पास जाकर रहते है। दोनो में वंश का नाम, पिता से पुत्र को चलता है।

1.7. पर्दा प्रथा— हिन्दुओ ने भी पिछली सदियो में मुसलमानों के सम्पर्क में आकर पर्दा प्रथा अपना ली है। मुसलमानों की तरह हिन्दुओ में स्त्री पति के सम्बन्धियों से पर्दा रखती है।

2. हिन्दू और मुस्लिम विवाह में भिन्नताएँ—

हिन्दू-विवाह मे निम्नलिखित कुछ विशेषताएँ धार्मिक सस्कार, पुत्र प्राप्ति, कन्या पक्ष की ओर से प्रस्ताव, विवाह का सीमित क्षेत्र, दहेज आदि विद्यमान हैं मेहर, वर-पक्ष की ओर से प्रस्ताव, विधवा पुनर्विवाह, तलाक इद्दत आदि लक्षण मुस्लिम विवाह के है। इनके विवाहों में निम्न अन्तर मिलता है।

2.1. विवाह के उद्देश्य— हिन्दुओं में विवाह का प्रथम उद्देश्य धार्मिक सस्कार है तथा पुत्र-प्राप्ति, ऋणों से उऋण होना तथा रति अन्तिम उद्देश्य है। परन्तु मुस्लिम विवाह का उद्देश्य यौन-इच्छा की पूर्ति तथा सन्तानोत्पत्ति है। मुसलमानो मे विवाह एक समझोता है।

2.2. स्थायित्व— हिन्दू विवाह में पति-पत्नी का सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर का माना जाता है। यह अटूट सम्बन्ध है। विवाह-विच्छेद का कोई प्रावधान नही था। सरकार ने हिन्दू-विवाह अधिनियम, 1955 के द्वारा यह प्रावधान कर दिया है। परन्तु व्यवहार मे अभी भी हिन्दू-विवाह अटूट सम्बन्ध है। मुसलमानो में विवाह एक समझौता है। शिया मुसलमानो मे एक दिन की अवधि से लेकर कई सालो तक की अवधि का वैवाहिक समझौता होता है।

2.3. विवाह का स्वरूप— हिन्दुओ मे विवाह करने के आठ तरीको का प्रावधान है। मुसलमानों मे केवल तीन प्रकार का प्रावधान है।

2.4. विवाह का क्षेत्र— हिन्दुओ मे विवाह का क्षेत्र बहुत सीमित है। एक हिन्दू वंश, गोत्र, प्रवर ओर सपिण्ड समूह मे विवाह नही कर सकता तथा अपनी उप-जाति अथवा जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकता। लेकिन एक मुसलमान माँ की सन्तानों तथा निकट सम्बन्धियो को छोड़कर कहीं भी विवाह कर सकता है। केवल मूर्ति पूजक स्त्री से विवाह नही कर सकता। मुसलमानो मे विवाह का क्षेत्र बहुत बड़ा है।

2.5. विवाह का प्रस्ताव— हिन्दुओ मे कन्या-पक्ष वाले विवाह का प्रस्ताव लेकर वर-पक्ष वालो के पास जाते है। मुसलमानो मे वर-पक्ष वाले प्रस्ताव लेकर कन्या-पक्ष वालो के पास जाते है।

2.6. गवाहो की उपस्थिति— हिन्दुओ मे अग्नि का साक्षी होना, पुरोहित, कन्या दान, सप्तपदी आदि होता है। मुसलमानो में वैवाहिक समझौते के समय दो पुरुष अथवा एक पुरुष और दो स्त्रियो का होना आवश्यक है।

2.7. दहेज /मेहर— हिन्दुओ मे कन्या-पक्ष वाले वर-पक्ष को दहेज देते हैं। मुसलमानो मे वर द्वारा वधू को धन, सम्पत्ति या रकम दी जाती है अथवा वादा किया जाता है। मुसलमानो मे बिना मेहर तय किए विवाह नही होता है।

2.8. तलाक— हिन्दुओ मे तलाक या विवाह विच्छेद की व्यवस्था पहले नही थी। अब 1955 के अधिनियम द्वारा तलाक सम्भव हो गया है। मुसलमानो मे पुरुष को तलाक के अधिकार प्राप्त है। मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम, 1939 द्वारा मुसलमान स्त्रियो को भी तलाक के अधिकार प्राप्त हो गए है।

2.9. विधवा-पुनर्विवाह— हिन्दुओ मे विधवा पुनर्विवाह निषेध था। अब हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के द्वारा यह प्रावधान हिन्दुओ के लिए हो गया है। परन्तु इसका उपयोग बहुत कम हो पा रहा है। मुसलमानो मे विधवा पुनर्विवाह की व्यवस्था है। पति की मृत्यु होने पर समझौता समाप्त हो जाता है तथा विधवा स्त्री पुन विवाह करने के लिए स्वतंत्र हो जाती है।

2.10. इद्दत— मुसलमानों में पति द्वारा तलाक की घोषणा के बाद पत्नी द्वारा इद्दत अवधि का पालन किया जाता है। हिन्दुओं में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू तथा मुस्लिम विवाह में किन्हीं लक्षणों में तो उल्लेखनीय भिन्नता मिलती हैं।

प्रश्न

1. 'अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह' किन्हें कहते हैं ? (मा.शि.बो., अजमेर-1994)
2. 'अन्तर्विवाह और बहिर्विवाह विवाह' किन्हें कहते हैं ?
3. 'हिन्दू-विवाह एक धार्मिक संस्कार है।' विवेचना कीजिए।
4. बहुपति विवाह के प्रकारों का उदाहरण सहित वर्णन कीजिए।
5. बहुपत्नी-विवाह के कारणों तथा लाभों का वर्णन कीजिए।
6. विवाह के प्रमुख प्रकार कौन-कौन-से हैं ? उदाहरण सहित विवेचना कीजिए।
7. हिन्दू समाज में विवाह करने की कौन-कौन-सी विधियाँ हैं ? बताइए।
8. विवाह किसे कहते हैं ? इसकी विशेषताएँ बताइए।
9. कुलीन विवाह के कारणों पर प्रकाश डालिए।
10. हिन्दू विवाह की परिभाषा दीजिए। इसके उद्देश्य बताइए।
11. बहिर्विवाह के प्रकारो का वर्णन कीजिए।
12. हिन्दू समाज में विवाह के निषेधों की विवेचना कीजिए।
13. हिन्दू समाज में 'सगोत्र' तथा 'सपिण्ड' के महत्त्व को स्पष्ट कीजिए।
14. मुस्लिम विवाह की परिभाषा तथा उद्देश्यों का उल्लेख कीजिए।
15. हिन्दू विवाह तथा मुस्लिम विवाह के उद्देश्यों की तुलना कीजिए।
16. मुस्लिम विवाह के प्रकारो का वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'मेहर' क्या है ? (मा.शि.बो., अजमेर,-1994)
2. हिन्दू विवाह के प्रमुख आठ स्वरूप कौन-से हैं ? (मा.शि.बो., अजमेर-1994)
   [उत्तर- (1) ब्राह्म विवाह, (2) दैव विवाह, (3) आर्ष विवाह, (4) प्राजापत्य विवाह, (5) आसुर विवाह, (6) गान्धर्व विवाह, (7) राक्षस विवाह और (8) पैशाच विवाह]
3. 'हाँ' या 'नहीं' में उत्तर दीजिए—
   (i) हिन्दू विवाह एक समझौता है।
   (ii) मुस्लिम विवाह एक धार्मिक संस्कार है।
   (iii) मेहर विवाह के अवसर पर दी जाती है।

(iv) कुलीन-विवाह अनुलोम-विवाह है।

[उत्तर- (i) नहीं, (ii) नहीं, (iii) हाँ, (iv) हाँ]

4. निम्नलिखित विवाह की विधियों में से हिन्दू शास्त्रों में किनका वर्णन मिलता है ? उनका चयन कीजिए–

(i) ब्राह्म विवाह, (ii) सेवा विवाह, (iii) गान्धर्व विवाह, (iv) हठ विवाह, (v) राक्षस विवाह, (vi) परीक्षा विवाह, (vii) पैशाच विवाह, (viii) दैव विवाह

[उत्तर- (i), (iii), (v), (vii), (viii)]

5. निम्न में से सत्य कथनों का चयन कीजिए–

(i) प्रतिलोम विवाह में वधू उच्च जाति की होती है।

(ii) कुलीन विवाह में वर उच्च जाति का होता है।

(iii) हिन्दू विवाह एक समझौता है।

(iv) बहु-पति विवाह में एक पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह करता है।

[उत्तर- (i), (ii)]

6. निम्नलिखित में से हिन्दू विवाह के उद्देश्यों का चयन कीजिए।

(i) धर्म, (ii) अर्थ, (iii) काम, (iv) मोक्ष, (v) पुत्र-प्राप्ति, (vi) दहेज

[उत्तर- (i), (iii) (v)]

7. निम्नलिखित वाक्य विवाह के किस स्वरूप (प्रकार) को स्पष्ट करते हैं ? उनको उनके सामने लिखिए–

(i) एक स्त्री अनेक सगे भाइयों से विवाह करती है।

(ii) एक पुरुष अनेक सगी बहनों से विवाह करता है।

(iii) एक पुरुष दो कन्याओं से विवाह करता है।

(iv) एक स्त्री दो पुरुषों से विवाह करती है।

[उत्तर- (i) भ्रातृ-बहुपति विवाह, (ii) भगिनि बहु-पत्नी विवाह, (iii) द्वि-पत्नी विवाह, (iv) द्वि-पति विवाह]

8. निम्नलिखित वाक्यों को सही करके लिखिए–

(i) बहु-पति विवाह राजा लोग करते थे।

(ii) आजकल बहु-विवाहों का प्रचलन बढ़ रहा है।

(iii) खास जनजाति एक-विवाह करती है।

[उत्तर- (i) बहु-पति के स्थान पर बहु-पत्नी विवाह लिखना है। (ii) बहु-विवाहों के स्थान पर एक-विवाह लिखना है। (iii) एक-विवाह के स्थान पर भ्रातृ-बहुपति विवाह लिखना है।]

9. निम्नलिखित वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–

(i) हिन्दू विवाह का प्रधान उद्देश्य . . . है।

(ii) मुसलमानों में विवाह एक........है।
(iii) मुसलमानो में अनियमित विवाह को.......विवाह कहते हैं।
(iv) मुताह-विवाह.......विवाह होता है।
(v) मुस्लिम विवाह के समय जो स्त्री धन दिया जाता है उसे.......कहते हैं।

[उत्तर- (i) धर्म, (ii) समझौता, (iii) फ़ासिद (iv) अस्थाई, (v) मेहर]

□□□

अध्याय - 5

भारत में परिवार

(Family in India)

परिवार का महत्त्व अनेक प्रकार से विभिन्न क्षेत्रों मे है। परन्तु समाजशास्त्रीय अध्ययनो मे परिवार के अध्ययन का विशेष स्थान है। परिवार मानव समाज के सगठन की प्राथमिक इकाई है। अगर कोई सामाजिक सगठन, सरचना, व्यवस्था, कार्य आदि को समझना चाहता है तो परिवार को समझना अत्यावश्यक है। आखेटक समाज, चरागाही समाज, आदिम समाज और ग्रामीण समाज की सामाजिक सरचना की मूलभूत इकाई एकाकी परिवार होती है। परिवार से मिलकर अन्य अनेक छोटी-बडी उप-सरचनाओं, जैसे– सयुक्त परिवार, वंश समूह, गोत्र समूह, उप-जातियाँ, जनजाति समाज, ग्रामीण समाज आदि का निर्माण होता है। परिवार नए सदस्यों को जन्म देकर उनका सामाजीकरण करता रहता है। परिवार आदिम, ग्रामीण और नगरीय समाजो मे अनेक सार्वभौमिक और परम्परागत कार्य करता है। परिवार समाज के निर्माण, स्थायित्व, सतुलन, व्यवस्था, सामाजिक नियत्रण, सामाजीकरण, स्तरीकरण, निरतरता आदि के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अगर समाजशास्त्री किसी समाज को समझना चाहता है तो उसे उस समाज के परिवारों के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करना चाहिए। अगर हम भारतीय समाज को समझना चाहते है तो सर्वप्रथम इस समाज के परिवारो को समझना आवश्यक होगा।

परिवार का अध्ययन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से करते समय परिवार का अर्थ, परिभाषा, इसके प्रकार, कार्य, इसकी विशेषताएँ तथा परिवार मे परिवर्तन आदि कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों का अध्ययन किया जाता है। सर्वप्रथम परिवार की अवधारणा को समझने का प्रयास किया जायेगा।

परिवार का अर्थ एवं परिभाषा

अग्रेजी के शब्द 'Family' का हिन्दी रूपान्तर परिवार है। यह शब्द मिडिल इग्लिश के शब्द 'Familie' से बना है जिसका उद्गम लैटिन शब्द 'Familia' से हुआ है। परिवार के कई अर्थ लगाए जाते है। परिवार से अर्थ माता-पिता और उनकी सताने जो एक स्थान पर अथवा अलग रहते हो, से है। व्यक्तियों का समूह जो रक्त से सम्बन्धित हो, जैसे– माता-पिता, संतानें, चाचा-चाची, चचेरे भाई-बहन परिवार मे आते हैं। ये परिवार के सामान्य अर्थ हैं। समाजशास्त्र में परिवार की अवधारणा का विशिष्ट अर्थ लगाया जाता है। परिवार की विभिन्न विद्वानो की परिभाषाएँ अग्रलिखित है।

1. मैकाइवर और पेज की परिभाषा, *"परिवार पर्याप्त निश्चित यौन सम्बन्ध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चों के जनन एवं लालन-पालन की व्यवस्था करता है।"*

2. श्यामाचरण दुबे की परिभाषा, *"परिवार मे स्त्री और पुरुष दोनों को सदस्यता प्राप्त होती है, उनमें से कम से कम दो विपरीत यौन व्यक्तियों को यौन सम्बन्धों की सामाजिक स्वीकृति रहती है और उनके संसर्ग से उत्पन्न सन्तान मिलकर परिवार का निर्माण करते हैं।"*

3. ए.डी. रॉस की परिभाषा, रॉस ने विभिन्न विद्वानों की परिवार की परिभाषाओं का अध्ययन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अपनी कृति 'हिन्दू फेमेली इन इट्स अरबन सेटिंग' में किया है। आपका कहना है कि परिवार की समाजशास्त्रीय परिभाषा ऐसी होनी चाहिए जो एकाकी तथा संयुक्त दोनों ही प्रकार के परिवारों को परिभाषित कर सके। तथ्यों को ध्यान में रखकर रॉस ने परिवार की समाजशास्त्रीय (सामाजिक सम्बन्धो पर आधारित) परिभाषा दी है, "परिवार मनुष्यों का एक समूह है, जो सामान्यतया एक विशेष प्रकार के बन्धुत्व सम्बन्ध से सम्बन्धित होते हैं, जो एक गृहस्थी में रह भी सकते हैं और उनकी एकता कर्त्तव्य और अधिकार, भावना और सत्ता के प्रतिमानों में विद्यमान है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि परिवार व्यक्तियों का समूह है जो विशिष्ट बन्धुत्व सम्बन्धों (विवाह, रक्त और गोद) से सम्बन्धित होते है जो समाज द्वारा मान्यता प्राप्त होते हैं, वे साथ-साथ अथवा अलग-अलग भी रह सकते हैं, सदस्यो में परस्पर यौन सम्बन्धों की व्यवस्था, प्रजनन, सामाजीकरण, सामाजिक नियंत्रण, कर्त्तव्य और अधिकार, भावना एवं सत्ता के प्रतिमान आदि से सम्बन्धित सम्बद्धता होती है।

परिवार की सामान्य विशेषताएँ

मैकाइवर और पेज ने परिवार की निम्नलिखित पाँच विशेषताएँ बताई हैं—

1. मैथुन सम्बन्ध— स्त्री और पुरुष मिलकर पति-पत्नी के रूप मे परिवार की स्थापना करते हैं जहाँ उनके मैथुन सम्बन्ध निश्चित और व्यवस्थित हो जाते है।

2. विवाह का स्वरूप— परिवार का निर्माण विवाह के स्वरूप के अनुसार होता है एवं विवाह मे एक पुरुष और एक स्त्री विवाह करते हैं, उसे एक-विवाही परिवार कहते है। इसी प्रकार बहु-पत्नी, बहु-पति आदि विवाह के प्रकार क्रमश ऐसे ही परिवारो का निर्माण करते हैं तथा पति और पत्नी के मैथुन सम्बन्ध व्यवस्थित होते है। परिवार में पति और पत्नी मैथुन सम्बन्ध रखते है जिनमे परस्पर विवाह हुआ है।

3. नामावली व्यवस्था— परिवार की नामावली व्यवस्था होती है जिससे तात्पर्य है कि या तो नाम (वश) पिता से पुत्र और उसके पुत्र को चलता है या फिर माता से पुत्री और उसकी पुत्री की दिशा मे चलता है। ये क्रमश पितृवशीय या मातृवशीय कहलाते है।

4. आर्थिक व्यवस्था— ससार के सभी परिवारो मे सदस्यों के भरण-पोषण के लिए कोई-न-कोई जीविकोपार्जन की व्यवस्था होती है जिससे बच्चो का पालन-पोषण भी किया जाता है।

5. सामान्य आवास– परिवार के सभी सदस्य एक वासस्थान (घर) में निवास करते है।

मैकाइवर और पेज का कहना है कि ये उपर्युक्त पाँचो विशेषताएँ सार्वभौमिक हैं तथा परिवार की प्रकृति की विशेषताएँ हैं। ऐसा हो सकता है कि ये बहुत ही भिन्न तरीकों से पूर्ण हों।

परिवार के संगठन की विशिष्ट विशेषताएँ

मैकाइवर और पेज ने परिवार संगठन की आठ विशिष्ट विशेषताओं की सूची तथा व्याख्या निम्नलिखित दी है-

1. सार्वभौमिकता– संसार में सभी मानव किसी-न-किसी परिवार के सदस्य है। परिवार सभी समाजो मे सभी कालों मे समाज के विकास की सभी अवस्थाओं मे रहा है।

2. भावात्मक आधार– परिवार के सदस्यो मे परस्पर प्रेम, सहयोग, साहचर्य, सन्तानोत्पत्ति, मातृसेवा आदि भावात्मकताएँ होती है। इसके अतिरिक्त अन्य भावात्मक आधार, जैसे– घर बसाना, आर्थिक सुरक्षा आदि न हो तो परिवार का संगठन बना नही रह सकता। ये आधार परिवार के सदस्यो को परस्पर बाँधे रखते हैं।

3. निर्माणशील प्रभाव– परिवार प्रारम्भिक सामाजिक पर्यावरण है जिसमें बच्चे का विकास और उसका सामाजीकरण होता है। परिवार का प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण मे शिशुकाल मे निर्णायक का कार्य करता है। परिवार व्यक्ति का मानसिक विकास समाज के प्रतिमानो के अनुसार करता है।

4. सीमित आकार– सामाजिक सरचना के निर्माण के विभिन्न घटकों मे परिवार सबसे छोटी इकाई है। सभ्य समाजों मे या नगरीय और महानगरीय समाजो मे जहाँ परिवार, सयुक्त परिवार तथा वश समूह आदि से पृथक् हो जाता है वहाँ तो इसका महत्व और अधिक हो जाता है। सदस्यो के लिए परिवार बहुत छोटा होते हुए भी विभिन्न आवश्यकताओ के लिए महत्वपूर्ण होता है।

5. सामाजिक संरचना में नाभिक स्थान– परिवार अन्य सामाजिक सगठनो मे नाभिक स्थान रखता है। सरल समाजो तथा विकसित पितृसत्तात्मक समाजो मे सम्पूर्ण सामाजिक संरचना परिवार की इकाइयो से निर्मित होती है। उच्च जटिल सभ्यताओ मे नगर और महानगरो मे समितियो ने इनका स्थान ले लिया है। फिर भी सामाजिक वर्गों का विभाजन परिवारो के योग से ही बनता है।

6. सदस्यो का उत्तरदायित्व– परिवार अपने सदस्यो से अनेक कर्तव्य और उत्तरदायित्व पूरे करवाता है। इसकी तुलना मे समाज का और कोई भी सगठन इतने उत्तरदायित्व पूरे नही करवाता। यह सत्य है कि व्यक्ति देश के लिए जीवन कुर्बान कर देता है। परन्तु जीवनपर्यन्त व्यक्ति परिवार के उत्तरदायित्वो को ही पूरा करता रहता है।

7. सामाजिक नियमन– परिवार सामाजिक निषेधो, प्रतिमानो तथा वैधानिक नियमो द्वारा नियत्रित रहता है तथा ये ही इसके स्वरूप को निश्चित करते है। विवाह को बहुत स्पष्ट तथा सुनिश्चित रूप से परिभाषित किया गया है। लेकिन परिवार को अन्य सस्थाओ की तुलना मे विशेष रूप से सामाजिक प्रतिमानो, नियमो कानूनो द्वारा नियत्रित, निर्देशित तथा सचालित किया गया है।

8. स्थायी और अस्थायी प्रकृति– जहाँ परिवार एक सस्था के रूप मे बहुत स्थाई और सार्वभौमिक है वहाँ दूसरी ओर एक समिति के रूप मे बहुत अस्थाई और परिवर्तनशील है। समाज के अन्य सगठन ऐसे नही है। परिवार की यह विशेषता समाज मे अनेक समस्याओ को जन्म देती है इसलिए इस पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

भारत में परिवार के प्रकार

परिवार के प्रकारों के वर्गीकरण अनेक विद्वानों ने किए हैं। भारत इतना विशाल देश है कि लगभग सभी प्रकार के परिवार भारत के किसी-न-किसी समाज में मिल ही जाते हैं। परिवारों के वर्गीकरण के आधार अनेक हैं, जैसे— पति-पत्नी की संख्या, परिवारों में सदस्यों तथा पीढ़ियों की संख्या, वैवाहिक दम्पत्तियों की संख्या, स्थान या आवास, अधिकार या सत्ता, वंश परम्परा, विवाह के प्रकार, परिवार में कर्त्ता की स्थिति और भूमिका आदि-आदि। निम्नलिखित परिवार के प्रमुख वर्गीकरण हैं—

वर्गीकरण	प्रकार
1. सदस्यों की संख्या के आधार पर वर्गीकरण—	1.1 छोटा परिवार 1.2 मध्यम परिवार 1.3 बड़ा परिवार 1.4 बहुत बड़ा परिवार
2. दम्पत्तियो की संख्या के आधार पर वर्गीकरण—	2.1 केन्द्रीय या नाभिक परिवार 2. 2 संयुक्त परिवार / विस्तृत परिवार
3. कर्त्ता की स्थिति तथा कर्तव्य के आधार पर वर्गीकरण—	3.1 जनन अथवा प्रजनन मूलक परिवार *3. 2 पालन-पोषण या जन्मित परिवार*
4. निवास स्थान के आधार पर वर्गीकरण—	4.1 पितृ-स्थानीय परिवार 4. 2 मातृ-स्थानीय परिवार 4.3 मामा-स्थानीय परिवार 4.4 द्वि-स्थानीय परिवार 4.5 नूतन-स्थानीय परिवार 4.6 मातृ-पितृ-स्थानीय परिवार
5. सत्ता के आधार पर वर्गीकरण—	5.1 पितृ-सत्तात्मक परिवार 5. 2 मातृ-सत्तात्मक परिवार
6. वश नाम के आधार पर वर्गीकरण—	6.1 पितृ-वशीय परिवार 6. 2 मातृ-वंशीय परिवार
7. उत्तराधिकार के आधार पर वर्गीकरण—	7.1 पितृ-मार्गी परिवार 7. 2 मातृ-मार्गी परिवार
8. बन्धुत्व के आधार पर वर्गीकरण—	8.1 रक्त सम्बन्धी परिवार 8. 2 विवाह सम्बन्धी परिवार
9. वैवाहिक साथियो की संख्या के आधार पर वर्गीकरण—	9.1 एक-विवाही परिवार 9 2 द्वि-विवाही परिवार 9.3 बहु-विवाही परिवार

9.3 बहु-विवाही परिवार:
- बहु-पत्नी-विवाही परिवार
  - भगिनी-बहु-पत्नी विवाही परिवार
  - अभगिनी-बहु-पत्नी विवाही परिवार
- बहु-पति-विवाही परिवार
  - भ्रातृ-बहु-पति विवाही परिवार
  - अभ्रातृ-बहु-पति विवाही परिवार
- समूह विवाही परिवार
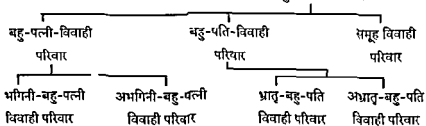
3.2 जन्मित परिवार— जब एकाकी परिवार में कर्त्ता की स्थिति एक शिशु अथवा सन्तान के रूप में होती है। माता-पिता उसका पालन-पोषण करते हैं तो उस बालक के दृष्टिकोण से ये एकाकी परिवार— जन्मित अथवा पालन-पोषण वाला परिवार कहलाता है। जन्मित परिवार का चित्र देखिए।

4. निवास स्थान के आधार पर वर्गीकरण— मुरडॉक ने विवाह के बाद पति-पत्नी का निवास स्थान कहाँ होता है, इसके आधार पर परिवार के निम्नलिखित छ: प्रकारों का वर्णन किया है—

4.1 पितृ-स्थानीय परिवार— विवाह के बाद वधू अपने वर के माता-पिता के यहाँ अथवा उनके पास में जाकर रहती है तो यह आवास व्यवस्था पितृस्थानीय कहलाती है। हिन्दू समाज, मुसलमान समाज तथा भारत की अनेक जनजातियों— भील, खरिया तथा अन्य— में यह व्यवस्था मिलती है।

4.2 मातृ-स्थानीय परिवार— यदि प्रथा के अनुसार वर को अपने माता-पिता का घर विवाह के बाद छोड़ना पड़ता है तथा अपनी वधू के साथ उसके माता-पिता के घर में अथवा उनके पास रहना होता है तो यह आवास का नियम मातृ-स्थानीय कहलाता है। भारत में मालाबार के कुछ समाजों, जैसे—खासी और गारो जनजातियो में मातृ-स्थानीय व्यवस्था है।

4.3 मामा-स्थानीय परिवार— कुछ समाजों में विवाह के बाद विवाहित दम्पति वर के मामा के साथ अथवा उसके पास रहते हैं तथा वर-वधू अपने में से किसी के भी माता-पिता के यहाँ अथवा पास नही रहते है। आस्ट्रेलिया की मिलानेशिया की ट्रोबिएण्ड जनजाति में यह प्रथा मिलती है।

4.4 द्वि-स्थानीय परिवार— कुछ समाज विवाहित दम्पति को उनके किसी भी साथी (वर अथवा वधू) के माता-पिता के यहाँ अथवा पास मे रहने की अनुमति देते है। ऐसी स्थिति में दोनों के माता-पिता की प्रस्थिति, धन-दौलत के आधार पर तय करते हैं कि मातृस्थानीय अथवा पितृस्थानीय मे से किसके पास रहें।

4.5 नूतन-स्थानीय परिवार— जब नव-विवाहित दम्पत्ति नया आवास स्थापित करते हैं जो दोनों ही जीवन साथियों के माता-पिताओं के स्थान से स्वतंत्र तथा अलग स्थान पर होता है बल्कि उनसे एक अच्छी दूरी पर स्थित होता है तो ऐसी आवास व्यवस्था को नूतन स्थानीय व्यवस्था कहते है।

4.6 मातृ-पितृ-स्थानीय परिवार— कुछ समाजों में नव-दम्पत्ति विवाह के बाद प्रारम्भ के एक साल अथवा प्रथम बच्चे के जन्म तक वधू के माता-पिता के यहाँ अथवा पास रहते हैं और उसके बाद स्थाई रूप से वर के माता-पिता के यहाँ अथवा पास में रहते हैं तो उसे मातृ-पितृ-स्थानीय व्यवस्था कहा है।

5. सत्ता के आधार पर वर्गीकरण— सभी समाजों में सत्ता परिवार के मुखिया को देने की व्यवस्था है। परिवार मे यह सत्ता या तो सबसे बड़े पुरुष को दी जाती है अथवा स्त्री को दी जाती है। इसके दो प्रकार हैं—

5.1 पितृ-सत्तात्मक परिवार— जब सत्ता परिवार के सबसे बड़े पुरुष में निहित होती है तथा सभी निर्णय पुरुष लेता है तथा सब को उसके निर्णय का पालन करना होता है या मानना होता है तो [illegible] को सत्ता के दृष्टिकोण से पितृ-सत्तात्मक परिवार कहते है। विश्व में भारत सहित, [illegible] समाज तथा परिवार पितृसत्तात्मक है।

5.2 मातृ-सत्तात्मक परिवार— जब परिवार की सबसे बडी स्त्री को सत्ता दे दी जाती है तथा वह परिवार के सभी निर्णय लेती है तथा उसके निर्णय को परिवार के सभी सदस्य मानते है तो यह सत्ता की व्यवस्था मातृ-सत्तात्मक व्यवस्था कहलाती है तथा परिवार मातृ-सत्तात्मक परिवार कहलाता है। भारत में गारो, खासी आदि समाजों में ऐसे परिवार मिलते है।

6. वंशनाम के आधार पर वर्गीकरण— विद्वानों ने परिवारो का वर्गीकरण वश के आधार पर तीन प्रकारों में बाँटा है। ये निम्न हैं—

6.1 पितृवंशीय परिवार— जब वंश परम्परा पिता से पुत्र को चलती है, पुत्रो को पिता का वश ग्रहण करना होता है, पिता से पुत्र और पौत्र को वंश नाम चलता है तो परिवार पितृवशीय कहलाता है। हिन्दू समाज में परिवार पितृवंशीय होते हैं।

6.2 मातृवंशीय परिवार— जब वंश परम्परा माता से पुत्री की ओर चलती है। माता का वंश उसकी पुत्रियाँ आगे चलाती हैं तथा पुरुष का महत्व नहीं होता है तो ऐसे परिवारो को मातृवशीय परिवार कहते हैं। दक्षिण भारत के मालाबार के नायर समाज के परिवारों मे वश परम्परा माता से पुत्रियों की दिशा में चलती है।

6.3 द्विवंशीय परिवार— जब वंश परम्परा पिता से पुत्रों अथवा पुत्रियो की दिशा मे चलती है या माता से पुत्र अथवा पुत्रियों की दिशा में वंश परम्परा चल सकती है, इनमे से कोई भी विकल्प लिया जा सकता है तो ऐसे परिवार द्विवंशीय परिवार कहलाते है।

7. उत्तराधिकार के आधार पर वर्गीकरण— परिवार के मुखिया के पास सत्ता, सम्पत्ति, मकान, चल-अचल सम्पत्ति, आदि होती है। उसके मरने के बाद उसका उत्तराधिकारी कौन होगा ? पिता के बाद पुत्र तथा माता के बाद पुत्री आदि की व्यवस्था के अनुसार परिवार का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार हो सकता है—

7.1 पितृमार्गी परिवार— जब सम्पत्ति आदि के अधिकार पिता से पुत्र को प्राप्त होने है तो वह परिवार पितृ-मार्गी कहलाता है। हिन्दू समाज के परिवार इसी प्रकार के है।

7.2 मातृमार्गी परिवार— जब सम्पत्ति, मकान तथा अन्य अधिकार माता से पुत्री को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होते हैं तो परिवार मातृमार्गी परिवार कहलाता है। दक्षिण भारत के मालाबार के नायर, मुसलमान समाज तथा खासी, गोरा आदि मातृ-मार्गी परिवार के उदाहरण हैं।

8. बन्धुत्व के आधार पर वर्गीकरण— सभी प्रकार के परिवारो का मुख्य आधार बन्धुत्व (नातेदारी) के लक्षण हैं। ये लक्षण मुख्य रूप से दो है– (1) विवाह सम्बन्ध तथा (2) रक्त सम्बन्ध। इनके आधार के रूप में परिवार के विशिष्ट प्रकार कुछ समाजो मे मिलते है। ये प्रकार निम्न हैं—

8.1 रक्त-सम्बन्धी परिवार— जब परिवार में केवल रक्त-सम्बन्धी स्थायी रूप से साथ-साथ रहते हैं तथा वैवाहिक-सम्बन्धी परिवार मे स्थाई रूप से नहीं रहते है। वैवाहिक साथी (पति) केवल कभी-कभी अपनी पत्नी के घर जाते हैं। उनका पत्नी के परिवार मे किसी प्रकार की कोई आर्थिक या अन्य जिम्मेदारी नहीं होती है। पति केवल आकस्मिक अतिथि होते है। ऐसे परिवार मे माता, उसकी बहिनें भाई, बहिन के पुत्र और पुत्रियाँ तथा पुत्रियो की सन्तानें सब साथ-साथ रहते है। इस प्रकार के परिवार को रक्त-सम्बन्धी परिवार कहते हैं। दक्षिण भारत के नायर समाज के ये परम्परागत तीन पीढी के संयुक्त परिवार है। इनका नाम उन समाजो मे 'थरवाड़' परिवार है।

8.2 विवाह-सम्बन्धी परिवार— इस प्रकार के परिवारों से तात्पर्य है कि परिवार के सदस्य विवाह के बन्धन से बंधे होते हैं तथा इसमें रक्त-सम्बन्धी उनकी संतानें होती है। विवाह होते ही वर-वधू अपने-अपने माता-पिताओ का परिवार छोड़ देते हैं। उनकी संतानें बडी होकर उन्हें छोड देती हैं। इस प्रकार परिवार मे स्थाई रूप से वैवाहिक सम्बन्धी (पति-पत्नी) ही रहते हैं।

9. वैवाहिक साथियों की संख्या के आधार पर वर्गीकरण— विवाह के द्वारा परिवार की स्थापना होती है। जिस प्रकार का विवाह होगा उसी के अनुसार परिवार की संरचना होगी। विवाह के समय कितने पुरुष कितनी स्त्रियों के साथ विवाह करते है। इसके आधार पर परिवार के निम्नलिखित प्रकार बनते हैं —

9.1 एक-विवाही परिवार— एक समय में एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करता है तो वह एक-विवाह कहलाता है। इससे बनने वाला परिवार एक-विवाही परिवार कहलाएगा। लेकिन एक-विवाह समाजिक और कानूनी आधार पर वह भी कहलाता है जब पति-पत्नी में से किसी एक की मृत्यु हो जाए अथवा उनका विवाह विच्छेद हो जाए। उसके बाद विधुर अथवा विधवा अथवा तलाक शुदा पुरुष या स्त्री पुनः ऐसे व्यक्ति से विवाह करते हैं जो इनके जैसा हो अर्थात् अविवाहित हो तो वह भी एक-विवाह कहलाता है। ऐसे एक-विवाह द्वारा एक-विवाही परिवार उस स्थिति में होगा जब पुन विवाह करने वालों में से किसी के भी पहिले से सन्तान नही हो। अन्यथा इनमे पहिले से सन्तान होगी तो ऐसा परिवार एक-विवाही परिवार न कहला कर 'सम्मिश्र' परिवार कहलाएगा।

9.2 द्वि-विवाही परिवार— जब एक समय में एक पुरुष दो स्त्रियों से अथवा एक स्त्री दो पुरुषो से विवाह करती है तो इससे जो परिवार बनेगा वह द्वि-विवाही परिवार होगा। इस विवाह के निम्न दो प्रकार हैं— द्वि-पत्नी-विवाह में एक पुरुष दो स्त्रियों से विवाह करता है तथा द्वि-पति-विवाह में एक स्त्री दो पुरुषों से विवाह करती है। ऐसे परिवार भारत के आदिम, ग्रामीण तथा नगरों में मिलते हैं।

9.3 बहु-विवाही परिवार- बहु-विवाही परिवार बहु-विवाह से बनते है। बहु-विवाह उस विवाह को कहते है जिसमें एक पुरुष अनेक स्त्रियो से या एक स्त्री अनेक पुरुषो से अथवा अनेक पुरुष अनेक स्त्रियो से विवाह करते है। इसके अनुसार परिवार के निम्न प्रकार बनते है —

9.3.1. बहु-पत्नी-विवाही परिवार— जब एक पुरुष एक समय में दो से अधिक स्त्रियों से विवाह करता है तो उसे बहु-पत्नी विवाह कहते हैं तथा इससे बनने वाला परिवार बहु-पत्नी-विवाही परिवार कहलाता है। भारत की नागा, गोंड, टोड़ा, लुशाई, खासी, संथाल, कादर, छोटा नागपुर के 'हो' आदि जनजातियों मे ये परिवार मिलते हैं। मुसलमानों में पुरुष को चार विवाह करने की धर्म के अनुसार अनुमति है। प्राचीन काल में राजा, महाराजा, जागीदार, धनी कृषक आदि भी ऐसा विवाह करते थे।

बहुपत्नी-विवाह के निम्न दो प्रकार है—

(i) भगिनी-बहु-पत्नी-विवाही परिवार— इसमें पत्नियाँ सगी बहिने होती हैं तथा

(ii) अभगिनी-बहु-पत्नी-विवाही परिवार— इसमें पत्नियाँ सगी बहिनें नहीं होती है।

9.3.2. बहु-पति-विवाही परिवार— बहु-पति-विवाही परिवार बहु-पति-विवाह से बनते है। जब एक स्त्री दो से अधिक पुरुषो से विवाह करती है तो वह विवाह बहु-पति-विवाह कहलाता है तथा इससे बहु-पति-विवाही परिवार का निर्माण होता है। इस प्रकार के विवाह और परिवार भारत तथा विश्व के अनेक समाजों में मिलते हैं।

बहु-पति-विवाही परीवार के दो उप-प्रकार है। (1) भ्रातृ-बहु-पति-विवाही परिवार और (2) अभ्रातृ-बहु-पति-विवाही परिवार। जब सगे भाई एक स्त्री से विवाह करते हैं तो उससे भ्रातृ-बहु-पति-विवाही परिवार बनते हैं। द्रौपदी का विवाह इसी का उदाहरण है। उत्तरी भारत के देहरादून जिले के जौनसार बाबर परगना तथा टिहरी राज्य के जौनपुर और खाई मे सबसे बड़ा भाई विवाह करता है और उसकी पत्नी उसके छोटे भाइयो की भी पत्नी होती है।

दूसरा अभ्रातृ-बहु-पति-विवाही परिवार– जिसमे अनेक पुरुष जो परस्पर भाई नही होते है और वे एक स्त्री से विवाह करते है तो वह परिवार अभ्रातृ-बहु-पति-विवाही परिवार कहलाता है।

9.3.3. समूह-विवाही परीवार– जब कई पुरुष मिलकर अनेक स्त्रियो से एक साथ विवाह करते है। जिसमें प्रत्येक पुरुष सभी स्त्रियो का पति तथा प्रत्येक स्त्री सभी पुरुषो की पत्नी होती है तो उसे समूह विवाह कहते हैं। जब पुरुषो का एक समूह स्त्रियो के एक समूह से विवाह करता है तो इससे जो परीवार स्थापित होगा वह समूह-विवाही परिवार होगा। भारत की टोडा जनजाति मे यह विवाह और परीवार मिलता है।

संयुक्त-परिवार

भारतीय समाज और संस्कृति को समझने के लिए आवश्यक है कि हम इसकी सबसे छोटी इकाई को समझने का प्रयास करें। भारत के अधिकतर क्षेत्रो मे सामाजिक सगठनो की सबसे छोटी इकाई संयुक्त-परिवार है और उसमे भी परम्परागत-सयुक्त-परिवार है। भारत मे अग्रेजो के आने से पहिले एकाकी परिवार की अवधारणा अपरिचित वस्तु थी। अनेक इतिहासकारो, दार्शनिको, विद्वानों आदि ने लिखा है कि भारतीय समाज की विशेषता उसका सयुक्त-परिवार है।

मैक्समूलर का कथन है कि संयुक्त-परीवार भारत की 'आदि परम्परा' है। यह आज भी अनेक समाजों में महत्त्वपूर्ण है। **कर्वे** ने महाभारत के सयुक्त-परिवार की याद दिलाते हुए लिखा है कि भारत में आज भी जहाँ-जहाँ भाई-भाई साथ रहते हैं, महाभारत का युद्ध होता है।

हिन्दू समाज की इकाई व्यक्ति न होकर सयुक्त-परिवार है। भारतीय संस्कृति और समाज मे संयुक्त परिवार के महत्त्व पर खूब लिखा गया है। उसे दोहराने के स्थान पर सयुक्त-परिवार की परिभाषा, अर्थ, प्रकार, कार्य, महत्व आदि का अध्ययन करके स्वय देखा जा सकता है, जो निम्न प्रकार है।

संयुक्त-परिवार का अर्थ एवं परिभाषा

संयुक्त-परिवार की परिभाषा अनेक विद्वानो, कानून-वेताओ, सामाजिक मानवशास्त्रियो तथा समाजशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न दी है। इन विद्वानो ने सयुक्त-परिवार के विभिन्न गुणो, तत्वो तथा लक्षणो पर प्रकाश डाला है। अब यहाँ हम इनकी परिभाषाओ को देखेंगे तथा भारत के सयुक्त परिवार को संरचनात्मक और प्रकार्यात्मक तथा सस्थात्मक पक्ष से समझने का प्रयास करेंगे।

1. ब्लण्ट की परिभाषा– सयुक्त-परीवार की मुख्य विशेषता है कि वे एक जगह का बना भोजन करते है।

2. मेन्डलबॉम की परिभाषा– सयुक्त-परिवार जिसके सदस्य बन्धुत्व के सम्बन्धो से सम्बन्धित होते हैं और साधारणतया एक मकान मे रहते है।

3. इरावती कर्वे की परिभाषा– एक संयुक्त-परिवार लोगों का एक समूह है, जो सामान्यतया एक छत के नीचे रहते हैं, जो एक रसोई में बना भोजन खाते हैं, जो सामान्य सम्पत्ति रखते हैं, परिवार के सामान्य पूजा-पाठ मे भाग लेते है और एक-दूसरे से किसी विशिष्ट प्रकार के बन्धुत्व सम्बन्ध से सम्बन्धित होते हैं।

आपने परिभाषा से सम्बन्धित तथ्य, "जो सामान्यतया एक छत के नीचे रहते हैं, और साथ-साथ खाते हैं" की निम्नलिखित व्याख्या की है, "जो कृषि का व्यवसाय करते हैं वे तो साथ-साथ रहते और खाते हैं लेकिन वे लोग जो व्यापार करते हैं अथवा सेना में अथवा सरकारी नौकरियों में हैं, लम्बे समय तक बाहर रहते हैं वे मूल परिवार से बधे रहते हैं तथा उसके अंग हैं, संयुक्त परिवार के अंग कहलाएँगे।"

4.ए.डी. रॉस की परिभाषा– आपका कहना है कि *समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धो के संदर्भ* में विषय का अध्ययन करता है। इसलिए संयुक्त परिवार के सदस्यों का एक स्थान पर रहना, एक रसोई का भोजन खाना आवश्यक नही है। दूर-दूर रहकर भी अगर उनके सामाजिक सम्नन्धों में निरतरता है, सत्ता बडे सदस्य के पास है तो वे परस्पर सयुक्त परिवार मे हैं। इसी दृष्टि से आपने सयुक्त परिवार की निम्न परिभाषा दी है – "सयुक्त-परिवार मनुष्यो का एक समूह है जो सामान्यतया एक प्रकार के बन्धुत्व सम्बन्धों से सम्बन्धित होते हैं, जो एक मकान में भी रहते हों और जिनका संगठन एक प्रकार के कर्तव्य और अधिकार, भावना एवं सत्ता के प्रतिमान से संबद्ध हो।" आपने साथ-साथ रहना सयुक्त-परिवार की आवश्यक शर्त नही बताई। इन्होने सयुक्त-परिवार के लिए आवश्यक– व्यक्तियों का समूह, बन्धुत्व सम्बन्ध और कर्त्तव्य और अधिकार, भावना तथा सत्ता– बताए हैं।

5.आई.पी. देसाई की परिभाषा– आपने लिखा है, "छोटे कुटुम्ब (एक छत के नीचे रहने वालों) को *नाभिक परिवार जैसा समझना* चाहिए जिसमे पति, *पत्नी और केवल बच्चे हों तथा* बड़े कुटुम्ब को संयुक्त-परिवार जैसा समझना चाहिए जिसमे तीन या तीन पीढ़ी से अधिक के व्यक्ति साथ-साथ रहते है।"

उपर्युक्त परिभाषाओ से स्पष्ट हो जाता है कि अधिकतर विद्वानो ने सयुक्त-परिवार की जो परिभाषाएँ दी है वे वास्तव मे परम्परागत सयुक्त-परिवार की परिभाषाएँ है। सामान्यतया संयुक्त-परिवार से तात्पर्य ऐसे परम्परागत सयुक्त-परिवार से लगाया जाता है जिसमे तीन या इससे अधिक पीढ़ियाँ होती हैं जो एक छत के नीचे निवास करती है, जो एक चूल्हे का बना भोजन खाती हैं, जिनकी सम्पत्ति सामान्य होती है, जो परिवार के पूजा-पाठ, उत्सव आदि मे सामूहिक रूप से भाग लेती हैं, जो परस्पर निश्चित बन्धुत्व सम्बन्धों से सम्बन्धित होती है और जिनका संगठन एक प्रकार के कर्त्तव्य और अधिकार एव सत्ता और भावना के प्रतिमान से सबद्ध होता है।

संयुक्त-परिवार की विशेषताएँ (लक्षण)

सयुक्त-परिवार की विशेषताओ को भौतिक, सरचनात्मक, प्रकार्यात्मक आदि के आधार पर *निम्नलिखित रूप मे देखा जा सकता है* –

1. सामान्य निवास– कुछ विद्वानों– कर्वे, मेण्डलबाम, ब्लण्ट, जौली आदि ने सयुक्त-परिवार के लिए सामान्य-निवास प्रमुख लक्षण बताया है जिसके अनुसार संयुक्त-परिवार के सभी सदस्य एक मकान मे साथ-साथ रहते है। रॉस और देसाई का कहना है कि परम्परागत संयुक्त-

परिवार के सभी सदस्य एक स्थान पर साथ-साथ रहते है। लेकिन कुछ अन्य प्रकार के सयुक्त परिवारो के लिए सामाजिक सम्बन्धों की सयुक्तता तो आवश्यक है परन्तु एक स्थान पर साथ-साथ रहना आवश्यक नहीं है।

2. सामान्य रसोईघर— संयुक्त-परिवार के सदस्यो के लिए कर्वे और ब्लण्ट का कहना है कि इसके सभी सदस्य एक चूल्हे पर बना भोजन खाते है। देसाई का कहना है कि परम्परागत-संयुक्त-परिवार के लिए सामान्य रसोईघर विशिष्ट लक्षण होना आवश्यक नही है।

3. सामान्य पूजा-पाठ— नवरात्रि, श्राद्धपक्ष, जन्म संस्कार, विवाह संस्कार, मृत्यु सस्कार, जन्माष्टमी, शिवरात्रि, दीपावली, दशहरा, रक्षा-बधन, होली आदि अनेक पर्वो-उत्सवों मे परम्परागत सयुक्त परिवार के सभी सदस्य साथ-साथ भाग लेते है। लेकिन परिवार के अनेक सदस्य शिक्षा, नौकरी, व्यापार आदि के कारण मूल निवास स्थान से बाहर रहते है, ऐसे अवसरो पर आने का पूरा प्रयास करते हैं तथा सम्मिलित होते है। कर्वे तथा देसाई ने स्पष्ट लिखा है कि आवास के आधार पर वे संयुक्त अंग नहीं हैं परन्तु सम्बन्धो के आधार पर वे संयुक्त हैं। इस प्रकार सामान्य पूजा-पाठ, धार्मिक अनुष्ठान आदि संयुक्त-परिवार के विभिन्न प्रकारो की विशिष्ट विशेषता है।

4. बड़ा आकार— *देसाई ने बड़े आकार के कुटुम्ब को संयुक्त-परिवार बताया है जिसमे तीन या तीन से अधिक पीढी के व्यक्ति साथ-साथ रहते है। यह परम्परागत-संयुक्त-परिवार भी कहलाता है।* दूसरे प्रकार के संयुक्त परिवारों का आकार बडा होता है जिसमे एक पीढी मे कई विवाहित भाई अपनी पत्नियो के साथ-साथ रहते हैं। सयुक्त-परिवार के लिए बडे आकार से तात्पर्य सदस्यो की संख्या नहीं है बल्कि एक से अधिक परिवारों का एक कुटुम्ब के रूप में रहना है। एक दम्पत्ति के दस-बारह बच्चे होने पर आकार बडा होने पर भी वह संयुक्त परिवार नहीं कहलाएगा।

5. सामान्य सम्पत्ति— *परिवार की सयुक्तता का महत्वपूर्ण आधार सम्पति भी है। एक पूर्वज की सन्ताने सामान्य रूप मे सम्पत्ति विरासत में प्राप्त करती हैं। संयुक्त-परिवार के सदस्य अपनी-अपनी आय तथा कमाई परिवार के मुखिया को दे देते है। सयुक्त परिवार के सदस्यो की आय एक स्थान पर एकत्र की जाती है तथा वहाँ से सबकी आवश्यकताएँ पूरी की जाती है।* विवाह, त्यौहार आदि अवसरो पर मुखिया खर्च करता है।

6. नातेदारी सम्बन्ध— *संयुक्त-परिवार व्यक्तियो का एक ऐसा समूह है जिसके सदस्य परस्पर विशिष्ट रक्त, विवाह अथवा गोद सम्बन्धो से सम्बन्धित होते है। सयुक्त-परिवार में पीढी तथा क्षैतिज अथवा दोनों आधारो से सयुक्तता होती है। परम्परागत-सयुक्त-परिवार मे तीन या तीन से अधिक पीढी के सदस्य साथ-साथ रहते हैं। पितृ-स्थानीय मे माता-पिता, दादी, चाचा-ताऊ, उनके परिवार, भाई, चचेरे भाई, विवाहित-अविवाहित पुत्र आदि साथ-साथ रहते है।*

7. अधिकार और दायित्व— *रौस के अनुसार सयुक्त परिवार के सदस्यो का संगठन, कर्त्तव्य और अधिकार एवं सत्ता और भावना के प्रतिमान से सम्बद्ध होता है। देसाई का मानना है कि परिवार की सयुक्तता जहाँ तक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से सम्बन्धित है उसके लिए प्रभावशाली सम्बन्धो का होना आवश्यक है जिसमें भाइयो, उनकी सतानो आदि से सम्बन्धित परस्पर अनेक कर्त्तव्य, अधिकार, दायित्व आदि आते हैं। जो जन्म, मृत्यु, विवाह आदि अवसरो पर तथा अन्य सामान्य जीवन मे देखे जा सकते है।*

8. परिवार का मुखिया— परम्परागत-सयुक्त-परिवार का मुखिया कौन होगा? यह सम्बन्धित समाज की प्रथा और परम्परा निश्चित करती है। पितृसत्तात्मक समाज मे परिवार भी पितृसत्तात्मक

होता है जिसका तात्पर्य है परिवार का सबसे बडा पुरुष मुखिया होता है। आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, न्यायिक आदि सभी क्षेत्रों में वह प्रबंधक, मुखिया, पुरोहित, न्यायाधीश आदि जैसी भूमिकाएँ संयुक्त परिवार के स्तर पर करता है। श्रम का विभाजन, पूजा-पाठ, न्याय, आदेश वही अन्य सदस्यों को देता है। अन्य सदस्य उसका पालन करते हैं।

9. सामान्य सामाजिक तथा धार्मिक कार्य— समाज सयुक्त परिवार के सदस्यों को सामाजिक और धार्मिक कार्यो के सदर्भ में एक इकाई मानता है। गाँव में कोई भी त्यौहार या उत्सव होता है तो संयुक्त परिवार को एक इकाई के रूप में मानते हैं। सामाजिक और धार्मिक कार्य संयुक्त परिवार दो स्तरों पर पूर्ण करता है। पहला, एक इकाई के रूप में ग्राम समुदाय या समाज में जहाँ वह रहता है तथा दूसरा, परिवार के सदस्य परस्पर उन कार्यों को सम्पन्न करते हैं।

10. सहयोगी व्यवस्था— सोरोकिन, ए.आर. देसाई, कर्वे आदि का मानना है कि संयुक्त परिवार के सदस्य परस्पर एक-दूसरे के प्रति सहयोग और समूहवाद की भावना रखते हैं। सदस्य सामूहिक अभिमुखन के अनुसार क्रिया करते हैं उनमें व्यक्तिवाद की भावना नहीं होती है। सदस्य निजी स्वार्थ का परिवार के लिए बलिदान कर देते हैं।

11. उत्पादक इकाई— परम्परागत-संयुक्त-परिवार ग्रामीण समाज में अधिक होते हैं। वहाँ पर ये उत्पादन की इकाई के रूप में कृषि के व्यवसाय में देखे जा सकते हैं। खेती-बाड़ी में प्रत्येक को उसकी क्षमता तथा कार्य-कुशलता के अनुसार कार्य मिल जाता है। सभी अपना-अपना कार्य करके उत्पादन की इकाई के रूप में सहयोग देते है। प्रत्येक प्रकार के व्यवसाय में पूरा का पूरा परिवार कार्य करता है तथा उत्पादन का लाभ परिवार के प्रत्येक सदस्य को मिलता है।

12. निश्चित संस्तरण— सयुक्त परिवार में सदस्यों की निश्चित प्रस्थिति और भूमिका होती है। बड़ी पीढी का छोटी पीढ़ियाँ सम्मान करती हैं। परम्परागत पितृसत्तात्मक समाज में पति का स्थान पत्नी से ऊँचा होता है। आयु के आधार पर रक्त-सम्बन्धी बडे-छोटे, बडी आयु-छोटी आयु के क्रम मे ही होते है। व्यक्ति के जीवन साथी के रक्त सम्बन्धियों से वही उच्च-निम्न प्रस्थिति होती है जैसी उसके व जीवन साथी की चाहे उसकी स्वयं की आयु कितनी भी हो। सौतेला बेटा सौतेली माँ मे आयु मे बडा होने पर भी सौतेली माँ को माँ जैसा सम्मान देता है।

13. तुलनात्मक स्थायित्व— एकाकी परिवार की तुलना में संयुक्त-परिवार अधिक स्थाई होते हैं। उनमें 'हम' की भावना, सामूहिक दृष्टिकोण— 'एक के लिए सब और एक सबके लिए' वाली भावना रखते है। सयुक्त परिवार मे सभी सदस्य सुख-दु ख, लाभ-हानि, जीवन-मरण में एक-दूसरे का साथ देते है। आर्थिक कष्ट में एक-दूसरे की सहायता सामूहिक सम्पत्ति तथा आय के द्वारा की जाती है। किसी सदस्य की मृत्यु हो जाने पर उसकी पत्नी और बच्चों की देखभाल संयुक्त-परिवार वैसे ही करता है जैसे पहिले हो रही थी। बीमारी मे सब सबका ध्यान रखते हैं। तीन पीढी तक सयुक्त होने से परिवार की निरतरता स्थाई रूप से बनी रहती है। नए सदस्यो का जन्म, वृद्ध सदस्यों की मृत्यु से परिवार की सास्कृतिक, धार्मिक, पारिवारिक, व्यावसायिक निरतरताएँ बनी रहती है।

संयुक्त परिवार के प्रकार

भारतवर्ष मे सयुक्त परिवार के अनेक प्रकार हैं। भारतवर्ष मे अनेक सामाजिक परम्पराएँ विभिन्न क्षेत्रों में मिलती हैं और उन्हीं के अनुसार संयुक्त परिवार के विभिन्न स्वरूप मिलते हैं। संयुक्त परिवार के विभिन्न प्रकारों के वर्णन विद्वानो ने किए है, जो अग्रलिखित है—

(1) सत्ता, वंश एवं स्थान के आधार पर संयुक्त परिवार के प्रकार— इन चरों अथवा आधारों पर भारत मे सयुक्त परिवार के निम्न दो प्रकार मिलते है —

1.1. पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय एवं पितृस्थानीय संयुक्त-परिवार— उपर्युक्त तीनो विशेषताएँ परम्परागत-सयुक्त-परिवार मे मिलती है। परिवार का सबसे बडा पुरुष मुखिया होता है। सभी प्रकार के निर्णय तथा सत्ता पिता से पुत्र को हस्तांतरित होती है। भारत मे कुछ परिवारों को छोडकर सभी परिवार पितृसत्तात्मक है। भारत के लगभग सभी परिवारों में सत्ता, वंश और स्थान पितृपक्षीय है। वशावली पिता से पुत्र की दिशा में चलती है। विवाह के बाद वर-वधू वर के माता-पिता के पास रहते हैं। सम्पत्ति पिता से पुत्र को हस्तांतरित होती है।

1.2. मातृसत्तात्मक, मातृवंशीय एवं मातृस्थानीय संयुक्त-परिवार— दक्षिण भारत के कुछ समाजों, जैसे— नायर, थरवाड परिवार, थियान, मोप्ल, बाण्ट आदि मे परिवार मातृवशीय और मातृस्थानीय है। इनके परिवार मातृवशीय और मातृस्थानीय परम्परागत-सयुक्त-परिवार है। इन संयुक्त परिवारो में स्त्री का प्रमुख स्थान होता है। वश परम्परा माता से पुत्री को चलती है। सम्पत्ति माता से पुत्री को हस्तातरित होती है। उत्तराधिकारी माता के बाद उसकी पुत्री होती है। विवाह के बाद भी स्त्री माता के पास रहती है। ऐसे परिवार केरल के मालाबार के नायर समाज मे मिलते है।

(2) थरवाड़ संयुक्त परिवार— मातृवशीय संयुक्त परिवार थरवाड कहलाते है। इसमे स्त्री, उसके भाई-बहिन, उसकी स्वय की बहिन तथा उसके पुत्र तथा उसकी पुत्रियाँ साथ-साथ रहते हैं। इस कुटुम्ब की विशेषता यह है कि इसमे मकान मे कोई वैवाहिक सम्बन्धी नहीं रहता है। इसमे एक स्त्री के नाते-रिश्तेदार दूसरी स्त्रियाँ, जैसे— पुत्री— माता, बहिन, माता की माता, माता की बहिन,बहिन की पुत्री, तथा स्त्री से जो पुरुष रक्त सम्बन्धी होते है वो भाई, पुत्र, पुत्री के पुत्र, बहिन के पुत्र होते हैं। पुरुषों में परस्पर एक-दूसरे भाई, माता के भाई और बहिन के पुत्र के रूप मे रिश्तेदार होते है। ये दक्षिण भारत के नायर समाज में मिलते हैं। ये थरवाड परिवार की कुछ विशेषताएँ है। इसे *रक्त-सम्बन्धी-सयुक्तपरिवार* भी कहते हैं।

एक पुरुष अपनी पत्नी के पास कभी-कभी जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त वर्णित कुटुम्ब मे विवाहित स्त्री का पति कभी-कभी उससे मिलने आता है। इस प्रकार कोई भी वैवाहिक सम्बन्धी परिवार मे नहीं रहता है। इसमे पिता, सन्तानें, पति-पत्नी के साथ का जीवन पूर्ण रूप से अनुपस्थित होता है।

(3) पीढ़ियों, उनमें दम्पत्तियों की संख्या के आधार पर उदग्र, क्षैतिज तथा मिश्रित संयुक्त-परिवार— इस प्रकार के वर्गीकरण की व्याख्या विस्तार से परिवार के वर्गीकरण के अन्तर्गत पिछले पृष्ठो मे की जा चुकी है।

(4) सम्पत्ति पर अधिकार और संयुक्त परिवार के प्रकार— पितृवंशीय और पितृसत्तात्मक मे सत्ता पर अधिकार पिता से पुत्र को हस्तांतरित होते है। सम्पत्ति पर किन वंशजो का अधिकार है? और कितना है ? के आधार पर हिन्दुओं के सभी सयुक्त परिवारो को दो प्रकारों मे बाँटा गया है— (1) मिताक्षरा तथा (2) दायभाग। इन्हीं से सम्बन्धित सयुक्त परिवार को निम्न दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है —

4.1. मिताक्षरा संयुक्त परिवार— विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य पर टीका लिखी है उसमे मिताक्षरा का वर्णन मिलता है। यह भारत के समस्त (आसाम और बगाल को छोड़ कर) हिन्दुओ से

सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत संयुक्त परिवार के सदस्यों के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रावधान हैं--

(1) पुत्र को जन्म से पैतृक सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त हो जाता है।

(2) बालक गर्भ में आते ही पैतृक सम्पत्ति में अधिकारी हो जाता है। उसका जन्म सम्पत्ति के बँटवारे के नौ माह के अन्दर हो जाना चाहिए।

(3) यदि किसी व्यक्ति के कोई पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र नहीं होता है तो उसकी मृत्यु के बाद उसके हिस्से की सम्पपत्ति उसके भाई आपस में बाँट लेते हैं।

(4) पुत्र पिता के जीवित रहते हुए भी पैतृक सम्पत्ति में से अपना हिस्सा माँगने का अधिकारी है।

(5) पिता की सम्पत्ति पर निश्चित और सीमित अधिकार होता है।

(6) व्यक्ति विशेष कार्यो, जैसे— दहेज, धार्मिक कार्य आदि के लिए संयुक्त सम्पत्ति को साझेदारों की सहमति लेकर विनियोग कर सकता है।

(7) सम्पत्ति मे स्त्री को कोई अधिकार नहीं होता है।

(8) स्त्री को स्त्री-धन के अतिरिक्त और कोई धन या सम्पत्ति नही दी जाती है।

उपर्युक्त सम्पत्ति के अधिकार स्पष्ट करते हैं कि संयुक्त परिवार में पुत्र, पिता, पितामह, पौत्र, प्रपौत्र, उनके भाई आदि संयुक्त होते है तथा बिना अन्य की सहमति के व्यक्ति विनियोग नही कर सकता। दूसरी ओर पुत्र पैतृक सम्पत्ति में से हिस्सा पिता से उसके जीवन काल में भी माँग सकता है तथा अलग हो सकता है।

4.2 दायभाग संयुक्त परिवार— दायभाग संयुक्त परिवार मे परस्पर स्त्री-पुरुष के क्या अधिकार तथा स्थिति है, इसका वर्णन जीमूतवाहन ने किया है। उनके अनुसार इस परिवार में निम्नलिखित प्रावधान है जो आसाम और बंगाल के हिन्दू परिवारों पर भी लागू होते हैं--

(1) पुत्र का पैतृक सम्पत्ति पर अधिकार पिता की मृत्यु के बाद ही होता है।

(2) पुत्र पिता के जीवन काल मे उससे अपने हिस्से की सम्पत्ति की माँग नही कर सकता।

(3) पिता का सम्पत्ति पर एकाधिकार होता है। वह सम्पत्ति का अपनी इच्छानुसार उपभोग कर सकता है।

(4) पुत्रो को पैतृक सम्पत्ति में भरण-पोषण के अतिरिक्त कोई अधिकार नही होता है।

(5) सम्पत्ति मे स्त्री को भी अधिकार होता है।

(6) व्यक्ति के कोई पुत्र न होने पर उसकी मृत्यु के बाद सम्पत्ति उसकी पत्नी को मिलती है। इस प्रावधान के द्वारा सयुक्त परिवार का नियंत्रण, निर्देशन तथा संचालन होता रहा है।

हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के द्वारा उपर्युक्त व्यवस्था समाप्त कर दी गई है तथा देश मे समान व्यवस्था लागू कर दी गई है। जिसमे सभी स्त्री-पुरुषो को पैतृक सम्पत्ति मे समान अधिकार प्राप्त है।

संयुक्त परिवार के लाभ अथवा प्रकार्य

भारतवर्ष में संयुक्त परिवार आदिकाल से विद्यमान है। यह समाज के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य—सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि करता रहा है। इसके प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं -

1. सामाजीकरण का कार्य— समाज के लिए नए सदस्यों का जन्म, पालन-पोषण तथा सामाजीकरण का कार्य अत्यावश्यक है। प्राचीन तथा हिन्दू समाज में संयुक्त परिवार सामाजीकरण का कार्य सदियों से करता चला आ रहा है। संयुक्त परिवार में बच्चा सामाजिक मूल्यों, व्यवहार करने के तरीके आदि सीखता है। संयुक्त परिवार बच्चे को समाज के उपयोगी सदस्य के रूप में सामाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा तैयार करता है। व्यक्ति समाज के प्रतिमान परिवार में सहज रूप में सीख लेता है।

2. मार्ग दर्शन का कार्य— परम्परागत संयुक्त परिवार में युवा-पीढ़ी को वृद्ध-पीढ़ी समय-समय पर अपने अनुभव और ज्ञान से मार्गदर्शन देती रहती है। युवा-पीढ़ी तथा परिवार के स्त्री-पुरुष कोई भी कार्य करते हैं तो उनको तत्काल अन्य बड़े सदस्य सलाह दे देते हैं। सांस्कृतिक मूल्य और संस्थागत साधनों का ज्ञान वृद्धजन अपने अन्य सदस्यों को हस्तान्तरित करते हैं।

3. धार्मिक कार्य— संयुक्त परिवार का पारिवारिक देवता होता है। उसकी पूजा की जाती है। समाज में जितने भी धार्मिक कार्य होते हैं परिवार उसकी वास्तविक इकाई होती है जो उन्हें सम्पन्न करती है। परिवार के सदस्यों को मुखिया एकत्र करता है तथा निश्चित समय, स्थान, दिन आदि पर उत्सवों, त्यौहारों आदि को सम्पन्न करता तथा करवाता है।

4. सामाजिक तथा आर्थिक सुरक्षा— परिवार की सामान्य सम्पत्ति तथा सामूहिक आय एक स्थान (मुखिया के पास) पर एकत्र होती है। मुखिया संयुक्त परिवार के प्रत्येक सदस्य की आवश्यकता को आय के अनुसार पूरी करने की व्यवस्था करता है। विधवा, वृद्ध जन, अनाथ, परित्यक्ताओं, अपाहिज, बेरोजगार आदि को संयुक्त परिवार में उचित भोजन, वस्त्र और आवास की सुविधा प्रदान की जाती है। सदस्य परस्पर एक-दूसरे की संकटकाल में सहायता करते हैं।

5. धन का उचित उपयोग— परम्परागत-संयुक्त-परिवार में मुखिया के पास आय एकत्र की जाती है। सभी सदस्य एक छत के नीचे रहते हैं। एक चूल्हे का बना भोजन करते हैं। साथ-साथ रहने में कई खर्चे जो अलग-अलग रहने पर प्रत्येक परिवार को करने पड़ते हैं वे संयुक्त परिवार में बचत के रूप में बच जाते हैं।

6. सम्पत्ति के विभाजन से बचाव— संयुक्त-परिवार में सम्पत्ति सभी की सामान्य होती है। विशेष रूप से खेतों का भी खण्डों तथा उपखण्डों में विभाजन तथा बँटवारा नहीं होता है। खेतों का आकार बड़ा बना रहता है। उससे उनमें खेती अच्छी होती है। सम्पत्ति सामूहिक होने से समाज में परिवार की आर्थिक स्थिति तथा सामाजिक प्रस्थिति अच्छी बनी रहती है।

7. श्रम विभाजन—संयुक्त परिवार में श्रम का विभाजन विभिन्न सदस्यों में परिवार का मुखिया करता है। वह व्यक्ति की आयु, शारीरिक क्षमता तथा लिंग भेद के आधार पर करता है। प्रत्येक को उसकी क्षमता तथा सामाजिक परम्परा के अनुसार कार्य दिया जाता है। पुरुष घर के बाहर का काम करते हैं। महिलाएँ भोजन बनाना, बच्चों का पालन-पोषण करना आदि कार्य करती हैं।

8. संकट काल में बीमा– संयुक्त परिवार दुर्घटना, बीमारी, बेरोजगारी, बुढ़ापा आदि संकटों में एक बीमा कम्पनी जैसी सुरक्षा प्रदान करता है। एकाकी परिवार की तुलना में संयुक्त परिवार का सदस्य अनेक सम्बन्धियों के बीच अपने को सुरक्षित पाता है।

9. अनुशासन एवं नियंत्रण– संयुक्त परिवार में अनुशासन की व्यवस्था बहुत अच्छी होती है। प्रत्येक सदस्य पर उससे बडी उम्र तथा पीढ़ी के सम्बन्धी पूर्ण नियंत्रण रखते हैं। अगर कोई सदस्य अनुशासन अथवा नियम तोडता है तो परिवार का मुखिया अथवा बड़े सम्बन्धी उसे समझाते हैं। अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण का संयुक्त परिवार उत्तम अभिकरण है।

10. संस्कृति की रक्षा– संयुक्त परिवार सदियों से संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित करता आ रहा है। वृद्ध लोग नई पीढी को कथाओं, कहानियों, उत्सव, त्यौहार, गीत आदि के द्वारा संस्कृति को सिखाते हैं। सामाजीकरण के द्वारा प्रथाओं, रूढ़ियों तथा परम्पराओं को हस्तातरित करने का कार्य परिवार करता रहा है। जाति व्यवस्था में तो व्यवसाय को हस्तांतरित करने का कार्य भी परिवार करता है। सयुक्त-परिवार संस्कृति की सुरक्षा तथा सिखाने का काम करता है।

11.राष्ट्रीय एकता– परिवार का सदस्य परिवार के लिए अपना जीवन जीता है। उसमें व्यक्तिवाद की भावना नहीं होती है। परिवार, ग्राम और देश के लिए उसमें 'हम' की भावना होती है। वह परिवार और देश के लिए त्याग की भावना रखता है। संयुक्त परीवार व्यक्ति में देशप्रेम, त्याग, कर्तव्यनिष्ठा आदि की शिक्षा देता है। संयुक्त परिवार की राष्ट्रीयता की भावना के विकास में विशेष भूमिका रही है।

12. मनोरंजन– इरावती कर्वे का कहना है कि संयुक्त परिवार मे हर समय कुछ-न-कुछ रुचि-कर होता ही रहता है। अब किसी लड़की अथवा लड़के का विवाह है। अब किसी का दीक्षा समारोह है, नए बच्चे का जन्म हुआ है, नववधू का यौवनारम्भ सस्कार है, परिवार का विशिष्ट संस्कार, व्रतभोज, और कभी किसी की मृत्यु। परिवार में अतिथियों का आना-जाना लगा रहता है। जीवन शायद ही कभी नीरस होता है। हमउम्र के साथी आपस में हँसी-मजाक करते रहते हैं, वृद्ध जन बच्चों को कहानियाँ आदि सुनाते हैं। हर समय चहल-पहल रहती है। संयुक्त परिवार में विभिन्न प्रकार से मनोरजन होता रहता है।

उपर्युक्त सयुक्त परिवार के कार्यों से स्पष्ट हो जाता है कि यह संस्था तथा समिति के रूप में व्यक्ति और समाज के मध्य एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। एक ओर यह व्यक्ति के लिए अत्यावश्यक कार्य करती है तो दूसरी ओर समाज के संगठन और संतुलन के लिए भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। संयुक्त परिवार प्राथमिक और अनौपचारिक समूह है जो व्यक्ति, समाज, ग्राम और राष्ट्र के लिए सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षिक, मनोवैज्ञानिक, सास्कृतिक आदि कार्य सम्पन्न करता है।

संयुक्त परिवार के दोष

सयुक्त परिवार के अनेक लाभ है, लेकिन अनेक कारकों तथा परिस्थितियों के कारण इसमें अनेक दोष भी हैं, जो निम्नलिखित है–

1. व्यक्ति की कार्यकुशलता में बाधक– संयुक्त परिवार में सदस्यों की आय मुखिया के पास एकत्र हो जाती है तथा सभी सदस्यों का बराबर ध्यान रखा जाता है। जो सदस्य अकर्मण्य हैं उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति बिना श्रम किए ही हो जाती है। जो सदस्य मेहनती है, कुशल हैं, उनका

विशेष ध्यान नहीं रखा जाता है। इससे बुद्धिमान, मेहनती, व्यवसायी पर विपरीत असर पड़ता है। क्योंकि उसे अपनी मेहनत का फल नहीं मिलता है। इससे वह भी अपनी कार्यकुशलता तथा आय बढाने के लिए प्रयास करना कम अथवा बन्द कर देता है। संयुक्त परिवार मे व्यक्ति विशेष को अलग से सुविधाएँ नहीं दी जाती हैं। इससे अनेक प्रतिभावान बालक तथा अन्य अपना विकास नही कर पाते हैं। संयुक्त परिवार व्यक्ति की कार्यकुशलता में एक बाधा है।

2. अकर्मण्य व्यक्तियों की वृद्धि— सयुक्त परिवार ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर देता है कि उससे अकर्मण्य व्यक्तियो की वृद्धि हो जाती है। सभी की आवश्यकताएँ समान रूप से पूरी की जाती हैं चाहे कोई ज्यादा कमाता हो या कम कमाता हो अथवा बेरोजगार हो। उसके बच्चों का पालन-पोषण भी समान रूप से किया जाता है। व्यक्ति आलसी, अकर्मण्य तथा अनुत्साही बन जाता है। जब बिना कुछ किए रोटी, कपड़ा और आवास की सुविधा मिल जाती है तो इससे व्यक्ति के जोश, प्रोत्साहन, कार्यकुशलता आदि पर नकारात्मक प्रभाव पडता है तथा वह अकर्मण्य बन जाता है।

3. व्यक्ति के विकास में बाधक— व्यक्ति विशेष का कोई महत्त्व नहीं होता है। कोई सदस्य आगे पढना चाहता है इसके लिए उसे कुछ विशेष सुविधाएँ चाहिए तो सयुक्त परिवार में ऐसा करना सभव नही है। कोई सदस्य बुद्धिमान है, मेहनती है उसके बच्चे भी ऐसे ही है तो उनको विशेष सुविधा नाम की अलग से व्यवस्था नही दी जाएगी। उसी वातावरण मे व्यक्ति को विकास करना होगा। परिवार मे अलग से प्रोत्साहन किसी को नहीं दिया जाता है। अनेक ऐसे सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा व्यक्तिगत कारण है जो व्यक्ति की कार्यकुशलता मे बाधक होते है और सयुक्त परिवार उन्हे प्रोत्साहित करता है।

4. गतिशीलता में बाधक— व्यक्ति परिवार के लिए जीवन जीता है। परिवार से जुडा रहता है। परिवार छोडकर बाहर जाने की बात तो व्यक्ति सोच भी नही सकता है। सयुक्त परिवार मे व्यक्ति का अलग से कोई अस्तित्व नहीं होता है। वह परिवार के लिए होता है। इस प्रकार सयुक्त परिवार के आदर्श, मूल्य, मान्यताएँ आदि व्यक्ति की गतिशीलता मे बाधकता का कार्य करते है।

5. सामाजिक समस्याओं का पोषक— परिवार के सदस्य अन्धविश्वासी, परम्परावादी तथा धार्मिक प्रवृत्ति के होते है। वे अनेक सामाजिक कुरीतियो को छोडने का विरोध करते है। पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, जाति-प्रथा आदि का कट्टरता से पालन करते है। सयुक्त परिवार के माध्यम से हिन्दू समाज में अनेक सामाजिक समस्याएँ पीढ़ी-दर-पीढी चली आ रही हैं, जैसे—स्त्री-अशिक्षा, वैधव्य, स्त्रियो का शोषण, छुआछूत, दहेज-प्रथा आदि। अनेक सामाजिक समस्याओ का कारण सयुक्त परिवार है।

6. कलह का केन्द्र— सयुक्त परिवार के सदस्य परस्पर बात-बात पर झगड़ा करते है। घर के काम-काज तथा बच्चो को आधार बनाकर स्त्रियाँ आपस मे झगड़ती है। सयुक्त परिवार मे छोटी-छोटी बातो को लेकर मन-मुटाव होता है। जिस सयुक्त परिवार की आर्थिक स्थिति खराब होती है, घर छोटा होता है वहाँ— बच्चे, स्त्रियाँ तथा बडे— सभी तनावपूर्ण जीवन व्यतीत करते है और अन्त मे सम्पत्ति, मकान आदि का बँटवारा हो जाता है।

7. स्त्रियों की दुर्दशा— सयुक्त परिवार मे स्त्रियो का जीवन नरकमय होता है। पर्दा-प्रथा के कारण सारा जीवन घर की चारदीवारी मे व्यतीत करती है। उनका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता है। घर-गृहस्थी का काम करना, रसोई मे खाना बनाना, बच्चो की देखभाल करना, सास और ननद

की सेवा करना। उसके लिए मनोरंजन का साधन नहीं होता है। वह अपने विचार व्यक्त नहीं कर सकती। उस पर पिता, पति और पुत्र नियंत्रण रखते हैं।

8. गोपनीय स्थान का अभाव— संयुक्त परिवार में सदस्यों की संख्या तो अधिक होती है तथा मकान प्राय छोटे होते हैं। हर समय चहल-पहल रहती है। शान्ति का अभाव रहता है। पति-पत्नी दिन में बातचीत नहीं कर सकते हैं। बडे-बूढ़ों का लिहाज करना पड़ता है। कई संयुक्त परिवारों में पुरुष तथा स्त्रियाँ भवन के अलग-अलग हिस्सो में रहते हैं। बच्चों को डाँट नहीं सकते। प्यार नहीं कर सकते। पति-पत्नी परस्पर स्नेह प्रदर्शित नहीं कर सकते। इससे उनकी इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो पाती। इस प्रकार से उन्हें बड़ा संयमी जीवन व्यतीत करना पडता है।

10. शुष्क एवं नीरस वातावरण— संयुक्त परिवार एक बडा कुटुम्ब होता है। सम्बन्धियो को आपस में एक-दूसरे को नहीं चाहते हुए भी साथ-साथ रहना पड़ता है। आर्थिक अभाव मे तो यह मात्र दिखावा होता है। सम्बन्धियो की आवश्यकता से अधिक संख्या होने के कारण उनके परस्पर सम्बन्ध औपचारिक हो जाते हैं। परिवार का वातावरण बहुत शुष्क तथा नीरस होने से सदस्य खुश नहीं रहते है।

11. मुखिया की स्वेच्छाचारिता— संयुक्त परिवार में सबसे बड़ा पुरुष मुखिया होता है। परिवार के सभी निर्णय मुखिया करता है। मुखिया को जो उचित लगता है वही करता है। अन्य सदस्य मुखिया से वाद-विवाद नहीं कर सकते। मुखिया का निर्णय अन्तिम होता है। उसे कोई बदल नहीं सकता है। अन्य सम्बन्धियो को मुखिया के समक्ष अपनी इच्छाओ को दबा कर रखना पड़ता है। अन्य सदस्य अपना असन्तोष व्यक्त नहीं कर सकते हैं।

संयुक्त परिवार में परिवर्तन के कारक

संयुक्त परिवार में परिवर्तन हो रहे है। आई.पी. देसाई ने अपने विनिबन्ध में बताया है कि विभिन्न कारणो तथा परिस्थितियों के कारण परम्परागत सयुक्त परिवार बदल रहे है। इनको परिवर्तित करने वाले निम्नलिखित कारक हैं—

1. औद्योगीकरण— औद्योगिक क्राति के बाद मानव समाज में अनेक परिवर्तन हुए है। संयुक्त परिवार भी नाभिक परिवार मे परिवर्तित होने लगे। उत्पादन के साधनो का विकास हुआ। संयुक्त परिवार उत्पादन और उपभोग की इकाई था। वह परिवर्तित होकर केवल उपभोग की इकाई बन गया। इससे नाभिक परिवारो का प्रतिशत बढने लगा। उत्पादन औद्योगिक केन्द्र करने लगे। व्यवसायो की बाहुल्यता हो गई। व्यक्ति सयुक्त परिवार छोड अन्यत्र व्यवसाय के लिए चला गया। सचार के साधन और यातायात के साधनों से व्यक्ति आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर आने-जाने लगा। वस्तु-विनिमय के स्थान पर नकद मुद्रा मे विनिमय होने लगा। इससे संयुक्त परिवार की 'सामान्य सम्पत्ति' विशेषता टूट गई। स्त्रियाँ कल-कारखानों मे काम करने लगीं। सयुक्त परिवार मे रहना नापसद करने लगीं। इन सबका प्रभाव संयुक्त परिवार प्रणाली पर पडा। सदस्य ग्राम छोड़ कर औद्योगिक केन्द्रो मे जाने लगे जहाँ आवास की समस्या होने से नाभिक परिवार बढ़े, परम्परागत व्यवसाय छोडकर नए व्यवसाय करने लगे। व्यक्ति अपने को स्वतत्र महसूस करने लगा। सयुक्त परिवार मे रहना उसे बुरा लगने लगा। परम्परागत-सयुक्त-परिवार का विभाजन होने लगा। स्त्रियाँ व्यवसाय करने के फलस्वरूप स्वतत्रता अनुभव करने लगी। अलग रहने का प्रयास करने लगीं।

अधिनियम, 1955" ने संयुक्त परिवार को नाभिक परिवार में परिवर्तित करने में प्रभाव डाला है। ऐसे अनेक अधिनियम समय-समय पर पारित होते रहे हैं जिनके कारण संयुक्त परिवारों को नाभिक परिवार में परिवर्तित होना पड़ा। आयकर से बचने के लिए भाइयों मे सम्पत्ति का बँटवारा दिखाया जाता रहा और वही बाद में संयुक्त परिवार के विभाजन का सूत्रधार सिद्ध हो गया।

7. परिवार के कार्यों का हस्तांतरण– पहिले संयुक्त परिवार अनेक परम्परागत कार्य करता था। धीरे-धीरे परिवार के परम्परागत कार्य अन्य संस्थाओ तथा समितियों को हस्तांतरित हो गए। इससे संयुक्त परिवार का महत्व घट गया। लोग संयुक्त रहना अनावश्यक समझने लगे। बच्चो का अच्छा पालन-पोषण तथा स्वयं सुख नाभिक परिवार में ज्यादा सुविधाजनक लगने लगे। शिक्षा, मनोरंजन, कपडा, भोजन, व्यवसाय, खाने-पीने की सामग्री आदि की व्यवस्था पहिले संयुक्त परिवार करता था। अब अन्यत्र पूरी की जा सकती है। व्यक्ति संयुक्त परिवार पर निर्भर नहीं है। इससे संयुक्त परिवार का विभाजन बढ़ गया।

8. पारिवाहिक झगड़े– संयुक्त परिवार मे अनेक सदस्य साथ-साथ रहते हैं। उनमे परस्पर झगड़े होते रहते हैं। कर्वे ने लिखा है कि भाइयो मे सम्पत्ति को लेकर आज भी महाभारत का युद्ध होता है। स्त्रियो में अनेक बातो पर मन-मुटाव, कहासुनी तथा झगड़े होते रहते है। बच्चे आपस मे लड़ते हैं और उनके कारण बडे भी लड लेते है। संयुक्त परिवार में आए दिन झगडों से बचने का एक ही समाधान है नाभिक परिवार। पारिवारिक झगडो से बचने के लिए लोग अलग घर बसा कर रहना पसंद करते है।

9. महिला आन्दोलन– महिला आन्दोलन ने स्त्रियों में जागृति पैदा कर दी है। वे अपने स्वयं के अस्तित्व को समझने लगी हैं। वे शिक्षा ग्रहण करने लगी हैं। व्यवसायों में आने लगी हैं। स्वय के शोषण के प्रति जाग्रत हो गई है। प्रेम-विवाह करने लगी है। घर की चारदीवारी के बाहर जीवन जीने लगी है। शिक्षित तथा व्यवसाय करने वाली स्त्रियाँ संयुक्त परिवार में रहना पसंद नही करती है। वे अपने पति को अलग घर बसाने के लिए मजबूर करती हैं। इससे नाभिक परिवारों की संख्या बढ़ी है तथा सयुक्त परिवारों का विभाजन हो रहा है।

संयुक्त और एकाकी परिवार में अन्तर

सयुक्त परिवार और एकाकी परिवार के अन्तर को निम्नलिखित रूप मे स्पष्ट किया जा सकता है –

(i) संयुक्त परिवार में तीन या उससे अधिक पीढ़ियाँ साथ-साथ रहती है, एकाकी अथवा नाभिक परिवार मे एक अथवा दो पीढ़ी ही साथ-साथ रहती है।

(ii) संयुक्त परिवार आकार में बड़े होते है, एव एकाकी परिवार छोटे आकार वाले होते हैं।

(iii) संयुक्त परिवार मे मुखिया का सशक्त नियत्रण रहता है, जबकि एकाकी परिवार मे ऐसा नही होता है।

(iv) संयुक्त परिवार मे महत्वपूर्ण निर्णय घर के प्रमुख मुखिया द्वारा लिए जाते है। एकाकी परिवार में महत्वपूर्ण निर्णयों में पति-पत्नी और बच्चों की सहमति ली जाती है।

(v) संयुक्त परिवार और एकाकी परिवार मे एक अन्तर यह है कि सयुक्त परिवार में सम्पत्ति सामूहिक होती है और एकाकी परिवार में सम्पत्ति पर एक व्यक्ति का अधिकार होता है।

(vi) सयुक्त परिवार में स्त्रियों की तुलना मे पुरुषो को अधिक अधिकार प्राप्त होते हैं, किन्तु एकाकी परिवार में अधिकारों में समानता को महत्त्व दिया जाता है।

(vii) सयुक्त परिवार आदिम काल से समाज मे विद्यमान हैं, जबकि एकाकी परिवारो का जन्म आधुनिक समय में हुआ है।

(viii) संयुक्त परिवार कृषि प्रधान समाजों अर्थात् ग्रामों की विशेषता माने जा सकते है, जबकि एकाकी परिवार नगरों एव औद्योगीकरण की विशेषता है।

(ix) सयुक्त परिवार में परस्पर सहयोग, प्रेम और त्याग की प्रधानता होती है, एकाकी परिवार मे सम्बन्ध घनिष्ठ न होकर व्यक्तिनिष्ठ अधिक होते है।

(x) सयुक्त परिवार में बालकों के व्यक्तित्व पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता जबकि एकाकी परिवार में बालकों के सर्वांगीण विकास को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है।

संयुक्त परिवार में परिवर्तन के अध्ययन एवं निष्कर्ष

सयुक्त परिवार की संरचना और कार्यों मे परिवर्तन हुआ है या नहीं? इस पर समाजशास्त्रियो ने अध्ययन करके निष्कर्ष दिए है। निम्नलिखित कुछ महत्त्वपूर्ण सर्वेक्षण और अध्ययन है जिनके आधार पर सयुक्त परिवार के परिवर्तन की प्रक्रिया, प्रकृति और उनकी दिशा और दशा का पता लगाने का प्रयास किया जाएगा।

1. जनगणना रिपोर्ट— गेट ने 1911 की भारतवर्ष की जनगणना रिपोर्ट के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि संयुक्त परिवारों में विघटन की प्रवृत्ति दिखाई देती है। आपका कहना है कि सयुक्त परिवारो की बहुलता केवल उच्च जातियों में ही है तथा जनजातियों और निम्न-जातियों मे विवाह के बाद पुरुष अलग घर बना कर रहते हैं। 1911 और 1951 की जनगणना के आँकड़ो से यही निष्कर्ष निकलता है कि छोटे-छोटे परिवारों की संख्या बढ़ रही है। लोगो की प्रवृत्ति अलग घर बसा कर रहने की बढ़ रही है।

2. के.टी. मर्चेन्ट का अध्ययन— इनका अध्ययन "चेन्जिग व्यूज़ आन मैरेज एण्ड फेमिली" है। आपने 1930-32 में 446 स्नातकों का अध्ययन किया था। आपके इस अध्ययन के अनुसार लोग सयुक्त परिवारों में रहना पसन्द करते हैं। स्त्रियाँ सयुक्त परिवार के विरोध मे अधिक पाई गई और पुरुष कम पाए गए। यह अध्ययन पचास साल पुराना है। इसके निष्कर्ष आज के सदर्भ मे पुन जाँचे जाने चाहिए।

3. ए.डी. रॉस का अध्ययन— इनका अध्ययन "हिन्दू फेमिली इन इट्स अरबन सेटिंग" है। आपने बंगलौर के उच्च एवं मध्यम वर्ग के 157 स्त्री-पुरुषों का अध्ययन किया था। आपने अध्ययन मे पाया कि प्रौद्योगिक कारक संयुक्त परिवार को परिवर्तित कर रहे है।

4. एम.एस. गोरे का अध्ययन— आपका अध्ययन "अरबनाइजेशन एण्ड फेमिली चेन्ज" है। यह अध्ययन दिल्ली और हरियाणा के आस-पास के ग्रामो तथा नगरो के 499 अग्रवाल परिवारो

का है। आपने पाया कि लोगों का झुकाव संयुक्त परिवार के पक्ष में है तथा शिक्षा एवं नगरीय प्रभाव संयुक्त परिवार को बदल रहा है।

5. के.एम. कापड़िया का अध्ययन— आपका अध्ययन "रूरल फेमिली पेटर्न : ए स्टडी इन अरबन-रूरल रिलेशनशिप" सोशियोलॉजिकल बुलेटिन, वाल्यूम V, नं 2 (सितम्बर, 1956) है। आपने परिवार के प्रतिमानों का नवासारी कस्बे और 15 गाँवों में तुलनात्मक अध्ययन किया। अध्ययन के निष्कर्ष में पाया कि कस्बे मे ग्रामों की तुलना में संयुक्त परिवार अधिक हैं तथा इनका आकार भी गाँवों की तुलना में बडा है।

6. आई.पी. देसाई का अध्ययन— इनके अध्ययन का शीर्षक "सम आस्पेक्ट्स ऑफ फेमिली इन महुवा" है। आपने सौराष्ट्र के महुवा कस्बे के 423 परिवारों का अध्ययन किया था। इस अध्ययन मे आपने परिवार की संयुक्तता का सम्बन्ध धर्म, जाति,ग्राम, नगर, आय, व्यवसाय तथा शिक्षा के स्तर के साथ देखा। इन्होंने निष्कर्ष निकाला कि परिवार की संयुक्तता का धर्म, जाति-भेद, शिक्षा का स्तर और नगरीयकरण के साथ कोई गुण सम्बन्ध नहीं है। व्यापार और कृषि के व्यवसाय और सम्पत्ति परिवार की संयुक्तता का प्रतिशत बढाते है। आपने आवास के आधार पर 28 प्रतिशत नाभिक परिवार तथा 72 प्रतिशत सयुक्त परिवार पाए।

7. बी.वी. शाह का अध्ययन— आपका अध्ययन "सोशियल चेन्ज एण्ड कॉलेज स्टूडेण्ट्स ऑफ गुजरात" है। आपने संयुक्त परिवार के प्रति विचार मालूम करने के लिए 200 छात्रों का अध्ययन किया तथा पाया कि 84 प्रतिशत सयुक्त परिवार के प्रति सहमति रखते हैं तथा 16 प्रतिशत विरोध में विचार रखते है।

8. ए.एम. शाह का अध्ययन— आपने अपने अध्ययन "बेसिक टर्म्स एण्ड कानसेप्ट्स इन दा स्टडी ऑफ फेमिली इन इण्डिया" में तथ्यों के आधार पर बताया कि संयुक्त परिवार छोटे कस्बों की विशेषता है। के.एम कापड़िया ने भी इस कथन का समर्थन किया है।

9. योगेन्द्र सिंह का अध्ययन— आपने अपनी कृति "माडर्नाइजेशन ऑफ इण्डियन ट्रेडिशन" मे गोरे, कापड़िया, आई.पी. देसाई, मुरडाक तथा कर्वे के संयुक्त परिवार की संरचना से सम्बन्धित विचारो, अध्ययनो आदि का विवेचन करने के बाद निम्न निष्कर्ष दिया है- "हालाँकि संयुक्त परिवार की सरचना पूरे भारत मे फैली हुई है और संयुक्तता की भावना निरंतर मजबूत है फिर भी इसमें क्षेत्रीय अन्तर है।"

10. मोरिशन का अध्ययन— मोरिशन ने बादलपुर और तालुका शहर में 85% तथा पूना शहर मे 75% नाभिक परिवार पाए। आपके अनुसार भारत के अन्य क्षेत्रों में भी नाभिक परिवार अधिक हैं।

11. पी.एम कोलिण्डा का अध्ययन— आपने परिवार के प्रकारों के वितरण का अध्ययन बत्तीस प्रकाशनो के आधार पर किया है। जो भारतवर्ष के तेरह क्षेत्रों के परिवार की रचना से सम्बन्धित है। ये विभिन्न क्षेत्र पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश, दिल्ली, राजस्थान, काश्मीर, मध्य प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा, मद्रास, मैसूर और केरल हैं। कोलिण्डा ने इससे सम्बन्धित निम्न सार दिए हैं- गगा के मैदानों के ग्रामीण क्षेत्रों में संयुक्त परिवार अधिक हैं तथा मध्य भारत, महाराष्ट्र और आन्ध्र प्रदेश मे कम हैं। काश्मीर के ब्राह्मण, गुजरात की उच्च जाति पट्टीदार, उड़ीसा के ब्राह्मण तथा केरल के नायरो मे 60 सयुक्त परिवार हैं।

एम.बी. दुबे के विचार– आपका कहना है कि परिवार के प्रकार तथा संरचना में निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं। सरल परिवार विस्तृत परिवार मे विकसित हो जाता है और फिर सरल परिवारों में टूट जाता है। वृद्ध माता-पिता अपने किसी पुत्र के साथ फिर रहने लग जाते हैं। सरल परिवार में विस्तृत और फिर विस्तृत परिवार में सरल परिवार का परिवर्तन खूब होता रहता है। पूर्ण तीन पीढ़ी के विस्तृत परिवार बहुत कम हैं तथा अनेक सरल परिवार भी तकनीकी रूप से बहुत समय तक सरल नहीं रह पाते हैं। दुबे का उपर्युक्त निष्कर्ष एक वास्तविक तथ्य है। कुछ वर्षों तक परिवार के परिवर्तन की दशा और दिशा यही रहेगी।

प्रश्न

1. परिवार की परिभाषा दीजिए एवं परिवारों के प्रकारों का उल्लेख कीजिए।
2. परिवार किसे कहते है? इसकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
3. परिवार के संगठन की विशिष्ट विशेषताएँ बताइए।
4. भारत में परिवार के प्रकारों का वर्णन उदाहरण सहित कीजिए।
5. संयुक्त परिवार की परिभाषा दीजिए। इसकी प्रमुख विशेषताओ का उल्लेख कीजिए।
6. संयुक्त परिवार के प्रमुख प्रकारों का उल्लेख कीजिए।
7. संयुक्त परिवार की परिभाषा दीजिए। इसके प्रमुख कार्यो की विवेचना कीजिए।
8. संयुक्त परिवार मे परिवर्तन लाने वाले मुख्य कारकों की विवेचना कीजिए।
9. संयुक्त परिवार की विशेषताएँ बताइए। क्या आप संयुक्त परिवार के पक्ष मे है? कारण बताइए।
10. संयुक्त परिवार से सम्बन्धित समाजशास्त्रीय अध्ययनो की समीक्षा कीजिए।
11. संयुक्त परिवार के प्रकार्य (लाभ) पर निबंध लिखिए।
12. संयुक्त परिवार की समस्याओं पर प्रकाश डालिए।
13. संयुक्त परिवार को परिवर्तित करने वाले कारक कौन-कौन से है? विवेचना कीजिए।
14. 'भारतीय परिस्थितियाँ आज भी संयुक्त परिवार के पक्ष में हैं', अपना मत दीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(उत्तर-संकेत सहित)

1. भारत के किन्हीं दो समुदायों के नाम लिखिए जिनमें मातृसत्तात्मक परिवार पाये जाते हैं। (मा शि बो अजमेर, 1995)

   [उत्तर- गारो तथा खासी जनजातियाँ]
2. निम्नलिखित में से सत्य वाक्यों का चयन कीजिए -

   (i) संयुक्त परिवार की प्रकृति समूहवादी होती है।

   (ii) स्त्री शिक्षा ने संयुक्त परिवार को संगठित किया है।

   (iii) ग्रामों मे संयुक्त परिवार एकाकी परिवार मे नहीं बदल रहे है।

   (iv) औद्योगीकरण और पश्चिमीकरण संयुक्त परिवार को एकाकी परिवार मे बदल रहे है।

   [उत्तर - (i), (iii)]

3. निम्नलिखित में से संयुक्त परिवार के तीन लक्षणों का चयन कीजिए—
   (i) तीन या तीन से अधिक पीढियाँ, (ii) व्यक्तिवादिता, (iii) सामान्य आवास, (iv) सामूहिक सम्पत्ति, (v) एक चूल्हे का बना भोजन करना, (vi) निजी सम्पत्ति, (vii) साथ-साथ पूजा-पाठ करना।
   [उत्तर - (ii), (iii), (iv), (v), (vii)]
4. निम्नलिखित वाक्यों को पूरा कीजिए—
   (i) पुरुष प्रधान परिवार को ....परिवार कहते हैं।
   (ii) संयुक्त परिवार की प्रकृति................होती है।
   (iii) परम्परागत सयुक्त परिवार में तीन या तीन से अधिक................होती हैं।
   (iv) ग्रामीण समुदायों में नगरीय समुदायों की तुलना मे ....परिवार अधिक होते हैं।
   [उत्तर - (i) पितृसत्तात्मक, (ii) समूहवादी, (iii) पीढियाँ, (iv) संयुक्त]
5. निम्न कथन किसका है?
   "छोटे कुटुम्ब (एक छत के नीचे रहने वालों) को नाभिक परिवार जैसा समझना चाहिए जिसमें पति, पत्नी और केवल बच्चे हों तथा बड़े कुटुम्ब को संयुक्त परिवार जैसा समझना चाहिए जिसमें तीन या तीन पीढी से अधिक के व्यक्ति साथ-साथ रहते है।"
   [उत्तर- आई.पी. देसाई]
6. निम्नलिखित में से उन कारकों का चयन कीजिए जो संयुक्त परिवार को परिवर्तित कर रहे हैं—
   (i) नगरीकरण, (ii) पश्चिमीकरण, (iii) व्यवसायों की बाहुल्यता, (iv) आधुनिक शिक्षा, (v) कृषि का व्यवसाय, (vi) परम्पराएँ, (vii) व्यापार में वृद्धि।
   [उत्तर - (i), (ii), (iii), (iv)]

□□□

अध्याय - 6

भारत में जाति-व्यवस्था

(Caste System in India)

जाति का स्वरूप आदिकाल से ही भारत मे प्रचलित रहा है क्योंकि यह भारतवर्ष की ही विशेषता मानी जाती है यद्यपि अन्य देशों मे भी इसका स्वरूप देखने को मिलता है किन्तु यहाँ इसका विस्तृत स्वरूप मिलता है। जाति एक ऐसे वर्ग का नाम हो सकता है जिसमे जन्म के आधार पर ही एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति की तुलना मे उच्च अथवा निम्न मान लिया जाता है। इस प्रकार जाति सामाजिक सरचना का आधार है। भारत मे अनेक जातियाँ है जिनकी भिन्न-भिन्न जीवन शैली है। हट्टन के अनुसार भारत मे 2,993 उपजातियाँ हैं जबकि घुर्ये ने 2,000 उपजातियाँ बताई हैं। जाति क्या है ? इसकी क्या विशेषताएँ हैं ? स्तरीकरण का आधार किस प्रकार है ? आदि प्रश्नों को जानने के लिए जाति की पूर्ण जानकारी अपेक्षित है। इरावती कर्वे ने भी यही माना है कि भारतीय सस्कृति के तत्त्वो को पूर्ण रूप से समझने के लिए जाति का अध्ययन आवश्यक है। अब हम जाति का अर्थ, परिभाषाएँ, विशेषताएँ आदि की विवेचना करेंगे।

जाति का अर्थ एवं परिभाषा– जाति शब्द सस्कृति की "जन्" धातु से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ जन्म या उत्पत्ति है। अर्थात् जन्म के अनुसार अस्तित्व का रूप ही जाति है जिसमें– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र– चार जातियाँ प्राथमिक रूप से हिन्दुओ मे मानी जाती है।

अग्रेजी भाषा में कास्ट (Caste) का हिन्दी रूपान्तर 'जाति' है जिसको पुर्तगाली भाषा के 'Casta' से व्युत्पन्न माना जा सकता है जहाँ इसे विभेद या मत के अर्थ मे प्रयुक्त किया जाता है। जाति की अनेक परिभाषाएँ विद्वानो द्वारा दी गई है जिनके आधार पर जाति को अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

जे.एच. हट्टन के अनुसार, "जाति एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत एक समाज अनेक आत्म-केन्द्रित एव एक-दूसरे मे पूर्णत पृथक् इकाइयो मे विभाजित रहता है।"

कूले के अनुसार, "जब एक वर्ग पूर्णतया वशानुक्रम पर आधारित होता है तो उसे जाति कहा जा सकता है।"

मजूमदार तथा मदान के मत मे, "जाति एक बन्द वर्ग है।" केतकर के अनुसार, "जाति एक सामाजिक समूह है जिसकी दो विशेषताएँ होती हैं– (1) जाति के सदस्य वही व्यक्ति हो सकते है जिहोने उसी जाति में जन्म लिया हो और (2) एक जाति के सदस्य अपनी ही जाति मे विवाह सम्बन्ध स्थापित कर सकते है।"

ब्लण्ट के मत में, "जाति एक अन्तर्विवाही समूह अथवा उनका संकलन है जिनकी सदस्यता आनुवंशिक होती है तथा जो सामाजिक सहवास के क्षेत्र में अपने सदस्यों पर प्रतिबन्ध लगाता है। इसके सदस्य या तो पारम्परिक व्यवसाय को करते है अथवा किसी सामान्य आधार पर अपनी उत्पत्ति का दावा करते हैं और एक समरूप समुदाय के रूप में मान्य होते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं में प्राय सभी विद्वानो ने जाति में जन्म की सदस्यता पर बल दिया है तथा सभी ने धार्मिक विश्वास, खान-पान, संस्कार, कर्मकाण्ड आदि को विशेष महत्त्व दिया है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि जाति जन्म से ही व्यक्ति को एक ऐसी सामाजिक स्थिति प्रदान करती है *जिसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नही है तथा इसमें विवाह, व्यवसाय, खान-पान,* कर्मकाण्ड, अनुष्ठान आदि पर नियन्त्रण रहता है।

जाति की संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक विशेषताएँ— एन.के. दत्ता एवं जी.एस. घुर्ये ने जाति की दो प्रकार की विशेषताएँ बताई हैं— (1) संरचनात्मक— जो जाति की संरचना से सम्बन्धित है तथा (2) संस्थात्मक— जो इसके विभिन्न नियंत्रणों को स्पष्ट करती है। ये इस प्रकार है—

1. जाति की संरचनात्मक विशेषताएँ- सरचना के आधार पर जाति की दो विशेषताएँ हैं—

1.1 खण्डनात्मक विभाजन— जाति के *आधार पर समाज अनेक खण्डो मे विभक्त है और* प्रत्येक खण्ड के सदस्यों की स्थिति, पद और कार्य जन्म से ही निश्चित हैं। प्रत्येक खण्ड के सदस्य का अपनी जाति के नियमो व पदों के अनुसार कार्य करने का नैतिक दायित्व होता है और जातीय नियमों की अवहेलना करने पर जाति पंचायत की ओर से सामाजिक दण्ड निर्धारित होता है जिसमे जाति से बहिष्कार तक किया जा सकता है।

1.2 संस्तरण— जाति के विभिन्न खण्डो में उच्चता-निम्नता का एक निश्चित सस्तरण होता है जो जन्म के आधार पर होता है जैसे ब्राह्मणों को सर्वोच्च व शूद्रों को निम्नतम स्थान प्राप्त है। जन्म *पर आधारित होने के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र यह स्थिर व दृढ़ संस्तरण है।*

2. जाति की संस्थात्मक या सांस्कृतिक विशेषताएँ—सस्थात्मक विशेषताएँ विभिन्न नियंत्रणों को *स्पष्ट करती हैं। ये निम्नलिखित हैं—*

2.1 खान-पान तथा सामाजिक-समागम पर प्रतिबन्ध— जाति-व्यवस्था मे सदस्यों के खान-*पान व सामाजिक-समागम पर प्रतिबंध रहता है अर्थात् एक जाति के सदस्य अपनी जाति मे ही* भोजन कर सकते है व सामाजिक ससर्ग स्थापित कर सकते है। आज भी ब्राह्मण विशेष रूप से पण्डित वर्ग दूसरी जाति मे भोजन नही करता, यद्यपि इसमे परिवर्तन भी हुआ है, जैसे फलाहार आदि या पक्का भोजन अन्य जाति में किया जा सकता है लेकिन किसी सीमा तक इन पर प्रतिबन्ध मान्य है। उच्च जाति के सदस्य निम्न जाति के यहाँ न तो सामाजिक-सपागम स्थापित करते हैं, न ही भोजन आदि करते हैं।

2.2 व्यवसाय की आनुवशिक प्रकृति— प्रत्येक जाति का निश्चित व्यवसाय होता है जो उसे वंशानुक्रम से मिलता है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होता है, जैसे- नाई, धोबी, चर्मकार, स्वर्णकार आदि अपना व्यवसाय परम्परागत रूप मे करते रहते है। यद्यपि अब इस क्षेत्र मे कुछ परिवर्तन हो रहा है, जैसे- कृषि, व्यापार आदि का कार्य सभी जाति के सदस्य कर रहे हैं।

2.3 विवाह से सम्बन्धित प्रतिबन्ध– प्रत्येक जाति के सदस्य अपनी जाति में ही विवाह-सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यद्यपि यह नियम भी आधुनिक समय में शिथिल होता जा रहा है किन्तु सिद्धान्तत जाति या उपजाति के बाहर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है।

2.4 जातियों की सामाजिक व धार्मिक निर्योग्यताएँ– उच्चता व निम्नता के अनुसार कई ऐसे सामाजिक व धार्मिक विशेषाधिकार हैं जो उच्च जाति को प्राप्त हैं निम्न जाति को नहीं, जैसे आज भी *शूद्र वर्ग को मन्दिर मे जाने की अनुमति नहीं है। उसी भाँति अनेक सामाजिक अधिकारो, कुओं,* तालाबों आदि सार्वजनिक स्थानो पर जाना मना है। दक्षिण भारत में आज भी अनेक निर्योग्यताएँ निम्न जातियों पर आरोपित की गई हैं, जिनके कारण निम्न जातियों में हीन भावना का उदय हो जाता है और प्रत्येक शोषण को वे प्रारब्ध का फल मानकर सहन कर लेते हैं।

जाति की विशेषताओं को निम्नलिखित चार्ट द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।
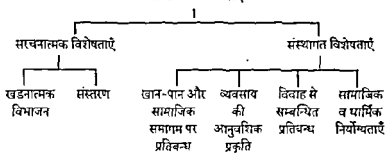
जाति की उत्पत्ति

जाति की उत्पत्ति कब और कैसे हुई—इस विषय मे मत वैभिन्य दिखाई पडता है। इसका स्वरूप विभिन्नतामय है अत इसकी उत्पत्ति के विषय में अनिश्चितता है। अनेक विद्वानो ने जाति की उत्पत्ति के विषय में अनेक सिद्धात प्रतिपादित किए हैं। कुछ प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित है -

1. परम्परागत सिद्धांत– जाति की उत्पत्ति से सम्बन्धित परम्परागत सिद्धान्त का स्वरूप वेद, उपनिषद, स्मृति, महाभारत, गीता एव धर्मशास्त्र मे स्पष्ट होता है सर्वाधिक प्राचीन व्याख्या ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त' के एक मत्र मे मिलती है जिसके अनुसार "ब्राह्मणो का जन्म ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य जघा अथवा उदर से तथा शूद्र पैर से उत्पन्न हुए है।" ब्राह्मण का कार्य अध्ययन-अध्यापन है जिससे वेदो की रक्षा हो सके। बाहु शक्ति की प्रतीक है अत क्षत्रियों का कार्य अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग करना व जन-धन की रक्षा करना है जिससे राज्य व्यवस्था स्थिर रह सके। जंघा अथवा उदर से उत्पन्न होने के कारण वैश्यों का कार्य कृषि, पशुपालन, व्यापार व दान देना है जिससे समाज में धन की समुचित उत्पत्ति व व्यवस्था हो सके। शूद्रो की उत्पत्ति पैरों से मानी गई है अत शूद्रों का कार्य उपर्युक्त वर्णित वर्णों की सेवा करना है। बृहदारण्यक उपनिषद मे वर्णित है कि जन-कल्याण को ध्यान में रखते हुए विभिन्न कार्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति हुई है। अत तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था जाति प्रणाली न होकर वर्ण-व्यवस्था थी।

मनुस्मृति वर्णो की उत्पत्ति के लिए ऋग्वेद के पुरुषसूक्त को ही स्वीकार करती है। महाभारत के अनुसार उस समय समाज में अनुलोम विवाह (उच्च वर्ण के लड़के का निम्न वर्ण की लड़की से विवाह) मान्य था और इस प्रकार के विवाहों से उत्पन्न संतान की उस समय कोई समस्या न थी किन्तु प्रतिलोम विवाह (उच्च वर्ण की लडकी का निम्न वर्ण के लडके से विवाह) समाज में उस समय अमान्य था- उनको माता-पिता किसी से भी कोई वर्ण नही मिल सका अत. ऐसी जातियो को नई जातियों में रखा गया। इस प्रकार वर्ण से माता के आधार पर ही विभिन्न जातियो की उत्पत्ति वर्णित की गई है। श्री कृष्ण ने गीता में कहा है, "चारो वर्णों का निर्माण मैने स्वयं गुण और कर्मो के आधार पर किया है।"

समालोचना— पुरुषसूक्त के जाति के उत्पत्ति से सम्बन्धित इस सिद्धांत को वैज्ञानिक युग मे स्वीकारा नही जा सकता है। अनुलोम-प्रतिलोम विवाह की कल्पना भी अमान्य है। यह सिद्धांत वर्ण-व्यवस्था व जाति-व्यवस्था को एक मानकर उसकी उत्पत्ति बताता है। अत. यह सिद्धांत अवैज्ञानिक, अतार्किक व अमान्य है।

2. धार्मिक सिद्धांत— जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति के निम्नलिखित दो धार्मिक सिद्धान्त हैं—

होकार्ट का मत— होकार्ट के मत मे सम्पूर्ण जाति व्यवस्था का उद्‌गम धार्मिक क्रियाओं एवं कर्मकाण्डों से सम्बन्धित है। होकार्ट कर्मकाण्डों से सम्बन्धित विभिन्न क्रियाओं को प्रवित्रता के आधार पर उच्च और निम्न स्तरो में विभाजित करते है। आपके अनुसार प्रारम्भ में ही भारत मे धर्म का प्रभाव अत्यधिक था, अनेक धार्मिक कृत्यों को करने वाले अनेक समूह थे जैसे पुरोहित यज्ञ-हवन आदि के कार्य करते थे, तथा पुष्पादि लाने का कार्य माली करते थे सामान्य सेवा के लिए कहार आदि थे। होकार्ट ने इस आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि धार्मिक क्रियाओं के आधार पर समाज अनेक समूहों मे विभाजित हो गया और फिर उनके द्वारा किए जाने वाले धार्मिक कार्यों की पवित्रता के अनुरूप उसकी सामाजिक स्थिति का निर्धारण हुआ जो वंशानुक्रम से एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तातरित होने लगा।

सेनार्ट के अनुसार, जाति-व्यवस्था के अंतर्गत भोजन, विवाह व सामाजिक सहवास से सम्बन्धित प्रतिबन्ध जाति की उत्पत्ति के आधार हैं। इनका मानना है कि भारत में आर्यों के आक्रमण के बाद, प्रजातीय-मिश्रण बढ़ जाने से विशुद्धता का स्तर वर्गों में विभक्त हो गया। एक ओर वे व्यक्ति थे जो अपनी वंश परम्परा के आधार पर विशुद्ध होने का दावा करते थे तो दूसरी ओर कुछ व्यक्ति परम्परागत व्यवसाय को विशुद्धता का आधार मानते थे। सेनार्ट का मत है कि पुरोहित का कार्य करने वाले व्यक्ति सबसे अधिक सगठित थे और उन्होने अपनी नैतिक शक्ति के दबाव से सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया था। इस प्रकार धार्मिक पवित्रता के अनुसार ही विभिन्न समूहो को एक विशेष सामाजिक स्थिति प्राप्त हुई।

समालोचना— होकार्ट और सेनार्ट जाति-व्यवस्था को केवल धार्मिक आधार पर ही स्पष्ट करते है लेकिन यह केवल कर्मकाण्डो से ही सम्बन्धित नही है वरन् सामाजिक-व्यवस्था से भी सम्बन्धित है। होकार्ट के विचारों से सहवास, खान-पान और अन्तर्विवाह सम्बन्धी निषेधों का कोई कारण स्पष्ट नहीं होता। इस प्रकार होकार्ट और सेनार्ट दोनों के मतों के आधार पर धर्म को ही उत्तरदायी माना गया है जो जाति की उत्पत्ति का एकांगी पक्ष है। अन्य पक्ष भी महत्त्वपूर्ण हैं जिनकी पूर्ण अवहेलना की गई है।

3. प्रजातीय सिद्धांत— अनेक विद्वान प्रजातीय मिश्रण को जाति प्रथा की उत्पत्ति का कारण मानते हैं। इनमें घुर्ये, रिजले, मजूमदार, एन.ए. दत्ता प्रमुख विचारक है।

घुर्ये के अनुसार भारत में आर्य लोग ईसा के करीब 2500 वर्ष पूर्व आए और यहाँ के मूल निवासियों पर विजय प्राप्त करके उन्हें दास या दस्यु कहा तथा स्वयं को धार्मिक पवित्रता व विजय के गर्व के कारण वहाँ के मूल निवासियों से दूर रखा। भारत मे आने के पश्चात् आर्य लोगों ने सर्वप्रथम यहाँ के आदिवासियों से बने शूद्रों से विवाह करने पर कठोर प्रतिबंध लगा दिए और उन्हे धार्मिक पूजा आदि करने की आज्ञा नहीं दी। इस प्रकार जाति व्यवस्था आर्यों के उन प्रयत्नों का परिणाम है जिनके द्वारा वे भारत के मूल निवासियों को ब्राह्मण सभ्यता के धर्म तथा सामाजिक ससर्ग से अलग रखना चाहते थे। घुर्ये जाति व्यवस्था का प्रारंभिक स्त्रोत आर्यों और द्रविडो की प्रजातीय भिन्नता मानते थे यद्यपि उसके अतिरिक्त भी अन्य महत्वपूर्ण कारकों को स्वीकार किया गया है।

हर्बर्ट रिजले ने प्रजातीय मिश्रण एवं अनुलोम विवाह को जाति की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी माना है। आपके मत में इसका प्रारम्भ आर्यों की उस शाखा से हुआ जिसने गिलगिट और चिवाल के रास्ते भारत में आकर यहाँ के मूल निवासी द्रविडो को परास्त किया था। रिजले का कहना है कि विश्व के इतिहास में जहाँ कहीं एक जनसमूह ने दूसरे जनसमूह पर आक्रमण करके उन्हे परास्त किया है वहाँ के विजेताओं ने हारे हुए लोगों की स्त्रियों को तो पत्नी के रूप मे स्वीकार कर लिया किन्तु अपने समूह की स्त्रियों को हारे हुए लोगो के संपर्क मे जाने पर प्रतिबंध लगाए हैं। इस प्रकार रक्त की शुद्धता और वर्ण-संकरता के आधार पर विभिन्न समूहों के बीच ऊँच-नीच की भावना जन्म लेती रही।

मजूमदार का मानना है कि आर्य जब भारत में आए तो उससे पूर्व हो तीन वर्ग ऐसे थे जो परस्पर विवाह नहीं करते थे। भारत मे आने पर द्रविडो को उन्होंने निम्न श्रेणी मे रखा। आर्यों के आगमन के पश्चात् भी समय-समय पर अनेक अन्य प्रजातीय समूह आक्रमणकारी के रूप में आते रहे जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न प्रजातीय समूहों के परस्पर सम्बन्धो और सांस्कृतिक संघर्षों के कारण भारत में अनेक सामाजिक समूह निर्मित हो गए जिन्होंने जातियो का रूप ग्रहण किया।

समालोचना— प्रजातीय मिश्रण को जाति की उत्पत्ति का महत्त्वपूर्ण कारक माना जा सकता है किन्तु हट्टन के अनुसार एकमात्र यही कारण नहीं है, अन्य कारक भी इसके लिए उत्तरदायी हैं, जैसे— खान-पान, छुआछूत से सम्बन्धित निषेध प्रजाति में नहीं है किन्तु इनको जाति में महत्त्वपूर्ण आधार माना जाता है। अतः कहा जा सकता है कि प्रजातिगत आधार ही एक मात्र कारण जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति का नहीं हो सकता।

4. व्यावसायिक सिद्धांत— इस सिद्धांत के जन्मदाता नेसफील्ड हैं। डालमैन व ब्लंट ने भी व्यावसायिक आधार को कारण माना है। नेसफील्ड के अनुसार विभिन्न प्रकार के व्यवसायो पर विभिन्न जातियो में ऊँच-नीच का भेदभाव आधारित है। उच्च व्यवसाय करने वाली जातियो को सामाजिक संरचना में ऊँचा स्थान तथा निम्न व्यवसाय करने वाली जातियो को निम्न स्थान दिया गया। जिस समूह ने विशेष ज्ञान के आधार पर धर्म से सम्बन्धित कार्य किया वह ब्राह्मण कहलाए। प्रशासन सम्बन्धी कार्य संभालने मे लगे रहे समूह क्षत्रिय कहलाए। इसी प्रकार वैश्य और शूद्र भी व्यवसाय के आधार पर बने। डालमैन व ब्लंट के मत मे भी भारतीय समाज में व्यावसायिक विभाजन के उत्पन्न होने से जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति हुई है। एक ही व्यवसाय मे लगे परिवार समान

हितों के कारण संगठित हो गए और व्यावसायिक संघ बन गए और व्यावसायिक ज्ञान पिता से पुत्र को हस्तांतरित होने लगा। इस प्रकार व्यावसायिक संघों ने जाति-व्यवस्था को जन्म दिया है।

समालोचना— हट्टन इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका मानना है कि व्यावसायिक संघ तो सम्पूर्ण विश्व में बने हैं लेकिन वहाँ इसका आधार जाति नहीं रही। मजूमदार का मानना है कि प्रजाति को महत्त्वपूर्ण कारण माना जा सकता है जिसकी यह सिद्धांत अवहेलना करता है अत. व्यवसाय को जाति की उत्पत्ति का कारण नहीं माना जा सकता।

5. ब्राह्मणों की चतुर युक्ति या राजनैतिक सिद्धांत— घुर्ये और अब्बे डुब्वाय का मानना है कि *जाति प्रथा राजनीति एवं ब्राह्मणों की चतुर युक्ति का परिणाम है। ब्राह्मणो ने अपने कुल और सम्मान को बनाए रखने के लिए ही जाति प्रथा को जन्म दिया। आर्य संस्कृति में ब्राह्मणों का प्रभुत्व था।* आर्यों ने जब द्रविड़ों को परास्त किया तब उन्होने अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिये स्वयं को 'द्विज' कहा और यहाँ के मूल निवासियों को 'दास' या 'शूद्र' कहा। बाद में स्वयं को ब्राह्मण कहना प्रारम्भ कर दिया और वैदिक कर्मकाण्डों की पवित्रता को बनाए रखने की इच्छा से अनेक ऐसे नियम बना दिए जिससे शूद्रों के साथ उनका मिश्रण न हो सके। इस प्रकार जाति की उत्पत्ति का श्रेय ब्राह्मणों की चतुरबुद्धि को दिया जा सकता है। आर्य संस्कृति मुख्यत. गंगा के मैदान में पनपी और जाति के मुख्य आधार भी इसी भाग में उदित हुए हैं।

समालोचना— केवल ब्राह्मण वर्ग को जाति की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी नहीं माना जा सकता बल्कि अन्य कारक भी इसके उत्तरदायी हो सकते हैं। यह तो भारत में अति प्राचीन काल से चली आ रही योजना है। वास्तव में जाति व्यवस्था एक सामाजिक व्यवस्था है जिसे केवल एक समूह की संस्कृति के आधार पर नही समझा जा सकता है।

6. आदिम संस्कृति या 'माना' का सिद्धांत— इस सिद्धांत के प्रतिपादक हट्टन हैं। उन्होने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के तीन पक्षो पर विचार किया है— (1) व्यवसाय का आनुवंशिक रूप, (2) विवाह, खान-पान तथा सामाजिक सहवास तथा (3) जातियों में ऊँच-नीच की भावना। हट्टन ने भारतीय जाति व्यवस्था की उत्पत्ति जानने के लिए विभिन्न जातियों में पाए जाने वाले विवाह, खान-पान आदि निषेधो को समझने के लिए 'माना' का सहारा लिया। 'माना' एक अलौकिक रहस्यमयी एवं अवैयक्तिक शक्ति है जो प्रत्येक वस्तु मे भिन्न-भिन्न मात्रा में पाई जाती है। यह वह जीवन शक्ति है जो स्पर्श से एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में जाकर उसका हित अथवा अहित कर सकती है। *अन्य शक्तियों एव समूहो के 'माना' से बचने के लिए अन्तर्विवाह की प्रथा, सामाजिक सहवास पर रोक, छुआछूत, खान-पान आदि पर विचार प्राम्भ हुए क्योंकि 'माना' में विश्वास करने वाले लोग अपरिचित व्यक्तियो के स्पर्श से बचते हैं।*

आर्य जब भारत मे आए तो उनके सामाजिक व राजनैतिक प्रभाव ने ऊँच-नीच के भेदभाव को पनपाया और 'माना' की शक्ति के आधार पर भारत के मूल निवासियो में अनेक निषेध पहले से ही विद्यमान थे। कालातर मे भौगोलिक पृथक्करण, खान-पान सम्बन्धी निषेध, 'माना' में विश्वास, विभिन्न प्रजातियो का सघर्ष आदि सभी ने इसमे सहयोग दिया लेकिन जनजातीय समूहो मे पाई जाने वाली 'माना' की धारणा और आर्यों का सामाजिक-राजनैतिक प्रभाव जातीय उत्पत्ति के लिए महत्त्वपूर्ण है।

बार जाति शब्द का प्रयोग मिलता है। जाति का अर्थ वर्ण अथवा वर्णों के उप-समूहों से लगाया जाता था। इस युग में ब्राह्मणों और क्षत्रियों में बहुत संघर्ष हुआ था। प्रथम बार, उपनिषदों में हिन्दूधर्म के मुख्य तत्त्वों—कर्म, माया, पुनर्जन्म, आत्मा, परमात्मा, मोक्ष आदि का वर्णन मिलता है। यज्ञ करने वाले ब्राह्मण विशिष्ट वर्ग बन गए। केवल ब्राह्मणों को ही यज्ञ करने, संस्कार करने तथा शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था। इनको और भी अनेक विशेषाधिकार प्रदान किए गए। ब्राह्मणों की हत्या को महापाप कहा गया। ऐसी मान्यता थी कि जो इनकी सम्पत्ति छीनेगा उसका नाश हो जाएगा। धार्मिक कृत्य करने वाले होने के कारण ब्राह्मणों के विशेषाधिकार तथा शक्तियाँ बढ़ती चली गईं। क्षत्रियों ने समय-समय पर इनका विरोध किया। बाद मे ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने विशेषाधिकारों का उपयोग किया तथा वैश्य और शूद्र को इनसे वंचित कर दिया। इससे इनकी स्थिति निम्न हो गई। शूद्रों की स्थिति मे अधिक गिरावट आई। शूद्र काले रंग के माने जाते थे। इनका उपनयन संस्कार नहीं होता था। इनको शिक्षा, तपस्या तथा यज्ञ करने का अधिकार नहीं था। इनका सम्पत्ति रखने का अधिकार भी छीन लिया गया। शूद्र केवल पैशाच विवाह ही कर सकते थे। शूद्रों को ग्राम के बाहर रखने की व्यवस्था की गई। इनके छू जाने पर द्विज जातियों को स्नान करना आवश्यक हो गया। पवित्रता और अपवित्रता की भावना एवं छुआछूत की धारणा विकसित होने लगी। उच्च जाति के लोग निम्न जातियों में विवाह कर सकते थे। अनुलोम विवाहों का प्रचलन बढ़ा लेकिन प्रतिलोम विवाह (शूद्र जाति का उच्च जाति में विवाह) निषिद्ध था। शूद्र यज्ञ नहीं कर सकते थे। जो जिस वर्ण का है वह अपने ही वर्ण का व्यवसाय कर सकता है। दूसरे वर्ण के व्यवसाय करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इस प्रकार उत्तर-वैदिक काल में जाति के लक्षण—विवाह, व्यवसाय, खान-पान, पवित्रता-अपवित्रता, ऊँच-नीच, छुआछूत आदि पनपे। जाति प्रथा इस काल में प्रारम्भिक अवस्था में देखी जा सकती है।

3. धर्मशास्त्र काल—घुर्ये ने अपनी पुस्तक "जाति, वर्ग और व्यवसाय" मे लिखा है, "तीसरा काल धर्म-शास्त्र काल कहा जा सकता है जिसका अन्त ईसा की 10 वी 11 वी शताब्दी में होता है।" घुर्ये के अनुसार धर्मशास्त्र काल ईसा की तीसरी शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक मान सकते है। इस काल मे अनेक संहिताएँ और स्मृतियाँ— याज्ञवल्क्य संहिता, विष्णु संहिता, पाराशर संहिता, नारद स्मृति आदि की रचना हुई थी। इन रचनाओ मे सभी वर्णों के सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि कर्त्तव्यों तथा अधिकारो को निश्चित किया गया है। घुर्ये का निष्कर्ष है कि जो कुछ उत्तर-वैदिक काल मे जाति के लक्षण स्पष्ट हुए थे उन्हें इन धर्मशास्त्रों ने स्थायित्व प्रदान किया। इस काल मे ब्राह्मणों को दान देने तथा कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर जोर दिया गया। इन सिद्धांतो ने समाज मे ब्राह्मणो की स्थिति ऊँची की जिससे जाति-प्रथा भी अधिक कठोर हो गई।

समाजशास्त्रियो ने इस काल के साहित्य का अध्ययन और विश्लेषण करके स्पष्ट किया है कि इस काल मे अनेक विधान ऐसे बने हैं जो जाति प्रथा के बन्धनो को कार्यान्वित करने मे प्रभावशाली रहे। इन विद्वानो ने उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि जाति के लक्षण इस काल मे अधिक कठोर रूप में देखे जा सकते है। धार्मिक ग्रंथों में ब्राह्मणों को उच्चतम श्रेणी में स्थापित करने की वकालत की गई है। विष्णु ने इन्हें भगवान और मानव के बीच की कड़ी बताया है तो मनु ने ब्राह्मणो को सृष्टि का सम्राट कहा है। 'सभी वर्गों को ब्राह्मणो की सेवा करनी चाहिए' का उल्लेख मिलता है। इस काल मे लोगो को अपने जातिगत व्यवसायो को करने का नियम था। फिर भी अन्य जातियो के व्यवसाय भी चुने जाते थे। वर्णों मे विवाह का नियम थोड़ा कड़ा हो गया था। सभी वर्ण आपस मे विवाह कर सकते थे। परन्तु शूद्र स्त्री को धार्मिक अधिकार नही थे। अन्तर्वर्ण विवाहो के कारण जातियों की

संख्या मे वृद्धि हुई। एक ओर ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ तथा उच्चतम वर्ण का बताया गया है वहीं पर शूद्र वर्ण को निम्नतम स्थापित किया गया है। शूद्रो पर अनेक प्रतिबन्ध लगाए गए तथा इनकी स्थिति और निम्न हो गई। स्मृतिकारों ने जैन और बौद्ध धर्मों के कारण शूद्रो के प्रति थोडी उदारता अवश्य दिखाई थी। इस काल मे जाति से सम्बन्धित नियम तथा विधान अधिकतम बने थे।

गुप्तकाल में जातियो में भिन्नता स्पष्ट हो गई थी। विवाह, धार्मिक कृत्यो, खान-पान आदि अन्तर्जातीय सम्बन्धों को नियंत्रित और सचालित करने लगे थे। जाति के नियमो को तोड़ने वालो को जाति से निकाल दिया जाता था। स्त्रियों की स्थिति मे गिरावट आना प्रारम्भ हो गया था। स्त्रियाँ पुरुषों से निम्न मानी जाने लगीं। स्त्रियो को सम्पत्ति के अधिकार से वंचित कर दिया गया। विधवा-विवाह निषिद्ध हो गया तथा सती-प्रथा का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था। प्रस्थिति अर्जित से प्रदत्त तथा जन्म पर आधारित हो गई थी। भारत एक बन्द व्यवस्था वाला समाज बन गया था। जाति जन्म के द्वारा निश्चित होने लगी तथा विवाह और सामाजिक सम्बन्धो पर अनेक प्रतिबन्ध लादे गए। इतना सब कुछ होते हुए भी नियमो में गतिशीलता तथा शिथिलता के उदाहरण देखने को मिलते हैं।

(4) मध्यकाल— यह काल 11वीं शताब्दी से लेकर 17वीं शताब्दी तक माना जाता है। हिन्दू समाज पर मुसलमानों के प्रभाव के कारण जाति प्रथा के बन्धन बहुत कठोर हो गए थे। क्षत्रियों ने अपनी राजनैतिक तथा शासकीय सत्ता खो दी थी। ब्राह्मण मन्दिरो का संचालन करते थे। धार्मिक उत्सव करवाते, अध्ययन तथा अध्यापन का कार्य करते थे। अनेक प्रकार से हिन्दू समाज की सेवा करते थे तथा वैयक्तिक कानूनो को लागू करते थे। क्षत्रिय जमींदार थे। अपने हितो, पदों और सम्मान के लिए विदेशियो से युद्ध करते थे। वैश्य व्यापार, लेन-देन, और दस्तकारी के व्यवसाय मे सलग्न थे। ये लोग सम्पन्न थे। शूद्र सामाजिक प्रतिबन्धो के कारण पहिले जैसे थे। व्यवसाय, क्षेत्रीय भिन्नताओं और विवादो के कारण अनेक जातियाँ, उप-जातियाँ और उप-जातियाँ बन गईं। जाति प्रथा ने किसी अन्य वैकल्पिक व्यवस्था को कभी भी उभरने नहीं दिया था। समय-समय पर जाति प्रथा ने आवश्यकतानुसार अपने विधानों तथा नियमों में सशोधन कर के परिस्थितियो से समायोजन भी किया था। इस काल में जाति व्यवस्था के नियम बहुत सुदृढ और कठोर हो गए थे।

5. ब्रिटिश काल— भारत मे यह काल ब्रितानिया राज की स्थापना से प्रारम्भ होता है तथा सन् 1947 मे समाप्त होता है। प्रारम्भ मे ब्रितानिया सरकार ने जाति-प्रथा को अनेक प्रकार से समर्थन दिया। इस काल मे ब्राह्मणवाद बहुत प्रभावशाली हो गया था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने मुसलमानो से राजनैतिक सत्ता छीनी थी। इसलिए वह हिन्दुओ का समर्थन चाहने के कारण जाति व्यवस्था के प्रतिबन्धों को छेड़ना नहीं चाहती थी। वह देश के प्रमुख— 'ब्राह्मणों'— का विश्वास प्राप्त करना चाहती थी। ब्रितानिया सरकार ने आमदनी मे दिलचस्पी दिखाई। उसने न्यायपूर्ण शासन तथा नीतियो मे कोई रुचि नहीं ली। जाति प्रथा के प्रतीक एव केन्द्र मन्दिर थे जहाँ से सरकार को आय भी होती थी। इस प्रकार जाति को विदेशी सरकार का समर्थन मिला और ब्राह्मणो का धार्मिक एव सामाजिक प्रभुत्व यथावत् बना रहा। न्यायाधीशों और वकीलों को ब्राह्मणवादी नियम की जानकारी देने के लिए वारेन हेस्टिंग्स ने ब्राह्मण विद्वानो की सहायता से संस्कृत ग्रन्थो के आधार पर नियमो की एक सहिता तैयार करवाई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी कराया गया। इससे जाति प्रथा को स्पष्ट आर्थिक और राजनैतिक महत्त्व मिला।

नर्मदेश्वर प्रसाद के अनुसार ब्रिटिश शासन काल में सम्पूर्ण देश में जाति-व्यवस्था की जड़ जम गई थी। आपने एक स्थान पर लिखा है, "वस्तुत समय पाकर ब्राह्मण धर्म पुन इतना प्रबल हो गया कि ब्राह्मण विधान को स्वीकार किए बिना सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करना असंभव था।" जितने भी सुधार आन्दोलन चले, वे सब अलग जातियाँ बन गईं। अंग्रेज अपने साथ नया विज्ञान और नए यंत्र और नई उत्पादन प्रणाली लाए। भारत में अनेक धर्म सुधार चले। इनमें प्रमुख ब्रह्मसमाज और आर्य-समाज है। ब्रह्म-समाज सभी प्रकार के जाति भेद तथा प्रतिबन्धों का विरोध करता है। ब्रह्म-समाज ने हिन्दू समाज को अन्धविश्वासो और जाति भेद से बाहर निकालना चाहा। यह आन्दोलन शहर के पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित रहा। आर्य-समाज वेद को स्वीकार करता है। यह मंत्रों को स्वीकार करता है लेकिन कर्मकाण्ड और स्मृति तथा पुराणों की महिमा नही मानता। इसका उत्तर भारत में अच्छा प्रभाव पड़ा। यह हिन्दू धर्म को सुधारना चाहता था। रामकृष्ण-आन्दोलन रामकृष्ण के वचनों पर आधारित है। यह सभी धर्मों में समन्वय स्थापित करना चाहता है। रामकृष्ण परमहंस जाति-व्यवस्था को स्वीकार भी करते थे और अस्वीकार भी। रानाडे, गोखले, तिलक और गाँधी समाज सुधारकों ने जाति को समाप्त करने का प्रयास किया। रानाडे का मत था कि राजनीतिक आन्दोलन से पहिले समाज-सुधार किया जाना चाहिए जबकि गोखले और तिलक का मत था कि पहिले विदेशी शासन को हटाना चाहिए फिर समाज-सुधार। गाँधीजी ने इन दोनों मतो में समन्वय स्थापित किया। स्वतंत्रता आन्दोलन में जाति का प्रभाव कम था। सब जातियो ने मिलकर विदेशी शासन के विरुद्ध संघर्ष किया। सुधार आन्दोलन के कारण जातियों के पारस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन हुए है।

अनेक नवीन कारकों और आन्दोलनों का प्रभाव जाति प्रथा पर पड़ा। संचार और यातायात के साधन, औद्योगीकरण, नगरीकरण आदि ने व्यवसायो के विकल्प प्रदान किए। इससे जातिगत व्यवसायों के प्रतिबन्ध शिथिल पडे। लोग जातियों के अपने वंशगत व्यवसाय छोड़कर अन्य व्यवसाय ग्रहण करने लगे। नगरो में अधिक परिवर्तन आए। अन्तर्जातीय विवाह फिर होने लगे। अंग्रेजी शासन काल में जाति पचायत के कानूनी उत्तरदायित्व को समाप्त किया गया था तथा विवाह, तलाक, न्याय सम्बन्धी कार्य न्यायालय को दे दिए गए। पश्चिमी-शिक्षा, व्यक्तिवाद, उदारता के मूल्यों ने भारत मे व्यक्तिवाद तथा वैयक्तिक स्वतंत्रता का प्रसार किया। ब्रिटिश काल के अन्त में जाति प्रथा को अनेक कारकों ने प्रभावित किया तथा जाति के व्यवसाय, खान-पान, विवाह आदि के कारको में बदलाव की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई थी।

6. स्वातन्त्र्योत्तर काल (सन् 1947 के बाद)— भारत सन् 1947 मे स्वतंत्र हुआ तथा 26 जनवरी, 1950 को धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना हुई। इस दिन गणतंत्र संविधान सारे भारत मे लागू हो गया। कानून के आधार पर जातीय भेदभाव समाप्त कर दिए गए। निम्न जातियो तथा अन्य पिछड़े वर्गों को सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक आदि संरक्षण प्रदान करने के अनेक प्रावधान घोषित किए गए। अस्पृश्यता को कानूनन अपराध घोषित कर दिया गया। प्रदत्त प्रस्थिति को अर्जित प्रस्थिति मे बदल दिया गया। जजमानी प्रथा समाप्त होने लगी। निम्न जातियाँ संस्कृतिकरण के द्वारा ऊपर उठने लगीं। सभी जातियो के सदस्यों को मतदान करने का अधिकार प्रदान किया गया। जाति प्रथा को समाप्त करने के लिए अनेक संवैधानिक कार्य किए गए है। एक-विवाह, अन्तर्जातीय-विवाह, तलाक, विधवा-पुनर्विवाह आदि के लिए अधिनियम बनाए गए है। ये अधिनियम जाति प्रथा के बन्धनो के विरुद्ध हैं। इससे जाति-प्रथा वर्ग-व्यवस्था मे बदलने लगी है। नगरो तथा महानगरो मे जाति के सम्बन्ध मे अधिक परिवर्तन देखे जा सकते है।

जाति : एक विचारधारा

जाति व्यवस्था को विद्वानों ने अनेक दृष्टिकोणों से समझने तथा समझाने का प्रयास किया है। एम.एन. श्रीनिवास, मेकिम मैरियट, लुई ड्यूमा, आन्द्रे बिताई आदि ने इसे एक विचारधारा के रूप में प्रस्तुत किया है। इन विद्वानों की मान्यता है कि हमें जाति व्यवस्था की वैचारिक-सांस्कृतिक विशेषताओं तथा आधारो की विवेचना करनी चाहिए। इनका कहना है कि जाति-प्रथा एक विचारधारा है। यह एक ऐसी संस्तरण की व्यवस्था हैं जिसका स्वय का एक दर्शन है। यहाँ हम जाति व्यवस्था की विचारधारा या सिद्धान्त का विवेचन करेंगे।

ड्यूमा की मान्यता है कि जाति व्यवस्था को आर्थिक या राजनैतिक दृष्टिकोण से नहीं समझना चाहिए। *अगर समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन करना है तो हमें इसका आधार वैचारिक-सांस्कृतिक लेना होगा।* भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद के एक निबन्ध मे सुरजीत सिंह ने लिखा है कि *जाति-व्यवस्था के अध्ययन में 'पवित्रता-अपवित्रता पर आधारित सोपान की अवधारणा'* पर विशेष जोर दिया गया है। ड्यूमा लिखते हैं कि जाति-व्यवस्था मे प्रत्येक वस्तु को *पवित्र और अपवित्र के संदर्भ मे देखा जा सकता है। इसे ड्यूमा ने 'द्विचर-प्रतिकूलता' कहा है।* आप जाति के स्तरीकरण मे पवित्रता और अपवित्रता के विचार को प्रमुख मानते है। इन्होंने लिखा है कि *जाति-व्यवस्था सर्वप्रथम विचारों और मूल्यों की व्यवस्था है। यह औपचारिक, विस्तृत,* विवेकपूर्ण एव बौद्धिक रूप में एक व्यवस्था है। पवित्रता ही अपवित्रता को नियत्रित, निर्देशित और संचालित करती है। *पवित्रता उच्च, सर्वश्रेष्ठ, धार्मिक एवं पावन है। अपवित्रता निम्न, निकृष्ट* साधारण और अपावन है। ये दोनों मूल्य पवित्र-अपवित्र सापेक्ष हैं। ड्यूमा की मान्यता है कि जाति *व्यवस्था में जातियों के पद सोपान को पवित्र-अपवित्र के संदर्भ में ही समझा जा सकता है।* सर्वाधिक पवित्र होने के कारण ब्राह्मण जाति उच्चतम है तथा सर्वाधिक अपवित्र होने के कारण अस्पृश्य जातियाँ निम्नतम हैं। जाति प्रथा में विद्यमान सदस्यता, विवाह, व्यवसाय, खान-पान आदि प्रतिबन्ध भी छुआ-छूत के नियम पर आधारित हैं। ब्राह्मणो का कार्य पूजा-पाठ, प्रार्थना-अर्चना, धार्मिक अनुष्ठान करना आदि होने के कारण उनका स्थान उच्च है तथा निम्नतम जातियो का कार्य साफ-सफाई करना, कूड़ा करकट उठाना, चमडे का काम करना, मरे पशुओ को हटाना, उनका चर्म निकालना आदि होने के कारण वह अपवित्र हैं तथा पद-सोपान मे निम्नतम स्तर पर हैं।

आन्द्रे बिताई ने भी जातियो के संस्तरण की व्याख्या पवित्रता और अपवित्रता के संदर्भ मे की है। आपका कहना है, "यह कहा गया है कि पवित्रता का सिद्धान्त भारतीय समाज के मूल्यांकन और सस्तरण को समझने मे चाभी का कार्य करता है। वस्तुओ, जीवो, घटनाओ, स्थान, दशाओं, क्रियाओ, व्यक्तियो, तथा समूहो मे पवित्रता तथा अपवित्रता की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है और इसी भिन्नता के आधार पर उनमे सस्तरण पनपता है।" हिन्दू समाज मे पवित्रता तथा अपवित्रता का उच्चता और निम्नता के साथ सीधा सम्बन्ध है। जो जितना अधिक पवित्र है वह समाज में उतना ही उच्च है तथा जो जितना अपवित्र है समाज में उसका स्थान उतना ही निम्न है।

जाति प्रथा भारत के संदर्भ में दो स्तरो पर कार्य करती है। लघु स्तर पर विभिन्न जातियाँ परस्पर एक-दूसरे भिन्न परन्तु सम्बन्धित हैं। यह सम्बन्ध पवित्रता के गुण पर आधारित है। जाति विचार और मूल्य पर आधारित व्यवस्था है। इसी गुण के कारण जाति वृहद् स्तर पर भारतीय समाज को स्थिर रख सकी है। लेकिन समाज के अन्दर परिवर्तन देखे जा सकते है। जाति एक हित समूह भी है। *एक जाति के सदस्य विभिन्न क्षेत्रों में अपने हितो को सम्बन्धित पाते है।* इसी विचारधारा ने

जातिवाद को बढ़ावा दिया है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों मे एक जाति नाम के अनेक समूह हैं। उनकी संस्कृति, भाषा, रीति-रिवाज, खान-पान आदि भिन्न हैं। फिर भी वे अपने को एक पूर्वज की संताने मानते हैं। उनमें अन्य जातियों की तुलना में अधिक सहयोग एवं एकता की भावना पाई जाती है। ब्राह्मण और क्षत्रियों मे विवाह का विरोध अधिक होता है परन्तु एक क्षेत्र के अंत विवाही ब्राह्मण जातियों में विवाह का विरोध कम होता है। अन्ततः यह निष्कर्ष निकलता है कि जाति प्रथा एक विचारधारा है वह धार्मिक उच्चता-निम्नता मूल्यों, पवित्रता-अपवित्रता, पाप-पुण्य, कर्म, छुआछूत, आदि पर आधारित है।

जाति के कार्य

हट्टन ने जाति के अनेक कार्यों का वर्णन किया है जिन्हें दो भागों में विभाजित किया जा सकता है– (1) व्यक्तिगत जीवन में कार्य, (2) सामाजिक जीवन में कार्य। इन्हें इस प्रकार वर्णित किया जा सकता है–

1. व्यक्तिगत जीवन में कार्य– इसके अन्तर्गत वे कार्य सम्मिलित है जो वैयक्तिक स्तर पर व्यक्ति के लिए सहायक सिद्ध होते हैं। इनमें निम्नलिखित कार्य हैं–

1.1 मानसिक सुरक्षा– जाति के कारण सदस्यो को मानसिक सुरक्षा प्राप्त होती है। प्रत्येक व्यक्ति इस विषय मे आश्वस्त रहता है कि उसे क्या-क्या धार्मिक कार्य करने है? किस समूह मे विवाह करना है ? किसके साथ सम्बन्ध स्थापित करने है? आदि-आदि। इस आश्वस्ति से व्यक्ति को मानसिक स्थिरता प्राप्त होती है। यहाँ तक कि परिवार से सम्बन्धित अनेक नियमों की निश्चितता के कारण वैयक्तिक जीवन शान्तिपूर्ण बना रहता है, क्योंकि जन्म से ही उन्हे स्थिर पर्यावरण प्राप्त होता है।

1.2. सामाजिक सुरक्षा– जाति-प्रथा अपने सदस्यों को सामाजिक सुरक्षा भी प्रदान करती है। जैसे कभी किसी प्रकार की विपत्ति आने पर जाति के सदस्य सदैव उसकी सहायता को तत्पर रहते है। इस प्रकार जाति अपने सदस्यो की आकस्मिक विपत्तियों के विरुद्ध उन्हें सुरक्षा प्रदान करती है, साथ ही सदस्यो की सामाजिक स्थिति को भी निश्चित करती है। इसी कार्य के आधार पर किंग्स्ले डेविस का मानना था कि, "प्रदत्त पदो की व्यवस्था व्यक्ति मे सुरक्षा की वह भावना उत्पन्न करती है जो अर्जित पदो की स्थिति में किसी प्रकार सम्भव नही है।"

1.3. व्यवसाय का निर्धारण– व्यवसाय जाति द्वारा निश्चित होते है और पीढी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित भी होते है, जिसके परिणामस्वरूप व्यवसाय में निपुणता विकसित होती रहती है। इससे प्रत्येक सदस्य को व्यावसायिक सुरक्षा भी प्राप्त होती है– मोची, धोबी, कुम्भकार, चर्मकार, स्वर्णकार आदि आर्थिक दृष्टि से स्वय को सुरक्षित अनुभव करते है।

1.4. व्यवहारों पर नियन्त्रण– जाति द्वारा स्थापित प्रतिबन्ध इतने प्रभावशाली होते है कि व्यक्ति के व्यवहार स्वयमेव इनसे नियन्त्रित हो जाते हैं जो बाद में जाति की प्रथा, रूढ़ि आदि का रूप ले लेते है। आत्म-नियन्त्रण के क्षेत्र में इसका योगदान इसी कारण प्रभावपूर्ण है।

2. सामाजिक जीवन में कार्य– वैयक्तिक जीवन के साथ-साथ सामाजिक जीवन में भी जाति का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इसे निम्नलिखित रूप मे स्पष्ट किया जा सकता है–

2.1 सामाजिक एकता व संरक्षण– जाति-व्यवस्था के कारण ही हिन्दू समाज में एकता व सुरक्षा विद्यमान है। भारत में अनेक प्रजातियाँ व जातियाँ रही है लेकिन अनेक जातियो के होते हुए

भी जाति समाज को एकता के सूत्र में बाँधने का कार्य करती है, जैसे—हिन्दू धर्म पर मुसलमानों व ईसाइयों द्वारा बाहर से आक्रमण किए गए लेकिन हिन्दू समाज की स्थिरता उसी रूप में निश्चल रही—इसी से इसकी प्रशंसा अनेक विद्वानों ने मुक्तकंठ से की है। गिलबर्ट ने कहा है कि भारतवर्ष की जाति प्रथा यूरोप की राष्ट्रीयता के समान है। हट्टन का भी यही मत है कि जाति-व्यवस्था भारतीय समाज को संगठित करने का कार्य करती है।

2.2 श्रम-विभाजन— जाति के आधार पर व्यक्ति अपने कार्य के प्रति प्रेम व निष्ठा की भावना रखता है। शूद्र भी अपने कर्म को महत्त्वपूर्ण मानते हैं और अपने उत्तरदायित्वों को निभाते हुए आगामी पीढ़ी को उस रूप में तैयार करते हैं। इससे श्रम का विभाजन स्वतः ही हो जाता है और व्यक्तियों में तनाव, कुण्ठा या संघर्ष की स्थिति नहीं आ पाती। इस तरह जाति व्यवस्था 'कर्म के सिद्धान्त' पर आधारित है जिसमें सभी व्यक्ति अपनी जाति द्वारा प्रदत्त कार्यों को करके सन्तोष प्राप्त कर लेते हैं और निष्ठा के साथ अपने कर्त्तव्यों को सम्पन्न करते हैं।

2.3. संस्कृति का हस्तान्तरण— जाति के द्वारा भारतीय संस्कृति की बाह्य प्रभाव से रक्षा की गई है। संस्कृति धार्मिक जीवन से सम्बन्धित होती है। जाति-व्यवस्था ने धर्म के परिवर्तित रूप के साथ बराबर अनुकूलन किया जिसके परिणामस्वरूप संस्कृति का महत्त्व बना रहा। उदाहरण के लिए अंग्रेजों के लम्बे शासन के उपरान्त भी भारतीय संस्कृति स्थिर रही तथा अपनी सांस्कृतिक विरासत को आगे की पीढ़ी को हस्तान्तरित करती रही। परिणामतः संस्कृति स्थायित्व प्राप्त कर सकी।

2.4. राजनैतिक स्थिरता— जाति प्रथा ने भारतीय समाज की राजनीति को भी प्रभावित किया है। उदाहरण के लिए, यदि आज जाति-प्रथा न होती तो भारतवर्ष ईसाई-धर्मावलम्बी ब्रिटिश राज्य का अंग बन गया होता क्योंकि ईसाइयों ने हिन्दू धर्म पर बाहर से आक्रमण किया किन्तु जाति प्रथा ने कठोर प्रतिबन्धों के कारण राजनैतिक जीवन को सुरक्षित रखा।

2.5. रक्त की विशुद्धता—जाति प्रथा ने अन्तर्विवाह की नीति को महत्त्व दिया है तथा बहिर्गोत्र के साथ विवाह पर प्रतिबन्ध लगाया है जिसके फलस्वरूप रक्त की पवित्रता बनी रही है क्योंकि अन्तर्विवाह के कारण एक जाति की सन्तानों में अपने पूर्वजों का शुद्ध रक्त पाया जाता है।

2.6. मनोरंजनात्मक कार्य— जाति व्यवस्था में परिवार के स्तर पर ही स्वस्थ मनोरंजन की व्यवस्था की जाती है जिससे सदस्य अपनी जाति तक ही सीमित रहता है वही उसकी सहयोगी संस्था है जो सभी स्तरों पर उसकी सहायता करती है।

इस प्रकार जाति के अनेक कार्य हैं जो समाज की दृष्टि से व व्यक्ति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इसे सारांश रूप में निम्नलिखित चार्ट द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।
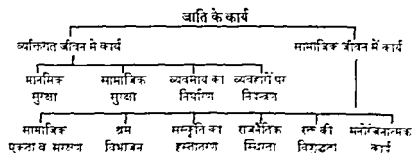
जाति प्रथा से हानियाँ (दोष)

जहाँ एक ओर जाति प्रथा ने व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं वहीं इस प्रथा से कुछ हानियाँ भी समाज को हुई हैं। जाति प्रथा की हानियों के वर्णन अनेक समाजशास्त्रियों ने किए है, जो निम्नलिखित हैं -

1. गतिशीलता में बाधक– जाति व्यवस्था में व्यक्ति को सदस्यता जन्म (प्रदत्त) के आधार पर मिलती है। जो जिस जाति में जन्म लेता है जीवन पर्यन्त उसी का सदस्य बन कर रह जाता है। इसलिए व्यक्ति अपने गुण, शिक्षा, मेहनत के द्वारा स्थिति सुधार नहीं सकता है। वह कितना ही गुणवान, ईमानदार, कर्त्तव्यपरायण हो लेकिन निम्न जाति से उच्च जाति या वर्ग में सदस्यता प्राप्त नहीं कर सकता है। इस प्रकार जाति प्रथा व्यक्ति, समूह तथा समाज की गतिशीलता में एक हानिकारक बाधा है।

2. कार्यकुशलता में बाधक– जब जाति-प्रथा में व्यक्ति को जन्म के आधार पर उच्च जाति या निम्न जाति की अपरिवर्तनीय तथा स्थाई सदस्यता मिल जाती है तो वह अपनी कार्यकुशलता की वृद्दि करने का प्रयास नहीं करता है। उच्च जाति का सदस्य तो इसलिए प्रयास नहीं करता है क्योंकि उसे निम्न जाति मे जाने का डर नही है तथा निम्न जाति का इसलिए निष्क्रिय हो जाता है क्योंकि वह उच्च जाति की सदस्यता प्राप्त नहीं कर सकता है। इस प्रकार जाति प्रथा श्रमिकों, व्यक्तियों तथा समाज के विभिन्न सदस्यो की कार्यकुशलता में बाधा बन जाती है।

3. समाज की प्रगति में बाधक– समाज तभी प्रगति करता है जब उसके सभी सदस्यो को समान रूप से विकास करने, शिक्षा प्राप्त करने, नवीन आविष्कारों को अपनाने तथा परस्पर प्रतिस्पर्धा करने की स्वतंत्रता हो। लेकिन जाति प्रथा में व्यक्ति जन्म से ही कदम-कदम पर परम्पराओ, रूढ़ियों, धर्म तथा अन्य अनेक प्रतिबन्धों से जकडा रहता है। उसे किसी प्रकार की छूट नहीं होती है। इसलिए व्यक्ति तथा समाज जाति के बन्धनों मे बँधे रहने के कारण प्रगतिशील परिवर्तन नहीं कर पाता है। पाप-पुण्य, कर्म, पवित्रता-अपवित्रता आदि प्रतिबन्धो के कारण जाति पर आधारित समाज विकास नही कर पाता है। यही कारण है कि भारत ग्राम-विकास के क्रम मे पिछड़ रहा है।

4. आर्थिक विकास में बाधक– किसी भी समाज के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है कि उस समाज के सभी व्यक्तियों को उच्च शिक्षा, व्यवसायों को चुनने की स्वतंत्रता, निष्पक्ष नियुक्तियाँ तथा योग्य व्यक्तियों का चयन, सामाजिक तथा क्षेत्रीय गतिशीलता आदि की स्वतंत्रता एव अधिकार हो। लेकिन जाति प्रथा मे ऐसी स्वतंत्रता नहीं है। जन्म के आधार पर व्यक्ति का व्यवसाय निश्चित हो जाता है। व्यक्ति को वंशानुगत व्यवसाय ही अपनाना पड़ता है। ग्रामवासी अपने ग्राम और खेत से इतने जुड़े होते हैं कि गाँव छोड़ना तथा खेती छोड़ना पाप समझते हैं। इन जातिगत मान्यताओं, प्रतिबन्धो तथा रूढ़ियों के कारण भारत में उद्योगों, कल-कारखानों, मिलों आदि में कुशल श्रमिक नहीं मिलते हैं। उच्च जाति के सदस्य निम्न स्तर का काम करना पसंद नहीं करते हैं और निम्न जाति के सदस्यो को उच्च स्तर के व्यवसाय करने का अवसर नहीं मिल पाता है क्योंकि उनका शिक्षा का स्तर उस स्तर का नहीं होता है। पदों के चयन मे भाई-भतीजावाद होने के कारण अयोग्य व्यक्तियो की नियुक्तियाँ होने के कारण कार्यकुशलता तथा आर्थिक विकास में बाधा पड़ जाती है। इस प्रकार जाति प्रथा के विभिन्न बन्धन तथा लक्षण आर्थिक विकास में अनेक प्रकार से बाधा उत्पन्न करते रहे है।

8. स्त्रियों की निम्न स्थिति— जाति प्रथा ने समय-समय पर स्त्रियों पर अनेक प्रतिबन्ध लगा कर इनकी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक स्थिति को निम्नतम बना दिया है। स्त्री-शिक्षा पर रोक, बाल-विवाह, विधवा पुनर्विवाह निषेध, व्यवसाय पर प्रतिबन्ध, घर की चारदीवारी में बन्द जीवनयापन आदि के कारण जाति प्रथा ने स्त्रियों का जीवन नरकमय बना रखा है। समाज का लगभग आधा भाग इस जाति प्रथा के कारण निम्न स्तर का जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य है।

9. विवाह की समस्याएँ— हिन्दू समाज में विवाह की अनेक समस्याएँ, जैसे— बाल-विवाह, बेमेल विवाह, दहेज, विधवा विवाह निषेध, कुलीन विवाह आदि के कारण जाति-व्यवस्था तथा उसके नियम हैं। इसने सदस्यता, व्यवसाय और विवाहों पर प्रतिबन्ध लगाकर विवाह की समस्याओं को जन्म दिया है। अन्त जातीय विवाह के कारण समाज में विवाह की समस्याओं का उग्र रूप बना है।

10. धर्म-परिवर्तन— जाति-प्रथा के दोषो के कारण अनेक जाति के सदस्यो— विशेष रूप से अस्पृश्य जाति के लोगों ने ईसाई और इस्लाम धर्म अपनाया है। जाति के प्रतिबन्धो-- शोषण, निर्योग्यता से दु खी होकर अनेक लोगों ने दूसरे धर्म अपनाए हैं। धर्म-परिवर्तन के बाद शोषित जातियो के लोगों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति में सुधार हो जाता है। इस प्रकार जाति प्रथा ने निम्न जाति के लोगों को धर्म-परिवर्तन करने के लिए मजबूर कर दिया है। धर्म-परिवर्तन की प्रक्रिया का मूल कारण जाति है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आज जाति-प्रथा में सुधार लाने की आवश्यकता है। अब समय आ गया है कि या तो जाति प्रथा को समाप्त किया जाए अथवा इसमे आमूलचूल परिवर्तन किया जाए।

जाति-व्यवस्था में परिवर्तन लाने वाले कारक

जाति व्यवस्था मे परिवर्तन लाने के लिए निम्नलिखित कारक उत्तरदायी हैं जिन्होने जाति के परम्परागत स्वरूप को विघटित किया है। ये कारक निम्नलिखित हैं—

1. औद्योगीकरण— ज्यों-ज्यों उद्योग-धन्धों में वृद्धि होती गई, कल-कारखानो का आविष्कार हुआ, अनेक लोगो को नगरो मे आकर रहना पड़ा क्योंकि अधिकाधिक समय कल-कारखानो मे कार्य करते समय लग जाता है। जब एक स्थान पर अनेक लोगो को रहना पड़ता है तो स्वाभाविक है कि उनका रहन-सहन, खान-पान साथ-साथ हो चाहे वे व्यक्ति किसी जाति के हो। औद्योगीकरण व नगरीकरण के प्रभाव ने व्यक्ति की योग्यता व तकनीकी जानकारी को प्राथमिकता दी है, चाहे व्यक्ति किसी भी जाति का हो। इससे कुशल व्यक्ति को कार्य मिला, इससे उसकी सामाजिक स्थिति मे उन्नति हुई। इस प्रकार साथ-साथ कार्य करने, भोजन करने, यात्रा करने तथा परम्परागत पेशों को त्यागकर किसी विशेष कार्य के लिए विशेष प्रशिक्षण लेने के कारण व्यक्ति जाति के प्रभाव से आगे बढ़ गया है। इस तरह औद्योगीकरण के प्रभाव के कारण जाति व्यवस्था परिवर्तित हुई है।

2. शिक्षा का बढ़ता प्रभाव— वैदिक काल में शिक्षा किसी विशेष (उच्च या ब्राह्मण) जाति तक सीमित थी तथा उसका स्वरूप भी धार्मिक ज्यादा था, शेष जातियाँ अपने परम्परागत व्यवसायों को करती थी। आधुनिक समय में शिक्षा के बढ़ते प्रभाव के कारण सभी व्यक्तियो के लिए शिक्षा अनिवार्य हो गई। विज्ञान के प्रभाव ने उसे और तार्किक बना दिया अत भारत जैसे धर्मनिरपेक्ष राज्य

में अनेक शिक्षण संस्थाएँ खुलीं जिनमें सभी बालकों को शिक्षा देना अनिवार्य हो गया है। इसके प्रभाव ने प्राचीन रूढ़ियों, परम्पराओं, धार्मिक संकीर्णता से व्यक्ति में वैज्ञानिक,तार्किक दृष्टिकोण विकसित किया है इससे वह जातीय बंधन को शिथिल करता जा रहा है। शिक्षा जाति में परिवर्तन का बड़ा सशक्त कारक है।

3. पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव– पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण जाति-व्यवस्था अनेक रूपों में परिवर्तित हुई है। भौतिकवाद, व्यक्तिवाद पाश्चात्य सभ्यता की देन है जिसमें धन का महत्त्व बढ़ा है इसी से आज जाति का महत्त्व कम हो गया है। जिसके पास धन-सम्पत्ति, आधुनिकता व पाश्चात्यता के सभी सुख-साधन हैं उस व्यक्ति का समाज आदर करता है। इस तरह भौतिकवाद ने जाति के महत्त्व को कम कर दिया है। व्यक्ति की स्वतंत्रता का महत्त्व बढ़ा है जिसने दूसरी जाति में विवाह को प्रोत्साहन दिया है, साथ ही दूसरी जाति में खान-पान, रहन-सहन भी अब प्रचलित हो गया है जिसने जाति व्यवस्था को परिवर्तित किया है।

4. धन का बढ़ता प्रभाव– प्राचीन समय में अलग-अलग जातियों के अलग-अलग व्यवसाय थे वे परस्पर एक-दूसरे की सेवा करके अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करती थीं। आधुनिक समय में प्राचीन विनिमय प्रणाली में परिवर्तन हो गया, परिणामस्वरूप धन का महत्त्व बढ़ गया। समाज में धनी व्यक्ति का सम्मान बढ़ा जिसमे धन कमाने के अवसर खोजे जाने लगे। अतः जिन व्यक्तियों को निम्न जाति का समझा जाता था आधुनिक समय में धन की अधिकता ने उन्हें भी सम्माननीय व्यक्ति बना दिया। व्यक्ति का मूल्यांकन धन-सम्पत्ति के आधार पर होने लगा। इस तरह धन के प्रभाव ने जाति व्यवस्था को शिथिल कर दिया।

5. यातायात एवं संचार के साधनों का प्रभाव– बढ़ते संचार व यातायात के साधनों के परिणाम-स्वरूप आज गतिशीलता बढ़ी है, अनेक कारखानों, उद्योगों की उन्नति हुई है, विभिन्न जातियों, धर्मों के लोगों के इधर-उधर जाने-आने से परस्पर सम्पर्क, विचार-विनिमय आदि के अवसर बढ़े है। इससे समानता की भावना का प्रादुर्भाव हुआ है, जैसे– यात्रा के दौरान सभी समान रूप से मात्र यात्री होते है इसी से वे निकट बैठते है, खाते-पीते है। इस गतिशीलता के परिणामस्वरूप जातीयता की भावना कम हुई है। आज व्यक्ति कहीं भी जाकर कोई उद्योग-व्यवसाय कर सकता है। इस प्रकार संचार-साधनों के परिणामस्वरूप भी जातीयता की भावना कम हुई है।

6. स्वतंत्रता आंदोलन– देश की स्वतंत्रता के लिए सभी भारतीय जातीयता की भावना को भुलाकर स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने के लिए तैयार हो गए थे। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में अनेक भारतीय जेल गए, सत्याग्रह मे भागीदार हुए। इस प्रकार सभी जातियों के व्यक्तियों के सामूहिक प्रयास से भारत ने स्वतंत्रता प्राप्त की। इसमें जातीयता की भावना तिरोहित हुई है।

7. धार्मिक व सामाजिक आंदोलन– राजा राममोहन राय ने दयानंद सरस्वती, रानाडे, केशव चन्द्र सेन आदि के साथ जाति प्रथा का विरोध किया और इसके लिए अनेक आंदोलन किए जिनमें भेदभाव, छुआछूत, पर्दा-प्रथा, स्त्रियों की शिक्षा, ब्राह्मणवाद आदि का बड़ा विरोध सम्मिलित था। आर्य-समाज ने धार्मिक आधार पर, ब्रह्म-समाज ने समानता के आधार पर भी आंदोलन किए और जाति व्यवस्था को सुधारने का प्रयास किया। परिणामस्वरूप दूसरी जाति में विवाह-सम्बन्ध स्थापित किए जाने लगे। महिलाएँ भी आंदोलन में भागीदार बनीं और शिक्षा का प्रचार-प्रसार महिलाओं में बढ़ा। पुरुषों के साथ महिलाओं की भागीदारी राजनैतिक, सामाजिक स्तर पर भी होने लगी। वे पुरुषों के साथ मिलकर कार्य करने लगीं इन सबका परिणाम यह हुआ कि जाति प्रथा का

महत्व घटा। इस प्रकार धार्मिक व सामाजिक आंदोलनों के प्रभाव ने भी जाति में परिवर्तन किए हैं।

8. प्रजातंत्र की स्थापना— स्वतंत्रता प्राप्ति के अनन्तर भारत में प्रजातंत्र की स्थापना हुई। भारत का नवीन संविधान बना जिसमें जन्म, लिंग, धर्म, रंग आदि के आधार पर कोई भेद-भाव न रखने की बात कही गई है। इसी का परिणाम है कि आज शूद्र जाति का व्यक्ति भी कुएँ पर चढ़ सकता है, मंदिर में प्रवेश कर सकता है, विद्यालय में पढ़ सकता है आदि। आज सभी देशवासियों को मौलिक अधिकार समान रूप से प्रदान किए गए हैं। इन सबके प्रभाव के कारण जाति प्रथा में भी परिवर्तन आया है।

9. नवीन व्यवसायों का प्रभाव— औद्योगीकरण व नगरीकरण के परिणामस्वरूप अनेक नवीन व्यवसाय विकसित हुए हैं। इससे पूर्व प्रथा (जजमानी प्रथा) जिसमें एक जाति दूसरी जाति की सेवा करती थी विलुप्त होने लगी। अपने परम्परागत व्यवसाय को छोड़कर लोग अध्यापक, इन्जीनियर, प्रशासनिक अधिकारी आदि किसी भी व्यवसाय को जाति का विचार किए बिना स्वीकारने लगे। परिणामस्वरूप जाति और व्यवसाय के बीच सम्बन्ध छूट गया। इस तरह जाति का पक्ष निर्बल हो गया।

10. जाति पंचायतों की समाप्ति— जाति पंचायत ने जाति व्यवस्था को दृढ़ता प्रदान की थी। जातीय नियमों के उल्लंघन करने पर पचायतें दण्डित करतीं। अत सभी पंचायतों की बातों को मानते थे। जब जाति पंचायतो की समाप्ति हुई तो जाति बंधन नियम भी शिथिल हो गए और जाति निर्बल हो गई।

11. संयुक्त परिवार का विघटन— नगरीकरण का परिणाम एकाकी परिवार है। जब ग्रामीण लोग नगरो की ओर व्यवसाय के कारण जाने लगे तो संयुक्त परिवार विघटित हो गए और एकाकी परिवार में जाति व्यवस्था के नियम शिथिल हो गए। इस प्रकार ये जाति प्रथा के परिवर्तन के कारण बने।

12. नवीन कानूनों का प्रभाव— अनेक कानून सविधान में जाति प्रथा के विरोधी हैं। हिन्दू विवाह वैधकरण अधिनियम; 1949; हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955; हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956, दहेज निरोधक अधिनियम, 1961, अस्पृश्यता अधिनियम, 1955; आदि अनेक अधिनियम है जिनसे जाति प्रथा के नियम शिथिल हुए हैं। भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है। इस कारण जाति प्रथा का प्रभाव घटा है।

जाति व्यवस्था में परिवर्तन

उपर्युक्त कारकों के फलस्वरूप जाति व्यवस्था अनेक रूपो मे परिवर्तित हुई है। जाति व्यवस्था की वर्तमान समय में स्थिति इस प्रकार है —

1. ब्राह्मणों की स्थिति में गिरावट— जाति व्यवस्था में ब्राह्मणों को सदैव श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया है किन्तु आज व्यक्तिगत गुणो के महत्वपूर्ण होने से निम्न जाति के लोग भी उच्च स्थान प्राप्त कर रहे है। आज योग्यता को महत्व दिया जा रहा है। धार्मिक अनुष्ठान आदि का महत्व भी आज नगरो मे क्षीण होता जा रहा है। इस कारण ब्राह्मण वर्ग जो कभी सर्वोच्च स्थान पर था आज अपने प्रभुत्व को खोता जा रहा है। यह जाति की परिवर्तनशीलता का परिणाम है।

2. जातीय संस्तरण में परिवर्तन— जाति व्यवस्था में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र— इस प्रकार का संस्तरण विद्यमान रहा है, किन्तु आज निम्न जाति भी शिक्षा, व्यवसाय, धन के प्रभाव के कारण स्वयं को श्रेष्ठ मानने लगी है। इस कारण जातीय संस्तरण में परिवर्तन आ गया है। आज किसी को ऊँचा या नीचा जाति के आधार पर नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को दूसरे से ऊँचा मानता है।

3. दलित जाति की स्थिति में परिवर्तन— जाति व्यवस्था में दलित या अस्पृश्य जातियों को अनेक अधिकारों से वंचित रखा गया था। उन पर अनेक प्रतिबन्ध थे तथा धार्मिक एवं सामाजिक निर्योग्यताएँ लागू थीं जिनके कारण वे समाज में निम्न स्थान पाते थे। भारतीय संविधान में उनको अनेक अधिकार दिए गए हैं जिससे सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक दृष्टि से नौकरी, व्यवसाय आदि में उनको विशेष सुविधाएँ प्राप्त हैं— सार्वजनिक पूजास्थान पर जाना, विद्यालय में प्रवेश आदि अधिकार मिलने से अनेक निर्योग्यताएँ उन पर से हट गई हैं एवं उनकी स्थिति में सुधार हुआ है।

4. पेशों के चयन में स्वतंत्रता— प्राचीन समय में सभी जातियों के अलग-अलग पेशे थे। आज कोई व्यक्ति किसी पेशे का चयन अपनी योग्यता के आधार पर कर सकता है। शिक्षा, तकनीकी ज्ञान के प्रभाव ने निम्न जाति को भी इन्जिनियर, डॉक्टर, प्रशासनिक अधिकारी आदि के चयन की छूट दी है। शूद्रों की आर्थिक स्थिति भी आज बदली है। सरकारी नौकरी आज निम्न वर्ग के लिए आरक्षित है। इस प्रकार किसी विशेष जाति के लिए विशेष व्यवसाय का निर्धारण अब आवश्यक नहीं ऐच्छिक हो गया है।

5. खान-पान सम्बन्धी प्रतिबंधों में शिथिलता— नगरीकरण के प्रभाव के कारण खान-पान के प्रतिबन्ध शिथिल हो रहे है जैसे— पहिले रसोई के बाहर कच्चा खाना खाना वर्जित था तथा शाकाहारी-मांसाहारी भोजन के भी नियम थे लेकिन आज जब व्यक्ति नौकरी-पेशे के कारण सुबह के पश्चात् रात्रि में ही घर वापिस आता है तो सारा दिन उसका भोजन आदि बाहर ही पूर्ण होता है जहाँ किसी प्रकार के नियम का निर्वाह सम्भव नहीं है अत किसी भी जाति के व्यक्ति भोजन बनाने वाले होते हैं और खाना भी विभिन्न प्रकार का एक साथ ही बनता है तो भोजन सम्बन्धी प्रतिबन्धों में ढील हो गई है। शिक्षा के प्रसार ने भी तार्किकता को बढ़ावा दिया है साथ ही पौष्टिक भोजन को महत्त्व दिया जाने लगा है अत. कच्चे-पक्के या शाकाहारी-मांसाहारी भोजन सम्बन्धी सभी प्रकार के प्रतिबन्धों में अब परिवर्तन हो गया है।

6. जन्म के महत्व का ह्रास— जाति व्यवस्था की सर्वप्रमुख विशेषता जन्म का महत्त्व है अर्थात् जन्म के आधार पर ही व्यक्ति की स्थिति निर्धारित होती है, जैसे— ब्राह्मण परिवार में जन्मा व्यक्ति ही सर्वोच्च माना जाता है किन्तु शिक्षा के प्रचार ने इसमें परिवर्तन किया है। आज योग्य, कुशल, सक्षम व्यक्ति श्रेष्ठ है भले ही वह किसी भी जाति का हो। इस तरह जन्म की महत्ता का ह्रास हो रहा है। यह बड़ा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिल रहा है।

7. विवाह से सम्बन्धित प्रतिबन्धों में शिथिलता— जाति की एक बड़ी विशेषता अपनी ही जाति में विवाह की मानी गई है जिसमें उल्लघन के फलस्वरूप व्यक्ति को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था लेकिन आज इस सम्बन्ध मे भी शिथिलता आने लगी है। अब विवाह दूसरी जाति में किया जा सकता है जिसमें पंचायत भी कुछ नहीं कर सकती है। इसी तरह विधवा-विवाह, विवाह-विच्छेद, देर से विवाह, सभी को समाज की बदलती परिस्थिति मे प्रोत्साहन मिल रहा है।

8. बदलते संदर्भ समूह— पहले जिन व्यक्तियो के पास शक्ति थी वही आदर्श थे। उच्च जातियों का अनुकरण शेष जातियों को करना अनिवार्य था किन्तु आज इस स्थिति को बदला गया है। विभिन्न जातियों ने राष्ट्रीय अथवा प्रान्तीय स्तर पर अपने-अपने संगठन बना लिए हैं जो अपने हितों की रक्षा करने मे समर्थ हैं अत अब किसी जाति विशेष का अनुसरण करना, उसे सम्मान व आदर्शात्मक स्थिति प्रदान करना कम हो गया है। इनका स्थान जातीय समितियो ने ले लिया है।

9. बदलते जाति सम्बन्ध— वर्तमान समय मे जातियों के सम्बन्ध भी बदले हैं। जजमानी प्रथा का टूटना इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। राजनीतिकरण, प्रजातान्त्रीकरण, औद्योगीकरण, नगरीकरण, आदि के परिणामस्वरूप शक्ति के नवीन सम्बन्धो की उत्पत्ति हुई। पंचायतों के चुनावो ने व्यक्तियों में समानता का भाव भर दिया। इसी से आज कोई जाति किसी पर आश्रित नहीं है अत परस्पर जाति सम्बन्धों मे बदलाव आ गया है।

इस प्रकार वर्तमान जाति व्यवस्था अनेक रूपों में अनेक कारणों से परिवर्तित हो गई है किन्तु क्या जाति व्यवस्था एक नई व्यवस्था का रूप ले रही है जिसे वर्ग व्यवस्था का नाम दिया जाता है ? यह प्रश्न आज मुख्य रूप से प्रकाश मे आ रहा है।

जाति और वर्ण में भेद

जाति प्रथा और वर्ण व्यवस्था मे अनेक अन्तर है। लेकिन लोग इन्हे एक ही समझते हैं। होकार्ट ने भी यही मत व्यक्त किया है कि सामान्यतया लोग— जाति और वर्ण-को एक ही प्रथा के दो भिन्न नाम समझते है। वर्ण व्यवस्था वैदिक काल की सामाजिक स्तरीकरण की खुली व्यवस्था थी। इसमें व्यक्ति की सदस्यता कर्म एवं गुणो पर आधारित थी। वर्ण का अर्थ व्यवसाय के वरण से लगाया जाता था। वर्ण का अर्थ त्वचा के रंग से भी था। पुराणों में वर्णन मिलता है कि ब्राह्मण श्वेत-वर्ण, क्षत्रिय लाल-वर्ण, वैश्य पीत-वर्ण और शूद्र कृष्ण-वर्ण के होते हैं। एक प्रकार के रंग के लोगो को एक वर्ण मे रखा जाता था। वर्ण का आधार व्यक्ति के गुण तथा स्वभाव से भी लगाया जाता है। कृष्ण ने गीता में कहा है कि मैने चारों वर्णों की रचना उनके गुणों के आधार पर की है। चार वर्णों— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र— का वर्णन वेदों तथा अन्य ग्रथो मे मिलता है। वर्ण-व्यवस्था जाति की तरह जन्म पर आधारित नही होती है। न ही वर्ण व्यवस्था मे जाति प्रथा के समान व्यवसाय, विवाह, खान-पान, पवित्रता-अपवित्रता जैसे प्रतिबन्ध होते है। जाति प्रदत्त होती है तथा वर्ण अर्जित। इनके अन्तर को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है -

जाति और वर्ण में अन्तर

आधार	जाति	वर्ण
1. सदस्यता	जाति मे सदस्यता जन्म पर आधारित होती है। जो जिस जाति मे जन्म लेता है वह जीवन पर्यन्त उसी जाति का सदस्य रहता है। सदस्यता प्रदत्त होती है।	वर्ण में सदस्यता कर्म एवं गुण पर आधारित होती है। व्यक्ति अपने गुण, कर्म तथा रुचि के अनुसार वर्ण की सदस्यता प्राप्त करता है। सदस्यता अर्जित होती है।
2 गतिशीलता	जाति एक बन्द वर्ग है। व्यक्ति एक जाति से दूसरी जाति में सदस्यता प्राप्त	वर्ण एक खुला वर्ग है। एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण की सदस्यता प्राप्त

आधार	जाति	वर्ण
	नहीं कर सकता है।	कर सकता है । यह व्यवस्था *गतिशील है।*
3. व्यवसाय	जाति मे व्यवसाय वशानुगत होते हैं। जो जिस जाति में जन्म लेता है वह उसी जाति का व्यवसाय करता है।	वर्ण में व्यवसाय व्यक्ति की रुचि तथा इच्छा पर निर्भर करता है। *अपने गुणों के आधार पर व्यवसाय* चुनता है।
4 विवाह	जाति एक अत विवाही समूह होती है। जो जिस जाति में *जन्म लेता है* वह विवाह भी उसी जाति मे करता है।	एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण मे *विवाह कर सकता है। अंतर्वर्ण-* विवाह वर्णो में मान्य है।
5. खान-पान व पारस्परिक सम्बन्ध	जाति प्रथा में विभिन्न जातियों के लिए *भोजन, खाद्य, पाक, पात्र, पंक्ति आदि* निषेध होते हैं।	वर्ण व्यवस्था मे खान-पान, खाद्य, *पाक, पात्र, पंक्ति, हुक्का-पानी* निषेध नही होते है।
	जातियो में ब्राह्मण उच्चतम तथा अस्-*पृश्य जातियाँ निम्नतम मानी जाती है।*	वर्ण में ऊँच-नीच, जाति-प्रथा जैसी *नही होली है।*
6. प्राचीनता	जाति-प्रथा वर्ण-व्यवस्था के बहुत बाद समाज में प्रचलित हुई है। लगभग *मध्यकाल या मुस्लिम काल मे जाति* प्रथा पूर्ण कठोर रूप मे देखी जा सकती है।	वर्ण व्यवस्था वैदिक काल मे ही थी। यह प्राचीनतम प्रथा है। इसका *वर्णन वेदो, पुराणों, महाकाव्यो* आदि मे मिलता है।
7 *संख्या*	*सम्पूर्ण भारत मे छोटी-बडी जातियों* की संख्या अनुमानत 3,000 से अधिक है।	शास्त्रो के अनुसार वर्ण संख्या मे चार ही है- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।
8. अस्पृश्यता	जाति प्रथा मे अस्पृश्यता की भावना मिलती है तथा अस्पृश्य जाति भी *होती है।*	वर्ण-व्यवस्था मे अस्पृश्य वर्ण नही होते है तथा अस्पृश्यता की भावना *भी नही थी।*
9 समानता	जाति प्रथा में ब्राह्मण जाति उच्चतम *तथा अस्पृश्य जाति निम्नतम होती है।* अन्य जातियाँ इनके बीच मे स्थित होती है।	वर्ण-व्यवस्था मे सभी वर्ग समान होते है। उनमें उच्चता और निम्नता नही होती है।

जाति और वर्ग में विभेद

सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजो मे व्याप्त है किन्तु भिन्न-भिन्न समाजो मे इसका स्वरूप भिन्न-भिन्न है। *कुछ समाजो मे इसके स्वरूप मे भिन्नता व्यक्ति के वशानुक्रम पर आधारित है* जब कि कुछ समाजों में व्यक्ति की योग्यता, कुशलता इसका आधार है। पहली अवस्था मे किसी भी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं जबकि दूसरी अवस्था मे परिवर्तन सम्भव है। प्रथम स्थिति जातिगत स्तरीकरण है और दूसरी स्थिति वर्गगत स्तरीकरण है। इस प्रकार स्तरीकरण का प्रथम आधार जाति है तो द्वितीय आधार वर्ग है। जाति और वर्ग में तुलना करने मे पहिले वर्ग का अर्थ, विशेषताओ आदि का अध्ययन करेंगे।

वर्ग की परिभाषा— ऑगबर्न और निमकॉफ ने सामाजिक वर्गों को इस प्रकार परिभाषित किया है–"*एक सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का संग्रह है जिनकी दिए हुए समाज में आवश्यक रूप से* समान सामाजिक प्रस्थिति है।" जिन्सबर्ग के मत में, "वर्ग ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो व्यवसाय, धन, शिक्षा, जीवन-यापन की विधियों, विचारों, मनोभावों, प्रवृतियों और व्यवहारों में एक -दूसरे के समान होते हैं अथवा कुछ आधारों पर समानता की भावना से मिलते हैं और इस प्रकार अपने को एक समूह का सदस्य समझते हैं।" मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, "एक सामाजिक वर्ग समुदाय का वह भाग है जो सामाजिक प्रस्थिति के आधार पर शेष भाग से अलग कर दिया गया है।" वर्ग की भावना प्रत्येक समाज में मिलती है। इनकी कुछ विशेषताएँ हैं जो इनकी प्रकृति को और स्पष्ट करती हैं, वे निम्नलिखित हैं—

सामाजिक वर्गों की विशेषतायें— वर्ग की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं, जिनके आधार पर वर्ग के सम्प्रत्यय को और अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकेगा।

1. एक निश्चित संस्तरण— सामाजिक वर्ग श्रेणियों में विभक्त होते है। यह उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग व निम्न वर्ग हो सकते हैं। उच्च वर्ग के सदस्यों की संख्या सबसे कम किन्तु सामाजिक प्रतिष्ठा सर्वाधिक होती है। निम्न वर्ग के सदस्यों की संख्या अधिक किन्तु प्रतिष्ठा नगण्य होती है। आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण उच्च व निम्न वर्ग के सदस्यों में सामाजिक दूरी बढ़ती जाती है।

2. *वर्ग चेतनता*— *सामाजिक वर्ग के सदस्यों में वर्ग चेतनता पाई जाती है। यही चेतनता मनुष्य* के व्यवहार को निश्चित करती है अर्थात् सदस्यों में समानता की भावना दृढ़ होती है लेकिन एक वर्ग दूसरे वर्ग से प्रतिस्पर्द्धा करता रहता है इससे उनमें 'प्रतियोगी वर्ग चेतनता' का भाव आ जाता है यही वर्ग-चेतनता वर्ग-संघर्ष को बढ़ावा देती है।

3. समान प्रस्थिति— एक ही वर्ग के व्यक्तियो की सामाजिक प्रस्थिति एक जैसी होती है, जैसे—यदि किसी समाज में सम्पत्ति को अधिक महत्त्व दिया जाता है तो उसी व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति ऊँची मानी जायेगी जिसके पास अधिक सम्पत्ति है। उसी प्रकार यदि राजनीति को महत्त्व दिया जाता है तो राजनीति ही प्रस्थिति का आधार होगी। इस प्रकार प्रस्थिति निर्धारण उसके आधार हो सकते है। जब कई व्यक्ति एक-सी प्रस्थिति के होते हैं तो वे एक वर्ग के सदस्य माने जाते है।

4. श्रेष्ठता व हीनता की भावना— समाज के विभिन्न समूह परस्पर श्रेष्ठ अथवा हीनता की भावना रखते है। सभी इस व्यवस्था को स्वीकार करते हैं, जैसे— शासित वर्ग स्वयं को श्रेष्ठ व गरीब *वर्ग को स्वय की तुलना में हीन समझता है।*

5. प्रतिबन्धित सामाजिक सम्बन्ध— एक वर्ग के व्यक्ति अन्य वर्गों के व्यक्तियों से एक निश्चित सामाजिक दूरी बनाए रखते है। उनके सामाजिक सम्बन्ध अपने वर्ग तक ही प्रतिबन्धित अथवा सीमित होते हैं। इसका कारण आर्थिक, सांस्कृतिक एव सामाजिक स्तर होता है जिससे व्यक्ति अपने ही वर्ग के व्यक्तियो से सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते है।

6. मुक्तता एवं स्थानांतरण— वर्गों की प्रकृति मुक्त होती है अर्थात् किसी विशेष योग्यता को प्राप्त कर लेने पर कोई व्यक्ति किसी अन्य वर्ग का सदस्य हो सकता है अथवा एक साथ अनेक वर्गों की सदस्यता ग्रहण कर सकता है। इसके साथ ही स्थानांतरण की स्थिति भी आ सकती है, जैसे— एक व्यक्ति धनी बनकर उच्च वर्ग की सदस्यता ग्रहण कर सकता है अथवा सम्पन्न व्यक्ति किसी कारण निर्धन बन सकता है और गरीब वर्ग का सदस्य बन सकता है। तात्पर्य यह है कि वर्ग की

सदस्यता मुक्त अथवा खुली होती है। जीवन-पर्यन्त एक ही वर्ग की सदस्यता ग्रहण करना आवश्यक नहीं है।

7. वर्ग का वस्तुनिष्ठ पक्ष— एक वर्ग दूसरे वर्ग से अनेक पहलुओ मे भिन्नता लिए हुए होता है। अनेक पक्ष विद्वानो द्वारा निर्धारित किए गए हैं। इनमें मकान का प्रकार, शिक्षा, आय, मोहल्ले की प्रतिष्ठा आदि को लिया जा सकता है, जैसे— निम्न वर्ग के लोग गन्दी बस्तियों मे रहते है, आय व शिक्षा भी कम होती है जबकि उच्च वर्ग शिक्षित, उच्च आय वाला व ऊँची-ऊँची इमारतों मे रहता है। इस प्रकार व्यक्ति की परिस्थिति को देखकर उस वर्ग की पहिचान हो जाती है।

8. सम्बन्ध स्थापन— एक वर्ग के सदस्यों के सम्बन्ध उसी वर्ग के अन्य व्यक्तियों के साथ स्वाभाविक रूप से हो जाते है। मित्रों का चुनाव, विवाह मे कन्या-पक्ष व वर-पक्ष का चुनाव आदि आपस में समानता के आधार पर ही किए जाते है।

9. उप-संस्कृति— वर्ग की अपनी एक उप-संस्कृति होती है। एक वर्ग के सभी लोगों की एक-सी प्रस्थिति होती है और उस प्रस्थिति के लोगो के साथ ही उनके व्यावहारिक सम्बन्ध होते है। उनका रहन-सहन, जीवन-शैली समान होती है। मैक्सवेबर ने ऐसे समूह को प्रस्थिति-समूह कहा है जिनका व्यवहार करने का तरीका, रहन-सहन का स्तर आदि समान प्रकार का हो। इस प्रकार हर वर्ग की अपनी एक उप-संस्कृति होती है।

10. आर्थिक आधार का महत्त्व— वर्ग का महत्त्वपूर्ण आधार आर्थिक प्रस्थिति है। मार्क्स के मत मे तो आर्थिक आधार ही एकमात्र वर्ग-निर्माण का कारक है। इसी के आधार पर उच्च, मध्यम व निम्न वर्ग बने हैं और प्रत्येक वर्ग अपनी प्रस्थिति के अनुरूप ही वर्ग की सदस्यता प्राप्त करता है।

11. पूर्णतया अर्जित— वर्ग की सदस्यता पूर्णतया व्यक्ति की योग्यता और कार्य-कुशलता पर निर्भर करती है। यह सदस्यता व्यक्ति को प्रयास से प्राप्त करनी पडती है। जिस योग्यता के अनुरूप उसका स्तर होता है उसी योग्यता के वर्ग की सदस्यता उसे प्राप्त हो जाती है, जैसे— निम्न वर्ग का सदस्य यदि अपने प्रयास से उच्च वर्ग के अनुरूप बन जाता है तो वह उच्च वर्ग की सदस्यता को ग्रहण कर लेता है अर्थात् वर्ग सदस्यता जन्म से नहीं मिलती अपितु यह अर्जित है।

12. सामान्य जीवन विधि— प्रत्येक वर्ग के सदस्यों के जीवन जीने की विधि एक जैसी होती है, जैसे— धनाढ्य वर्ग में धन का अत्यधिक दिखावा, विशिष्ट प्रकार की वस्तुओं का उपभोग करना प्राय उच्चता का प्रतीक माना जाता है जबकि मध्यम वर्ग परम्पराओं का निर्वाह करना, समाज-सम्मत तरीके पर चलना अपना कर्त्तव्य मानते है। निम्न वर्ग मे केवल भरण-पोषण करना ही उद्देश्य रहता है। इस प्रकार प्रत्येक वर्ग के जीवन-यापन का तरीका एक जैसा ही होता है।

13. वर्गों की अनिवार्यता— प्रत्येक समाज मे शिक्षा, व्यवसाय, आय, योग्यता आदि की दृष्टि से व्यक्तियो मे विभेदता पाई जाती है। अत इस विभेदता के आधार पर समाज मे अनेक वर्ग स्वत ही बन जाते है जिनमे उस विशेषता से सयुक्त व्यक्ति होते है। इस प्रकार समाज मे वर्गों की उपस्थिति अनिवार्य रूप से होती है।

यह वर्ग-व्यवस्था जाति से अनेक रूपो मे भिन्न है। विशेष रूप से जन्म जाति का महत्त्वपूर्ण आधार है। जाति और वर्ग — दोनों ही स्तरीकरण के आधार है लेकिन कुछ भिन्नता लिए हुए। जाति और वर्ग का अन्तर अग्रलिखित रूप मे स्पष्ट किया जा सकता है—

जाति और वर्ग में विभेद

आधार	जाति	वर्ग
1. बंद/खुला	जाति एक बन्द वर्ग है। जाति का आधार जन्म है अत इसकी सदस्यता जीवन-पर्यन्त होती है। इसे बदला नही जा सकता। इसीलिए जाति को बन्द-वर्ग कहा गया है।	वर्ग में खुलापन हैं। वर्ग का आधार धन, शिक्षा, आय, व्यवसाय आदि हैं जिनमें धन प्राप्ति करके व्यक्ति दूसरे वर्ग में जा सकता है। यही वर्ग का खुलापन है।
2.जन्म/कर्म	जाति जन्म पर आधारित है अर्थात् मृत्यु पर्यन्त व्यक्ति एक ही जाति का सदस्य माना जाता है जिस जाति में उसने जन्म लिया है।	वर्ग कर्म पर आधारित है। अच्छे कर्म व्यक्ति को उच्च वर्ग में ले जा सकते है तथा नीच कर्म निम्न वर्ग में ले जा सकते हैं।
3. प्रदत्त/अर्जित	जाति की सदस्यता प्रदत्त है अर्थात् किसी भी व्यक्ति को जाति की सदस्यता बिना प्रयत्न के स्वत ही प्राप्त हो जाती है।	वर्ग की सदस्यता अर्जित है अर्थात् व्यक्ति के निजी प्रयत्नों का फल होता है कि उसे किस वर्ग की सदस्यता प्राप्त हुई है।
4 व्यवसाय	जाति मे व्यवसाय निश्चित है। प्रत्येक व्यक्ति का व्यवसाय पूर्व-निर्धारित होता है जिसे अपनाकर व्यक्ति आजीविका प्राप्त कर सकता है।	वर्ग का कोई व्यवसाय नही है। व्यक्ति अपनी योग्यता, क्षमता व कौशल के आधार पर कोई व्यवसाय अपना सकता है।
5 विवाह	जाति अन्तर्विवाही है अर्थात् प्रत्येक सदस्य को अपनी ही जाति में विवाह करना आवश्यक होता है।	विवाह करने की स्वतंत्रता होती है। वर्ग में इस प्रकार का कोई नियम नहीं कि वे विवाह-सम्बन्ध कहाँ करें। वे अपने से उच्च या मध्यम वर्ग मे भी विवाह कर सकते हैं।
6 खान-पान	जाति मे खान-पान पर प्रतिबन्ध है। प्रत्येक जाति के कुछ नियम होते है कि किन-किन जातियो के साथ वे खान-पान के सम्बन्ध रख सकते है और किनके साथ नही।	वर्ग में खान-पान पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वर्ग मे कोई प्रतिबन्ध नहीं कि वे किनके साथ खान-पान करें तथा किनके साथ न करें।
7 उच्चता का आधार	जाति की उच्चता का आधार सामाजिक है। इसमे एक सस्तरण है जो दो जातियों के बीच सामाजिक दूरी को निश्चित करता है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र—यह क्रम निश्चित है। यह क्रम उच्च से निम्न की ओर है।	वर्ग की उच्चता का आधार आर्थिक है। अर्थात् सभी वर्ग अर्थ के आधार पर उच्च, मध्यम व निम्न हो सकते है। किन्तु एक वर्ग का महत्व दूसरे वर्ग की तुलना में कम नही माना जा सकता।
8. सदस्यता	जाति की सदस्यता स्थाई है। जाति का आधार जन्म है। अत उसमे किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नही है।	वर्ग की सदस्यता परिवर्तनीय है। वर्ग, व्यक्ति की योग्यता, क्षमता के अनुरूप परिवर्तित हो सकते है।

हिन्दुओं के अतिरिक्त अन्य समुदायों में जाति

हिन्दुओं के अतिरिक्त मुसलमानों, सिखों और ईसाइयों में भी जातियाँ मिलती है। उत्तर प्रदेश और कलकत्ता के जैन, सिख, मुसलमानों और यहूदियों में अन्त विवाह और वंशानुगत व्यवसाय की प्रथा मिलती है। भारत में मुसलमानों में हिन्दुओं की तरह समानान्तर जातियाँ मिलती हैं। जो हिन्दू मुसलमान बने उनकी स्थिति वहाँ नहीं बदली। भारत मे हिन्दु-परिवर्तित-मुसलमानो में छुआछूत के लक्षण मिलते है। भारत में अशरफ मुसलमान उच्च एवं गैर-अशरफ निम्न माने जाते है। मुसलमानों में सांस्कृतिक मूल्यों के अनुसार नाई, जमींदार, भंगी, कमीन, सक्का आदि जातियाँ मिलती है। सिखों में कुछ मात्रा में पवित्रता और अपवित्रता, अस्पृश्यता आदि जाति की भाँति लक्षण मिलते है। भारत के बाहर भी विदेशों मे जाति जैसे विभेद मिलते हैं। अमरीका में काले लोगो की भारत के अस्पृश्यों जैसी स्थिति है। श्रीलंका के सिंहली लोग बौद्ध धर्म मानते है उनमें जाति समुदाय मिलते है। जापान, बर्मा आदि में भी जाति जैसे समूह मिलते हैं। विद्वानों का कहना है कि हिन्दू समाज के अतिरिक्त अन्य समाजों तथा धर्मो मे जाति मे समानान्तर समूह देखे जा सकते है परन्तु वे पूर्ण रूप से जाति प्रथा जैसे नहीं होते हैं। उनकी विचारधारा, मूल्य, विशेषताएँ, कार्य तथा मान्यताएँ हिन्दू समाज की जाति प्रथा के समान नही है। भारत में जाति प्रथा एक विशिष्ट स्तरीकरण की व्यवस्था है जो अपने आप में अनोखी है। वह अपनी सांस्कृतिक और संरचनात्मक विशेषताओं के कारण विश्व में विख्यात है।

जाति और राजनीति

किसी भी समाज की राजनैतिक व्यवस्था की सफलता और असफलता उस समाज की सामाजिक व्यवस्था, परम्पराओ, मूल्यों, तथा संस्कृति आदि पर आधारित होती है। अगर सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्थाओं के आधारभूत लक्षणो मे परस्पर सामंजस्य होता है तो दोनो ही व्यवस्थाएँ समाज को संगठित रखती हैं तथा सुदृढ संगठन बना रहता है। जब सामाजिक व्यवस्था के मूल्य, आदर्श, परम्पराएँ, धर्म आदि राजनैतिक व्यवस्था के मूल्यों से मेल नही खाते है तथा उनमे परस्पर टकराव होता है तो राजनैतिक व्यवस्था तथा सामाजिक व्यवस्था दोनो मे ही असंतुलन की स्थिति पैदा हो जाती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत मे सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्थाओ में टकराव हुए। भारत 1947 मे स्वतंत्र हुआ तथा 26 जनवरी, 1950 को इसने अपना संविधान लागू करके एक सार्वभौमिक लोकतंत्र गणराज्य की घोषणा की। गणतंत्र भारत के संविधान के अधिनियम, उद्देश्य, आदर्श, मूल्य, विचारधारा आदि समानता, भ्रातृत्वता तथा समान अवसर पर आधारित है। भारत के सभी नागरिको को समानता का दर्जा प्राप्त हो गया। भाषा, धर्म, लिंग, आयु, जन्म, जाति, वर्ग, प्रजाति, आदि के आधार पर चली आ रही असमानता को समाप्त कर दिया गया। इतना ही नही अनुसूचित जातियो-जनजातियो, पिछड़े वर्गों, अल्पसंख्यकों और महिलाओं के विकास के लिए विशेष प्रावधानो की व्यवस्था की गई। जाति प्रथा मे इनका टकराव होना स्वाभाविक है।

जाति-व्यवस्था के आधार जन्म पर आधारित होते है। उसमे ऊँच-नीच का भेदभाव होता है। जाति व्यवस्था वाले समाज मे लोकतंत्र व्यवस्था का आना एक बड़ा परिवर्तन है। ये दोनों ही व्यवस्थाएँ एक दूसरे के विपरीत है। इसमें टकराव हुआ। धीरे-धीरे लोकतंत्र और जाति-प्रथा में व्यवस्थापन की प्रक्रिया आगे बढ़ी। जाति प्रथा की विशेषताओं ने चुनाव प्रक्रिया को विशेष रूप से

प्रभावित किया है। वोट की राजनीति ने जातिवाद को बढ़ावा दिया। जाति प्रथा का मूल तत्त्व जन्म (प्रदत्त) है वही प्रजातंत्र व्यक्ति के गुणों (अर्जित) पर आधारित होता है। भारतीय समाज प्रदत्त प्रधान होने के कारण अर्जित विशेषता पर आधारित प्रजातांत्रिक राजनैतिक व्यवस्था के साथ इसका व्यवस्थापन होना अत्यावश्यक है। जाति प्रथा के कारण प्रजातंत्र में बाधाएँ रही हैं जिन्हें श्रीनिवास ने निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया है, "भारत की सर्वश्रेष्ठ राजनैतिक संस्था में जातिवाद की व्यक्त और अव्यक्त भूमिका दुर्भाग्यपूर्ण है क्योंकि उससे देशभक्ति, धर्म-निरपेक्षता, समाजवाद तथा जनतन्त्रवाद को ठेस पहुँची है। निपुणता, योग्यता, कुशलता एवं जनतंत्र के मूल्यों का पतन एवं विनाश हो रहा है। अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों को दिया गया आरक्षण असमानता को बनाए हुए है जो लोकतन्त्रात्मक-समाजवाद में नहीं होना चाहिए। भारत में जाति व्यवस्था के प्रतिबन्ध तथा लक्षण जब तक नहीं बदलेंगे तब तक स्वस्थ राजनैतिक व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकती। जाति-प्रथा वर्ग-व्यवस्था में परिवर्तित हो रही है लेकिन इसकी प्रक्रिया बहुत धीमी है। इसके लिए शिक्षा का प्रसार तथा शिक्षा द्वारा समानता, भ्रातृत्व एवं प्रजातांत्रिक विशेषताओं का जितना जल्दी हो सके प्रसार करना चाहिए तभी राजनैतिक क्षेत्र जातिगत प्रभाव में से समाप्त होंगे। जाति के प्रभाव चुनावों में प्रत्याशियों के चयन में देखे जा सकते हैं। चुनाव प्रचार तथा मतदान में तो जातिवाद स्पष्ट रूप से क्रियाशील रहता है। नियुक्तियाँ एवं प्रशासन भी इससे अछूता नहीं है। भारतीय जनतंत्र को जातितंत्र से जल्द-से-जल्द मुक्त कराना होगा।

प्रश्न

1. जाति को परिभाषित कीजिए। इसकी विशेषताएँ क्या हैं ?
   (उत्तर तीन पृष्ठों से अधिक नहीं) (मा.शि.बो. अजमेर, 1994)
2. जाति व्यवस्था के सांस्कृतिक और संरचनात्मक पहलुओं को समझाइए।
3. प्राचीन और मध्यकालीन भारत में जाति व्यवस्था के धार्मिक और आर्थिक (व्यावसायिक) पहलुओं पर प्रकाश डालिए।
4. क्या जाति गैर-हिन्दू समुदायों में भी भारत में पाई जाती है?
5. मध्यकालीन जाति प्रथा और ब्रिटिश काल की जाति प्रथा की समानता और भिन्नता बताइए।
6. वर्ण व्यवस्था का अर्थ बताइए। यह जाति प्रथा से किस प्रकार भिन्न है ?
7. क्या जाति प्रथा एक विचारधारा है? स्पष्ट कीजिए।
8. जाति और वर्ग में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
9. क्या जाति में गतिशीलता होती है? विवेचना कीजिए।
10. जाति की विशेषताएँ बताइए।
11. जाति की उत्पत्ति के कौन-कौन-से सिद्धान्त हैं ? किसी एक सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
12. 'विभिन्न कालों में जाति' पर एक निबन्ध लिखिए।
13. जाति प्रथा के प्रमुख कार्यों का उल्लेख कीजिए।
14. जाति प्रथा की हानियों (दोषों) की विवेचना कीजिए।

15. जाति प्रथा में परिवर्तन लाने वाले कानून कौन-कौन-से हैं? बताइए।
16. जाति प्रथा के प्रमुख परिवर्तनों पर प्रकाश डालिए।
17. 'जाति और राजनीति' पर लेख लिखिए।
18. प्रदत्त और अर्जित पर लेख लिखिए।

लघु-उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

1. जाति की विशेषताएँ।
2. वर्ग की विशेषताएँ।
3. जाति और प्रजातंत्र।
4. हिन्दुओं के अतिरिक्त अन्य समुदायों में जाति।
5. वर्ग की परिभाषा।
6. जाति की परिभाषा।
7. वर्ग की परिभाषा।
8. जाति के लक्षण।
9. वर्ग के लक्षण।

अतिलघु-उत्तरीय प्रश्न

1. जाति के प्रतिबन्ध
2. प्रदत्त अवधारणा
3. अर्जित अवधारणा
4. जाति प्रथा मे परिवर्तन लाने वाले तीन कारकों को बताइए।
5. जाति की एक परिभाषा दीजिए।
6. 'जाति एक बन्द वर्ग है।' विवेचना कीजिए।
7. जाति तथा वर्ण मे कोई तीन अन्तर बताइए।
8. जाति तथा वर्ग में कोई तीन अन्तर बताइए।
9. 'पवित्रता-अपवित्रता' की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (उत्तर संकेत सहित)

1. निम्नलिखित जाति की परिभाषाएँ देने वालों के नाम बताइए—
   (i) "जब एक वर्ग पूर्णतया वंशानुक्रम पर आधारित होता है तो उसे जाति कहा जा सकता है।"
   (ii) 'जाति एक बन्द वर्ग है।"
   [उत्तर- (i) कूले, (ii) मजूमदार एवं मदान]
2. निम्नलिखित कथनों में से सत्य-असत्य कथनों को चुनिए—
   (i) जाति प्रथा मे अर्जित प्रस्थिति होती है।
   (ii) जाति प्रथा मे पवित्रता-अपवित्रता के मूल्य होते है।
   (iii) जाति प्रथा समानता के लक्षणों पर आधारित होती है।
   (iv) जाति एक खुला वर्ग है।

(v) अस्पृश्य जातियाँ जाति व्यवस्था के मध्य स्थित होती हैं।

[उत्तर-सत्य कथन— (ii), असत्य कथन— (i), (iii), (iv), (v)]

3. निम्नलिखित के सही जोड़े बनाइए—

(1) जाति	(A) चार
(2) वर्ग	(B) परम्परागत सिद्धान्त
(3) वर्ण	(C) व्यवसायिक सिद्धान्त
(4) घुर्ये	(D) अर्जित प्रस्थिति
(5) नेसफील्ड	(E) प्रदत्त प्रस्थिति

[उत्तर-(1) E, (2) D, (3) A, (4) B, (5) C]

4. निम्नलिखित वाक्यों के सामने कोष्ठक में दिए गए शब्दों में से सही शब्दों का चयन कर रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए—

(1) जाति व्यवस्था एक .... वर्ग है। (बन्द/खुला)

(2) जाति एक ... . समूह है। (अन्त विवाही/बहिर्विवाही)

(3) जाति व्यवस्था मे व्यक्ति की सदस्यता .... होती है। (स्थाई/अस्थाई)

(4) जाति व्यवस्था प्रजातंत्र की .... है। (विरोधी/समर्थक)

(5) जाति प्रथा की उत्पत्ति एव विकास .... व्यवस्था से हुआ है। (वर्ग/वर्ण)

[उत्तर-(1) बन्द, (2) अन्त विवाही, (3) स्थाई, (4) विरोधी, (5) वर्ण]

5 निम्नलिखित वाक्यों को पूरा कीजिए—

(1) . जाति व्यवस्था का सबसे प्रमुख दोष है।

(2) भारत मे वर्ण का परिवर्तित रूप . ... है।

(3) जाति व्यवस्था की सम्पूर्ण सरचना . . . . की प्रतिष्ठा पर आधारित है।

(4) जाति प्रथा की उत्पत्ति के व्यावसायिक सिद्धान्त के प्रतिपादक..... ...थे।

(5) सेनार्ट ने जाति की उत्पत्ति का . . सिद्धान्त दिया।

(मा.शि बो. अजमेर, 1994)

[उत्तर-(1) पवित्रता, (2) जाति-प्रथा, (3) ब्राह्मणों, (4) नेसफील्ड, (5) धार्मिक]

6 निम्नलिखित में से कौन-कौन से कथन जाति-प्रथा के परिवर्तनों को स्पष्ट करते हैं—

(1) व्यवसायो के चुनावो की स्वतंत्रता।

(2) जन्म, लिग, धर्म, प्रजाति, भाषा, आदि के भेदभाव की समाप्ति की घोषणा।

(3) सभी को मतदान का अधिकार प्रदान किया जाना।

(4) अपनी ही जाति समूह में विवाह करना।

(5) ब्राह्मणो द्वारा अन्य जातियों का कच्चा भोजन नहीं करना।

(6) पवित्रता-अपवित्रता के विचारो का शिथिल होना।

(7) अस्पृश्यता निवारण के नियमो का पालन करना तथा कराना।

[उत्तर-(1), (2), (3), (6), (7)]

7. निम्नलिखित में से सही और गलत कथनों का चुनाव कीजिए—

(1) वर्णों की सख्या दस है।

(2) भारत मे लगभग तीन हजार से अधिक जातियाँ हैं।

(3) जाति प्रथा मे व्यक्ति अपनी जाति से बाहर विवाह कर सकता है।

(4) जो जिस वर्ग का होता है यह उसी वर्ग में विवाह करता है।
(5) जाति प्रथा मे अपनी ही जाति के व्यवसाय का चयन करना होता है।
(6) जाति प्रथा में खाने-पीने तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध नही होते है।
(7) जाति प्रथा मे व्यक्ति अपनी शिक्षा, व्यवसाय तथा धन के आधार पर दूसरी जाति का सदस्य नहीं बन सकता है।

[उत्तर-सही कथन- (2), (5), (7) गलत कथन- (1), (3), (4), (6)]

□□□

अध्याय - 7

अनुसूचित जातियाँ

(Scheduled Castes)

वैदिक काल मे वर्ण व्यवस्था थी। घुर्ये, नर्मदेश्वर प्रसाद तथा अनेक विद्वानों के अनुसार जाति व्यवस्था का विकास वर्ण व्यवस्था के बाद में हुआ था। मुख्य रूप से हिन्दू समाज की सभी जातियो को वर्ण व्यवस्था के सन्दर्भ मे पांच श्रेणियो मे वर्गीकृत कर सकते हैं। प्रथम तीन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के स्तर की जातियों को तो समाज में अनेक सुविधाएँ तथा अधिकार प्राप्त थे तथा इन पर न्यूनतम प्रतिबन्ध तथा निर्योग्यताएँ थीं। शूद्र वर्ण के स्तर की जातियों—कुम्हार, बढ़ई, नाई, धोबी आदि को कुछ अधिकार तथा सुविधाएँ प्राप्त थीं तथा इन पर अनेक प्रतिबन्ध तथा निर्योग्यताएँ थीं। परन्तु अस्पृश्य वर्ण के स्तर की जातियो—हरिजन, चमार आदि को अधिकार और सुविधाएँ तो नही के बराबर प्राप्त थीं परन्तु इन पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध थे। अधिकतम निर्योग्यताएँ अस्पृश्य जातियो की थीं जिनके अध्ययन से वस्तुस्थिति का कुछ चित्रण सामने आ जाएगा।

अस्पृश्य जातियों की निर्योग्यताएँ—अस्पृश्य जातियो की निर्योग्यताओ का उल्लेख किंग्सले डेविस ने किया है जो निम्नलिखित प्रकार है—

(1) अस्पृश्य जाति के लोग अपने जन्म, विवाह, मृत्यु आदि संस्कार ब्राह्मण पुरोहितों के द्वारा सम्पन्न करवाने मे असमर्थ तथा अयोग्य थे।

(2) ये लोग सवर्ण जातियो की सेवा करने वाले, नाई, धोबी, दर्जी कुम्हार आदि की सेवाएँ प्राप्त करने मे असमर्थ तथा अयोग्य थे।

(3) अन्य हिन्दू जाति के लोगो के साथ इनके सम्पर्कों पर प्रतिबन्ध था क्योंकि वे जातियाँ इनके सम्पर्क से अपवित्र हो जाती थी। ये लोग द्विज जातियों से सम्पर्क करने में असमर्थ तथा अयोग्य थे।

(4) ये लोग अन्य जाति के लोगों को पानी पिलाने में असमर्थ तथा अयोग्य थे।

(5) ये लोग सड़क, कुएँ, पाठशाला आदि सार्वजनिक सुविधाओ का उपयोग करने में असमर्थ तथा अयोग्य थे।

(6) ये लोग हिन्दू-मन्दिर मे प्रवेश करने मे असमर्थ तथा अयोग्य थे।

(7) घृणित व्यवसाय से अपने को पृथक् करने में अयोग्य तथा असमर्थ थे। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय समाज का एक बड़ा भाग जाति-व्यवस्था के अनेक प्रतिबन्धों के कारण अपना जीवन दरिद्रता और कष्टदायक स्थिति में व्यतीत करता रहा है। इस प्रकार के अभाव का जीवन व्यतीत करने वाली जातियों को अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है, जिनकी उन्नति तथा विकास करना प्रत्येक भारतीय का परम कर्त्तव्य होना चाहिए।

अनुसूचित जाति का अर्थ एवं परिभाषा— अनुसूचित जातियों की परिभाषा अनेक प्रकार से दी गई है। सामान्य रूप से अनुसूचित जातियाँ वे जातियाँ हैं, जो सदियों से दयनीय स्थिति में रही हैं। जिन जातियों की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षिक तथा अन्य आधारों या दृष्टिकोणों से समाज में निम्न स्थिति है, उनका विकास करना आवश्यक है। सरकार ने राज्य स्तरों पर ऐसी जातियों की सूची तैयार करवाई है तथा उनके विकास के लिए अनेक योजनाएँ तथा प्रावधान रखे है। इन सूचियों में जिन जातियों के नाम सम्मिलित किए गए है वे अनुसूचित जातियाँ कहलाती है। अनुसूचित जातियों की सूची के निर्माण का एक इतिहास है जिसको समझना भी किन्हीं कारणों से आवश्यक है।

आदिकाल में वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत जो किसी भी प्रकार से चार वर्णों— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण— में नहीं आते थे उन्हें पाँचवें और अन्तिम वर्ण 'अन्त्यज' कहा जाता था। बाद में ये 'चाण्डाल' नाम से सम्बोधित किए जाते थे। क्योंकि ये समाज में घृणित तथा निकृष्ट व्यवसाय करते थे इसलिए इनका स्पर्श करना पाप माना जाता था। इन पर समाज ने सबसे अधिक प्रतिबन्ध लगा दिए थे। इनकी स्थिति सभी प्रकार से दयनीय रही है। इसलिए ऐसी जातियों को दलित जाति भी कहा जाता था। सरकारी रिकार्डों में इन्हें इसी नाम से सम्बन्धित किया जाता था। इनको प्रथम चार वर्णों से अलग और अपवित्र माना जाता था। धर्मशास्त्र काल में चौथे वर्ण— शूद्र—को भी इनके साथ जोड़ दिया गया था। जब जाति की सदस्यता जन्म के द्वारा निश्चित होने लगी तब वर्णसंकर भी इसमें सम्मिलित किए जाने लगे। विशेष रूप से ब्राह्मण पुरुष तथा शूद्र स्त्री के द्वारा उत्पन्न सन्तानें भी चाण्डाल अथवा अस्पृश्य वर्ग में मानी जाती थीं।

ब्रितानिया सरकार भारतवर्ष में 'फूट डालो और राज्य करो' के सिद्धान्त के आधार पर कार्य करती थी। अनुसूचित जातियाँ भी उसी सिद्धान्त की एक उपज कही जा सकती है। सन् 1931 की जनगणना में आसाम प्रान्त के जनगणना अधिकारी ने अंग्रेजी सरकार को यह सुझाव दिया कि हिन्दू समाज में अनेक ऐसी जातियाँ है जिनको समाज में कोई सुविधा तथा अधिकार प्राप्त नहीं है। इन पर अनेक प्रतिबन्ध तथा निर्योग्यताएँ लादी हुई है। इनकी दयनीय स्थिति है। एक प्रकार से ये जातियाँ हिन्दू समाज से बहिष्कृत है इसलिए इनका नाम 'बाहरी जातियाँ' रखा जाए। इन्हें हिन्दू के अन्तर्गत नहीं रखा जाए। ये हिन्दुओं से पृथक् है। ब्रितानिया सरकार को हिन्दुओं के टुकड़े करने का तथा फूट डालने का एक मौका मिल गया। ब्रितानिया सरकार इन शूद्र तथा अस्पृश्य वर्ग के स्तर की जातियों को हिन्दू जाति व्यवस्था से अलग करके ईसाई धर्म में परिवर्तित करना चाहती थी।

महात्मा गाँधी ब्रितानिया सरकार की इस राजनैतिक चाल को समझ गए तथा उन्होंने इसके विरोध में आमरण अनशन किया तथा ब्रितानिया सरकार को ऐसा करने से रोका। सन् 1932 में जब पूना पैक्ट हुआ तो उसके अन्तर्गत इन अस्पृश्य, दलित तथा शोषित जातियों को पुनः हिन्दू मान लिया गया। महात्मा गाँधी ने इनको, विशेष रूप से अस्पृश्य जाति को, हिन्दू समाज में विभिन्न निर्योग्यताओं से मुक्त करने तथा अन्य जातियों की तरह समान विशेषाधिकार दिलवाने के लिए अनेक प्रयास किए। जिसमें सबसे महत्त्वपूर्ण पहिला कार्य आपने इनको भगवान का जन या हरि का

जन अर्थात् 'हरिजन' नाम दिया। तब से आज तक इनका नाम हरिजन चल रहा है। ब्रितानिया सरकार ने सन् 1935 मे इन दलित जातियों की एक सूची तैयार करवाई थी जिनमें 429 जातियों के नाम है। तब से ऐसी सूची जिसमे दलित जातियों के नाम सम्मिलित किए जाते है, अनुसूचित जातियाँ कहलाती हैं। इन सूचियो को बनाने का लक्ष्य उन जातियों का पता लगाना है जो विभिन्न दृष्टियों से पिछडी है तथा जिनके विकास के लिए सुनियोजित प्रयास करना तथा संरक्षण प्रदान करना आवश्यक है। इस प्रकार तैयार की गई सूची में वर्णित नामावली सभी जातियों को वैधानिक तथा कानूनी आधार से "अनसूचित जातियाँ" कहा जाता है।

जी.एस. घुर्ये— के अनुसार, "अत अनुसूचित जातियों को मैं उन समूहो के रूप में परिभाषित कर सकता हूँ जिनका नाम इस समय लागू अनुसूचित जातियो के आदेश में है।" घुर्ये की उपर्युक्त परिभाषा वैधानिक है। सरकार समय-समय पर इस सूची में संशोधन तथा पुनर्मूल्याकन करती रहती है। जो जातियाँ समाज सुधारको, केन्द्र तथा राज्य सरकारों तथा अन्य प्रयासो से समृद्ध हो जाती हैं उन्हें इस सूची में से निकाल देते हैं तथा वह अनुसूचित जातियाँ नहीं कहलाती हैं। किन्हीं कारणो से किसी जाति की सूचना नहीं मिल पाती है तथा उसकी स्थिति दयनीय है तो उसे इस सूची में सम्मिलित कर लिया जाता है। स्वतंत्र भारत के संविधान की धारा 341 के अनुसार राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह राज्यों के राज्यपालो से सलाह करके राज्य की अनुसूचित जातियों की घोषणा करे।

अनुसूचित जातियों की जनसांख्यिकीय विशेषताएँ

सन् 1935 मे अनुसूचित जातियो की संख्या 227 थी तथा इनकी जनसख्या 5.01 करोड़ थी। सन् 1981 मे इनकी जनसख्या 10.475 करोड़ थी जो सन् 1991 मे 13.623 करोड़ हो गई। सन् 1981 मे देश की कुल जनसख्या का 15.7% भाग अनुसूचित जातियो का था जो 1991 में बढ़ कर 16 73% हो गया। देश मे अनुसूचित जातियो की सबसे अधिक जनसंख्या उत्तर प्रदेश में 23 3% है, इसके बाद पश्चिमी बगाल में 11.4%, बिहार में 9.6%, आध्रप्रदेश मे 9.6%, तमिलनाडु में 8.5%, मध्य प्रदेश में 7.0%, राजस्थान मे 5.6%, कर्नाटक मे 5.3%, पजाब मे 4.3% और महाराष्ट्र मे 4 3% है। अनुसूचित जातियों की 66.4% जनसख्या देश के उपर्युक्त राज्यो मे निवास करती है। पिछले दशक मे अनुसूचित जातियों की जनसंख्या मे 30% की दर से वृद्धि हुई है जबकि देश की जनसख्या की वृद्धि की दर 23.79 है।

अनुसूचित जाति के लगभग 16.0% लोग नगरो मे तथा 84.0% लोग ग्रामो मे रहते है। सन् 1981 की जनगणनानुसार अनुसूचित जातियो मे 21.4% साक्षरता थी। कुल बधुआ मजदूरो मे दो-तिहाई भाग अनुसूचित जातियो के बधुआ मजदूर का है। अधिकतर अनुसूचित जाति के लोग गरीबी रेखा से नीचे जीवन व्यतीत करते है। इसका प्रमुख कारण इनका सामाजिक और आर्थिक शोषण किया जाना है।

सन् 1981 की जनगणनानुसार 1,047 लाख अनुसूचित जातियों के लोगो मे से 441.8 लाख (42 2%) श्रमिक थे तथा 1991 की जनगणना मे 1362 लाख मे से 574.76 लाख (42.2%) श्रमिक पाए गए। जहाँ तक श्रमिको के प्रतिशत की बात है वह 1981 और 1991 मे समान है। अनुसूचित जाति के कुल श्रमिको मे से आधे से कुछ अधिक (53.8%) चमड़े का काम करने वाले होते है। जुलाहे 12 4%, मछुआरे 7 9%, ताड़ी बनाने वाले 6.8%, छलड़ी/रस्सी बनाने वाले 5.2%, धोबी 4 6%, सफाई करने वाले 3 7% पाए गए। दस्तकार, सब्जी/फल बेचने वाले,

ढोली, लोहार, खाती आदि अनुसूचित जाति के श्रमिक शेष 10% पाए गए। इनकी दशा सोचनीय है तथा इनको सुरक्षा चाहिए।

अनुसूचित जातियों की समस्याएँ

अनुसूचित जातियो की अनेक समस्याएँ हैं। इनका इतिहास उठाकर देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इनकी प्रमुख समस्याएँ विभिन्न प्रकार के शोषण, प्रतिबन्ध, निर्योग्यताएँ, प्रदत्त स्थिति तथा परम्परागत अपवित्र व्यवसाय आदि है। इनकी समस्याओ का विवेचन निम्नलिखित क्रम मे किया जा सकता है—

(1) धार्मिक समस्याएँ— अनुसूचित जातियो की अनेक समस्याएँ ऐसी है जो धर्म से सम्बन्धित है। अनुसूचित जातियाँ हिन्दू धर्म की जाति व्यवस्था की सरचना मे निम्नतम स्थान या श्रेणी के अन्तर्गत आती है। अनुसूचित जातियो पर अनेक धार्मिक प्रतिबन्ध तथा निर्योग्यताएँ थोपी गई थीं जो धार्मिक समस्याओ के रूप मे आज भी उग्र रूप धारण किए हुए है। ये जातियाँ तथा इनके सदस्य अपने जन्म, विवाह, मृत्यु आदि संस्कार उच्चतम जाति ब्राह्मण पुरोहित के द्वारा सम्पन्न करवाने में असमर्थ तथा अयोग्य थे। धार्मिक स्थलों– मन्दिरो, देवालयो, कीर्तन आदि में नहीं जा सकते थे। प्रार्थना-अर्चना करना तो दूर रहा, ये लोग भजन आदि तक सुन नही सकते थे। धार्मिक पुस्तकें पढ़ना तथा सुनना निषेध था। यज्ञोपवीत धारण करना वर्जित था। इनकी परछाई मात्र के स्पर्श से द्विज जातियों के सदस्य अपवित्र हो जाते थे। वे तो स्नान आदि से पवित्र हो जाते थे परन्तु अस्पृश्य लोग जन्म-जन्मान्तर तक पवित्र नही हो पाते थे। उनकी सन्ताने भी अपवित्र पैदा होती थी।

भीमराव अम्बेडकर ने निम्नलिखित शब्दों मे उनकी धार्मिक समस्याओ का चित्रण किया है, "...लेकिन यह आठ करोड व्यक्तियो का अछूतापन जन्म, मृत्यु आदि के अछूतेपन से बिल्कुल अलग है, यह स्थायी होता है। जो हिन्दू उनको छू लेते है वे स्नान इत्यादि करने से पवित्र हो सकते है, लेकिन ऐसी कोई वस्तु नही है जो कि 'अछूत' को पवित्र कर सके। वे लोग अपवित्र ही जन्म लेते है। वे जीवनपर्यन्त अपवित्र बने रहते है। वे अपवित्र ही बने रहकर मर भी जाते है, और वे जिन बच्चो को जन्म देते है वे बच्चे भी अपवित्रता का टीका माथे पर लगाए ही जन्म लेते है। यह एक स्थायी वंशानुगत कलंक है जो किसी भी प्रकार से हट नही सकता है।"

(2) सामाजिक समस्याएँ— अनुसूचित जातियो की अनेक सामाजिक समस्याएँ रही है। ये लोग अनेक सामाजिक निर्योग्यताओ के शिकार थे। समाज मे विभिन्न सुख-सुविधाओ को उपयोग करने मे असमर्थ तथा अयोग्य थे जिनको निम्नलिखित उपशीर्षको के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जा सकता है।

1. **समाज में निम्न स्थान**— अस्पृश्य जातियो की स्थिति भारतीय हिन्दू समाज मे सामाजिक सस्तरण में निम्नतम स्थान पर थी तथा शूद्र वर्ण के स्तर की जातियाँ अस्पृश्य जातियो से उच्च परन्तु वैश्य वर्ण के स्तर की जातियो से निम्न श्रेणी मे स्थित थीं। के.एम. पणिक्कर ने समीक्षा करते हुए लिखा है, "विचित्र बात तो यह है कि स्वय अस्पृश्यो के अन्दर एक पृथक् जाति का जैसा सगठन था। सवर्ण हिन्दुओ के समान उनमे भी बहुत उच्च तथा निम्न स्थिति वाली उप-जातियो का सस्तरण था, जो एक-दूसरे से श्रेष्ठ होने का दावा करती थी।"

अनुसूचित जातियो की सामाजिक स्थिति निम्न होने के कारण उनसे उच्च जातियाँ घृणा करती थीं। यह निम्न स्थिति प्रदत्त थी। अर्थात् जो जिस अनुसूचित जाति मे जन्म लेता था वह आजन्म

उसी जाति का सदस्य रहता था। वह अपने परिश्रम, सच्चाई, कार्यकुशलता आदि के द्वारा अपनी निम्न स्थिति से छुटकारा नहीं पा सकता था। उसकी समाज मे प्रस्थिति तथा भूमिका जन्म के कारण निश्चित हो जाती थी जो प्रत्येक क्षेत्र में दयनीय, असमर्थ तथा अयोग्यताओ से पूर्ण होती थी।

2. सामाजिक सम्पर्क पर प्रतिबन्ध– अनुसूचित जातियों पर सामाजिक सम्पर्क के सन्दर्भ में अनेक निषेध थे। ये निषेध अनुसूचित जाति विशेष के अनुसार अलग-अलग क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न थे। सबसे अधिक प्रतिबन्ध अनुसूचित जातियों में अस्पृश्य जाति तथा चमार जाति पर थे। जैसे-जैसे संस्तरण में निम्न से उच्च की ओर जाते हैं प्रतिबन्ध, असमर्थता तथा निर्योग्यताएँ कम होती चली जाती हैं।

इन जातियों को उच्च तथा सवर्ण जातियों के साथ सामाजिक सम्पर्क करना प्रतिबन्धित था। मनुस्मृति में उल्लेख मिलता है, "चाण्डालो अथवा अस्पृश्यों का निवाह तथा सम्पर्क अपने बराबर वालो के साथ ही हो एवं रात को इन्हें गाँव अथवा शहर में घूमने-फिरने का अधिकार नहीं दिया जाए।"

घुर्ये ने बताया है कि महाराष्ट्र की अनुसूचित जाति 'महार' के लोगो के लिए यह आवश्यक था कि लोग घर से बाहर हर समय अपने गले मे एक बर्तन लटकाए रखें जिससे जरूरत पड़ने पर वह उसमे थूक सके। कहीं भी जमीन पर थूकना उनके लिए निषेध था। वह ब्राह्मण से दूर रहता था। इनकी ब्राह्मण पर छाया पड़ने से ब्राह्मण अपवित्र हो जाता था।

भारत के अनेक समाजो, ग्रामों, नगरो तथा बस्तियों में अनेक अनुसूचित जातियों के लोग अपनी गन्दी बस्तियो के बाहर नही निकल सकते थे। प्रातःकाल 9 बजे से पहले तथा सायं 3 बजे के बाद उनका सड़को पर चलना मना था क्योंकि इस अवधि मे शरीर की परछाईं लम्बी बनती है जो सवर्णों पर पड़ने पर उन्हे अपवित्र कर देती थी। अनुसूचित जातियों के लोगों से बात करने, देखने, वस्त्र छूने से द्विज जातियो के लोग अपवित्र हो जाते थे।

3. पृथक् बस्तियाँ तथा आवास– अनुसूचित जातियाँ ग्राम तथा नगर के बाहर तथा दूर नीचे के गंदे स्थानो मे रहती थीं। नगर तथा कस्बो में गन्दी बस्तियो के रूप मे इन्हें आज भी देखा जा सकता है। इन निम्न बस्तियो की एक असमर्थता ये थी कि इन लोगो को स्वच्छ तथा साफ-सुथरे स्थलो पर अपनी झोपड़ियाँ बनाने का अधिकार नहीं था। इनको सवर्ण जाति की बस्तियो तथा मोहल्लो मे प्रवेश तक की अनुमति नहीं थी, रहने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है।

4. सार्वजनिक स्थानों तथा सुविधाओं के उपयोग पर निषेध– अनेक अनुसूचित जातियो को पाठशाला आदि मे प्रवेश निषेध था। सवर्ण जातियो के कुओ से पानी नही भर सकते थे। इन पर बस्ती के प्रमुख स्थलो मे प्रवेश पर निषेध था। पक्के मकान नहीं बनवा सकते थे। तन पर वस्त्र पहिनने पर निषेध था। केवल कमर तक ही स्त्री-पुरुष वस्त्र धारण कर सकते थे। ऊपर का शरीर नग्न रहता था। दुकानो से सामान नहीं खरीद सकते थे। मनुस्मृति के अनुसार, "मृत व्यक्ति के वस्त्र या पुराने चिथड़े ही इनके वस्त्र हो, मिट्टी के टूटे हुए टुकड़े इनके बर्तन हो, ये लोग लोहे के आभूषण पहने और रात-दिन घूमते-फिरते रहे। तालाबों, कुओ, मन्दिरो, पाठशालाओं, धर्मशालाओ तथा अन्य सार्वजनिक स्थानो का उपयोग करना इनके लिए प्रतिबन्धित था।

5. शिक्षा सम्बन्धी निषेध– लगभग सभी अनुसूचित जातियो पर शिक्षा प्राप्त करने का निषेध था। उनको शिक्षा प्राप्त करने की आज्ञा नहीं थी। इनकी सतानो के लिए पाठशाला, विद्यालय आदि मे प्रवेश लेना, शिक्षा प्राप्त करना असम्भव था। उन्हें धर्म पर चलने का उपदेश दिया जाता था।

पुस्तकों को पढना या सुनना, देखना तथा छूना तक प्रतिबन्धित था। ये लोग निरक्षर होते थे।

6. मनोरंजन सम्बन्धी निषेध— अनुसूचित जातियों के लिए किसी भी प्रकार का मनोरंजन उपलब्ध नहीं था। इन जातियों के सदस्यों को चौपालों, मेलों, रामलीला, खेल-कूद-प्रतियोगिता, *मल्ल-युद्ध, हाटों, बाजारों, कठपुतली का तमाशा* आदि को *देखना, शामिल होना, भाग लेना* आदि का अधिकार नहीं था। कीर्तन आदि की ध्वनि की सीमा से भी इन्हे दूर रखा जाता था।

7. एक पृथक् समाज के रूप में— अनुसूचित जातियाँ एक पृथक् तथा अलग-थलग समाज के रूप में गाँव के किसी दूर कोने में जीवन बसर करती थीं। अस्पृश्य जाति की स्थिति तो इतनी दयनीय थी कि कल्पना करना भी मुश्किल है। के.एम. पणिक्कर ने लिखा है, "जाति व्यवस्था जब अपनी *यौवनावस्था में क्रियाशील थी उस समय इन अस्पृश्यों (पंचम वर्ण) की स्थिति कई प्रकार से दासता* से से खराब थी। दास तो कम से कम एक स्वामी के ही अधीन होता था और इसलिए उसके अपने स्वामी के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध होते थे। लेकिन अस्पृश्यो के परिवार पर तो गाँव भर की दासता का भार होता था।"

सारांश मे यही कहा जा सकता है कि अनुसूचित जातियो की अनेक सामाजिक निर्योग्यताएँ और असमर्थताएँ थीं जिनकी कल्पना करना भी कठिन है।

(3) आर्थिक समस्याएँ— *जाति व्यवस्था के द्वारा अस्पृश्य जातियों का बहुत अधिक आर्थिक* शोषण हुआ था। इनकी दयनीय आर्थिक स्थिति का स्पष्टीकरण निम्नलिखित बिन्दुओ से और स्पष्ट हो जाएगा—

1. प्रतिबन्धित व्यवसाय— जाति व्यवस्था के अन्तर्गत सवर्ण जातियो ने अच्छे, पवित्र, कम श्रम वाले व्यवसाय अपने और अपनी सन्तानो के लिए सुरक्षित कर रखे थे। अस्पृश्य जातियो तथा शूद्र वर्ण की जातियो को निम्न कोटि के व्यवसाय करने के लिए प्रतिबन्धित कर दिया था। व्यवसाय प्रदत्त होते थे। जो निम्न जाति मे जन्म लेता था, आजन्म वह उसी जाति का व्यवसाय करता था। अस्पृश्य लोग सफाई करने, मल-मूत्र उठाने, मरे हुए पशुओ को उठाने आदि का कार्य करते थे। कुछ जातियाँ चमडे *का कार्य करती थी। इनको अन्य कार्य करने नही दिया जाता था, जैसे—खेती* करना, दुकानदारी करना, घरो मे पानी भरना आदि। शूद्र वर्ण के स्तर की जातियाँ जो अनुसूचित जातियो मे आती हैं वे उनसे कुछ अधिक स्वच्छ प्रकार के व्यवसाय करती थीं। परन्तु आर्थिक लाभ की दृष्टि से उनको पारिश्रमिक कोई विशेष नही मिलता था। ये लोग श्रमिक थे। भूमिहीन श्रमिकों के रूप मे कार्य करते थे। बन्धुआ श्रमिक भी होते थे।

2. सम्पत्ति सम्बन्धी प्रतिबन्ध—सम्पत्ति नाम की इनके पास कोई वस्तु नही होती थी। इनकी आर्थिक स्थिति हमेशा भूखे-नगे, दरिद्रतापूर्ण रही है। मकान नाम की कोई चीज इनके पास नही होती थी। बस्ती से दूर गन्दे स्थानो पर नाम मात्र की झोंपड़ियों में गर्मी, सर्दी और बरसात मे अपना जीवन व्यतीत करते थे। *ये लोग सोना, चाँदी, पीतल, कासा आदि धातु की वस्तुएँ अपने पास नही* रख सकते थे। ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मण अपनी इच्छा से अपने शूद्र सेवक की सम्पत्ति जब्त कर सकता था क्योंकि शूद्र को सम्पत्ति रखने का अधिकार नही था।

3. भोजन, वस्त्र और आवास की समस्या— अस्पृश्य जातियो तथा शूद्र वर्ण के स्तर की जातियो को खाने को भर पेट भोजन भी नहीं मिल पाता था। कठोर शारीरिक श्रम के बाद भी ये अपनी तथा परिवार की भोजन व्यवस्था भी नही कर पाते थे। ये लोग हमेशा भूखे-नगे रहे थे। रूखी-सूखी रोटियों के लिए ये उच्च जातियो के आगे हमेशा हाथ फैलाए देखे जा सकते थे।

फटे-पुराने-वस्त्र, चिथड़े, मृत शरीर से उतरे कपड़े इनको पहिनने को दिए जाते थे। आवास के नाम पर ये टूटी-फूटी झोपड़ियों में, गंदे स्थानों में निवास करते थे।

(4) राजनैतिक समस्याएँ— अनुसूचित जातियों को कोई राजनैतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। किसी भी झगड़े, चोरी, बेईमानी, दंगे फसाद में वे लोग गवाही नहीं दे सकते थे। वे लोग पंच और सरपंच नहीं बन सकते थे। इनको मतदान करने का अधिकार स्वतंत्रता प्राप्ति से पहिले किसी भी काल मे नही था। सामाजिक और राजनैतिक संगठनों में इनको किसी भी सार्वजनिक या प्रशासनिक पद पर नियुक्त नहीं किया जाता था। इनको किसी भी राजनैतिक क्रिया तथा कार्यों में भाग लेना निषिद्ध था। एक ही प्रकार के अपराध के लिए सवर्ण जाति के लोगों को जहाँ साधारण दण्ड या जुर्माना किया जाता था, वहीं इनके लिए कठोर दण्ड तथा भारी जुर्माने की व्यवस्था थी। इनके पास किसी भी प्रकार के नागरिक अधिकार नहीं थे। राजनैतिक शासन में इनकी कोई भूमिका नहीं होती थी, जैसे— सुझाव देने, हस्तक्षेप करने, सुरक्षा तथा नौकरी प्राप्त करने आदि का कोई अधिकार नही था। इसके लिए ये अयोग्य तथा असमर्थ थे।

(5) अन्य समस्याएँ— स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत के संविधान के द्वारा इन अनुसूचित जातियों को अनेक सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक, शैक्षिक आदि अधिकार प्राप्त हो गए हैं। अधिकतर इनको सिद्धान्त तथा कानून के रूप में अनेक सुविधाएँ तथा अधिकार प्राप्त हो गए हैं परन्तु व्यवहार में अभी काफी कुछ करना तथा होना शेष है। कानून द्वारा इनकी सभी निर्योग्यताएँ, असमर्थताएँ तथा अयोग्यताएँ समाप्त घोषित कर दी गई है। लेकिन कुछ और समस्याएँ उठ खड़ी हुई है। सरकार द्वारा दी गई आर्थिक सुविधाएँ इन तक पूरी नही पहुँच पाती है। बिचौलिये खा जाते है। अनेक क्षेत्रो मे अभी भी अनुसूचित जातियाँ सवर्णों के डर के कारण अपनी पूर्व स्थिति में ही जीवन व्यतीत कर रही है। सवर्ण और अवर्ण में झगड़े, मारपीट, आगजनी, हत्याएँ, लूटमार आदि होती रहती है। जो अनुसूचित जातियो के परिवार आरक्षण, आर्थिक सहायता, शिक्षा आदि के द्वारा ऊपर उठ गये हैं, वे स्वय अपनी जाति से अलग रहना पसन्द करते हैं। उनमे परस्पर सामाजिक दूरियाँ बढ़ रही हैं। चुनाव के द्वारा जो इन जातियों के सदस्य मन्त्री तथा अन्य राजनैतिक पदो को प्राप्त कर लेते है वे अपनी जाति के सदस्यो का ध्यान नहीं रखते है केवल अपना एवं अपने परिवार के सदस्यो का ध्यान रखते है। दूसरी ओर सदियों से जो शोषण इनका सवर्ण जाति के सदस्य कर रहे थे उनसे भी ये बदला लेने, झगड़ा करने व नीचा दिखाने का प्रयास करते है। इससे परस्पर तनाव तथा संघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती है। अनुसूचित जातियों का उत्थान बहुत कम हुआ है। अभी इनका विकास होना शेष है।

अस्पृश्यता

अस्पृश्यता जाति-प्रथा का एक प्रमुख दोष रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अनेक नियम इसको समाप्त करने के लिए पारित किए गए। केन्द्र एव राज्य के स्तर पर इसको समाप्त करने के लिए भी अनेक कार्य किए गए जिसका प्रभाव वर्तमान मे देखा जा सकता है। अस्पृश्यता, पवित्रता तथा अपवित्रता के कठोर नियमो मे कमी आई है। जैसा कि पिछले पृष्ठो मे हेविस द्वारा वर्णित अस्पृश्य जातियो की स्थिति को उद्धृत किया गया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि इस जाति की कितनी दयनीय स्थिति थी। नगरों मे तो परिवर्तन हो रहा है। परन्तु ग्रामो मे इसके परिवर्तन की गति धीमी है। उच्च जातियाँ अस्पृश्यता को गंभीर नहीं मानती हैं। उनके विचारों तथा व्यवहारों मे परिवर्तन हो रहा है। द्विज जातियाँ अब जन्म, विवाह, मृत्यु तथा विशेष उत्सवों पर पवित्रता का विशेष ध्यान नहीं रखती है। नगरो मे सार्वजनिक स्थानो, बसो, रेलो, होटलो, कार्यालयो, स्टेशनो, चुनाव आदि

में हरिजनों के साथ सवर्ण जातियाँ दैनिक जीवन में छुआछूत, अपवित्रता आदि का विशेष ध्यान नहीं रखती हैं।

समाजशास्त्री ऐसा मानते है कि जाति मे उदारवादी प्रवृति आ रही है तथा यह एक लोचदार और परिवर्तनशील सामाजिक संस्था बन गई है। ग्रामो में स्थिति कुछ अधिक रूढ़िवादी है। वहाँ पर जमींदार, सवर्ण हिन्दू, भू-स्वामी, बडी जातिवाले कृषक आदि सम्पन्न होने के कारण निम्न जातियो से काम करवाते थे तथा इनका शोषण करते थे। वह अब कुछ कम हुआ है। परन्तु यह कहना बहुत कठिन है कि अस्पृश्यता पूर्ण रूप से समाप्त हो गई है। अस्पृश्यता अभी भी गाँवो मे विद्यमान है। इनकी आर्थिक स्थिति बहुत दयनीय है। ग्रामो मे ये लोग अभी भी सम्पन्न लोगो की दया पर आश्रित हैं। अस्पृश्य लोग गरीब, निर्धन, असहाय, साधनहीन होने के कारण उच्च जातियो की दया पर आज भी निर्भर है। जो अस्पृश्य लोग उच्च जातियो के साथ जुड गए है इनका शोषण कम होता है परन्तु अस्पृश्य लोग गरीबी रेखा से नीचे जीवन व्यतीत करते है। अगर ये अस्पृश्य लोग अपने अधिकारों की माँग करते हैं तो इन पर अत्याचार किए जाते है। इन पर सबसे अधिक अत्याचार उत्तर भारत मे होते है।

अनुसूचित जातियों पर अत्याचार और उनका शोषण

भारतीय जाति एक ऐसी सामाजिक संस्था है जो धर्म द्वारा अनुप्राणित है। वास्तव मे जाति ही अनुसूचित जातियों के शोषण के लिए उत्तरदायी है। ग्रामो मे जाति ही सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक कृत्यो पर नियंत्रण करती है। श्रम-विभाजन जाति द्वारा नियंत्रित होता है। जाति ने वर्ग-चेतना को कमजोर बनाया है। जहाँ कृषक और औद्योगिक श्रमिक आर्थिक दृष्टि से एक वर्ग बना लेते है, वहाँ जाति व्यवस्था उन्हें एक नहीं होने देती और धर्म के आधार पर अलग श्रेणियाँ बन जाती हैं। इस प्रकार जाति ही अनुसूचित जातियो मे वर्ग-चेतना लाने मे बाधक है। जाति के कारण अनुसूचित जातियाँ अपना उत्थान नहीं कर पा रही है। आज जब इनमे सामाजिक गतिशीलता का प्रादुर्भाव हुआ है तो ये जातियाँ अपने हितो के लिए संघर्ष करती है, विरोध मे प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करती है इससे उच्च जाति से उसके सम्बन्ध विकृत होते है। क्योंकि हिन्दू जातियाँ इनको उच्च प्रस्थिति, अच्छी नौकरी और उच्च पदो पर देखकर कुंठित होती हैं। इस तरह उच्च जातियो और अनुसूचित जातियो मे संघर्ष चलता रहता है। आज अनुसूचित जातियो मे भी साक्षरता आ गई है, और योग्यता के आधार पर वे उच्च शिक्षा व पदोन्नति की माँग करने लगी है, वे अपने लिए उस स्थिति तक आरक्षण की माँग करने लगी है जब तक वे सवर्ण जातियों के स्तर को प्राप्त नहीं कर लेती। इससे भी संघर्ष की स्थिति बन रही है।

इन अनुसूचित जातियो में भी संस्तरणात्मक स्थिति उत्पन्न हो गई है। जो अनुसूचित जातियाँ आज उच्च वर्ग से जुड़ जाती है, अत्याचार और शोषण से सुरक्षा पा जाती है, तथा जमींदार, साहूकार आदि उनके साथ दुर्व्यवहार भी नहीं करते। किन्तु जो अनुसूचित जातियाँ खेतिहर मजदूर है या मेहनत के अन्य कार्य करती है, उन पर उच्च वर्ग द्वारा अमानवीय व्यवहार किए जाते है। उनके साथ मारपीट करना, आक्रमण करना, उनकी महिलाओ पर अत्याचार करना आदि दुर्व्यवहार किए जाते है, और जब ये लोग उन अत्याचारो के विरोध मे आवाज उठाते है तो इनका सामाजिक बहिष्कार किया जाता है। इन दुर्घटनाओ का प्रमुख कारण कम मजदूरी देना, बेगार करवाना, सार्वजनिक स्थानो के उपयोग पर प्रतिबन्ध लगाना, भूमि सम्बन्धी संघर्ष, व बँटाईदार के दावेदार अधिकार आदि रहे है। इस सामाजिक गतिशीलता का परिणाम जागरूकता रहा है और उ

अनुसूचित जातियाँ शिक्षित होकर अपने अधिकारों के प्रति सजग हो गई हैं, उनसे उच्च जातियों का टकराव होता रहता है। रामकृष्ण मुकर्जी ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किए हैं। आपने जाति-वर्ग सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि जाति-उपद्रव उन स्थानों में बहुत होते हैं जहाँ पर जाति के आधार पर सामाजिक वंचन स्पष्ट रूप से वर्ग पर आधारित वंचन से सह-सम्बन्धित है।

पुलिस द्वारा किए गए दर्ज मामलों से स्पष्ट हो जाता है कि अनुसूचित जातियों पर अत्याचार बढ़े हैं। पुलिस ने 1955 में 180, 1960 में 509, 1972 में 1,515, 1979 में 13,884, 1987 में 19,342 और 1992 में 21,796 मामले अनुसूचित जातियों से सम्बन्धित दर्ज किए। 1992 में मारे जाने के 712; मारपीट के 1734, बलात्कार के 1042 और आगजनी के 664 मामले दर्ज किए गए। अनुसूचित जातियों के विरुद्ध सबसे अधिक अपराध उत्तर प्रदेश में होते हैं। यह तथ्य 1992 में दर्ज किए गए अपराधों से स्पष्ट होता है। इसी वर्ष अनुसूचित जातियों के विरुद्ध कुल अपराधों का 29.5% उत्तर प्रदेश, 27.8% मध्यप्रदेश, 15.5% बिहार, 6.4% केरल और 5.5% राजस्थान में दर्ज किए गए। 56% अपराध तो उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में ही दर्ज किए गए। यह एक गंभीर समस्या है। आधे से अधिक अपराध अनुसूचित जातियों के विरुद्ध उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में ही होते हैं तथा इनके साथ बिहार को मिला दें तो देश के कुल अपराधों का लगभग तीन-चौथाई से कुछ कम अपराध इन राज्यों में ही हो जाते हैं। इन आंकड़ों से स्पष्ट हो जाता है कि अनुसूचित जातियों का सर्वाधिक शोषण एवं इन पर अत्याचार इन तीन प्रान्तों में होता है।

मई 1977 को बिहार के बेलची में 9 हरिजनों को जीवित जला दिया गया था। ऐसा ही नृशंसतापूर्ण अत्याचार बिहार के अन्य क्षेत्रों धर्मपुर, गोपालपुर, पथड़ा, छौदनों और कर्मधर में भी हुआ था। इनके मारे जाने का कारण हरिजन होना तथा धनी एवं प्रमुख जमींदारों के खेतों पर बँटाईदारों एवं कृषक श्रमिकों के रूप में काम करने से मना करना था। अनुसूचित जातियों पर अत्याचार तथा उनका शोषण दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा है। इसका कारण जमीन के झगड़े, ऋणग्रस्तता, बेगार, निम्नतम मजदूरी और सार्वजनिक स्थानों पर नहीं जाने देना है। जब जुलाई 1978 में मराठवाड़ा विश्वविद्यालय का नाम बदल कर डॉक्टर बाबा साहेब अम्बेडकर विश्वविद्यालय नाम रखा जाने की बात आई तो घोर विरोध एवं उपद्रव हुए। उच्च जाति के लोगों ने इसका विरोध इसलिए किया क्योंकि वे हरिजन नेता के नाम के विरोधी थे। अनुसूचित जातियों के विरुद्ध जब भी हिंसा भड़कती है तब इन निम्न जातियों की झोपड़ियाँ और घर जला दिए जाते हैं, हत्याएँ कर दी जाती हैं। इनकी बस्तियों को लूट लिया जाता है। हरिजनों की स्त्रियों की इज्जत लूट लेते हैं। इनके पशुओं को मार डालते हैं। पीने का पानी नहीं लेने देते हैं। रोजगार से बेरोजगार कर देते हैं। उच्च जाति के प्रमुख लोगों को जब भी कोई निर्णय अस्पृश्य जातियों के पक्ष में तथा स्वयं के विरुद्ध लगता है तो वे ऐसा ही करते हैं। इन अत्याचारों के कारण ये निम्न जातियाँ ईसाई और मुसलमान धर्म अपना लेती हैं। 1981 में तमिलनाडु के मीनाक्षीपुरम में 1000 हरिजनों ने इस्लाम धर्म अपना लिया था। अनुसूचित जातियों की स्थिति दयनीय हो जाती है तब वे धर्म-परिवर्तन को अन्तिम हल मान कर धर्म-परिवर्तन कर लेते हैं।

अनुसूचित जातियों का कल्याण

अनुसूचित जातियों की विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिए गैर-सरकारी प्रयास समाज सुधारकों, धर्म प्रचारकों, राजनैतिक नेताओं आदि द्वारा समय-समय पर अनेक व्यक्तिगत तथा सामूहिक स्तर पर किए गए। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जो सरकारी प्रयास किए गए हैं वे भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

(1) गैर-सरकारी प्रयास— कबीर, रामानुज, जगद्गुरु आदि शंकराचार्य, चैतन्य, नानक, रामकृष्ण परमहंस, महर्षि दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, केशवचन्द्र सेन, रंगाराव शिन्दे, राजा राममोहन राय, महात्मा गाँधी आदि ने अपने-अपने समय मे विभिन्न अनुसूचित जातियों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति को सुधारने का प्रयास किया, जिससे कि उनकी राजनैतिक तथा सार्वजनिक स्थिति भी सुधरे।

अस्पृश्यता को दूर करने के लिए अनेक प्रयास किए गए हैं। स्वयं अस्पृश्य जातियो द्वारा भी इसके निवारण के लिए आंदोलन किये गये। सर्वप्रथम ज्योति राव फूले के द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे संगठित रूप से अस्पृश्यता को समाप्त करने के लिए प्रयास किया गया। आपने पूना में 'सत्य शोधक समाज' की स्थापना की थी। इसके द्वारा अस्पृश्यों को अनेक अधिकार दिलवाने के लिए प्रयास किये गये। धार्मिक कारणों के आधार पर यह आन्दोलन दबा दिया गया जिसे बाद में पुन अम्बेडकर ने चलाया। आपके द्वारा 'अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ' और 'अखिल भारतीय दलित वर्ग फैडरेशन' सन् 1920 में स्थापित किये गये। अस्पृश्य जातियो ने इन सगठनो के द्वारा धार्मिक और सामाजिक अधिकारो की माँग की थी।

अनुसूचित जातियों को हिन्दू का अभिन्न अग बनाये रखने तथा इनका बहुमुखी विकास करने के लिए महात्मा गाँधी का कार्य विशेष उल्लेखनीय है। आपने ब्रितानिया सरकार की चाल को समझा तथा इन जातियो को हिन्दुओ से अलग करने की नीति के विरुद्ध आमरण अनशन किया था। गाँधीजी ने अनुसूचित जातियो की विभिन्न समस्याओ के समाधान के लिए इसे राजनैतिक कार्यक्रम का एक अभिन्न अग बनाया था जिसके परिणामस्वरूप आज भारत के सभी राजनैतिक दलो के कार्यक्रमो का यह एक महत्वपूर्ण अग बन गया है। महात्मा गाँधी के प्रयासों से 'हरिजन सेवक सघ' की स्थापना सन् 1932 मे की गई। इस सघ के द्वारा किये गये प्रयासों के फलस्वरूप हरिजनो को दक्षिण भारत मे मन्दिरो मे प्रवेश करने का अधिकार मिला। इसने पिछड़े वर्गों के विकास के अवसर प्रदान कराए। मानवो के बीच समानता तथा बन्धुत्व की भावना का प्रचार किया गया। अस्पृश्यता निवारण के लिए प्रयास किए गए। इस सघ द्वारा हरिजनो मे शिक्षा का प्रसार तथा व्यवसाय सम्बन्धी प्रशिक्षण के लिए प्रयास किये गये। इसके द्वारा कुटीर उद्योगो की भी स्थापना की गई। सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डियन सोसायटी, रामकृष्ण मिशन आदि सस्थाओ ने अनुसूचित जातियों के सामाजिक कल्याण तथा विकास के लिए समय-समय पर अनेक कार्य किये।

अनुसूचित जातियो के लिए दलित वर्ग संघ', 'अनुसूचित जाति सघ' तथा अन्य अनेक राज्य तथा अखिल भारतीय स्तर के हरिजन सगठनो ने अनेक कार्यक्रम अनुसूचित जातियो की समस्याओ के निवारण के लिए चला रहे है, जैसे— सास्कृतिक कार्यक्रम, विचारगोष्ठियाँ आदि। अनुसूचित जातियो के उत्थान के लिए पिछले दशक से 'विश्व हिन्दू परिषद' भी कार्य कर रही है।

सरकारी प्रयास

स्वतत्रता प्राप्ति से पूर्व तथा बाद मे सरकार द्वारा अनुसूचित जातियो के विकास के लिए प्रयास किये गये है, जो निम्नलिखित प्रकार है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व अखिल भारतीय कांग्रेस दल ने अंग्रेजी सरकार पर समय-समय पर इनके उत्थान तथा प्रतिबन्धों को दूर करने के लिए दबाव डाला था जिसके परिणामस्वरूप अंग्रेजी सरकार ने सन् 1930 मे अनुसूचित जातियों की नौकरी तथा शिक्षा से सम्बन्धित निर्योग्यताओ तथा प्रतिबन्धो को समाप्त करने के लिए अनेक कदम उठाये।

अंग्रे- ' रकार ने उन जातियों की सूची तैयार करवाई जो अनेक प्रकार की असमर्थताओं तथा प्रतिबन्धों से पीड़ित थीं। इस सूची में सम्मिलित जातियों के उत्थान के लिए इनको विशेष सुविधाएँ प्रदान की गईं। सन् 1940 में अंग्रेजी सरकार ने संसद में अनुसूचित जातियों के लिए दो स्थान सुरक्षित किए।

कांग्रेस दल ने स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व न केवल अंग्रेजी सरकार को इन जातियों के उत्थान के लिए दबाव डाला बल्कि जब भी इनको अवसर मिला स्वय ने भी इनकी निर्योग्यताओं को दूर करने का भरसक प्रयास किया। सन् 1936 मे भारत के जिन प्रदेशों में कांग्रेस सरकारें सत्ता में आईं वहाँ-वहाँ इन्होंने अनुसूचित जातियों की निर्योग्यताओं को दूर करने के लिए कानून पारित किए। इन्होंने अनुसूचित जातियों को शिक्षा, नौकरी तथा मन्दिरों मे प्रवेश दिलवाने सम्बन्धी कानून बनाये। उन्हें छात्रवृत्तियाँ दिलवाने की व्यवस्था की थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी इस दल ने अनेक कार्य किये।

(1) संवैधानिक कार्य,
(2) सहायता कार्य और
(3) कल्याण कार्य।

(1) संवैधानिक कार्य— भारत के स्वतन्त्र होने के बाद जो सविधान बना उसमे संविधान निर्माताओं ने अनुसूचित जातियो तथा अन्य ऐसे ही वर्गों की निर्योग्यताओं, असमर्थताओं तथा प्रतिबन्धों को दूर करने के लिए अनेक अधिनियम बनाये है। सभी की विवेचना करना तो यहाँ पर सम्भव नहीं है लेकिन आगे कुछ महत्त्वपूर्ण अधिनियमों का उल्लेख किया जा रहा है—

धारा 15— इस धारा के अनुसार राज्य किसी भी नागरिक के विरुद्ध धर्म, वंश, जाति, लिंग और जन्म स्थान अथवा इनमें, किसी भी आधार पर कोई भेद-भाव नहीं बरतेगा। इनमें से किसी आधार पर कोई नागरिक दुकानों, भोजनालयों, होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानो में प्रवेश के बारे मे किसी भी अंश मे राज्य द्वारा पोषित या साधारण जनता के लिए समर्पित कुओ, तालाबो, घाटों, सडकों या सार्वजनिक समागम के स्थानो के उपयोग के बारे मे किसी भी निर्योग्यता, प्रतिबन्ध या शर्त के अधीन नही होगा।

धारा 16— इस धारा के अनुसार राज्याधीन नौकरियो या पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में समस्त नागरिको के लिए अवसर की समता होगी। धर्म, वश, जाति, लिग, स्थान, निवास आदि के आधार पर कोई नागरिक सरकारी पदों के लिए अपात्र नहीं माना जाएगा और न ही कोई भेदभाव किया जाएगा।

धारा 17— इस धारा के द्वारा अस्पृश्यता को समाप्त घोषित किया गया है। अस्पृश्यता का व्यवहार और उससे पैदा हुई निर्योग्यता को लागू करना कानूनी अपराध माना जाएगा और ऐसा आचरण दण्डनीय अपराध माना गया है। राज्य की ओर से दण्ड दिया जायेगा।

धारा 25— इस धारा के द्वारा इनको धर्म सम्बन्धी स्वतन्त्र अधिकार दिए गए है। राज्य के हिन्दुओं की सार्वजनिक सस्थाओ को सब वर्गों के लिए खोलने और सामाजिक सुधार के कानून बनाने के अधिकार सरकार ने अपने हाथ मे ले लिए है।

धारा 29— इस धारा के अनुसार कोई भी नागरिक धर्म, वश, जाति, भाषा आदि के आधार पर किसी सरकारी सहायता प्राप्त शिक्षण सस्था मे प्रवेश से वंचित नही किया जाएगा।

धारा 38— इसके द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना और रक्षा करने का भरसक प्रयास करेगा जो सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय के द्वारा राष्ट्रीय जीवन की सब संस्थाओं को अनुप्राणित करके लोक कल्याण की वृद्धि करे।

धारा 46— इस धारा के द्वारा राज्य की ओर से जनता के दुर्बल वर्गों, अनुसूचित जातियो और जनजातियों को आर्थिक और शिक्षा सम्बन्धी विशेष सुविधाएँ देने की व्यवस्था की गई है जिससे वे अपनी उन्नति कर सके। इस धारा मे सामाजिक न्याय एव शोषण से भी दलित वर्गों के सरक्षण की व्यवस्था की गई है।

धारा 330, 332 और 334— इन धाराओं के द्वारा ससद तथा राज्यों के विधान मण्डलों में 20 वर्ष तक अनुसूचित जातियो ओर अनुसूचित जनजातियों को प्रतिनिधित्व की विशेष सुविधा दी गई है। इस अवधि को समय-समय पर बढाया जाता रहा है तथा आज भी इन्हे यह सुविधा दी जा रही हैं। इसके अन्तर्गत ससद में अनुसूचित जातियो के लिए 79 स्थान तथा विधान मण्डलो मे 559 स्थान सुरक्षित हैं। यह स्थिति 1982 मे थी।

धारा 164— इसके द्वारा जातियों के कल्याण तथा हितो की रक्षा के उद्देश्य से राज्यो मे सलाहकार परिषदो और पृथक् विभागो की व्यवस्था की गई है। इस धारा के द्वारा केन्द्र सरकार मे एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति की भी व्यवस्था की गई है।

धारा 335— इस धारा के द्वारा प्रशासन की कार्यकुशलता को ध्यान मे रखते हुए अनुसूचित जातियो तथा जनजातियो के लोगो को केन्द्र तथा राज्य सेवाओ मे स्थान दिया जायेगा। प्रतियोगी सेवाओ मे 15% तथा अन्य मे 16 66 स्थान सुरक्षित है। भारतीय प्रशासनिक सेवा मे अनुसूचित जातियों के लिए सन् 1957 मे 15 स्थान सुरक्षित थे जिसमे से केवल 5 स्थान भर पाये जबकि सन् 1962 मे सभी स्थान भर गये थे। सरकारी नौकरियो मे इनका प्रतिनिधित्व अभी भी काफी कम है।

अस्पृश्यता अपराध अधिनियम, 1955— इस अधिनियम की विभिन्न धाराओ के द्वारा अस्पृश्य जातियो की सभी निर्योग्यताओ तथा असमर्थताओं को समाप्त कर दिया गया है। इनमे मे कुछ प्रमुख प्रतिबन्धो का उल्लेख किया जा रहा है। इस अधिनियम की धारा 3 के अनुसार इन जातियो को सार्वजनिक पूजा के स्थानो मे जाने की स्वतन्त्रता होगी। सभी को धार्मिक पवित्र नदियो, तालाबो, घाटों आदि मे स्नान करने व पानी भरने की स्वतन्त्रता होगी। सभी लोग अपनी इच्छानुसार किसी भी प्रकार की पूजा-पाठ, प्रार्थना-अर्चना अथवा दूसरे धार्मिक सस्कार करने के लिए स्वतन्त्र होंगे। अगर कोई किसी को रोकेगा या टोकेगा तो सरकार द्वारा दी गई वित्तीय तथा अन्य सहायता बन्द की जा सकती है अथवा उनकी जमीन छीनी जा सकती है।

इस अधिनियम के द्वारा अनुसूचित जातियों को सभी सार्वजनिक स्थानो, जैसे— दुकानो, धर्मशालाओ, जलपान-गृहो आदि का उपयोग करने का अधिकार दे दिया गया है। इस अधिनियम के द्वारा ये लोग कोई भी व्यवसाय या व्यापार का चयन कर सकते है। इन जातियो पर पहले जो सार्वजनिक क्षेत्रो मे जाने, मकान या जमीन खरीदने, वस्त्र तथा आभूषण पहनने के प्रतिबन्ध थे, इस अधिनियम द्वारा समाप्त कर दिये गये है तथा इनको अब किसी भी कुएँ, नदी आदि का उपयोग करने की स्वतन्त्रता मिल गई है। अब ये कानून के सरक्षण मे कोई भी वस्त्र तथा आभूषण पहिन सकते है। अगर कोई दुकानदार इस जाति के सदस्यो को वस्तु बेचने या सेवा करने मे मना करेगा तो वह

दण्ड का भागीदार होगा। इस प्रकार स्वतन्त्र भारत सरकार ने समय-समय पर अनेक कानून, अधिनियम तथा धाराएँ पारित करके अनुसूचित जातियों के सदस्यों को पूर्ण रूप से समर्थ तथा योग्य बना दिया है। सभी प्रतिबन्ध तथा निर्योग्यताएँ समाप्त कर दी गई है। समय के साथ-साथ सवर्ण जातियों के व्यवहार में भी परिवर्तन आ रहा है तथा इनकी स्थिति धीरे-धीरे सुधार और विकास की ओर अग्रसर हो रही है।

(2) सहायता कार्य— अनुसूचित जातियों की स्थिति को सुधारने के लिए राज्य तथा केन्द्र सरकारों ने आर्थिक, शैक्षणिक तथा अनेक समाज कल्याण कार्यक्रमों को चलाकर इनका तेजी से विकास करने का भी भरसक प्रयास किया है तथा कर रही है। सरकार अपने विभागों तथा गैर-सरकारी समाज-कल्याण संगठनो को आर्थिक सहायता देकर इनका विकास तथा सुधार कर रही है। अनेक स्वयं सेवक संस्थाओं को अनुदान देकर अनुसूचित जातियों के लिए सहकारी संगठन स्थापित करती रही है तथा विकास के कार्यक्रम चलवा रही है। प्रारम्भ के 20 वर्षों में कल्याण योजनाओं पर इन जातियो के लिए एक अरब रुपया खर्च किया गया था। शिक्षा, आर्थिक विकास, स्वास्थ्य, आवास तथा अन्य मदों पर 69 करोड़ रुपया खर्च किया गया था। इन लोगों को मकान बनाने के लिए मुफ्त अथवा नाममात्र के ब्याज पर सहायता दी जाती है। इनके स्वास्थ्य सुधार के लिए अस्पतालो, बालकों तथा स्त्रियों के लिए स्वास्थ्य कल्याण केन्द्र खोले गये हैं। पीने के पानी की व्यवस्थाएँ की गई हैं। 1980-85 के वर्षों में अनुसूचित जातियों, जनजातियों, पिछडे वर्गों आदि के कल्याण तथा विकास कार्यक्रमों के लिए 2030.30 करोड़ रुपयों का प्रावधान रखा गया था। सातवीं योजना में कुल परिव्यय का 1.42% तथा आठवी योजना मे 1.36% अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा पिछड़े वर्गों के लिए रखा गया। इन आर्थिक सहायताओ के द्वारा इन जातियो की स्थिति में कुछ सुधार हुआ है तथा आगे भी सुधार होने की सम्भावना है।

(3) कल्याण कार्य— भारतीय संविधान की अनेक धाराओ, उप-धाराओं तथा अधिनियमों द्वारा अनुसूचित जातियो की अनेक निर्योग्यताओं को समाप्त किया गया है तथा कानूनी सुरक्षा भी प्रदान की गई है। इसके अतिरिक्त इनकी स्थिति पर नजर रखने, विकास के लिए सुझाव देने आदि के लिए केन्द्र के स्तर पर धारा 338 के अन्तर्गत एक उच्चायुक्त की नियुक्ति की व्यवस्था की गई है, जिसके अधीन उपायुक्त होंगे। इनका कार्य प्रत्येक प्रकार की सलाह देना है। सरकार ने कानून पारित करने के अतिरिक्त निम्नलिखित ठोस कल्याणकारी कार्य भी किये है—

3.1 संसद, विधानमण्डलों तथा पंचायतों में प्रतिनिधित्व— धारा 334 के अन्तर्गत अनुसूचित जातियो के लिए लोकसभा, विधानसभाओं तथा पंचायतों मे कुल स्थानो मे इनकी संख्या के अनुपात मे स्थान सुरक्षित रखे गए है। प्रारम्भ में ये सुरक्षित स्थान सविधान के लागू होने के 20 वर्ष तक के लिए सुरक्षित रखे गये थे।। बाद मे यह अवधि दस-दस वर्ष बढा दी जाती रही जो 25 जनवरी, सन् 1980, फिर 1990 तथा अब 25 जनवरी, सन् 2000 तक के लिए बढा दी गई है।। लोक सभा मे 543 स्थानों में से 79 स्थान तथा राज्य की विधान सभाओं के 4,047 स्थानो मे से 557 स्थान इन अनुसूचित जातियो के लिए आरक्षित हैं। इनके लिए आरक्षित स्थान कुल स्थानों का 15% होता है जो समय-समय पर बदलते रहते हैं। पंचायती राज संस्थाओं में इनके लिए स्थान सुरक्षित रखे गये है। इन सब प्रयासो के आधार पर ऐसा पाया गया है कि सबसे अधिक प्रगति अनुसूचित जातियों की राजनैतिक चेतना में हुई है।

3.2 नौकरियों में आरक्षण— धारा 335 के अनुसार प्रशासन की कार्यकुशलता को ध्यान में रखते हुए अनुसूचित जातियों के लोगों को केन्द्र तथा राज्य सरकारों की नौकरियो में आरक्षण प्रदान किया गया है जो *प्रतियोगी नौकरियों में 15% तथा अन्य में $16\frac{2}{3}$% है। तीसरी और चौथी श्रेणी* के कर्मचारियों मे सीधी भर्ती में स्थानीय या क्षेत्रीय उम्मीदवार लिये जाते है जिसमें राज्यो तथा केन्द्र शासित क्षेत्रों में इनकी कुल जनसंख्या के अनुपात में स्थान सुरक्षित किये जाते हैं। पदोन्नति में भी अनुसूचित जातियों के लिए 15% स्थान सुरक्षित हैं। ऐसा उसी स्थिति में होता है जब सीधी भर्ती 50% से अधिक नहीं होती है।

अनुसूचित जातियो के सदस्यों को योग्यता मानदण्ड में, जैसे आयु सीमा मे भी छूट दी जाती है। इस सम्बन्ध में समय-समय पर स्थिति का सर्वेक्षण, अध्ययन तथा मूल्याकन किया जाता है कि वस्तुस्थिति क्या है? इनके उत्थान में कितनी प्रगति हुई है? इन्होने अपने अधिकारों का कितना *उपयोग किया है?*

3.3 शिक्षा सम्बन्धी सहायता— स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले निजी समाज सुधार तथा समाज कल्याण सगठनो ने इनकी शिक्षा के विकास के लिए प्रयास किये थे। ईसाई मिशनरियो ने इसमे काफी काम किया था। अरकोट मिशन, दलित वर्ग मिशन, निर्धन स्कूल सोसायटी आदि उल्लेखनीय संस्थाये है जिन्होंने इनकी शिक्षा के लिए प्रयास किए, जिसके परिणामस्वरूप निम्न चरणो में इनमें विकास की स्थिति देखी गई— (1) प्रथम अवस्था में अनुसूचित जाति के बच्चो को पाठशाला मे प्रवेश तो दिया गया परन्तु कक्षा में प्रवेश नही करने दिया। (2) दूसरी अवस्था में कक्षा मे प्रवेश मिला परन्तु मौलिक रूप से इनको अलग बिठाया गया। (3) तीसरी अवस्था में इनमें तथा सवर्ण जाति के विद्यार्थियों मे भेदभाव समाप्त हो गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इनके लिए अनेक प्रयास सरकारी स्तर पर किये गये है। इनके बच्चों को छात्रवृत्तियाँ दी गई। 1947-48 मे 655 अनुसूचित जाति के विद्यार्थियो को मैट्रिक करने के बाद आगे पढ़ने के लिए छात्रवृत्ति दी गई जो 1967-68 मे सख्या बढाकर 1,04,098 छात्रो को छात्रवृत्ति दी गई थी। सन् 1961-62 में 5 छात्रो को विदेश में शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्रवृत्ति दी गई। 1967-68 मे ऐसी छात्रवृत्ति 10 छात्रों को दी गई। आजकल तो अनुसूचित जातियो के बच्चो को अनेक सुविधाएँ इनमे शिक्षा के प्रसार के लिए दी जा रही हैं, जैसे— छात्रावास की सुविधा, मुफ्त पुस्तके, कापियाँ, भोजन, रहने तथा अन्य खर्चों के लिए वित्तीय सहायता आदि दी जाती है।

अनुसूचित जातियों तथा जनजातियो के लिए अखिल भारतीय तथा अन्य केन्द्रीय सेवाओ की परीक्षा की तैयारी के लिए अनेक प्रशिक्षण केन्द्र खोले गये है। छठी पचवर्षीय योजना (1980-85) मे अनुसूचित जातियों, जनजातियो तथा पिछड़े वर्गों के 105 लाख छात्रो को माध्यमिक पूर्व स्तर *तक तथा 80 लाख छात्रो को माध्यमिक बाद की छात्रवृत्ति देने की व्यवस्था की गई थी। इनके बच्चो की शिक्षा के लिए पाँचवी पचवर्षीय योजना मे 197.35 करोड़ रुपया तथा छठी पचवर्षीय योजना* मे 506 50 करोड रुपयो का प्रावधान रखा था। इन सब प्रयासों से अनुसूचित जातियों मे शिक्षा का काफी प्रसार हुआ है। इन लोगो ने *शिक्षा प्राप्त करके सरकारी नौकरियाँ ही प्राप्त नहीं की है बल्कि* इनका सामाजिक और राजनैतिक विकास भी हुआ है।

निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने विभिन्न प्रकार की सहायता, प्रावधान, धाराओ, अधिनियमों तथा विभिन्न क्षेत्रो मे आरक्षण प्रदान करके 47% अनुसूचित जातियों का बहुमुखी विकास करने में कोई कसर नहीं उठा रखी है। इन प्रयासो से इनका विकास हो रहा है तथा भविष्य मे और तेजी से विकास की सम्भावना दृष्टिगोचर हो रही है।

अनुसूचित जातियों में सामाजिक गतिशीलता

जाति प्रथा मे सामाजिक गतिशीलता प्रतिबन्धित होती है अर्थात् कोई भी व्यक्ति या जाति समूह अपनी प्रस्थिति परिवर्तित नहीं कर सकता है। परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद विशेष रूप से भारतीय सविधान लागू होने के बाद, कोई भी व्यक्ति, समूह, उप-जाति या जाति अपनी प्रस्थिति बदल सकते है। सरकारी प्रयासों के द्वारा अनुसूचित जातियो को ऊँचा उठाने के अनेक प्रयास किए गए है। इन प्रयासो मे सफलता भी मिली है। अनेक अनुसूचित जातियाँ और इन जातियो के लोग ऊपर उठे हैं, इनकी स्थिति सुधरी है। परन्तु यह स्थिति बहुत कम मात्रा में ही सुधर पाई है। श्रीनिवास ने जातियों की गतिशीलता को 'संस्कृतिकरण' की प्रक्रिया के द्वारा समझाया है। आपकी मान्यता है कि निम्न जातियाँ संस्कृतिकरण के द्वारा जाति संस्तरण में ऊपर उठती हैं । श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण की निम्नलिखित परिभाषा दी है—

"संस्कृतिकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई निम्न हिन्दू जाति या कोई जनजाति अथवा कोई अन्य समूह किसी उच्च और प्राय द्विज जाति की दिशा में अपने रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन-पद्धति को बदलता है। सामान्यत ऐसे परिवर्तनों के बाद वह जाति जातीय संस्तरण की प्रणाली में जो स्थान उसे मिला हुआ है, उससे ऊँचे स्थान का दावा करने लगती है । साधारणत बहुत दिनों तक दावा किए जाने के बाद ही उसे स्वीकृति मिलती है।"

जो जाति या समूह सस्कृतिकरण करते हैं वे धर्म, कर्म, पाप-पुण्य, माया-मोह, मोक्ष जैसे शब्दों तथा भाषा का प्रयोग करते हैं । श्रीनिवास ने कहा है कि जो जाति उच्च होने का दावा करती है वह दो-तीन पीढियो में समाज में ऊँचा स्थान प्राप्त कर लेती है। योगेन्द्र सिह ने भी लिखा है कि, संस्कृतिकरण सापेक्ष रूप से बन्द हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में सांस्कृतिक और सामाजिक गतिशीलता की एक प्रक्रिया है। सस्कृतिकरण एक सामाजिक परिवर्तन का स्रोत है। आपका यह भी कहना है कि संस्कृतिकरण परिवर्तन का समाज में विद्यमान कारक है। जो संस्कृतिकरण करते है वे अपना परम्परागत व्यवसाय छोडकर उच्च जाति के व्यवसायो को अपनाते है। ऐसी जातियाँ जो समाज में ऊँचा उठना चाहती है वे उच्च जातियों के जीवन के तरीके, खान-पान रहन-सहन, आचार-विचार, आदि का अनुकरण करते हैं। दूसरी ओर अपनी परम्परा, रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज त्याग देते है। नर्मदेश्वर प्रसाद ने अपने अध्ययन मे पाया कि शूद्र एवं अस्पृश्य जातियों ने मासाहारी भोजन त्याग दिया, पर्दा-प्रथा अपना ली, महिलाओं को घर के बाहर व्यवसाय करने से रोक दिया। उच्च एवं पवित्र, साफ-सुथरे पेशे अपनाए और धीरे-धीरे जाति संस्तरण मे ऊँचे स्थान प्राप्त करने के लिए दावा किया। उनका समाज मे सम्मान तथा प्रस्थिति बढ़ी भी। अनेक अनुसूचित जातियों मे सस्कृतिकरण की प्रक्रिया के रूप मे सामाजिक गतिशीलता को देखा जा सकता है।

हट्टन तथा अन्य समाजशास्त्रियो ने लिखा है कि अनेक निम्न जातियों ने अपने मूल-निवास स्थान को छोड़कर दूर अन्य स्थानों में जाकर पवित्र व्यवसाय अपना कर अपनी सामाजिक स्थिति को ऊपर उठाया है, वर्तमान मे शिक्षा, व्यवसाय, आय तथा देशागमन के फलस्वरूप भी अनुसूचित जातियाँ ऊपर उठी हैं। सरकार द्वारा अनेक सुरक्षाएँ प्रदान करने का भी प्रभाव अनुसूचित जातियों की सामाजिक गतिशीलता को गति प्रदान करने पर पड़ा है। अनुसूचित जातियाँ शिक्षा प्राप्त कर रही हैं। नौकरियो मे 15% आरक्षण का लाभ उठा रही है। राजनैतिक क्षेत्र में चुनाव लड रही है। उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण पदो को प्राप्त किया है। उप-राष्ट्रपति, उप-प्रधानमंत्री, मुख्य मंत्री तथा ऐसे ही अनेक पदों पर कार्य किया है और कर रहे हैं। वर्तमान समय में अनुसूचित जातियों के लोगो में

आकांक्षाओं का स्तर काफी ऊँचा देखा जा सकता है। कानून ने अनुसूचित जातियों के लिए सामाजिक गतिशीलता को वैधानिकता प्रदान कर दी है। जैसे-जैसे इनमें आत्मविश्वास बढ़ेगा सामाजिक गतिशीलता में गति आएगी।

सामाजिक गतिशीलता के अवसरों के बढ़ने के साथ-साथ अनुसूचित जातियों में भी प्रतिस्पर्धा आ गई है। आज इनमें विद्यमान प्रतिस्पर्धा को तीन रूपों में देखा जा सकता है— (1) एक अनुसूचित जाति समूह के रूप में अन्य सवर्ण जातियों के साथ प्रतिस्पर्धा करती है तथा सामाजिक संरचना में अपना स्थान ऊँचा उठाने का प्रयास करती है। (2) एक अनुसूचित जाति अन्य अनुसूचित जातियों से प्रतिस्पर्धा करके समाज में उनसे ऊँचा स्थान प्राप्त करने का प्रयास करती है, और (3) एक अनुसूचित जाति के सदस्य परस्पर एक-दूसरे से ऊँचा उठने का प्रयास करते हैं।

1991 की जनगणना के अनुसार भारत में अनुसूचित जातियों की कुल जनसंख्या 13.623 करोड़ है। इतनी बड़ी जनसंख्या को कल्याणकारी कार्यक्रमों तथा संवैधानिक प्रावधानों के द्वारा एक साथ ऊँचा उठाना सम्भव नहीं है। जिन लोगों तक लाभ पहुँचा वे लोग तो ऊँचे उठ गए तथा अन्य यथावत रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि विभिन्न अनुसूचित जातियों के बीच सामाजिक और आर्थिक असमानता पैदा हो रही है। अनुसूचित जातियों में जागृति आ गई है। वे अब अच्छी तरह से समझ गए हैं कि सदियों से उच्च जातियों ने उनका भरपूर शोषण किया है और आज भी करने से बाज नहीं आए है। इस चेतना ने अनुसूचित जातियों में उच्च जातियों के विरुद्ध वैमनस्य, ईर्ष्या तथा आक्रामक रुख पैदा कर दिया है। इन परिस्थितियों ने उच्च एवं अनुसूचित जातियों के बीच झगड़े पैदा कर दिए है। ग्रामों तथा पिछड़े क्षेत्रों में जाति-संघर्ष बढ़ गया है। इसे कुछ समाजशास्त्री 'वर्ग-युद्ध' तथा 'वर्ग-संघर्ष' की संज्ञा देते है। कहीं निम्न जातियाँ ऊपर उठना चाहती हैं तो सवर्ण जातियाँ उनका घोर विरोध करती हैं। अनुसूचित जातियों के उत्थान के लिए सामाजिक गतिशीलता की अभी स्वस्थ परम्परा का विकास होना शेष है। दुःख तो इस बात का भी है कि जो अनुसूचित जाति या उनके सदस्य सम्पन्न हो जाते हैं, जिनकी प्रस्थिति अच्छी हो जाती है, वे लोग अपने को मूल परम्परा तथा समुदाय से अलग कर लेते हैं।

अनुसूचित जातियों पर जो परम्परागत प्रतिबन्ध तथा निर्योग्यताएँ थोपी गई थीं उनमें आज कमी आई है। उच्च जातियों की मानसिकता अभी पूर्ण रूप से नहीं बदली है। इस कारण अनुसूचित जातियों के कई स्थानों पर कष्ट बढ़े है। अनेक स्थानों पर अनुसूचित जातियों ने अपने अधिकारों की माँग की है तथा सरकार एवं पुलिस के संरक्षण के अभाव के कारण उन पर अत्याचार हो रहे है। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि अनुसूचित जातियों के लिए सामाजिक गतिशीलता के द्वार खुले हैं, वे ऊपर उठने का प्रयास कर रहे है। बाधाएँ जरूर सामने आ रही है जो समयानुसार कम होंगी और एक स्वस्थ हिन्दू समाज विकसित होगा, ऐसी सम्भावना है।

अनुसूचित जातियों में असमानताएँ

हमारे सामने प्रश्न उठते हैं कि— क्या सभी अनुसूचित जातियाँ परस्पर समान हैं, क्या पवित्रता-अपवित्रता के आधार पर समानता है? क्या सभी अनुसूचित जातियों का आर्थिक स्तर एक-सा है क्या इनका शिक्षा का स्तर समान है? क्या इनमें अपने अभिजात हैं? क्या इनमें जागरूकता समान रूप से पाई जाती है? जो सरकार द्वारा नीतियाँ तथा कल्याण-कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं, क्या उनके लाभ सभी अनुसूचित जातियों तथा उनके सदस्यों को समान रूप से वितरित किए गए है? इन

उपर्युक्त प्रश्नों का विवेचन करने के बाद ही स्पष्ट हो पाएगा कि अनुसूचित जातियों में असमानताएँ हैं अथवा नही।

जिस प्रकार से जाति प्रथा में सवर्ण और अवर्ण जातियों में पवित्रता के आधार पर उच्चता और निम्नता व्याप्त रही है उसी प्रकार से अनुसूचित जातियों में भी परस्पर ऊँच-नीच का आधार पवित्रता और अपवित्रता है। शूद्र वर्ण के स्तर की जातियाँ अपने को अस्पृश्य जातियो से उच्च मानती हैं। अस्पृश्य जातियों में भी व्यवसाय की प्रकृति, उपकरण, कच्चा माल के उपयोग के आधार पर उच्चता और निम्नता मिलती है। नया जूता बनाने वाला चमार उच्च है तथा जूतों की मरम्मत करने वाला निम्न। वर्तमान समय में जिन अनुसूचित जातियों का शैक्षिक स्तर ऊँचा उठ गया है, उन्होंने अधिक लाभकारी व्यवसाय पा लिया है। उनकी आय भी बढ गई है। इससे कम शिक्षित या अशिक्षित अनुसूचित जाति के सदस्य पिछडे रह गए हैं। शिक्षा ने नई असमानता इन लोगों मैं पैदा कर दी है। जिन लोगों तक शिक्षा के लाभ नहीं पहुँच पाए हैं अथवा ये शिक्षा की प्राप्ति के प्रति जागरूक नही थे अपनो से ही निम्न, निर्धन, तथा हीन रह गए हैं। शिक्षा के प्रसार और प्रचार के कारण अनुसूचित जातियो में शिक्षित और अशिक्षित, सम्पन्न और निर्धन जैसे असमान समाजिक वर्ग बनते जा रहे है।

अनेक अध्ययन, सर्वेक्षण तथा अनुसंधान इस तथ्य का समर्थन करते है कि शिक्षा का प्रसार और छात्रवृत्तियों का वितरण अनुसूचित जातियों में समान रूप से नहीं हुआ है। जिनको वितरण हुआ है उसका भी पूर्ण रूप से उपयोग नही किया गया है। उन्हीं अनुसूचित जातियों के सदस्यों ने तुरंत इन सुविधाओं का लाभ उठाया है जो तुलनात्मक रूप से अन्यो से अधिक जागरूक तथा कम निर्धन थे। शिक्षा ने इन जातियों में पहिले से विद्यमान सामाजिक और आर्थिक असमानता को और बढाया है। जिन अनुसूचित जातियों तथा उनके सदस्यों में अपनी सामाजिक-आर्थिक प्रस्थिति के सम्बन्ध मे अधिक जागरूकता थी तथा उसको सुधारने के प्रति प्रयत्नशील थे, उन्होंने सभी प्रकार के कल्याणकारी कार्यक्रमो का भरपूर लाभ उठाया। जागरूक लोगों ने ग्राम पंचायत, पचायत समिति, न्याय पंचायत, जिला परिषद, विधान सभा, लोक सभा के आरक्षित स्थानों को प्राप्त किया। अपनी ही अनुसूचित जातीय समुदाय के अभिजात बन गए। अभिजात बनने के बाद उन्होंने अपने ही जातीय भाई-बन्धुओं से दूरी स्थापित करली है। जिन कार्यक्रमों को असमानता को दूर करने के लिए चलाया गया था वे स्वयं इसकी वृद्धि करने के कारक और कारण बन गए। इसका एक कारण कार्यक्रमों का दोषपूर्ण क्रियान्वित करना भी हो सकता है।

निष्कर्ष—*यह कहा जा सकता है कि अनुसूचित जातियों मे असमानता विद्यमान है जिसके* कारण पवित्रता-अपवित्रता, शिक्षा, व्यवसाय, आर्थिक स्तर, अभिजात सदस्य, असमान जागरूकता, निर्धनता, नीतियों एवं कल्याण कार्यक्रमो का दोषपूर्ण होना है।

अनुसूचित जातियों के कल्याण के लिए सुझाव

अनुसूचित जातियों के उत्थान, विकास, सुधार एवं कल्याण के लिए अनेक अधिनियम एवं कल्याणकारी योजनाएँ कार्यान्वित होती रही हैं लेकिन इनका पूर्ण लाभ नही मिल पा रहा है। इस संदर्भ में अग्रलिखित कतिपय सुझाव हैं जो अनुसूचित जातियों के विकास मे प्रेरक कारकों का कार्य कर सकते हैं—

1. शिक्षा का प्रसार– शिक्षा एक ऐसा साधन है जिसका प्रसार करके किसी भी रचनात्मक कार्य को सफल बनाया जा सकता है। अनुसूचित जातियों के सर्वांगीण विकास एवं समस्याओं के निवारण के लिए शिक्षा का दो प्रकार से उपयोग करना चाहिए। (1) समाज के सभी लोगों को, विशेष रूप से सवर्ण जातियों को, शिक्षा के माध्यम से यह बताना चाहिए कि अवर्ण जातियाँ भी उनकी ही तरह से मानव हैं, उनका भी अपना जीवन है, वे भी समाज के उतने ही महत्त्वपूर्ण अभिन्न अंग हैं जितने कि सवर्ण लोग। उनके साथ मानवता का व्यवहार करना चाहिए। उनकी समस्याओं को अपनी समस्या समझना चाहिए। समाज के सभी सम्पन्न लोगों को इनके विकास और उत्थान में भर-पूर सहयोग देना चाहिए। (2) अनुसूचित जातियों को शिक्षित करके ऊपर उठाना चाहिए। उन्हे अधिक-से-अधिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए हरसम्भव सहायता देनी चाहिए। जब ये शिक्षित हो जाएँगे तो उत्तम व्यवसाय तथा आय प्राप्त करके समृद्ध हो जाएँगे। सवर्ण तथा अवर्ण दोनों ही जातियों के व्यक्तियों के शिक्षा द्वारा हृदय परिवर्तित करने चाहिए। उच्च जातियों में निम्न जातियों के प्रति प्रेमभाव पैदा करना चाहिए तथा अनुसूचित जातियों में कुण्ठा की भावनाओं को दूर करके आत्मविश्वास पैदा करना चाहिए। यह शिक्षा के प्रसार और प्रचार द्वारा ही हो सकता है।

2. कानूनों तथा कल्याण योजनाओं को निष्ठा से कार्यान्वित करना–अस्पृश्यता, छुआछूत, आदि के निवारण के लिए कानून तो बन गए है परन्तु इनको कठोरता से लागू नहीं किया जा रहा है। कल्याण योजनाओं को दोषपूर्ण तरीके से कार्यान्वित किया जा रहा है। इससे वांछित लाभ प्राप्त नहीं हो रहे है। सवर्ण जातियों तथा अनुसूचित जातियों के बीच की खाई पटने के स्थान पर अन्तर बढ़ता जा रहा है। दोषपूर्ण कार्यान्विति होने से अनुसूचित जातियों में परस्पर भी असमानता बढ़ने लगी है। इसको समाप्त तभी किया जा सकता है जब नियमों का कठोरता से पालन हो तथा योजनाओं को निष्ठा से लागू किया जाए।

3. आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं का निवारण– अनुसूचित जातियों के व्यवसाय गन्दे तथा कम वेतन वाले है। गन्दे व्यवसायों का यन्त्रीकरण करना चाहिए। 'काम ही पूजा है' की भावना से सभी पेशों को देखना चाहिए। इन जातियों को आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए जिससे ये स्वच्छ व्यवसाय अपना सके या कर सके। गन्दे पेशों से इनको छुटकारा दिलवाना चाहिए। भूमिहीनों को भूमि तथा बेरोजगारों को रोजगार दिलवाने चाहिए। कुटीर उद्योगों के लिए ऋण देना चाहिए तथा आरक्षण प्रदान करना चाहिए। नौकरियों में जो आरक्षण का 15% प्रावधान है उसे ईमानदारी से पूरा करना चाहिए।

4. अनुसूचित जाति के आर्थिक तथा शैक्षणिक विकास और छुआछूत समिति, 1969 के सुझावों की पालना– इस समिति ने निम्नांकित सुझाव दिए थे, उनका कठोरता से पालन करना चाहिए।

(1) विरासती पुरोहिती प्रथा को समाप्त किया जाए।
(2) छुआछूत का कानून कठोर बनाया जाए।
(3) अस्पृश्यता बरतने वाले को वित्तीय सहायता और सरकारी ऋण नहीं दिए जाएँ।
(4) ऋण देते समय अनुसूचित जातियों को प्राथमिकता दी जाए।
(5) अनुसूचित जातियों को उनके निवास की भूमि पर उनका अधिकार दिया जाए।
(6) बेगार प्रथा को गैर-कानूनी घोषित किया जाए।
(7) अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन दिया जाए, और
(8) श्रम के प्रति श्रद्धा और समानता के व्यवहार को महत्ता प्रदान की जाए।

अध्याय - 8

अनुसूचित जनजातियाँ

(Scheduled Tribes)

भारतवर्ष में विभिन्न धर्मों, भाषाओं, जातियों, संस्कृतियो, वर्गों एवं समुदायों के लोग निवास करते हैं। इनको प्रमुख दो वर्गों मे बाँट सकते है। एक वे समुदाय अथवा समूह जो खुशहाल हैं, सम्पन्न हैं, सभी सुख-सुविधाओं का उपभोग कर रहे हैं, सुखमय जीवन व्यतीत कर रहे है तथा दूसरे वे समुदाय या समूह जो कष्टमय जीवन व्यतीत कर रहे है, जिनका जीवन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सास्कृतिक व स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं से ग्रसित है, जो गरीबी रेखा से नीचे हैं तथा जिनका विकास करना आवश्यक है, जैसे कि वे अनुसूचित जातियाँ जिनका हम ऊपर अध्ययन कर चुके हैं । इन्ही से मिलती-जुलती समस्याओं से पीड़ित भारतवर्ष मे अनेक छोटे-छोटे जनजातीय समुदाय हैं। ये भौगोलिक दृष्टि से प्रतिकूल पर्यावरण में बसे हुए है, दुर्गम स्थानों मे रहते हैं, समतल भूमि का अभाव है, जीविकोपार्जन बहुत कठिनाई से कर पाते हैं । इनकी आर्थिकी सम्भरणात्मक है, बचत की नही है । गरीबी की रेखा से नीचे का जीवनयापन करते हैं । ये सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक, राजनैतिक आदि समस्याओ से ग्रसित है।

चूँकि इन पिछडे जनजातीय समुदायों का योजनाबद्ध विकास एवं उत्थान करना आवश्यक है इसलिए ऐसे पिछड़े आदिवासियों, गिरिजनो, वन्यजातियों की सूची तैयार की गई जिसे अनुसूचित जनजातियाँ कहते हैं । इन अनुसूचित जनजातियो के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने से पहिले हम इसका अर्थ जानने का प्रयास करेंगे।

अनुसूचित जनजातियों का अर्थ एवं परिभाषा

सरल भाषा में सरकार द्वारा तैयार की गई पिछड़ी जनजातियों की सूची ही अनुसूचित जनजातियाँ कहलाती हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने निश्चय किया था कि देश के कमजोर या दुर्बल वर्गों, समुदायो, या लोगों का योजनाबद्ध तरीके से विकास किया जाये। इसी क्रम में भारत की जनजातियो, जो कि अनेक लक्षणों के कारण कमजोर और दुर्बल मानी जाती हैं, का योजनाबद्ध विकास करना आवश्यक समझा गया । इसके लिए स्वतन्त्र भारतवर्ष के संविधान की धारा 341 और 342 के अन्तर्गत 15 आदेशों मे अनुसूचित जनजातियों का उल्लेख किया गया है। इसमें उन जनजातियों का उल्लेख किया जाता है जो अनेक प्रकार से कमजोर या दुर्बल है जिनके विकास का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है।

संविधान की धारा 338 के अनुसार राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वे जन-जातियों तथा जातियों के लिए एक विशेष अधिकारी नियुक्त करें जो जनजातियो की अवस्था का विकास करने के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को सुझाव दे।

घुर्ये का मानना कि अनुसूचित जातियाँ विशिष्ट सामाजिक और सास्कृतिक इकाइयाँ हैं। संवैधानिक दृष्टिकोण के अनुसार अनुसूचित जनजातियों को पिछडे वर्गों का एक समूह माना गया है तथा इन्हें अनुसूचित जातियो के साथ रखा गया है। कानून की नजर मे अनुसूचित जनजातियों को आदिवासी या आदिम दोनों ही नहीं बताया गया है तथा इनको अलग से कोई कोटि भी नहीं माना गया है। घुर्ये इन्हें **'पिछड़े हिन्दू'** अवश्य मानते है । परन्तु आप इन्हें एक पृथक्, कोटि में रखना चाहते हैं । आपकी मान्यता है कि इन्हें अनुसूचित जातियों के साथ जोड़ने से इनको हानि हो सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि अनुसूचित जनजातियो की अवधारणा संवैधानिक अधिक है जिसके अनुसार वे जनजातियाँ ही केवल मात्र अनुसूचित जनजातियाँ कहलाती है जो सरकार द्वारा तैयार की गई सविधान की अनुसूची मे सम्मिलित है।

अनुसूचित जनजातियों की समस्याएँ

भारतीय संविधान के अनुसार कुल 212 अनुसूचित जनजातियाँ थीं किन्तु भारत के विभाजन अथवा शरणार्थी आदि कारणों के आधार पर इनकी संख्या मे निरन्तर वृद्धि हुई है। सन् 1991 की जनगणना के अनुसार इनकी संख्या 560 से कुछ अधिक है तथा इनकी जनसख्या 6 78 करोड तक बढ गई है। इतनी बड़ी जनसंख्या वाले समूह की अनेकानेक समस्याएँ है जिनके कारण इनकी जीवन-चर्या व रहन-सहन आदि प्रभावित हो रहा है।

(1) घुर्ये ने इन जनजातियो की समस्याओ को निम्नलिखित रूप मे प्रस्तुत किया है–

1. वे जनजातीय समूह, जो एकीकरण की लडाई मे सफलतापूर्वक लडे हैं और जो हिन्दू समाज मे प्रतिष्ठा प्राप्त है।

2. वे जनजातीय समूह, जिनका आशिक हिन्दूकरण हुआ है और जो हिन्दुओ के अतिनिकट है।

3. वे जनजातीय समूह, जो पहाडी क्षेत्रो मे निवास करते हैं और जिन्होने किसी बाह्य सस्कृति को स्वीकार नही किया है।

(2) मजूमदार व मदान ने जनजातियो से सम्बन्धित समस्याओ को दो रूपो मे विभाजित किया है–

1 प्रथम, सामाजिक-आर्थिक समस्याएँ जो आधुनिक नीतियों एव कानूनो के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई हैं अथवा गैर-जनजातियो के सम्पर्क के कारण उत्पन्न हुई हैं, जैसे– भूमि का हस्तातरण अथवा कर्ज लेने के कारण जमींदारो, व्यापारियो अथवा सरकारी कर्मचारियो द्वारा शोषण आदि।

2 दूसरी, समस्याएँ जनजातियो की अपनी विशिष्ट समस्याएँ है, जो अपनी परम्परागत आर्थिक क्रियाओ के परित्याग के कारण उत्पन्न हुई हैं अथवा भूदान, भू-शोधन आदि से उत्पन्न हुई है।

(3) इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ़ एडवांस्ड स्टडी, शिमला ने भारतीय जनजातियों की स्थिति पर एक गोष्ठी का आयोजन किया जिसने इन जनजातियो की निम्नलिखित सात समस्याएँ बताईं—

1. भारत की जनजातियाँ दुर्गम तथा पृथक् स्थानो में रहती हैं जिसके कारण इनकी संस्कृति, जीवन का तरीका, राजनैतिक व्यवस्था आदि भिन्न-भिन्न है इसलिए इनकी समस्याओ को मालूम करना कठिन कार्य है।

2. उत्तर-पूर्वी पहाडी क्षेत्रो की जनजातियाँ स्वायत्त शासन की माँग कर रही हैं जो राष्ट्र के लिए एक जटिल समस्या है।

3. जनजातियों की समस्या सेठ-साहूकारों तथा भू-स्वामियो द्वारा शोषण तथा बेगार से मुक्ति दिलाने की है। अधिकाश जनसख्या वनो में रहती है। ये निर्वाह के लिए वन-सम्पदा पर निर्भर हैं इसलिए सरकार को वन-नीति को बदलना होगा।

4. जनजाति जहाँ रह रही है वहाँ पर नये-नये उद्योग, बाँधों का निर्माण तथा कारखाने लगाए जा रहे है तथा इनको हटाया जा रहा है। एक समस्या इन जनजातियो के विस्थापन तथा पुनर्वास की है।

5. जनजाति के लोग नये-नये व्यवसाय तथा कार्य सीख रहे हैं, कई नए उद्यमकर्त्ता बन गए है तथा अपने ही लोगो का शोषण कर रहे है तथा बेगार ले रहे है।

6 अनुसूचित जनजातियाँ वे होती है जिनके नाम इस सूची में सम्मिलित हैं लेकिन कई जनजातियो के नाम आज भी किन्ही कारणो से इस सूची मे सम्मिलित नही किए गए है। इनकी समस्याएँ कैसे दूर हो?

7. अनेक जनजातियाँ राष्ट्रीय धारा से जुडी हुई नही हैं। इसके लिए दुर्गम जनजातीय क्षेत्रों में सचार तथा यातायात के साधनो का होना आवश्यक है जिसके लिए साधनों का अभाव है तथा यह एक स्वय अपने आप मे समस्या है।

अनुसूचित जनजातियों की समस्याओ के उपर्युक्त अध्ययन से जो चित्र सामने आता है उसे निम्नलिखित क्रम मे प्रस्तुत किया जा सकता है जो विभिन्न सम्मेलनो, गोष्ठियों तथा विद्वानो के अध्ययनो पर आधारित है—

(1) **दुर्गम निवास स्थान की समस्या**— जनजातियो की एक समस्या यह भी है कि ये लोग प्राय पहाडी भागो, वनो व दुर्गम स्थलो मे निवास करते है, जहाँ न तो सडके है न यातायात के साधन है, न ही कोई डाकखाना, तारघर, टेलीफोन, रेडियो, समाचार-पत्रादि की आधुनिक सुविधा उन तक उपलब्ध हो पाती है। यहाँ तक कि ये समाज की अन्य सस्कृतियो से भी अपरिचित है। इसका परिणाम यह हुआ है कि शिक्षा के क्षेत्र मे तथा वैज्ञानिक आविष्कारों के सम्बन्ध में ये लोग पिछड़े हुए है। इसी से इनका आधुनिकीकरण अभी तक नहीं हो सका है और देश से अलग-थलग अपना एक अलग ही समाज बनाये हुए है। इनका दृष्टिकोण अति संकुचित है। इस दुर्गम निवास-स्थान के परिणामस्वरूप इन जनजातियो मे खान-पान, रहन-महन व वस्त्रादि की भी अनेक समस्याएँ उपस्थित हो रही है।

(2) आर्थिक समस्याएँ— जनजातियों की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या आर्थिक है। इन लोगों के पास न तो पर्याप्त भोजन होता है, न पर्याप्त वस्त्र, रहने के लिए उचित स्थान भी नहीं होता— यह सब अर्थ की कमी के कारण है । आर्थिक समस्याएँ निम्नलिखित हैं—

1. स्थानांतरित खेती सम्बन्धी समस्या— जनजातियों का बहुत बड़ा भाग (अनुमानत 80%) कृषि पर आधारित है। निर्जन वनों व पहाड़ियों पर रहने के कारण वहाँ जीविकोपार्जन के साधन अति सीमित हैं— कुछ जनजातियाँ पहले वनों में आग लगा देती है और फिर उस पर कृषि कार्य करती है । जब वह भूमि कृषि योग्य नहीं रह जाती तो उसे छोड़कर अन्यत्र चली जाती है— इस प्रकार ये लोग आदिम-खेती या 'झूम खेती' करते है । यही स्थानांतरित कृषि है। इस प्रकार की खेती से उपज बहुत कम और घटिया होती है, भूमि की बर्बादी होती है और इनकी मेहनत भी बेकार जाती है। जिसके कारण इन्हें अनेक आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है।

2. नवीन-भूमि व्यवस्था सम्बन्धी समस्याएँ— पहले जनजातियाँ स्थानांतरित कृषि किया करती थी और भूमि पर उनका एकाधिकार होता था, जिसका प्रयोग वे स्वेच्छा से किया करती थी, किन्तु नवीन कानूनों के परिणामस्वरूप उनकी यह स्वतंत्रता उनसे छिन गई है। अब उनको सीमित भूमि सरकार द्वारा दी जा चुकी है किन्तु इस भूमि को जोतकर खेती करते हुए वे डरती हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि चतुर सेठ-महाजन उन्हें कुछ रुपये उधार देकर उनकी जमीन उनसे छीन लेते है और ये लोग अपनी ही जमीन पर नौकर बनकर कार्य करते है। यह इनकी बड़ी समस्या है।

3. वनों से सम्बन्धित समस्याएँ— पहले जनजातियों का वनों अथवा जंगलों पर पूरा अधिकार होता था। अब इस समस्त वन-सम्पत्ति, जैसे— पशु, वृक्ष, भूमि, जंगली वस्तुओं आदि पर सरकार का नियन्त्रण हो गया है । अतः लकड़ी, कोयला आदि निकालने का कार्य अब ठेकेदार कर रहे है, ये ठेकेदार इन जनजातियों से अथक परिश्रम कराकर उन्हें बहुत कम मजदूरी देते है— यह एक महत्त्वपूर्ण समस्या है ।

4. औद्योगिक श्रमिकों की समस्याएँ— खानों, चाय-बागानों व कारखाना आदि में कार्यरत जनजातीय श्रमिकों की समस्याएं और भी अधिक गम्भीर है। अपने परिश्रम का न तो उन्हें उचित मूल्य दिया जाता है, न रहने के लिए समुचित स्थान। धुआँ, गन्दगी व घुटन से भरा वातावरण उन्हें मौका मिलते ही अपने गाँव की ओर भागने के लिए विवश कर देता है। ठेकेदारों द्वारा यहाँ भी उनकी भर्ती और उनसे काम लेने की प्रथा शोषणयुक्त होती है।

5. ऋणग्रस्तता की समस्या— जनजातियों का जीवन जन्म से मृत्यु पर्यन्त अभाव में बीतता है। इन्हें अपनी उदर-पूर्ति के लिए भी महाजन आदि से ऋण लेना पड़ता है। कालान्तर में उसकी चुकती न होने पर इनकी जमीन आदि भी साहूकारों की हो जाती है और कर्ज के भार से फिर भी मुक्ति न मिलने के कारण पीढ़ी-दर-पीढ़ी ये लोग उनके दास बन जाते है।

(3) सांस्कृतिक समस्याएँ— जनजातीय लोग भौगोलिक दृष्टि से पहाड़ी इलाकों, वनों व सीमावर्ती स्थानों में रहते है। जहाँ समाज की संस्कृति से इनका सम्पर्क नहीं हो पाता। जनजातियों की सांस्कृतिक समस्याएँ निम्नलिखित है—

1. अन्तर्जनजातीय सांस्कृतिक विभिन्नता की समस्या— जनजातियों की अन्तर्जनजातीय सांस्कृतिक विभिन्नता की समस्या का कारण ईसाई मिशनरियों तथा हिन्दुओं से उनका सम्पर्क माना

जा सकता है। इससे जनजाति के लोगों में ही परस्पर तनाव, संघर्ष अथवा विरोध हो गया। इस प्रकार अन्य संस्कृति को अपनाने के कारण ये लोग अपने जनजातीय समूह से अलग हो गये और अपनी संस्कृति को नीचा समझने लगे। साथ ही अपनाई गई अन्य संस्कृतियों की भी बराबरी न कर पाने के कारण उनमें सांस्कृतिक और व्यक्तिगत दोनो प्रकार के विघटन उत्पन्न हो गये।

2. भाषा सम्बन्धी समस्या— बाह्य संस्कृति के सम्पर्क के परिणामस्वरूप जनजातियाँ दूसरी संस्कृति की भाषा को अपनाने लगती हैं और कालान्तर में अपनी भाषा के प्रति उदासीन होने लगती हैं। इसके कारण एक ही जनजाति के लोगों के परस्पर आदान-प्रदान में बाधा उत्पन्न होने लगी है। इससे सांस्कृतिक मूल्यों का भी पतन होने लगा है।

3. जनजातीय ललितकलाओं का ह्रास— बाह्य संस्कृति के सम्पर्क के परिणामस्वरूप जनजातियाँ अपनी स्वयं की कलाएँ, जैसे—नृत्य, संगीत, लकड़ी का कार्य व नक्काशी का कार्य आदि को भूलती जा रही हैं। इन रुचियों के विषय मे ये उदासीन होती जा रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन जनजातियो की ललित कलाएँ समाप्त हो ही जायेंगी। इन कलाओं का पतन भी एक सास्कृतिक समस्या है।

4. धार्मिक समस्याएँ— इन जनजातियो पर हिन्दू धर्म व ईसाई धर्म का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। भील, गोंड आदि जनजातियाँ हिन्दू धर्म से प्रभावित हैं तो बिहार और आसाम की जनजातियाँ ईसाई धर्म से प्रभावित है। किसी भी समस्या व आपत्ति के समय सभी अपने-अपने धर्म का सहारा लेते है। परिणामस्वरूप उनमें असन्तोष की भावना व्याप्त हो गई है। पारिवारिक विघटन, भेद-भाव, लडाई-झगडे आदि भी उनमें बढ़ने लगे हैं। धर्म से सम्बन्धित समस्या भी बाह्य संस्कृति के सम्पर्क का ही परिणाम है।

(4) स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ— जनजातियों की समस्याएँ स्वास्थ्य सम्बन्धित भी हैं। जहाँ इन्हें दो वक्त का भोजन भी मुश्किल से ही मिल पाता हो, वहाँ अच्छे व सन्तुलित आहार की तो बात ही अलग है। इन्हे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

1. खान-पान—निर्धनता के कारण जनजातियाँ सन्तुलित भोजन नहीं ले पाती, जिसके कारण इनका स्वास्थ्य खराब रहता है। अनेक रोग इन्हें सताते हैं। प्राचीन समय में ये जनजातियाँ ताड, महुआ अथवा चावल के द्वारा निर्मित मादक द्रवो का सेवन करती थीं। इस पेय में विटामिन 'बी' व 'सी' अधिक होता है, अत तब इनका स्वास्थ्य ठीक रहता था। धीरे-धीरे सरकार ने इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया है, किन्तु बाह्य सस्कृति के प्रभाव के कारण शराब का प्रचलन इन लोगों में बढ़ गया है। इससे भी इनका स्वास्थ्य बिगड रहा है।

2. वस्त्र— स्वास्थ्य से सम्बन्धित इन जनजातियो की समस्या वस्त्रो की भी है। पहले ये जनजातियाँ वस्त्र विहीन रहती थीं, किन्तु अब इन लोगों ने बाह्य संस्कृतियों के प्रभाव में आकर वस्त्र धारण करना प्रारम्भ कर दिया है। एक से अधिक वस्त्र न होने से ये लोग गन्दे रहने लगे हैं, चर्म रोगों के शिकार हो रहे है। बरसात मे भी कपड़े बदन पर ही भीगते व सूखते है, इससे अनेक प्रकार के रोग, गन्दगी आदि हो जाती है।

3. चिकित्सा का अभाव— जनजातियों को पौष्टिक भोजन नहीं मिल पाता। परिणामस्वरूप इनमे अनेक प्रकार के रोग होते रहते है। रोगो की अधिकता होने के साथ उनकी चिकित्सा का अभाव पाया जाता है। इनका डॉक्टरी इलाज में विश्वास नहीं होता है। ये लोग बीमार होने पर

झाड़-फूँक, जादू-टोना व जंगली जड़ी-बूँटियों का प्रयोग करते हैं, इससे इनकी बीमारी और बढ़ जाती है। डॉक्टरी सहायता भी इन्हें समय रहते उपलब्ध नहीं हो पाती, सारांशत सफाई की कमी, पौष्टिक आहार की कमी, दुर्गम स्थलों में निवास तथा चिकित्सा का अभाव आदि अनेक समस्याएँ इन लोगों के स्वास्थ्य से सम्बन्धित हैं।

(5) शिक्षा सम्बन्धी समस्याएँ— जनजातियों की समस्त समस्याओं का मूल कारण उनकी अशिक्षा ही है। समस्त जनजातियाँ अशिक्षा व अज्ञानता से ग्रसित है। अशिक्षा के कारण अनेक कुरीतियाँ, अन्धविश्वास व कुसंस्कार उनमे व्याप्त है। ऋणग्रस्तता व भूमि-स्वामित्व का स्थानान्तरण अशिक्षा का ही परिणाम है। आज शिक्षा का प्रावधान उनके लिए किया गया है, किन्तु वे उसके प्रति उत्साही नहीं है, क्योंकि यह शिक्षा उनका जीवन-निर्वाह करने में अक्षम है, शिक्षा प्राप्त करने के अनन्तर भी वे बेरोजगार ही रहते है और जो शिक्षित होकर किसी पद को प्राप्त भी कर लेते हैं, वे अपनी ही संस्कृति से दूर होते जाते है। इस प्रकार शिक्षा उनका बहुत अधिक हित नहीं कर पा रही है।

(6) सामाजिक समस्याएँ— शहरी एव सभ्य समाज के सम्पर्क के कारण जनजातियाँ अनेक सामाजिक समस्याओ से ग्रसित हो गई हैं। कुछ सामाजिक समस्याएँ निम्नलिखित है—

1. बाल विवाह— *प्राय जनजातियों में युवावस्था मे विवाह होते थे किन्तु अब उनमे बाल-*विवाह होने लगे है, जो हिन्दुओं के सम्पर्क का परिणाम है। जनजातियो के लिए यह एक बड़ी सामाजिक समस्या बन गई है।

2. कन्या मूल्य—पहिले जनजातियों में कन्या-मूल्य वस्तुओ के रूप मे दिया जाता था, किन्तु वर्तमान समय मे अब इसे रुपये के रूप में माँगा जाने लगा है और इसकी मात्रा मे भी अब इतनी वृद्धि होने लगी है कि सामान्य आदि व्यक्ति इसे कठिनाई से दे पाता है। इसके परिणामस्वरूप जनजातियों में कन्या-हरण की समस्या भी बढ़ रही है।

3. युवागृहों का पतन— जनजातियो मे मनोरजन के साधन के रूप मे पहले युवागृहो का प्रचलन था, जहाँ जाकर युवा लड़के-लड़कियाँ न केवल मनोरजन व आमोद-प्रमोद में सम्मिलित होते थे, अपितु वहाँ उन्हे सामाजिक, सांस्कृतिक एव उनके कर्त्तव्यो के विषय मे भी शिक्षा मिलती थी। यह एक महत्त्वपूर्ण संस्था थी। अब ये लोग युवागृहो को हेय दृष्टि से देखने लगे हैं। इससे जनजातियों के जीवन में अनेक हानियाँ हुई है।

4. वेश्यावृत्ति की समस्या— इन जनजातियो की एक समस्या अनुचित यौन-सम्बन्ध की भी है। *एक ओर ठेकेदार व साहूकार इनका भरपूर शोषण करते है और उनकी स्त्रियो के साथ अनुचित सम्बन्ध स्थापित करते है और दूसरी ओर जो पुरुष खानो व श्रमिक उद्योगो मे कार्य करते है व घर से* दूर रहते है, वे वेश्यावृत्ति जैसे प्रलोभनों मे फँस जाते है। अब तो विवाह-विच्छेद की समस्या भी इन लोगों मे होने लगी है। इस प्रकार अनेक प्रथाये, परम्पराएँ, रूढ़ियाँ आदि भी अब टूट रही हैं, जो अपने आप में एक सामाजिक समस्या कही जा सकती है।

(7) राजनैतिक समस्याएँ— पहले जनजातियो मे एक परम्परागत राजनैतिक व्यवस्था प्रचलित थी, जिसमे वंशानुगत एक मुखिया होता था, जो समस्त प्रशासनिक कार्यों को करता था, किन्तु अब उन्हे प्रशासन की नवीन व्यवस्था को अपनाना पड़ा है। इसका कारण यह है कि स्वतन्त्रता

प्राप्ति के अनन्तर देश के सभी नागरिकों को संविधान द्वारा प्रजातान्त्रिक अधिकार दिये गये हैं। आज पंचायत से लेकर संसद तक चुनाव आम जनता द्वारा किये जाते हैं।

प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में राजनैतिक दलों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। जनता अपनी सामाजिक, आर्थिक समस्याओं के प्रति जागरूक है, अपने अधिकारों के प्रति सजग हो रही है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि पुरानी व्यवस्था तो अब निष्क्रिय हो गई है और अब जनजाति के लोग जागरूक होकर अपने अधिकारों की माँग करने लगे हैं, अपने लिए अलग राज्य की माँग की है तथा भूस्वामियों, गैर-जनजाति के लोगों व सरकारी कर्मचारियों से उनके सम्बन्ध तनावपूर्ण हो रहे है। अपने प्रति किये गये शोषण के प्रति उनके मन में आक्रोश है। राजनैतिक चेतना आने से जनजातियों में कटुता की भावना आ गई है जो राजनैतिक दृष्टि से एक समस्या है।

(8) सीमा प्रान्त की जनजातियों की समस्याएँ– जो जनजातियाँ उत्तर-पूर्व की सीमाओ पर रह रही हैं, उनकी समस्यायें अत्यधिक हैं। उत्तर-पूर्व की सीमाओं पर चीन, बंगला देश एवं बर्मा जैसे देशों की सीमाएँ भी जुडती हैं। चीन व बगलादेश सदैव से ही भारत के शत्रु है। इस कारण ये लोग जनजातियो में विद्रोह की भावनाएँ भडकाते हैं, उन्हे विविध प्रकार से अस्त्र-शस्त्रादि देकर, अपने क्षेत्रों में नागा आदि को भूमिगत होने के लिए प्रश्रय देकर इन जनजातियों की सहायता करते हैं और उन्हें युद्ध करने के लिए प्रेरित करते रहते है।

अपने लिए स्वायत्त राज्य की माँग करके ये जनजातियाँ आन्दोलन करती हैं, उसके लिए संघर्ष करती हैं। इस प्रकार आज सीमाप्रात की जनजातियों की समस्याएँ विकट हैं जिनसे निपटना आवश्यक है।

(9) एकीकरण की समस्या– जनजातियाँ देश के विभिन्न भागो से संस्कृति, आर्थिक दृष्टिकोण, राजनैतिक व्यवस्था, भाषा, धर्म आदि सभी क्षेत्रों में अनेक प्रकार से विभिन्नता लिए हुए हैं। वे अपने आपको अलग ही मानती हैं–इनकी समस्याएँ गरीबी, अज्ञानता, शोषण, अशिक्षा व स्वास्थ्य से सम्बन्धित हैं। इन सभी समस्याओ का समाधान तब हो सकता है जब ये जनजातियाँ स्वयं को पृथक् न समझकर देश की एकता से जुड़ें। देश की आर्थिक-राजनैतिक अर्थ-व्यवस्था में इन जनजातियों की भागीदारी आवश्यक है जिससे एकीकरण की समस्या का समाधान हो सके।

(10) सबसे कमजोर कड़ी– जनजातियों को प्रारम्भ से ही समाज में उपेक्षा मिली है, किन्तु उनमे से भी कुछ जनजातियाँ सर्वाधिक उपेक्षित व निर्धन हैं, उस सर्वाधिक निर्धन एवं उपेक्षित जनजाति का पता लगाकर उसके विकास और उन्नति के लिए प्रयास करना चाहिए। यह कार्य सन् 1967 में जनजाति आयुक्त द्वारा किया जा चुका है। उन्होंने सर्वाधिक निर्धन, कमजोर और उपेक्षित जनजाति-समूह को नामांकित किया, जिनमे गुजरात के चारण, नारवाडा व बरली आदि; मध्य प्रदेश की मारिया, गोंड, बैगा, कमार व मवासी आदि; उत्तर प्रदेश की जौनसारी, मौरिया, कयास; तथा राजस्थान की भील, डामोर व सहरिया सर्वाधिक कमजोर मानी जाती हैं।

जनजातियों की समस्याओं के कारण– उपर्युक्त पृष्ठों में जनजातियों की समस्याओं पर विचार किया गया है। इन जनजातियों की समस्याएँ अनेक कारणों से हैं। मुख्य कारण निम्नलिखित माने जा सकते हैं–

1. बाह्य समाजों से सम्पर्क– जनजातियों की समस्याओं का मूल कारण यह है कि ये लोग अब सभ्य समाज के सम्पर्क में आ गए है। इस सम्पर्क के फलस्वरूप इन पर हिन्दू संस्कृति व साथ,

ही पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव पड़ा है। किन्तु चूँकि दोनों संस्कृतियों से जनजातियो का रहन-सहन, खान-पान, पूर्णरूप से भिन्नता लिए हुए है अतः इस अन्तर के कारण अनेक समस्याएँ उपस्थित हो गई हैं।

2. ईसाई मिशनरी से सम्पर्क— जनजातियों का सम्पर्क ईसाई मिशनरियों के साथ होने से अनेक समस्याएँ उपस्थित हो गई हैं। वास्तव मे ये मिशनरी लोग जनजातियों के लिए अनेक सेवा के कार्यों का आयोजन करने लगे। उनके उत्थान एवं कल्याण के लिए इन्हें अनेक प्रकार से प्रलोभित करने लगे, जिसके पीछे इन मिशनरी लोगों का उद्देश्य इन जनजातियों का धर्म-परिवर्तन करना था। अज्ञानी व भोले जनजाति-लोग इस कूटनीति को समझ नहीं सके। इस अन्य संस्कृति के ग्रहण से अनेक समस्याओं ने जन्म लिया तथा इन जनजातियो के परिवारों में तनाव व संघर्ष की सृष्टि की है। अपनी ललित कला का ह्रास, ऋणग्रस्तता, आर्थिक शोषण जैसी समस्याएँ भी बाह्य संस्कृति-सम्पर्क का ही परिणाम हैं।

3. नव्य शासन-व्यवस्था— इन जनजातियों की समस्या का एक कारण यह भी है कि पहले इनकी स्वयं की शासन-व्यवस्था थी, जो अपने ही ढंग की थी और सभी को मान्य थी। किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् लागू इस नव्य शासन-व्यवस्था को अपनाने से अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गईं। अनेक वन अधिकारी व प्रशासक अदालत से सम्बन्धित अधिकारी, पुलिस आदि से इनमें हीन भावना का उदय हुआ, क्योंकि न तो ये लोग इस नवीन व्यवस्था को आत्मसात् कर सके, न त्याग सके— यह समस्या का गम्भीर कारण रहा।

4. जनजातीय क्षेत्रों में वन सम्पत्ति एवं खनिज पदार्थों का होना— जनजातीय क्षेत्रों में अनेक प्रकार की वन-सम्पत्ति, जैसे— लकड़ी, फल-फूल, जड़ी-बूँटियाँ अथवा खाने आदि है, जिनके कारण वहाँ अनेक उद्योग-धन्धे विकसित हो गए है और एक नई नगरीय सम्कृति का विकास हो गया है। धीरे-धीरे ये जनजातियाँ भी इस संस्कृति के सम्पर्क में आने लगी हैं किन्तु न तो पूर्णरूप से अपनी संस्कृति को भुला सकी है, न ही दूसरी संस्कृति को अपना सकी है। अतः एक विघटनात्मक स्थिति आ गई है।

5. पृथक् निवास— इन जनजातियों की परेशानियो का कारण उनका दुर्गम व पृथक् निवास स्थान है, जहाँ यातायात के साधनो का अभाव है, सड़के, रेल, बस, डाक-तार आदि की भी कोई सुविधा न होने से ये लोग अनेक कठिनाइयों के शिकार होते है। यहाँ तक कि जीवन-यापन के साधन भी कठिनाई से जुटा पाते है।

6. बाह्य लोगों द्वारा शोषण— जन जातियो की समस्याओ का एक कारण यह भी है कि अनेक साहूकार, व्यापारी, ठेकेदार, प्रशासक व पुलिस अधिकारी वर्ग आदि का सम्पर्क जब इन जनजातियो से हुआ तो उन्होंने इनकी अशिक्षा, अज्ञानता व दलित आर्थिक दशा का लाभ उठाया और विविध रूपों में इनका शोषण करना प्रारम्भ किया। इससे इन जनजातियों में ऋणग्रस्तता की स्थिति आ गई, ये लोग भूमिहीन हो गए व बीमारियों के शिकार हो गए।

साराशतः यह कहा जा सकता है कि जनजातियों की अनेक समस्याएँ है। इन सभी समस्याओं के मूल में प्रमुख कारण इनकी अशिक्षा व अज्ञानता को माना जा सकता है। अशिक्षा के परिणामस्वरूप ही इन लोगो का शोषण सदैव होता रहा है।

जनजातियों की समस्याओं हेतु सुझाव

उपर्युक्त पृष्ठों में जनजातियों की समस्याओं और उनके कारणों पर प्रकाश डाला गया है। इनकी मुख्य समस्याएँ आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक एवं स्वास्थ्य से सम्बन्धित हैं। इन समस्याओं के निराकरण के लिए उन कारणों पर ध्यान देना होगा, जिनका परिणाम इन समस्याओं की उत्पत्ति है। अनेक प्रयास इस दिशा में किए गए हैं, लेकिन इस क्षेत्र में पूर्ण सफलता अभी तक नहीं मिल सकी है। जनजातीय-समस्या समाधान हेतु कुछ सुझाव निम्नलिखित हैं—

(1) आर्थिक समस्याओं से सम्बन्धित सुझाव—

आर्थिक समस्याओं को सुधारने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं— (1) जनजातियों के परिवारों को कृषि के लिए पर्याप्त भूमि उपलब्ध कराई जाए, (2) कृषि के अत्याधुनिक तरीकों से जनजातियों को अवगत कराया जाए, (3) स्थानांतरित कृषि की समाप्ति की जाए, (4) सरकार की ओर से कृषि करने वालों को बीज, बैल व कृषि सम्बन्धी अन्य उपकरण खरीदने हेतु आर्थिक सहायता दी जाए, (5) बेगार, दासता व कम वेतन जैसी दुर्व्यवस्थाओं की कानून द्वारा समाप्ति की जाए, (6) जहाँ अधिक संख्या में जनजाति के लोग कार्यरत हों, वहाँ श्रमिक कल्याण-कार्य विस्तृत रूप से हों, (7) दस्तकार या गृह-उद्योग जैसे छोटे-छोटे उद्योगों के सम्बन्ध में जनजातियों को उचित प्रशिक्षण दिया जाए, (8) इन लोगों के लिए अच्छे मकान, कार्य के उचित घंटे व काम करने की अवस्थाओं आदि पर विशेष ध्यान दिया जाए, तथा (9) सहकारी समितियों का विकास किया जाए और अधिकाधिक संख्या में उन्हे रोजगार उपलब्ध कराये जाएँ।

(2) सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित सुझाव—

सामाजिक समस्याओं के निराकरण हेतु सबसे प्रमुख कार्य—(1) बाल-विवाह की प्रथा को समाप्त करना है, (2) युवा-गृहों का पुनरुत्थान किया जाए, जो उन्हें शिक्षा देने की भी व्यवस्था करें, (3) कन्या-मूल्य की प्रथा का जनमत के द्वारा निराकरण किया जाए, (4) जनजातियों की आर्थिक स्थिति में सुधार किया जाए, जिससे वेश्यावृत्ति जैसी बुराई को समाप्त किया जा सके।

(3) सांस्कृतिक समस्याओं से सम्बन्धित सुझाव—

सांस्कृतिक समस्याओं के समाधान हेतु सबसे पहला— (1) प्रमुख कार्य यह किया जा सकता है कि सभी सांस्कृतिक आयोजन उन्हीं की भाषा एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुसार किए जाएँ, (2) एलविन के मतानुसार ऐसे विश्वविद्यालयों की स्थापना की जाए, जो आदिम ललित कलाओं की रक्षा कर सके, (3) शिक्षा के द्वारा उन्हें वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रदान किया जाए जिससे वे धार्मिक अन्धविश्वासों को हटा सकें।

(4) शैक्षिक समस्याओं से सम्बन्धित सुझाव—

शैक्षिक समस्याओं के हल करने के लिए— (1) जनजातियों को शिक्षा उनकी अपनी भाषा में दी जाए, (2) शिक्षा के साथ-साथ नृत्य, संगीत, खेल आदि मनोरंजनों का ध्यान रखा जाए, (3) विद्यालयों के साथ-साथ व्यावसायिक प्रशिक्षण सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाएँ, कृषि, पशुपालन, मुर्गी-पालन, मत्स्य-पालन जैसी व्यावसायिक-शिक्षा उन्हे उपलब्ध कराई जाए जिससे वे बेकारी का सामना कर सकें।

(5) स्वास्थ्य की समस्याओं से सम्बन्धित सुझाव—

स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं के हल के लिए— (1) आदिवासी क्षेत्रों में चिकित्सालय, चिकित्सक व आधुनिक औषधियों की व्यवस्था की जाए, (2) जनजातीय बालकों के लिए पौष्टिक आहार तथा विटामिन की गोलियाँ आदि उपलब्ध कराई जाएँ, (3) चेचक, हैजा व अन्य बीमारियों के टीकों की व्यवस्था की जाए तथा जनजातियों को स्वास्थ्य के सामान्य नियमों से अवगत कराया जाए, (4) चलते-फिरते अस्पतालों की व्यवस्था की जाए, तथा (5) स्कूलों, पंचायत गृहों व युवागृहों में दवाओं आदि का प्रबन्ध किया जाए।

इस प्रकार यदि उपर्युक्त सुझावों को कार्यरूप दिया जा सके तो इन जनजातियों की समस्याएँ कम अवश्य की जा सकेंगी।

अनुसूचित जनजातियों की समस्याओं का निराकरण— अनुसूचित जनजातियों की विभिन्न समस्याओं का निराकरण करने के लिए सरकारी, गैर-सरकारी तथा अन्य संगठनों ने समय-समय पर अनेक प्रयास किए है, जो निम्नलिखित है—

(I) सरकारी प्रयास— स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहिले अंग्रेजी सरकार ने जनजातियों की समस्याओं के समाधान के लिए बहुत कम प्रयास किये थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार द्वारा इनकी समस्याओं के समाधान के लिए किए गए प्रयास निम्नांकित है—

(1) संवैधानिक प्रावधान— *भारत सरकार ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद निर्मित नूतन संविधान में* अनुसूचित जनजातियों के लिए अनेक प्रावधान घोषित किए है, जो निम्नलिखित है—

1 लोक सभा तथा विधान सभाओं में जनजातियों के लिए क्रमश 40 तथा 303 स्थान सुरक्षित रखे गये है जो 25 जनवरी, 1990 के लिए थे, इसकी अवधि तथा निश्चित प्रतिशत के अनुसार सुरक्षित स्थान और बढ़ा दिये गये है।

2 *संविधान की धारा 16(4) तथा 335 के अनुसार सरकारी नौकरियों में अनुसूचित जनजातियों* के लिए 7 5 प्रतिशत स्थान सुरक्षित रखे गये है।

3 संविधान की धारा 46 के अनुसार जनजातियों के विकास तथा आर्थिक उन्नति की सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान देने का कार्य राज्य सरकारों का कर्तव्य घोषित किया गया है।

4. संविधान की धारा 338 के अनुसार राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह अनुसूचित जनजातियों के लिए एक विशेष आयुक्त नियुक्त करेगा जो जनजातियों की स्थिति को सुधारने के सम्बन्ध में समय-समय पर राष्ट्रपति को सुझाव देगा।

5 संविधान के 10वें भाग और 5वीं तथा 6ठी अनुसूचियों में जनजातीय क्षेत्रों के सम्बन्ध में विशेष व्यवस्थाएँ की गई है।

6. संविधान के भाग 6 की धारा 164 में आसाम के अतिरिक्त बिहार, मध्य प्रदेश और उड़ीसा में जनजातीय कल्याण मन्त्रालय स्थापित करने का विधान है।

7 धारा 244(2) के अन्तर्गत आसाम की जनजातियों के लिए जिला और प्रादेशिक परिषद् स्थापित करने की व्यवस्था है।

(2) प्रशासनिक व्यवस्था— *धारा 244 एवं संविधान की पाँचवीं अनुसूची के द्वारा आन्ध्र* प्रदेश, बिहार, गुजरात, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा और राजस्थान के कुछ क्षेत्र अनुसूचित किए गए हैं। इन राज्यों के राज्यपाल जिनमें ये क्षेत्र आते हैं के प्रशासन की रिपोर्ट राष्ट्रपति को प्रत्येक वर्ष भेजेंगे।

(3) कल्याणकारी तथा सलाहकार संस्थाएँ— 1. राष्ट्रपति ने अनुसूचित जनजाति आयुक्त तथा 17 सहायक आयुक्तों की नियुक्ति की है।

2. भारत सरकार ने एक जनजातीय कल्याण अधिकारी की नियुक्ति की है।

3. तीन संसदीय समितियों तथा एक स्थायी संसदीय समिति की स्थापना जो जनजातियों के कल्याण से सम्बद्ध व्यवस्थाओं के कार्यान्वियन की जाँच करेगा।

4. पृथक् मन्त्री तथा अलग विभाग खोले गये हैं जो राज्य सरकारों तथा केन्द्र शासित क्षेत्रो की शासन व्यवस्था में अनुसूचित जनजातियों के हितों की देख-रेख करते हैं।

(4) विधान मण्डलों तथा संसद में प्रतिनिधित्व— संविधान की धारा 330 और 332 के अन्तर्गत राज्यों की अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या के अनुपात के अनुसार लोकसभा तथा राज्यों की विधान सभाओं में इनके स्थान सुरक्षित रखे गए हैं। लोक सभा में 40 स्थान तथा विधान सभाओं *में 303 स्थान सुरक्षित हैं। पंचायती राज के स्तर पर भी इसके लिए स्थान सुरक्षित हैं।*

(5) सरकारी नौकरियों में आरक्षण—अखिल भारतीय स्तर पर प्रतियोगी सेवाओं में अनुसूचित जातियो के लिए 7 5% स्थान सुरक्षित रखे गए हैं। स्थानीय नौकरियों में भी उनके लिए निश्चित प्रतिशत में स्थान सुरक्षित हैं। इनको आयु सीमा में छूट, उपयुक्तता मानदण्ड मे छूट, पदो के लिए चयन सम्बन्धी अनुपयुक्तता में छूट तथा अन्य छूटें भी दी गई हैं।

अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के 6,01,327 व्यक्ति 1 जनवरी, 1981 में केन्द्रीय सरकार में विभिन्न नौकरियो मे सेवारत थे।

(II) कल्याण योजनाएँ— केन्द्र तथा राज्य स्तर पर अनेक कल्याणकारी योजनाएँ जनजातियो के लिए चलाई जाती रही है।

राज्य सरकार द्वारा प्रथम पंचवर्षीय योजना में इनके कल्याण पर 30.04 करोड रुपया व्यय किया गया था। दूसरी योजना में 79.41 करोड़ रुपया, तीसरी योजना में 100.40 करोड़ रुपया, चौथी योजना मे 172.70 करोड़ रुपया, पाँचवी योजना में 288 88 करोड़ रुपए खर्च किये गये, छठी योजना मे 2030.30 करोड़ रुपया तथा जनजातीय उपयोजनाओं पर अलग से 470 करोड़ रुपया खर्च करने का प्रावधान था।

(III) केन्द्रीय परियोजनाएँ— अनुसूचित जनजातियों तथा जातियों को व्यवसाय तथा रोजगार प्राप्त करने मे सहायता के उद्देश्य से परीक्षापूर्ण प्रशिक्षण केन्द्र और शिक्षण सहित प्रथ-प्रदर्शन केन्द्र भारत में सात नगरों— इलाहाबाद, दिल्ली, जयपुर, मद्रास, पटियाला, हैदराबाद और शिलांग में खोले गये है। चार शिक्षण सहित पथ-प्रदर्शन केन्द्र भी खोले हैं।

इसके अतिरिक्त उनके लिए मैट्रिकोत्तर छात्रवृत्तियाँ, बालिका छात्रावास, विदेशों मे पढने के लिए छात्रवृत्तियाँ आदि की भी व्यवस्था की गई है। राज्य सरकारो के स्तर पर मैट्रिकोतर छात्रवृत्तियाँ, परीक्षा शुल्क मे छूट, शिक्षा सम्बन्धी सामग्री की नि शुल्क व्यवस्था, बच्चो को दोपहर में भोजन की व्यवस्था, आश्रम स्कूलों की स्थापना, पाठशाला भवनों तथा छात्रावासों के निर्माण के लिए अनुदान की व्यवस्था भी की गई है ।

(1)विकास योजनाएँ– केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकारो द्वारा अनुसूचित जातियो एव जनजातियो के विकास के लिए अनेक प्रयास किये गये हैं। इन लोगो के कल्याणार्थ प्रत्येक पचवर्षीय योजना में विशेष कार्यक्रम प्रारम्भ किये गये।

जनजातियों के विकास के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना में 30 04 करोड रुपये, द्वितीय पंचवर्षीय योजना मे 79.41 करोड़ की राशि, तृतीय पंचवर्षीय योजना में 100 40 करोड रुपये, एव वार्षिक योजनाएँ 1966-69 मे 68.50 करोड रुपये, चतुर्थ पंचवर्षीय योजना मे 172.70 करोड़ रुपये तथा पाँचवी पंचवर्षीय योजना (1974-79) मे 288.88 करोड की राशि व्यय की गई। इसके अतिरिक्त जनजातीय क्षेत्रो की उपयोजनाओ के लिए 120 करोड रुपये की विशेष केन्द्रीय सहायता उपलब्ध कराई गई । 18 राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों मे जनजाति-उपयोजनाएँ प्रारम्भ की गयीं। उपयोजना क्षेत्रों को 180 सामूहिक जनजाति परियोजना में विभाजित किया गया है। इस दृष्टि से जनजातियों पर भूमि, सहकारी कृषि और वन-उपज मे होने वाले अत्याचारो को समाप्त करने के लिये विशेष प्रयास किए गये।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में पहली बार 16 राज्यों एवं 2 संघ राज्य क्षेत्रो मे जनजातियों की जनसख्या के 63 प्रतिशत भाग के लिए उप-योजनाएँ बनाई गई थी, जिन पर कुल 644 करोड़ की राशि व्यय की गई। छठी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत 75 प्रतिशत भाग के लिए उप-योजनाएँ बनाई गईं। प्रयास किया गया कि सन् 1985 तक अनुसूचित जातियो व जनजातियों के अनुमानत 105 लाख बच्चे मैट्रिक पूर्व स्तर पर छात्रवृत्ति से लाभान्वित हो सके और 8 लाख बच्चे मैट्रिक के बाद छात्रवृत्ति प्राप्त कर सकें। इन जनजातियो के लिए छात्रावासो की सुविधाएँ, रोजगार के अवसरों मे सुधार व सुरक्षित सेवाओं में भर्ती के लिए भारतीय एव राज्य सेवाओ की परीक्षाओं के लिए परीक्षा-पूर्व प्रशिक्षण में स्थान-वृद्धि की गई।

दूषित धन्धों में रत लोगों के आवास आदि के लिए भी प्रयास किया गया। इस प्रकार छठी योजना में पिछडे वर्ग के लोगो के कल्याणार्थ 2030 30 करोड़ रु की राशि रखी गई, जिसमें से जनजातीय उपयोजनाओं पर 470 करोड़ रुपयों की केन्द्रीय सहायता प्रदान की गई।

सातवी पचवर्षीय योजना (1985-90) मे अनुसूचित जातियो एव जनजातियो के सहायतार्थ केन्द्र द्वारा 756 करोड रुपयों की विशेष सहायता देने का प्रस्ताव रखा गया। जनजातियो की बहुलता वाले राज्यो मे 'जनजाति उप्योजना' के तहत 30 लाख परिवारों को आर्थिक सहायता देने का प्रावधान रखा गया जिससे वे अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ कर सके। स्त्रियो के पिछड़ेपन को दूर करने के लिए 'महिला समितियाँ' स्थापित करने एव उन्हे आर्थिक सहायता देने का भी प्रस्ताव है। आठवी पचवर्षीय योजना मे भी बहुत बड़ी राशि इनके कल्याणार्थ रखी गई है।

इस प्रकार इन पचवर्षीय योजनाओं में जनजातीय विकास के लिए अत्यधिक राशि व्यय की जा रही है व अनेक प्रकार से उन्हें आर्थिक सहायता दी जा रही है।

(2) योजना-कार्यक्रम— अनुसूचित जातियों और जनजातियों को रोजगार सेवाएँ उपलब्ध कराने की दृष्टि से केन्द्र एवं राज्य सरकारों ने कई परीयोजनाएँ प्रारम्भ की हैं, जो निम्नलिखित हैं—

1. शिक्षण एवं प्रशिक्षण केन्द्र— अनुसूचित जातियों, जनजातियों के कल्याणार्थ एवं उन्हें रोजगार प्राप्त करने में सहायता देने की दृष्टि से दो कार्यक्रम प्रारम्भ किये गये है— (1) परीक्षा पूर्व प्रशिक्षण केन्द्र (Pre-Examination Training Centres) तथा (2) शिक्षण सहित पथ-प्रदर्शन केन्द्र (Coaching-Cum-guidance Centres) । पहले कार्यक्रम के अन्तर्गत 7 केन्द्र— इलाहाबाद, दिल्ली (एक निजी प्रशिक्षण केन्द्र के माध्यम से), जयपुर, मद्रास, पटियाला, हैदराबाद और शिलांग में हैं, जो संघ लोक सेवा आयोग द्वारा संचालित अखिल भारतीय सेवा परीक्षाओं के लिए प्रशिक्षण देते हैं। उम्मीदवारों को राज्य की सेवाओं के लिए परीक्षा सम्बन्धी प्रशिक्षण देते हैं। उम्मीदवारों को राज्यों की सेवाओं के लिए परीक्षा सम्बन्धी प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से आन्ध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, हरियाणा, कर्नाटक, केरल, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, दिल्ली व पश्चिमी बंगाल में शिक्षण केन्द्र स्थापित किये गये हैं। इलाहाबाद और तिरुचिरापल्ली में इन्जिनियरिंग सेवाओं की परीक्षा के लिए दो अन्य प्रशिक्षण केन्द्र खोले गये हैं। दिल्ली, कानपुर, जबलपुर और मद्रास मे शिक्षण एवं पथ-प्रदर्शन केन्द्र स्थापित किये गये हैं।

2. छात्रवृत्तियाँ— अनुसूचित जाति और जनजाति के विद्यार्थियों को मैट्रिकोत्तर छात्र-वृत्तियाँ अनेक सरक्षकों की आय-सीमा के आधार पर दी जाती है । इन छात्र-वृत्तियों की दरों में पूर्व की तुलना में अब काफी वृद्धि कर दी गई है। बुक-बैंक की सुविधा भी उपलब्ध करा दी गई है तथा अन्य भी सुधार किये गये है। छात्रवृत्तियो की संख्या में भी वृद्धि की गई है। छठी पंचवर्षीय योजना में इस हेतु 6 करोड़ रुपये का प्रस्ताव था।

3. बालिका छात्रावास— इस कार्यक्रम के अन्तर्गत जनजातियों की बालिकाओं के लिए 'बालिका छात्रावास' बनाने एवं उनका विस्तार करने के लिए राज्यों एवं केन्द्र शासित क्षेत्रों को वित्तीय सहायता केन्द्र सरकार द्वारा दी जाती है। पंचवर्षीय योजनाओं में इस पर पर्याप्त व्यय किया जा रहा है।

(III) जनजातीय अनुसन्धान संस्थाएँ— जनजातियों के विषय में अध्ययन एवं अनुसन्धान करने के उद्देश्य से वर्तमान मे अनेक अनुसधान केन्द्र खोले गये हैं तथा इनके कार्यों में समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से एक 30 सदस्यीय केन्द्रीय अनुसधान सलाहकार परिषद का गठन किया गया है, जो अनुसंधान संस्थाओ के नीति-निर्माण में पथ-प्रदर्शक का कार्य करती है । इसमें अनुसूचित जनजातियों की कला, संस्कृति एवं रीति-रिवाजों का अध्ययन किया जाता है । ये अनुसंधान सस्थान—आन्ध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान और पश्चिम-बंगाल आदि राज्यों में स्थापित किये गए है। भारत सरकार द्वारा मानवशास्त्र विभाग में भारत के 153 जिलो में रहने वाली जनजातियों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण अनुसंधान-कार्य सम्पन्न किया गया है। 'उदयपुर का लोक कल्याण मण्डल', 'बम्बई की मानवशास्त्र समिति' तथा 'पश्चिमी बंगाल का सास्कृतिक अनुसन्धान संस्थान' आदि महत्त्वपूर्ण संगठनों ने जनजातीय जीवन के अनेक पहलुओं पर महत्वपूर्ण सर्वेक्षण कार्य किया है व अपना प्रतिवेदन प्रकाशित किया है।

विदेशों में पढ़ने वाले छात्रों के लिए छात्रवृत्तियाँ—सन् 1955 से केन्द्रीय सरकार द्वारा अनुसूचित जाति व जनजाति के छात्रो को विदेश मे अध्ययन करने के लिए छात्रवृत्तियाँ दी जा रही हैं। ये छात्र-वृत्तियाँ प्रतिवर्ष अनुसूचित जनजातियों के 6 बच्चों को दी जाती हैं।

(IV) सहकारी समितियाँ— जनजातियों पर होने वाले शोषण व अत्याचार की रोकथाम के लिए सरकार द्वारा सहकारिता आन्दोलन प्रारम्भ किया गया है। वन-श्रम, बहुउद्देशीय श्रम-ठेका एवं निर्माण तथा क्रय-विक्रय एवं शीर्ष सहकारी समितियों का संगठन सरकार की सहायता से किया गया है। इन समितियों का मुख्य उद्देश्य जंगल में रहने वाली जनजातियों को ठेकेदारों द्वारा होने वाले शोषण से बचाना तथा जंगल की उपज से होने वाले लाभ को उन तक पहुँचाना है।

राज्य क्षेत्र की योजनाएँ

उपर्युक्त केन्द्र सरकार द्वारा संचालित योजना-कार्यक्रमों के साथ राज्य सरकारें भी जनजातीय कल्याण के लिए विभिन्न योजनाएँ चला रही हैं। इन कार्यक्रमों को तीन समूहों में विभाजित किया जा सकता है। प्रत्येक समूह के अन्तर्गत निम्नलिखित कार्यक्रम है—

1. **शिक्षा**—(1) मैट्रिकोत्तर छात्रवृत्तियाँ तथा स्थाई फण्ड, (2) ट्यूशन एवं परीक्षा शुल्क में छूट, (3) शिक्षा सम्बन्धी उपकरणों की व्यवस्था, (4) आश्रम-स्कूलों की स्थापना, व (5) विद्यालयी-भवनों और छात्रावासों के निर्माण के लिए अनुदान।

2. **आर्थिक विकास**— (1) भूमि तथा सिंचाई की व्यवस्था, (2) बैल, कृषि-उपकरण, खाद्य तथा बीज की आपूर्ति, (3) कुटीर-उद्योगों का विकास, (4) संचार-व्यवस्था का विकास, (5) सहकारिता, (6) स्थान परिवर्तन करते रहने वाले युवकों को बसाना तथा (7) मुर्गियों, भेड़-बकरियों तथा सूअरों को देने की व्यवस्था करना।

3. **स्वास्थ्य, आवास तथा अन्य योजनाएँ**— (1) चिकित्सा-सुविधाएँ, (2) पेय-जल योजनाएँ, (3) मकान तथा मकान बनाने के लिए जमीन की व्यवस्था करना, (4) कानूनी सहायता की व्यवस्था तथा (5) राज्य स्तर पर कार्यरत गैर-सरकारी संस्थाओं को अनुदान।

उपर्युक्त प्रयासों को देखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यद्यपि जनजातीय क्षेत्रों के लिए अनेक योजनाएँ बनाई जा रही हैं व उन्हें कार्यरूप में परिणत किया जा रहा है, किन्तु जनजातीय विकास के लिए इससे भी अधिक प्रयास अपेक्षित है। इसके लिए निष्ठावान, सक्रिय एवं निःस्वार्थी अधिकारियों की आवश्यकता है, जो इनकी भावनाओं को समझकर इनसे सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करें।

भारतीय जनजातियों में सामाजिक-राजनैतिक आन्दोलन

सन् 1991 की जनगणना के अनुसार समस्त भारत में अनुमानतः 6 करोड़ 70 लाख से अधिक जनजातीय लोग निवास करते हैं जो भारत के विभिन्न भागों में फैले हुए हैं। प्रमुखतः इन जनजातियों के नाम इस प्रकार हैं— मुण्डा, कोल, भील, खस, भोटिया, गारो, संथाल, भुइया, गौंड, खासी, उराँव, थारू, कूकी, चेंचू, कोरवा, बैगा, गरासिया, लोहार, जुआंग व नागा आदि। क्षेत्र की दृष्टि से ये लोग क्रमशः छोटा नागपुर के पठार, राजस्थान की दक्षिणी सीमा, हैदराबाद, उत्तर प्रदेश, गढ़वाल व कुमायूँ, असम, बिहार के संथाल व रांची परगनों में, बस्तर प्रदेश, राजस्थान व विन्ध्याचल की पर्वत श्रेणी, खासी पहाड़ियों पर, हैदराबाद, मध्य प्रदेश, उड़ीसा व नागालैण्ड आदि में बहुतायत से निवास करते हैं।

इन लोगों की एक पृथक् संस्कृति है, किन्तु इन्होंने भारतीय सामाजिक-राजनैतिक जीवन में अपना अमूल्य योगदान दिया है। इतिहास साक्षी है कि मीणा, भील आदि जातियाँ, जो आज अनुसूचित जातियो की सूची में आती हैं, कभी राजस्थान की रियासतों की अधिकारी थीं। डूँगरपुर, जयपुर, बाँसवाडा व बूँदी आदि में इन भील-मीणा लोगों का शासन था जिन्हे बाद में राजपूतो ने हराकर अपना शासन स्थापित किया था। कहने का आशय यह है कि पिछले 200 वर्षों से जनजातियो के सामाजिक-राजनैतिक जीवन में अनेक परिवर्तन आये हैं जिन्होंने अनेक आन्दोलनो को जन्म दिया है, जिसे पुनर्जागरण का नाम दिया जा सकता है। घुर्ये, विद्यार्थी, सच्चिदानन्द, एडवर्ड रॉय, नायक, बेली, मुखर्जी व एन.के. बोस आदि अनेक विद्वानों ने जनजातियों मे हुए आन्दोलनो का उल्लेख किया है। वैसे अनेक समाज वैज्ञानिक इन आन्दोलनों के प्रति रुचिशील नहीं रहे हैं, इसका कारण स्टीफेन फंच्स के अनुसार यह हो सकता है कि आन्दोलनों से सम्बन्धित स्त्रोत न मिले हो मानवशास्त्रियो की इतिहास में रुचि न रही हो तथा वे स्वयं को राजनीति से अलग मानते रहे हो अथवा अन्य विरोध अथवा विवाद रहे हों। जनजातियो में हुए आन्दोलनों पर निम्नलिखित रूप मे प्रकाश डाला जा सकता है जिसमे आंदोलनों का क्षेत्र, जनजाति व उद्देश्य आदि को प्रमुख आधार माना गया है।

1. पूर्वी क्षेत्र की जनजातियों में आन्दोलन— नागा, खासी, गारो, मिजो, मिकर, कूकी, डफला व कचारी आदि जनजातियाँ पूर्वी क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं। इन जनजातियों मे राजनैतिक एव सांस्कृतिक चेतना अधिक रही है। इस क्षेत्र में अनुमानत डेढ सौ वर्ष पूर्व से धार्मिक एवं राजनैतिक आन्दोलन साथ-साथ चले हैं, क्योंकि इस क्षेत्र में सांस्कृतिक भाषायी भिन्नता पाई जाती है। अग्रेजो से पूर्व स्थानीय राजाओ के विरोध में तथा अंग्रेजों के शासन काल में उनके विरोध में इन लोगो ने राजनैतिक आन्दोलन किये है।

ईसाई मिशनरियों के प्रभाव के फलस्वरूप अनेक जनजातियाँ ईसाई धर्म को अपनाने लग गईं, इसका परिणाम यह हुआ कि यहाँ की जनजातियों में हिन्दूवाद, बुद्धवाद एव इस्लाम के प्रति राजनैतिक जागृति उत्पन्न हो गई। वे भारतीय जीवन की मुख्य धारा से कट गईं और अपने-अपने धर्म के अनुसार सांस्कृतिक एव राजनैतिक स्वायत्तता की माँग करने लगी, जिसके परिणामस्वरूप अनेक आन्दोलन हुए। नागा राष्ट्रवाद के लिए भी यहाँ अनेक आन्दोलन हुए जिनका संचालन नागा क्लब, नागा नेशनल कौन्सिल, नागा वूमैन सोसायटी व नागा यूथ मूवमेण्ट द्वारा किया गया। राजनैतिक स्वायत्तता की माँग करते हुए नागा क्लब ने साइमन कमीशन से सन् 1929 में कहा कि, "आपने हमे जीता है, अब आप भारत से जाये तो पहले की भाँति हमे स्वतन्त्र कर दे।"

स्वायत्तता की माँग नागाओं की ओर से बराबर होती रही। स्वतन्त्रता प्राप्ति के अनन्तर भी नागा राष्ट्रीय परिषद, आसाम हिल ट्राइब यूनियन, ऑल पार्टी हिल कौंसिल एवं ईस्टर्न इण्डियन ट्राइबल यूनियन आदि ने अनेक बार हत्या, आगजनी, तोड़फोड आदि को अपनाते हुए राजनैतिक स्वायत्तता की माँग को और तीव्रतर किया। चीन, बर्मा और पाकिस्तान ने भी इसमे अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निबाही। उन्होंने इन लोगों को भड़काया, छुपकर अस्त्र-शस्त्र और धन दिया। पाकिस्तान के पास होने के कारण यह देश आक्रमण करने के उपरान्त, इन लोगों को छुपा भी लेते थे।

इनकी समस्या के शान्ति-पूर्ण हल के लिए अनेक प्रयास किये गये। अशोक मेहता कमीशन, पटासकर कमीशन एवं जय प्रकाश पीस मिशन ने इनके लिए विशेष कार्य किए हैं और फरवरी,

1961 में नागालैण्ड राज्य की स्थापना, त्रिपुरा एवं मणिपुर को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया जाना और 1972 में मेघालय राज्य की स्थापना इसी का परिणाम है।

2. छोटा नागपुर की जनजातियों में आन्दोलन— *इन जनजातियों मे अनेक सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक आन्दोलन हुए है, जो स्थानीय शासको और भू-स्वामियो के विरोध मे किये गये हैं। इन आन्दोलनों का कारण विद्रोही जनजाति-नेताओं द्वारा समय-समय पर रखी गई माँग को पूरा नहीं करना रहा है इस प्रकार इस क्षेत्र के सभी आंदोलन क्रान्तिकारी व सुधारवादी पृष्ठभूमि को लेकर हुए हैं और चमत्कारिक नेताओं से सम्बन्धित रहे हैं। कुछ महत्वपूर्ण आन्दोलन इस प्रकार है*—

2.1 बिरसा आंदोलन— मुण्डा जनजाति के एक व्यक्ति बिरसा ने सामाजिक-आर्थिक स्वतन्त्रता एवं धार्मिक सुधार के लिए यह आन्दोलन किया था। बिरसा को मुण्डा लोग भगवान का अवतार मानते थे।

सरदार नाम के व्यक्ति के नेतृत्व मे सरकार के विरुद्ध सन् 1870 मे मुण्डा लोगो ने आन्दोलन किया और यह सैनिक विद्रोह सन् 1890 तक चलता रहा। इसे 'सरदार आन्दोलन' कहा जाता है। बिरसा ने मुण्डा लोगों को लगान न देने के लिए खुला विद्रोह करने को कहा। इस आन्दोलन ने छोटा नागपुर के अंग्रेजी शासन को हिला दिया था। बिरसा हिन्दूवाद और ईसाइयत दोनो में विश्वास रखता था।

2.2 तनाभगत आन्दोलन— *ओराव जनजाति में जात्रा नामक व्यक्ति ने सन् 1913-14 में बदलते समय के साथ ओराव लोगो के समाज मे सुधार लाने की दृष्टि से एक आन्दोलन किया। उसने शराब और मांस का विरोध किया व जादु-टोने व भूत-प्रेत की अपेक्षा ईश्वर मे विश्वास करने को कहा। सभी तनाभगत खादी पहिनते थे और भूमि का लगान न देकर उन्होंने असहयोग आन्दोलन मे भाग लिया था।*

2.3 वीरसिंह आन्दोलन— संथालों में वीरसिंह नामक एक व्यक्ति ने सन् 1854 मे स्थानीय भू-स्वामियों के विरोध में एक खुला आन्दोलन किया।

2.4 भागीरथ आन्दोलन— सन् 1871 में भागीरथ नामक व्यक्ति ने भागीरथ आन्दोलन चलाया।

2.5 बेनगाव आन्दोलन— सन् 1930 में बेनगाव आन्दोलन चला जो गाँधीजी के विचारो पर आधारित था।

2.6 'हो' आन्दोलन— सन् 1882 में 'हो' लोगो में बुद्दो और भूमिज लोगों ने गंगा नारायण के नेतृत्व में स्थानीय राजाओं के विरोध मे आन्दोलन किया। असुर जनजाति मे जनजाति-विश्वासो और हिन्दू धर्म के मिश्रण के रूप में अनेक धार्मिक आन्दोलन हुए।

इस प्रकार अनेक आन्दोलन—भूमि पर स्वामित्व, वनो का उपयोग एवं धार्मिक व सांस्कृतिक सम्पर्क की समस्याओ को लेकर हुए है। घुर्ये के अनुसार इनका कारण जनजातियो का हिन्दूकरण रहा है। एडवर्ड राय ने इन्हे पुनर्जीवित आन्दोलन कहा है। विद्यार्थी के मत मे ये प्रतिरोधात्मक आन्दोलन है, जबकि फच्स इन्हे मसीहा आन्दोलन की सज्ञा देते है, किन्तु सार रूप मे यह कहा जा सकता है कि ये सभी आन्दोलन अपनी सांस्कृतिक धरोहर व मूल्यों को प्राप्त करने के लिए किए गये।

3. मध्य भारत की अन्य जनजातियों में आन्दोलन– मध्य भारत की जनजातियों में गौंड व भील प्रमुख जनजातियाँ हैं। सन् 1929 में माइसिंग व राज नेगी ने सुधारवादी आन्दोलन चलाए जो गौंड लोगों में शराब के निषेध के उद्देश्य से किए गए थे। 1951 में सरगूजा अकाल से प्रेरित होकर देवी ने गौंड लोगों को संगठित किया। यह महात्मा गाँधी की अनुयायी थी और इसने गोविन्दपुर में आन्दोलन के संचालन के लिए आश्रम बनाया था।

4. राजस्थान, गुजरात व मध्य प्रदेश के भीलों में अनेक स्थानीय आंदोलन हुए हैं जिनका उद्देश्य हिन्दूकरण ही है। खानदेश मे गुलिया महाराज तथा रेवकन्या मे विश्वनाथ द्वारा आन्दोलन किए गये। कई आन्दोलनों का नाम लसोडिया, गोविन्दगिरि, गुलिया, विश्वनाथ तथा मावजी के आधार पर रखा गया। 1933 में भीलों द्वारा मालगढ़ी में पृथक् राज्य के लिए आंदोलन किया गया। अभील नेता मोतीलाल तेजावत एवं भामा भालेश्वर दयाल ने भी भीलों की सामाजिक व राजनैतिक मुक्ति के लिए आन्दोलन का संचालन किया।

इन सबके अतिरिक्त बेली ने उड़ीसा की गौंड जनजाति में राष्ट्रीयकरण एवं संस्कृतिकरण के आंदोलनों की चर्चा की है। महायान ने पूर्वी भारत व उड़ीसा की जनजातियों में सामाजिक आन्दोलनों की बात कही है। राघवीया ने आन्ध्रप्रदेश की रामभूपति जनजाति में रामया विद्रोह के विषय में चर्चा की है जिसके कारण सन् 1802 से सन् 1870 तक इन क्षेत्रों में स्थिति सन्तोषप्रद नहीं रही।

5. वर्तमान स्थिति–उपर्युक्त आन्दोलन स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व के हैं। वर्तमान समय में अब स्थिति में परिवर्तन हुआ है– इस समय जो आन्दोलन हुए हैं उनमें से कुछ निर्माणकारी उद्देश्यों को लेकर हुए हैं व उनका उद्देश्य भी सकारात्मक रहा है। कुछ आन्दोलनों में विद्रोह के स्वर भी उभरे हैं तथा वे नकारात्मक हैं। जनजातियों ने या तो स्वयं को राष्ट्र की मुख्य धारा से जोड़ लिया है, अथवा वे अपने लिए पृथक् राज्य की माँग करने लगी हैं किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अपनी निम्नस्तरीय, आर्थिक व सामाजिक स्थिति के लिए वे जागरूक हैं और वे अपनी पृथक् सांस्कृतिक विशिष्टता बनाए रखना चाहती हैं। सरकार इन जनजातियों के लिए निरन्तर उन्नति के प्रयास कर रही हैं, फिर भी इनमें असन्तोष व्याप्त है। छोटा नागपुर की जनजातियाँ पृथक् राज्य 'झारखण्ड' बनाने की माँग कर रही हैं। सन् 1960 से छत्तीगढ एवं मध्यप्रदेश के गोंडवाना क्षेत्र में भी पृथक् राज्य की माँग की जा रही है। भीलों ने सदैव स्वायत्त शासन की माँग की है। मध्य प्रदेश के बस्तर क्षेत्र में भी आन्दोलन हुए है। दक्षिणी गुजरात की जनजातियों ने अलग राज्य की माँग के लिए आन्दोलन किए हैं। सन् 1962 में महाराष्ट्र के भण्डारा जिले में भी स्वायत्तता की माँग की जा रही थी।

आन्ध्रप्रदेश के श्रीकाकुलम जिले में नक्सलवादी आन्दोलन ने जनजातियों में असन्तोष को बढ़ावा दिया है। श्रीकाकुलम में असन्तोष के लिए कुशल प्रशासन का अभाव, राज्य व केन्द्र द्वारा संवैधानिक सुरक्षा प्रदान करने के प्रति उपेक्षा भाव, पुलिस की उदासीनता, अधिकारियों द्वारा शोषण, जनजातियो के भूमि-अधिकारों की रक्षा न करना, जनजातियों की भूमि पर अवैध कब्जा करना, व्यापारियों द्वारा इनका शोषण किया जाना आदि कारणों को नायडू ने प्रमुखता प्रदान की है।

प्रश्न

1. अनुसूचित जनजातियों की परिभाषा दीजिए। ये अनुसूचित जातियों से कैसे भिन्न है?
2. अनुसूचित जनजातियों की समस्याओ की विवेचना कीजिए।
3. अनुसूचित जनजातियों की समस्याओं के कारणों पर प्रकाश डालिए।
4. अनुसूचित जनजातियों की समस्याओं के समाधान के लिए आप क्या सुझाव देंगे?
5. अनुसूचित जनजातियों की समस्याओ के निराकरण की विवेचना कीजिए।
6. भारतीय जनजातियों में सामाजिक-राजनैतिक आन्दोलनो का उल्लेख कीजिए।
7. अनुसूचित जनजातियो के लिए किए गए संवैधानिक उपायों को बताइए।
8. समकालीन भारत मे जनजातियों के लोग गैर-जनजातीय लोगो के समीप किस प्रकार आ रहे है? बताइए।

लघु-उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

1. झारखण्ड आन्दोलन किस क्षेत्र से सम्बन्धित है? (मा शि बो अजमेर, 1994)
2. तनाभगत आन्दोलन।
3. जनजातीय समस्याएँ।
4. जनजातियों के कल्याण हेतु सरकार द्वारा किए गए प्रयास।
5. *जनजातियो मे राजनैतिक आन्दोलन।*
6. जनजातियो मे सामाजिक आन्दोलन।

अतिलघु-उत्तरीय प्रश्न

1. भारत की जनजातियो के कोई तीन आन्दोलन बताइए।
2. जनजाति की समाजिक समस्याएँ बताइए।
3. *जनजातियो का सरकारी नौकरियों मे आरक्षण कितना है?*
4. जनजाति की समस्याओं के समाधान के तीन सुझाव दीजिए।
5. स्थानान्तरित खेती।
6. दुर्गम निवास स्थान।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (उत्तर संकेत सहित)

(1) नीचे कुछ प्रश्न दिए गये हैं उनके उत्तरों के विकल्प भी दिए गए हैं, आप सही विकल्प का चुनाव कीजिए—

1. स्थानान्तरित खेती को कहते है—

(अ) साझीदारी खेती (स) जमींदारी
(ब) बँटाईदारी (द) झूम
[उत्तर- (द)]

2. तनाभगत आन्दोलन का सम्बन्ध किस जनजाति से है?

(अ) मीणा (स) भील
(ब) ओराव (द) नागा
[उत्तर- (ब)]

3. 1991 की जनगणनानुसार भारत में कितने जनजातीय समुदाय हैं ?
   (अ) 212 (स) 650
   (ब) 492 (द) 560
   [उत्तर- (द)]
4. 1991 के अनुसार जनजातियो की जनसंख्या थी—
   (अ) 5 करोड (स) 8.67 करोड
   (ब) 6.78 करोड (द) 4.0 करोड
   [उत्तर- (ब)]
5. अनुसूचित जनजातियो को सरकारी नौकरियों में आरक्षण प्राप्त है ?
   (अ) 15 प्रतिशत (स) 7.5 प्रतिशत
   (ब) 27 प्रतिशत (द) 5 प्रतिशत
   [उत्तर- (स)]
6. भारत मे सर्वाधिक जनजातियाँ किस राज्य में निवास करती हैं?
   (अ) राजस्थान (स) मध्य प्रदेश
   (ब) बिहार (द) उडीसा
   [उत्तर- (स)]
7. सातवीं पचवर्षीय योजना में अनुसूचित जातियों एव जनजातियों की सहायतार्थ केन्द्र ने कितना रुपया रखा था?
   (अ) 10.0 करोड (स) 756 करोड
   (ब) 656 करोड (द) 915 करोड़
   [उत्तर- (स)]
8. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए—
   (1) अनुसूचित जनजातियो के लिए नौकरियों मे ... ... प्रतिशत स्थान सुरक्षित थे।
   (2) जनजातियो ने अपने उत्थान तथा शोषण के विरुद्ध अनेक .... किए है ।
   (3) भारतवर्ष मे कुल ... . जनजातीय समुदाय है।
   (4) 1991 के अनुसार जनजातियों की जनसंख्या .... है।
   (5) विख्यात समाजशास्त्री .... ने भारत की जनजातियो को 'पिछडे हिन्दू' कहा है।
   [उत्तर- (1) 7.5%, (2) आन्दोलन, (3) 560, (4) 6.78 करोड, (5) घुर्ये]

□□□

अध्याय - 9

अन्य पिछड़े वर्ग

(Other Backward Classes)

भारतीय समाज में जहाँ कुछ लोग समृद्ध है, सभी सुख-सुविधाओं से सम्पन्न हैं तो वहीं कुछ लोग ऐसे भी है, जिनके पास आवश्यक सुख-सुविधाएँ भी उपलब्ध नहीं है। वे अन्धविश्वासों, परम्पराओं और जड़मान्यताओं पर निर्भर है और राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा से कटे हुए है, इन लोगो को पिछड़े वर्गों मे सम्मिलित किया जा सकता है। सामान्यतः पिछड़े वर्ग में अनुसूचित जातियो, जनजातियो, श्रमिको व भूमिहीन श्रमिको को लिया जाता है। भारतीय संविधान के भाग 16 में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति के साथ 'अन्य पिछड़े वर्ग' शब्द प्रयुक्त किया गया है और जहाँ अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के लोगों के लिए सामाजिक, शैक्षणिक व आर्थिक उन्नयन की अनेक कल्याणकारी योजनाएँ बनाई गई है, वहीं, 'अन्य पिछड़े वर्गों' के लिए कोई विशेष कल्याणकारी व्यवस्थाएँ नहीं की गई है। अब इस ओर ध्यान दिया जा रहा है। इन 'अन्य पिछडे वर्गों' में कौनसी जातियाँ है, उनके निर्धारण के क्या आधार है, और उनके उन्नयन के क्या प्रयास किये जा रहे है— इन पर अग्रांकित पृष्ठों मे विचार किया जाएगा।

पिछड़े वर्ग : परिभाषा एवं अर्थ

भारतीय समाज में 'पिछडे वर्ग' की अवधारणा बहुत अस्पष्ट है। समाज के वे वर्ग जो विभिन्न प्रकार की सुविधाओं से वंचित है; आर्थिक, राजनैतिक और शैक्षणिक दृष्टि से पिछडे है, साथ ही जाति, लिंग व धर्म के भेदभाव के कारण शोषित हो रहे है, उन्हें 'पिछड़े वर्ग' मे स्थान दिया जा सकता है। विभिन्न आयोगो मे 'पिछड़े वर्ग' की क्या अवधारणा मानी गई है, इस पर विचार करके इनकी कोई सर्वमान्य परिभाषा दी सकती है।

विधिक और कानूनी सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से इस कमजोर वर्ग का पता लगाने के लिए वी.आर. कृष्णा अय्यर की अध्यक्षता में एक कमेटी गठित की गई थी। कमेटी ने भौगोलिक रूप से वंचित, ग्रामीण, खेतिहर मजदूर, औद्योगिक व श्रमिक आदि को कमजोर वर्ग का कहा। भारतीय समाज मे जिन जातियो का जन्म या अन्य सामाजिक आधार पर सदियो से शोषण होता रहा है उन्हे इस वर्ग मे रखा जाता है क्योंकि वास्तव मे जो लोग गरीबी की रेखा से नीचे जीवन जीते है, राजनैतिक दृष्टि से भी जो अक्षम माने जाते है, सामाजिक मानदण्ड मे उन्हें मानवीय समानता नहीं मिलती, सांस्कृतिक दृष्टि से जिन्हें वे भूमिकाएँ या सुविधाएँ नहीं दी जातीं जिनसे उन्हें समाज मे

सम्मान मिले, शिक्षा, धन और योग्यता की दृष्टि से जो दुर्बल होते हैं, उन्हें 'पिछडे वर्ग' में सम्मिलित किया गया है।

सन् 1934 में 'पिछड़े वर्ग संघ' की स्थापना 'मद्रास' में की गई थी जिसमें 100 से अधिक जातियों को पिछड़े वर्गों मे माना गया था और यह संख्या मद्रास की जनसंख्या का अनुमानत: 50 प्रतिशत थी। ट्रावनकोर राज्य ने सन् 1937 में 'पिछडे समुदाय' में शैक्षणिक और आर्थिक दृष्टि से पिछडे समुदाय को माना था। उसके बाद 1948 में हिंदुओ और मुसलमानों में सामाजिक आर्थिक और शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों का पता लगाने के लिए एक आयोग गठित करने का विचार किया गया। इस आयोग का कार्य पिछडे वर्गों के समक्ष आने वाली कठिनाइयों को जानकर केन्द्रीय अथवा राज्य सरकार से उन समस्याओ के सुधार के लिए प्रयत्न करने की सिफारिश करने का भी था। ऐसे आयोग की नियुक्त 1953 मे हुई।

1947 मे बिहार सरकार द्वारा 'अन्य पिछडे वर्गों' के लिए मैट्रिक के बाद के अध्ययन के लिए कुछ प्रावधान किए गए। बिहार सरकार ने विभिन्न जातियों के 'पिछडे वर्गों' की एक सूची भी 1951 में घोषित की, जो राज्य की जनसंख्या का 60 प्रतिशत थी। 1948 मे उत्तर प्रदेश सरकार ने भी इनके लिए शैक्षणिक सुविधाएँ प्रदान कीं। इस सरकार ने 56 जातियों की एक सूची बनाई जो उत्तर प्रदेश की जनसंख्या का 65 प्रतिशत थी। विश्वविद्यालय शिक्षा-आयोग (1948-49) ने पिछडे समुदाय के छात्रों के लिए आरक्षण रखने की बात कही। अनेक संगठन पिछड़े वर्गों के लिए बनाए गए, जैसे— 'बिहार राज्य पिछड़ा वर्ग महासंघ' 1947 में बनाया गया, अखिल भारतीय पिछड़ा वर्ग महासंघ 1950 में स्थापित हुआ। 1954 मे 15 राज्यों मे पिछड़े वर्गों के लिए 88 संगठन बने। अनेक सूचियाँ बनाई गईं। कर्नाटक की सूची में ब्राह्मणो को छोड़कर सभी गैर-हिन्दू लिए गए, किन्तु अभी तक स्थिति स्पष्ट नहीं हो सकी है कि 'पिछडे वर्ग' मे किन्हें स्थान दिया जाए। भारत के संविधान के अनुसार सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि पिछड़ेपन को आधार बनाया जाना चाहिए। भारत के राष्ट्रपति को संविधान की धारा 340 के आधार पर आयोग का गठन करके पिछडे वर्गों की स्थिति की जानकारी लेने का अधिकार दिया गया है। धारा 15 (4) और 16 के आधार पर राज्य सरकारें भी इनकी सही स्थिति का पता लगा सकती हैं। इसी धारा के आधार पर 'राजस्थान राज्य पिछड़ा वर्ग आयोग' प्रदेश में सर्वेक्षण कराकर 'पिछडे वर्गों' की सूची बनाने का कार्य कर रहा है। राजस्थान में पंचायती राज संस्थाओ व नगरपालिका के चुनाव 1994 में होने है उसके लिए 'पिछडे वर्गों' के लिए आरक्षण का मामला तय करने के लिए पिछडे वर्गों की नवीन सूची बनाने का सर्वेक्षण-कार्य प्रगति पर है। राजस्थान की अधिकृत 'पिछड़ा वर्ग' सूची में नई जातियों व वर्गों के नाम जोडने के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करने के लिए 'राजस्थान राज्य पिछड़ा वर्ग' आयोग के अध्यक्ष न्यायाधीश आई.एस. इसरानी की अध्यक्षता मे 8 जुलाई, 1994 को एक बैठक आयोजित की गई। सर्वोच्च न्यायालय के नियमानुसार 'पिछडा वर्ग' की सूची में विभिन्न वर्गों को सम्मिलित करने एवं हटाने के लिए राज्य सरकार को जो पार्थना-पत्र प्राप्त हुए है उनके सम्बन्ध में नेशनल कमीशन व अन्य राज्यों के 'पिछड़ा वर्ग' आयोगों मे रखे मापदण्ड, सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय, मण्डल कमीशन के मापदण्ड, सर्वेक्षण, और विचार- विमर्श करके तय किए जायेगे, क्योंकि संविधान में 'जाति' शब्द का उल्लेख नहीं है, वर्ग का है और आयोग को पिछड़े वर्गों की सूची बनाते समय उच्चतम न्यायालय के निर्देशो के अनुसार वर्गों के सामाजिक और शैक्षिक पिछड़ेपन पर विचार करना है। सितम्बर 1994 से मुख्य-मुख्य शहरो और कस्बो मे रहने वाली जातियो के नाम जोड़ने के लिए सर्वेक्षण प्रारम्भ किया गया है जो 15 अक्टूबर, 1994 तक चलेगा। अब तक भिश्ती, बागड़ा, वैद्य, बावर, पायक, विक्तोवी का सर्वेक्षण हो चुका है और आदि गौड़, कोष्टी, हरियाणा, ब्राह्मण, सिन्धी, करी,

गुर्जर गौड़, खाण्डल विप्र, खत्री (मद्रासी), चोबदार, धरामी, पूर्बिया राजपूत, उस्ता/बन्दूक साज, सिलार सैन, पन्नीगर, सिंधी, मुसलमान, कसाई, गोगर, काजी, रांकर, नगारदी, फकीर, महावत, कायमखानी जातियों का सर्वे 15 अक्टूबर तक पूरा किया जाएगा। इससे यह स्पष्ट होता है कि पिछड़ा वर्ग में कौनसी जातियाँ रखी जाएँ। अभी तक यह तय नहीं है इसका अर्थ यह भी है कि पिछड़ेपन का निर्धारण सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से किया जाता है। इसमें उन सभी समूहों व जातियों को लिया जाता है जो व्यवसाय, शिक्षा आदि से अन्य उच्च वर्गों से पीछे रह गये हैं। कृषि-जीवनयापन करने वाले भी इसी श्रेणी में हैं। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'अन्य पिछड़ा वर्ग' के अन्तर्गत उन वर्गों को लिया जा सकता है, जिन्हें अछूतों से ऊँचा और ब्राह्मणों से नीचा समझा जाता है और जो लोग सामाजिक, शैक्षिक, और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं।

पिछड़े वर्गों से सम्बन्धित आयोग— पिछड़े वर्गों का निर्धारण करने, उनकी सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षिक स्थिति को जानने और जानकर केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों से उनके उत्थान के लिए प्रयास करने की सिफारिश करने के लिए देश में अब तक दो आयोग गठित किए गए हैं, जो इस प्रकार हैं -

1. काका कालेलकर आयोग— पिछड़े वर्गों से सम्बन्धित कठिनाइयों को जानने से सम्बन्धित 'अखिल भारतीय स्तर का प्रथम आयोग' काका कालेलकर की अध्यक्षता में राष्ट्रपति ने 29 जनवरी, 1953 को स्थापित किया था। इसे निर्देश दिया गया था कि वह सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि को ध्यान में रखकर पिछड़े वर्गों का निर्धारण करे और उनकी सूची तैयार करे और उनकी सामाजिक और शैक्षिक समस्याओं का भी पता लगाए। इसके लिए आयोग को निम्नलिखित आदेश दिए गए थे—

(1) उन कसौटियों का निर्धारण करना जो सामाजिक और शैक्षिक आधार पर पिछड़े वर्गों को ज्ञात कर सकें।
(2) पिछड़े वर्गों की सूची बनाना।
(3) पिछड़े वर्गों की कठिनाइयों को ज्ञात करना।
(4) पिछड़े वर्गों की कठिनाइयों के निवारणार्थ एवं उनके कल्याणार्थ केन्द्र एवं राज्य सरकार क्या प्रयास करे?
(5) पिछड़े वर्गों को क्या सहायता उपलब्ध कराई जाए?

अनुमानतः दो वर्षों के उपरांत 2,399 जातियों और उपजातियों की सूची आयोग द्वारा तैयार की गई और सामाजिक और आर्थिक कल्याण के लिए कतिपय सुझाव भी प्रस्तुत किए गए। आयोग ने भारत की 70 प्रतिशत जनसंख्या को पिछड़ा माना, जिसके निम्नलिखित आधार थे—

(1) जातीय-संस्तरण में निम्न सामाजिक स्थिति।

(2) शैक्षिक-प्रगति का अभाव।

(3) राजकीय सेवा में अपर्याप्त प्रतिनिधित्व।

(4) व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में अपर्याप्त प्रतिनिधित्व।

पिछड़े वर्गों की सूची-निर्माण में आयोग ने 'जाति' को प्रमुख कारक माना है क्योंकि जाति की सामाजिक और शैक्षिक समस्याओं का कुछ पूर्ति स्तरों के रूप में किया जा सकता है। इस आधार पर आयोग ने कम से कम 25 प्रतिशत सेवाओं का आरक्षण प्रथम श्रेणी की सेवाओं के लिए, 33.5

प्रतिशत द्वितीय सेवाओं में, और 40 प्रतिशत तृतीय और चतुर्थ श्रेणी की सेवाओं में पिछड़े लोगों के लिए किये जाने का सुझाव दिया है। आयोग ने मेडिकल, वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा में 70 प्रतिशत आरक्षण की सिफारिश की। साथ ही उसने पिछडावर्ग कल्याण के लिए अलग मंत्रालय बनाने का विचार भी रखा।

आयोग ने जाति समूहों के पिछडे व्यक्तियों को आधार न मानकर 'सम्पूर्ण जाति' को पिछडेपन का आधार माना, बाद मे उसने 'निर्धनता, मकान और व्यवसाय' को भी पिछडापन-निर्धारण का महत्वपूर्ण कारक माना क्योंकि एक तो जाति का आधार अस्पष्ट है, दूसरे जाति की कसौटी, प्रजातंत्र के सिद्धांतों के भी विपरीत है।

आयोग की सिफारिशो पर ध्यान देते समय केन्द्र सरकार ने जाति को आधार मानने से इन्कार कर दिया और उसने 1961 में राज्य सरकारों से उनके यहाँ पिछडे वर्गो की पहचान के लिए सर्वेक्षण कराने के आदेश दिए जिसका आधार आर्थिक हो, न कि जाति। इस आदेशानुसार राज्यों ने आय और व्यवसाय को आधार मानकर पिछडे वर्गो की सूची तैयार की, और उन्हें वर्गीकृत किया।

राज्यों में पिछड़ेपन की कसौटियाँ

1961 में केन्द्र ने स्वयं पिछडे वर्गो की सूची तैयार न करने का निर्णय लेकर, राज्यो को सूची तैयार करने के आदेश दिए। केन्द्र स्वयं पिछडेपन का निर्धारण नहीं कर सका अत. उसने राज्यों को अपनी कसौटी निर्धारित कर, सूचियाँ बनाने के आदेश दिए। राज्यों ने स्थानीय, सामाजिक और आर्थिक आधारों को प्रमुखता देकर अपनी सूचियाँ बनाईं। अनेक जातियों ने इसमें समावेश होने के लिए माँग की।

'कर्नाटक सरकार' ने 1960 से जाति, धर्म और प्रजाति को पिछडेपन का आधार न मानकर **परिवार की आय और व्यवसाय** को पिछडेपन का आधार माना। 1960 तक **'ब्राह्मणों'** के अतिरिक्त सभी जातियों को पिछडी माना गया। 1972 मे एल.जी. हवानूर की अध्यक्षता में कर्नाटक सरकार ने पिछडे वर्गों के लिए एक आयोग नियुक्त किया। इस आयोग ने आय और व्यवसाय के स्थान पर **'आर्थिक और जातीय आधार'** पर पिछडी जातियों की एक सूची बनाई और इनके लिए 32 प्रतिशत नौकरियो के लिए आरक्षण की सिफारिश की। कर्नाटक मे लिंगायत और वोकालिंगा जातियाँ पिछड़े वर्ग में आने की माँग कर रही हैं। कर्नाटक सरकार ने 40 प्रतिशत आरक्षण किया है किन्तु वर्तमान समय में कर्नाटक विधान सभा ने आरक्षण से सम्बन्धित विधेयक प्रस्तुत किया जिसमें 80 प्रतिशत आरक्षण की माँग की गई। विधान सभा ने 20 सितम्बर, 1994 को आरक्षण विधेयक पारित कर दिया। इसमें **आरक्षण तिहत्तर प्रतिशत** करने का प्रावधान है। 'अन्य पिछडे वर्ग' के लिए पचास और अनुसूचित जाति-जनजाति के लिए तेईस प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान है। विधानसभा में दो प्रस्ताव पारित किए गए हैं— एक तो यह कि राज्य केन्द्र से अनुरोध करेगा कि राज्य के आरक्षण विधेयक को सविधान की नवीं अनुसूचि में शामिल किया जाए और दूसरा यह कि राज्य केन्द्र को उन परिस्थितियों का ब्यौरा देगा जिनके कारण पिछड़ा और दलित वर्ग को सामाजिक न्याय दिलाने के लिए राज्य को 73 प्रतिशत आरक्षण लागू करना पडा।

आन्ध्र प्रदेश सरकार ने 1966 में जाति के बजाय 'परिवार' को पिछड़े समूहों के वर्गीकरण का आधार माना। किन्तु यह निर्णय कुछ कानूनी कठिनाइयों के कारण त्यागना पडा। 1970 में 92 समुदायों की एक सूची 'पिछडे वर्गों की' बनाई गई। इन जातियों के लिए **25 प्रतिशत आरक्षण** की व्यवस्था की गई है।

बिहार सरकार ने 'काका कालेलकर आयोग' और 'मुंगेरी लाल आयोग' द्वारा प्रस्तुत की गई सिफारिशों के आधार पर 1978 में 128 पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण की घोषणा की। बिहार की अहीर, कुर्मी और कोइरी जातियाँ जो बहुत पिछड़ी न होने पर भी पिछड़े वर्गों की कुल जनसंख्या का पाँच में से तीसरा हिस्सा हैं, आरक्षण का अधिकतम लाभ ले लेती हैं। इस नीति से लाभ लेने के लिए 12,000 रु. प्रतिवर्ष परिवार की आय-सीमा निश्चित की गई है। बिहार में "26 प्रतिशत आरक्षण" दिया गया है।

तमिलनाडु में 50 प्रतिशत आरक्षण किया गया। अब तमिलनाडु में '69 प्रतिशत आरक्षण' करने का प्रस्ताव रखा गया है। इस आरक्षण के कानून को संविधान की नवीं अनुसूची में शामिल करने सम्बन्धी संविधान संशोधन विधेयक को 24 अगस्त, 1994 को राज्य सभा ने आवश्यक बहुमत से पारित कर दिया। सरकारी नौकरियों व शिक्षण संस्थाओं में 69 प्रतिशत आरक्षण जारी रखने का प्रावधान है जिसे संविधान की नवीं अनुसूची में शामिल किए जाने से किसी न्यायालय में इसे चुनौती नहीं दी जा सकती।

केरल सरकार ने पिछड़े वर्ग आयोग की स्थापना की और 1970 में इसकी रिपोर्ट मिली। इसने शैक्षिक, आर्थिक स्थिति, सामाजिक पिछड़ापन और सरकारी सेवाओं में हिस्सा– कसौटियाँ मानकर सिफारिश की और आज '25 प्रतिशत आरक्षण' पिछड़े वर्गों के लिए रखा गया है।

उत्तर प्रदेश सरकार ने 58 समुदायों की जातियों को पिछड़ा माना है– वहाँ पर कुर्मी, अहीर और कोइरी भी स्वयं को आरक्षित माने जाने के लिए प्रयत्नरत हैं। वहाँ 15 प्रतिशत नौकरियाँ आरक्षित हैं। अब उत्तर प्रदेश में उत्तराखण्ड राज्य बनाने व वहाँ 27 प्रतिशत आरक्षण लागू किए जाने के लिए आन्दोलन किए जा रहे हैं।

महाराष्ट्र सरकार ने 14 प्रतिशत आरक्षण पिछड़े वर्गों के लिए किया है।

जम्मू-कश्मीर राज्य में पिछड़े समुदायों और जातियों के लिए 40 प्रतिशत नौकरियाँ आरक्षित की गई हैं।

राजस्थान- पंचायती राज संस्थाओं में आरक्षण सीमा 50 प्रतिशत– पंचायती राज संस्थाओं में और नगरपालिका चुनावों में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति व 'अन्य पिछड़े वर्गों' के लिए कुल आरक्षण की मात्रा 50 प्रतिशत रखने का प्रस्ताव किया गया है। महिलाओं को इन चुनावों में एक-तिहाई आरक्षण का लाभ मिलेगा। अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और 'अन्य पिछड़ा वर्ग' के लिए निश्चित आरक्षण में एक-तिहाई स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित होंगे। वर्तमान में अनुसूचित जाति के लिए 16 प्रतिशत और अनुसूचित जनजाति के लिए 12.5 प्रतिशत आरक्षण है। इस स्थिति में यह ध्यान रखा जा रहा है कि इन तीनों वर्गों के लिए घोषित आरक्षण की मात्रा 50 प्रतिशत से अधिक न हो– इस स्थिति में 'अन्य पिछड़े वर्ग' के लिए आरक्षण का प्रावधान यह है कि इन दोनों संस्थाओं को मिलाने के बाद 50 प्रतिशत होने में जितना हिस्सा बचता है, वह 'अन्य पिछड़े वर्गों' के लिए होगा। किन्तु यह किसी भी स्थिति में 15 प्रतिशत से अधिक नहीं होगा। राज्यपाल के मंत्रिमंडल में आए अध्यादेश के जरिए राज्य सरकार ने इसी वर्ष, राजस्थान पंचायती राज कानून, 1994 की धारा 2, 15, 16, 64, 74, 101 और 124 में संशोधन किए हैं।

राज्य सरकार ने 'अन्य पिछड़ी जातियों' के लिए सरकारी सेवाओं में 21 प्रतिशत आरक्षण घोषित किया है। किन्तु चूँकि इस वर्ग के लोगों को न तो परीक्षा शुल्क में शत प्रतिशत छूट दी जाती

है, न आयु सीमा में कोई छूट है और न ही परीक्षा में बैठने या बस-किराए आदि में कोई छूट दी जाती है इस कारण इन 'अन्य पिछड़ा वर्ग' के लिए आरक्षण का कोई लाभ नहीं मिल पाता। अत. 'पिछड़ा वर्ग आयोग' ने माँग की है कि मण्डल आयोग की मंशा और उच्चतम न्यायालय के निर्णय के अनुसार सरकारी नौकरियों के अलावा अर्द्ध-सरकारी उपक्रमों, विश्वविद्यालयों, स्वायत्तशासी संस्थाओ, तकनीकी और मेडिकल कॉलेजों में 'अन्य पिछडा वर्ग' को आरक्षण दिया जाए।

मण्डल आयोग

सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों को सहायता देने और जातीय असमानताओं को समाप्त करने के उद्देश्य से जनता पार्टी ने अपने 1977 के घोषणा-पत्र में पिछड़े वर्गों के लिए सरकारी और शैक्षणिक सेवाओं में 25 से 33 प्रतिशत तक आरक्षण देने का वायदा किया और लोकसभा के सदस्य बी.पी. मण्डल की अध्यक्षता में पिछडे वर्ग के लिए एक आयोग का गठन किया। इसे 'मण्डल आयोग' का नाम दिया। आयोग को निम्नलिखित कार्य करने थे—

(1) सामाजिक और शैक्षिक दृष्टिकोण से पिछड़े वर्गों को परिभाषित करने के आधार तय करना।

(2) सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों के विकास हेतु किए जा सकने वाले कार्यों के बारे में सुझाव प्रस्तुत करना।

(3) केन्द्र और राज्य सरकार तथा केन्द्र शासित प्रदेशो में उन नौकरियो मे आरक्षण की सम्भावनाओ की जाँच करना जिनमें पिछडे वर्गों का प्रतिनिधित्व कम है।

(4) प्राप्त तथ्यो के आधार पर रिपोर्ट प्रस्तुत करना और सिफारिशें देना।

मण्डल आयोग ने 30 अप्रैल, 1982 को अपनी रिपोर्ट भारत सरकार को प्रस्तुत की। सामाजिक, आर्थिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों के लिए नौकरियों में 27 प्रतिशत आरक्षण का सुझाव दिया। मण्डल आयोग के प्रतिवेदन के अनुसार पिछडे वर्ग की जनसंख्या 52 प्रतिशत है अत आयोग ने सुझाव दिया कि इस 52 प्रतिशत जनता के लिए नौकरियों और शैक्षिक सुविधाओं में 52 प्रतिशत आरक्षण किया जाना चाहिए। परन्तु संविधान की धारा 15 (4) और 16 (4) के अनुसार 50 प्रतिशत स्थान ही आरक्षित किए जा सकते हैं। 22.5 प्रतिशत स्थान अनुसूचित, जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए पहले से ही आरक्षित हैं। अत पिछड़ी जातियों के लिए 27 प्रतिशत ही आरक्षण किया जा सकता है। आयोग के सुझाव इस प्रकार थे—

(1) सभी स्तरों पर 27 प्रतिशत नौकरियों का आरक्षण किया जाए।

(2) पदोन्नति के लिए भी 27 प्रतिशत का सिद्धांत लागू किया जाए।

(3) यदि आरक्षित कोटा भरा नहीं जाता तो तीन वर्ष की अवधि के लिए इसे बढा दिया जाए, उसके बाद ही उसे हटाया जाए।

(4) पिछडे वर्गों को भी आयु मे छूट अनुसूचित जाति-जनजातियो के समान दी जाए।

(5) आरक्षण का सिद्धांत केन्द्रीय और राज्य सरकारों से सहायता प्राप्त करने वाले निजी प्रतिष्ठानों, विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों, बैंको और सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठानो में लागू किया जाए।

एक और आंदोलन **'श्री नारायण धर्म परिपालन'** केरल में हुआ जिसे नारायण गुरुस्वामी ने किया था। इस आंदोलन में गैर-ब्राह्मण नायर जाति के उत्थान पर जोर दिया गया अत: इसे सुधारवादी आंदोलन माना जाता है। इन आंदोलनों के दो प्रमुख कारण हैं— (1) दक्षिण में जितने भी आंदोलन हुए वे या तो ब्राह्मणवाद के विरोध मे थे अथवा पिछड़े वर्गों के उत्थान और जातीय संस्तरण में उच्च स्थिति प्रदान किए जाने के सम्बन्ध में थे। ब्राह्मणों को सदैव ही विशेषाधिकार प्राप्त हुए हैं, समाज में उच्च स्थिति प्राप्त हुई है और यही अन्य जातियों के विरोध का कारण बना।

ब्राह्मण संख्या मे कम होते हुए भी साक्षरता में आगे रहे। इसी कारण इन्हें अन्य जातियों से उच्च माना गया और ब्रह्मणों के अलावा अन्य जातियों को पिछड़ा समुदाय भी घोषित किया गया।

(2) इन आंदोलनों का एक अन्य कारण यह भी माना जा सकता है कि ग्रामीण समाज में कृषक जातियाँ अत्यधिक है। राजनैतिक दृष्टि से ये 'प्रभु जातियाँ' कही जाती है। इन जातियों को एकीकृत ग्रामीण विकास, सामुदायिक विकास योजना, पंचायती राज वयस्क मताधिकार व हरित क्रांति का सर्वाधिक लाभ मिला है। उत्तर प्रदेश के जाट और गूजर, बिहार की कुर्मी एवं यादव जातियाँ इसके उदाहरण हैं— इन जातियों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में सुधार ने पिछड़े वर्गों में आंदोलन को उभारा है।

इन उपर्युक्त आंदोलनों के अतिरिक्त सामाजिक असमानता के विरोध में व नौकरियों और शिक्षा मे स्थान रक्षित कराने के उद्देश्य से भी आंदोलन किए जा रहे है। वर्तमान समय मे पिछड़ेवर्गों के लिए अलग राज्य की माँग ने उत्तर प्रदेश में उत्तराखण्ड आंदोलन को जन्म दिया है।

उत्तराखण्ड आंदोलन

उत्तर प्रदेश मे उत्तराखण्ड को पृथक् राज्य बनाने के लिए आन्दोलन किया जा रहा है। उत्तराखण्ड आंदोलन का प्रारम्भ मुख्यमंत्री मुलायम सिंह यादव के पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण सुविधा देने के परिणामस्वरूप हुआ है। वास्तव में 1950 में जब भाषाई आधार पर राज्यों का गठन किया जा रहा था तभी इसे पृथक् राज्य का दर्जा मिलना चाहिए था। 1991-92 की योजना आयोग की रिपोर्ट मे भी इसे पिछड़ा राज्य माना गया था। उत्तर प्रदेश विधान सभा ने आठ जिलों को मिलाकर पृथक् उत्तराखण्ड राज्य के गठन के प्रस्ताव को **24 अगस्त, 1994** को स्वीकृति दे दी है। इस उत्तराखण्ड के पृथक् राज्य में— नैनीताल, अलमोड़ा, पिथौरागढ़, पौढ़ी गढ़वाल, चामौली, टिहरी गढ़वाल, उत्तरकाशी और देहरादून शामिल हैं। इन आठ जिलों वाले उत्तराखण्ड को अलग राज्य बनाने के लिए आंदोलन चलाया जा रहा है। इसमें छात्र वर्ग सम्मिलित है। वास्तव में इस आंदोलन के दो पक्ष है— (1) एक तो अलग राज्य की स्थापना और (2) दूसरे यह कि चूँकि वहाँ पिछड़े वर्गों की जनसख्या का अनुपात तीन प्रतिशत से भी कम है, अतः 27 प्रतिशत आरक्षण उत्तराखण्ड मे लागू न किया जाए। अलग राज्य बनाने के पक्ष में राज्य विधानमण्डल प्रस्ताव पारित कर चुका है, और अब यह मामला केन्द्र सरकार के अधीन है किंतु आरक्षण के विषय में केन्द्र सरकार विमुख है जिसके कारण आंदोलन की लहर तीव्रता धारण किए हुए है। उत्तराखण्ड राज्य की सामाजिक-शैक्षिक स्थिति की दृष्टि से वहाँ की जनसंख्या के बड़े भाग को पिछड़ा वर्ग माना जाए या अनुसूचित जनजाति मे? दोनो में अतर यह है कि पहली स्थिति में आरक्षण 50 प्रतिशत है और दूसरी में शत प्रतिशत। वैसे सरकार यदि उत्तराखण्ड को अलग राज्य घोषित कर देती है तो जिस प्रकार हरियाणा, हिमाचल, गुजरात, पंजाब सभी जैसे पृथक् राज्य बनकर फले-फूले है, वैसे ही

उत्तराखण्ड भी अपनी स्थिति सुदृढ कर लेगा। अत पहले उत्तराखण्ड राज्य बनाया जाए, और फिर आरक्षण की नीति तय की जाए।

आरक्षण-विरोधी-आंदोलन एवं आरक्षण-नीति

आरक्षण विरोधी घोर आंदोलन एक दशक पूर्व बिहार और गुजरात मे हुए थे और आज उत्तराखण्ड मे आरक्षण-विरोधी आंदोलन चल रहा है। इस आंदोलन का मुख्य आधार पढ़े-लिखे लोगो की बेरोजगारी का है। जब शिक्षित वर्ग को पढ़ लिखकर भी सरकारी नौकरी नहीं मिलती तो उसमे कुठाएँ आ जाती हैं जो आरक्षण विरोधी आदोलन का रूप ले लेती हैं। आरक्षण के विस्तार पर सभी दल सगोष्ठियाँ और सभाएँ कर रहे हैं। यह सच है कि पढ़े-लिखे लोगो मे सवर्ण जातियो के लोग ज्यादा हैं किंतु ऐसी स्थिति में क्या किया जाए? क्या सरकारी नौकरियो के सभी स्थान अनारक्षित कर दिए जाएँ? क्योंकि नौकरियो का शत प्रतिशत आरक्षण भी कर दिया जाए तो भी पिछड़े और दलित समुदाय को पूरा रोजगार नहीं मिल सकता, क्योंकि उनकी सख्या तो सवर्णों से भी ज्यादा है। सामाजिक-विषमता को दूर करने के लिए आरक्षण का किंचित उपयोग अवश्य है किन्तु वास्तव मे यह विद्वेष समता से दूर होगा। वह समता जिसे गाँधी और विनोबा ने अपने जीवन मे जीया था।

आरक्षण के प्रस्ताव की नीति भी सभी प्रदेशो की अपनी-अपनी है, जैसे— तमिलनाडु सरकार ने आरक्षण की सीमा 50 प्रतिशत से बढ़ाकर करीब 69 प्रतिशत करने का फैसला किया है। तमिलनाडु सरकार ने आरक्षण कानून को कानून की नवीं अधिसूची मे शामिल करने सम्बन्धी सविधान सशोधन- विधेयक को 24 अगस्त, 1994 को राज्य सभा मे पारित कर दिया। जिसके अनुसार तमिलनाडु मे सरकारी नौकरियो तथा शिक्षण सस्थाओ मे 69 प्रतिशत आरक्षण जारी करने का प्रावधान है। ध्यान रहे कि मण्डल आयोग ने 27% आरक्षण देने की बात कही थी और उच्चतम न्यायालय ने भी 50 प्रतिशत आरक्षण की पैरवी की थी किन्तु तमिलनाडु की आरक्षण की सीमा के सामने तो केन्द्र सरकार ने भी समझौता कर लिया। इसमे राजनैतिक पक्ष प्रबल रहा है अथवा सुधारी दृष्टिकोण, कहा नहीं जा सकता। किन्तु मुख्य प्रश्न यह है कि यदि इस प्रकार आरक्षण की सीमा बढ़ाई गई तो उच्च प्रतिभाओ को सरक्षण कैसे मिलेगा? और आरक्षण का यह सिलसिला कब तक और कितना चलेगा? जिन्हे आज नौकरियो मे आरक्षण दिया गया है, वे कल शिक्षण सस्थाओ मे भी आरक्षण की माँग करेंगे। इस प्रकार आरक्षण कहीं शैक्षिक पिछड़ापन हटाते-हटाते जातीय आधार पर देश के टुकड़े-टुकड़े न कर दे। तब जातिवाद का विष और फैल जाएगा।

आरक्षण की लहर आज सभी प्रान्तो मे व्याप्त है। बिहार के मुख्यमंत्री लालू प्रसाद यादव बिहार के लिए 80 प्रतिशत आरक्षण की माँग कर रहे हैं, उसी भाँति कर्नाटक के लिए भी 80 प्रतिशत आरक्षण की माँग वहाँ के मुख्य मंत्री वीरप्पा मोइली द्वारा की जा रही है और दिनाक 20 सितम्बर, 1994 को कर्नाटक विधान सभा मे आरक्षण विधेयक पारित कर दिया। इसमे कितना प्रतिशत आरक्षण पिछड़ी जातियो के लिए करने का प्रावधान है। मेघालय और नागालैण्ड जैसे पूर्वोत्तर राज्यों में पहले से ही 80 से 85 प्रतिशत तक आरक्षण की व्यवस्था लागू है। अब मुस्लिम और ईसाई भी आरक्षण कोटे की माँग कर रहे है। किन्तु क्या आरक्षण सामाजिक विषमता को दूर कर सकेगा? भारत के उच्चतम न्यायालय ने 50 प्रतिशत तक आरक्षण लागू करने की व्यवस्था दी है। भारत की ससद सर्वोच्च विधि-निर्मात्री निकाय है। वह कानून बनाकर उच्चतम न्यायालय द्वारा दी गई व्यवस्था

को बदल सकती है और इस अधिकार का संसद ने उपयोग किया है। किंतु आरक्षण बढ़ाने से न तो सबको नौकरियाँ मिल जायेगी और न ही सामाजिक असमानता में कमी होगी, बल्कि युवा पीढ़ी को तो इससे भटकाव ही ज्यादा मिलेगा।

आरक्षण की अलग-अलग राज्यों की नीति से वातावरण मे क्रूरता पनपने लगेगी और देश विभाजन की दिशा में बढता चला जाएगा। अत आरक्षण की नीति का निर्धारण करते समय वास्तव में सामाजिक और शैक्षिक आधार पर पिछडे हुए वर्गों को सुविधा दी जानी चाहिए।

पिछड़े वर्गों की समस्याओं का समाधान

पिछडे वर्ग की समस्याएँ वास्तव में उनकी सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक स्थिति से सम्बन्धित हैं और इन्हीं के सुधार के लिए समय-समय पर आयोगों के गठन हुए हैं। कुछ लाभ और सुविधाएँ उन्हें प्राप्त भी हुई हैं किंतु वास्तविकता तो यह है कि अभी भी ये वर्ग अनेक निर्योग्यताओं के शिकार है। आज शैक्षिक, राजनैतिक, आर्थिक सभी क्षेत्रों में उनमें पिछडापन है— केन्द्र एवं राज्य सरकारें इनके लिए प्रयासरत है— भूमि सुधार कानून, न्यूनतम-मजदूरी निर्धारण, बन्धुआ मजदूरी प्रथा की समाप्ति, रोजगार उपलब्ध कराने हेतु अनेक योजनाओं का निर्माण, आवास व पेय जल आदि की व्यवस्था करना, प्रौढ शिक्षा का प्रसार, पिछडे वर्गो के छात्रो के लिए आवासीय विद्यालयों की व्यवस्था व महिलाओं की प्रत्येक क्षेत्र में भागीदारी आदि अनेक योजनाएँ सरकार द्वारा इन वर्गों के लिए बनाई जा रही है।

यही नहीं राजनैतिक क्षेत्र में भी इन्हें महत्त्व दिया जा रहा है। पंचायती राज, वयस्क मताधिकार जमींदारी उन्मूलन, हरित क्रांति एवं एकीकृत ग्रामीण विकास आदि कार्यक्रमों के द्वारा अब इनकी भागीदारी सभी क्षेत्रो में हो रही है ये उच्च जाति के समान ही सभी क्षेत्रों में लाभान्वित हो रही हैं। इसके अतिरिक्त भी कुछ अन्य सुविधाएँ इन्हें उपलब्ध कराई जा सकती हैं जिनके द्वारा इनकी समस्याओ का निराकरण हो सकेगा।

समस्या-समाधान हेतु कतिपय सुझाव

(1) मजदूरों की कार्य की दशाओं में आवश्यक सुधार किए जाएँ।

(2) पिछडे वर्गो की शिक्षा की उचित व्यवस्था की जाए।

(3) सभी प्रकार की नौकरियों मे इन्हें उचित प्रतिनिधित्व दिया जाए।

(4) सामाजिक सुरक्षा एवं स्वास्थ्य सेवाओ की समुचित व्यवस्था की जाए।

(5) विभिन्न उद्योगो के लिए प्रशिक्षण सुविधाएँ एवं ऋण आदि की उचित व्यवस्था की जाए।

(6) न्यूनतम मजदूरी अधिनियम लागू किया जाए।

(7) इनके लिए आवास की समुचित व्यवस्था की जाए।

(8) भूमि-सुधार अधिनियम को विधिवत् लागू किया जाए।

(9) बन्धुआ मजदूरों के लिए पुनर्वास-व्यवस्था की जाए।

(viii) काका कालेलकर आयोग की स्थापना .... में की गई।

(29 जनवरी, 1953/30 अप्रैल, 1982)

[उत्तर-(i) ज्योतिराव फुले, (ii) अन्नादुराई, (iii) सुधारवादी, (iv) 1970, (v) 27, (vi) 24 अगस्त, 1994, (vii) 30 अप्रैल, 1982, (viii) 29 जनवरी, 1953]

2. नीचे दिये गए चार विकल्पों में से सही विकल्प का चयन कर सम्बन्धित प्रश्न का उत्तर दीजिए–

(1) द्रविण मुनेत्र कडगम की स्थापना किस सन् में हुई?
(अ) 1873 (ब) 1949
(स) 1857 (द) 1970

(2) मण्डल आयोग के अध्यक्ष कौन थे?
(अ) नरसिम्हाराव (ब) नारायण गुरु स्वामी
(स) बी.आर. कृष्णा अय्यर (द) बी.पी. मण्डल

(3) कर्नाटक विधान सभा मे पिछडी जातियो के लिए तिहत्तर प्रतिशत का आरक्षण विधेयक कब पारित हुआ ?
(अ) 24.7.94 (ब) 7.9.73
(स) 25.9.84 (द) 20.9.94

(4) सन् 1994 में तमिलनाडु सरकार ने पिछड़ी जातियों के लिए कितना प्रतिशत आरक्षण किया है ?
(अ) 80 प्रतिशत (ब) 73 प्रतिशत
(स) 70 प्रतिशत (द) 69 प्रतिशत

(5) काका कालेलकर आयोग कब स्थापित किया गया था ?
(अ) 1970 (ब) 1974
(स) 1953 (द) 1961

(6) 1954 मे 15 राज्यों मे पिछड़े वर्गों के लिए कितने संगठन बने ?
(अ) 28 (ब) 17
(स) 88 (द) 35

(7) 'सार्वजनिक सत्य धर्म' के रचयिता कौन थे?
(अ) एम जी रामचन्द्रन (ब) नारायण गुरुस्वामी
(स) ज्योतिराव फुले (द) अन्नादुराई

[उत्तर- 1 (ब), 2 (द), 3 (20.9.94), 4 (द), 5 (1953), 6 (88), 7 (स)]

3. निम्नलिखित के सही जोड़े बनाइए–

(1) 27 प्रतिशत आरक्षण (A) ज्योतिराव फुले
(2) विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (B) 1970
(3) अखिल भारतीय द्रविण मुनेत्र कडगम (C) उत्तर प्रदेश
(4) गुलामगिरी (D) मण्डल आयोग
(5) उत्तराखण्ड आंदोलन (E) 1948-49

[उत्तर- 1 (D), 2 (E), 3 (B), 4 (A), 5 (C)]

☐☐☐

अध्याय - 10

भारत में स्त्रियाँ : प्रमुख समस्याएँ

(Women in India : Major Problems)

भारत में स्त्रियों की स्थिति' का विषय अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। अगर हम भारतीय समाज को पूर्ण रूप से समझना चाहते है तो उसकी जनसंख्या का लगभग आधा भाग जो स्त्रियो का है, को जानना, देखना और समझना आवश्यक है। भारत में स्त्रियों की स्थिति भूतकाल मे क्या थी? वर्तमान मे क्या है? और भविष्य में क्या होगी ? इसका ज्ञान होना आवश्यक है। इस ज्ञान के बिना भारतीय समाज का विकास अपूर्ण ही रहेगा। अगर भारतीय सामाजिक संगठन और सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ बनाना है तो स्त्रियों की स्थिति को पुरुषो के संदर्भ मे देखना होगा तथा उसमें संतुलन लाना होगा। स्त्री और पुरुष दोनो समाज के अभिन्न अंग होते है। उनमे से किसी एक (स्त्री) का शोषण होगा तो वह समाज खुशहाल तथा सुखी नहीं हो सकता है।

अनेक वैज्ञानिक अध्ययनों, परीक्षणो तथा सर्वेक्षणों से पता चला है कि समाज के सतुलन, विकास तथा समृद्धि के लिए नारी की महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ होती है। एक नारी को शिक्षित करने का अर्थ है एक परिवार को शिक्षित करना। नारी का प्रभाव अनेक क्षेत्रों मे देखा गया है। वह सन्तानों को जन्म देती है। उन्हें पाल-पोस कर बड़ा करती है तथा समाज को भावी सदस्य तथा नागरिक प्रदान करती है। अगर स्त्री या माता अथवा गृहिणी के संस्कार, शिक्षा-दीक्षा आदि उत्तम नहीं होगी तो वह समाज और राष्ट्र को श्रेष्ठ सदस्य कैसे दे सकती है ? समाज के लिए स्त्री का स्वस्थ, खुशहाल, शिक्षित, समझदार, व्यवहारकुशल, बुद्धिमान आदि होना अनेक दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण है। जब उसकी स्वय की स्थिति सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक शैक्षिक आदि दृष्टिकोणों से निम्न होगी तो स्वाभाविक है परिवार, समाज और राष्ट्र की स्थिति अच्छी नहीं हो सकती है। एक तो स्त्रियाँ स्वय राष्ट्र की आधी जनसख्या है तथा दूसरा बच्चे, युवा, प्रौढ और वृद्धजन उन पर अपनी अनेक पारिवारिक आवश्यकताओ के लिए निर्भर रहते है। भारत मे स्त्रियों की स्थिति का विभिन्न कालों मे अध्ययन करना आवश्यक है तभी इसकी वर्तमान स्थिति का वास्तविक चित्र सामने आ पाएगा।

विभिन्न कालों में स्त्री की स्थिति

1. वैदिक काल– इस काल के उपलब्ध साहित्य से पता चलता है कि स्त्रियों की स्थिति सभी प्रकार से अच्छी थी। स्त्री-पुरुष मे कोई भेद नहीं था तथा दोनों की सामाजिक प्रस्थिति समान थी। लड़कियाँ ब्रह्मचर्य का पालन करती थी। आश्रम मे शिक्षा प्राप्त करती थी। सह-शिक्षा का प्रचलन था। यजुर्वेद के अनुसार इस काल मे कन्या का उपनयन संस्कार होता था। उसे संध्या करने का

अधिकार था। पी.एन. प्रभु ने लिखा है कि जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध था, स्त्री-पुरुष की स्थिति सामान्यत. समान थी। स्त्रियाँ शिक्षा प्राप्त करती थीं तथा शास्त्रों का अध्ययन करती थीं। इस काल में अनेक विदुषी स्त्रियाँ हुई थीं। लड़कियों का विवाह युवा अवस्था में होता था। स्त्रियाँ चाहती तो अपना जीवन बिना विवाह किए व्यतीत कर सकती थीं। लड़कियाँ अपना जीवन साथी चुनने के लिए स्वतंत्र थीं। पत्नी का अपने परिवार मे सम्मान था। महाभारत के अनुसार, 'वह घर घर नहीं अगर उस घर में पत्नी नहीं।' गृहिणीहीन घर 'जंगल' है। अथर्ववेद में लिखा है कि "नववधू तू जिस घर में जा रही है वहाँ की तू साम्राज्ञी है। तेरे श्वसुर, सास, देवर और अन्य व्यक्ति तुझे साम्राज्ञी समझते हुए तेरे शासन में आनन्दित हो।" स्त्री सन्तान उत्पन्न नहीं होने पर अथवा उत्तम सन्तान के लिए नियोग द्वारा सन्तान प्राप्त कर सकती थी। बहुपत्नी विवाहों को मान्यता प्राप्त थी। विधवा पुनर्विवाह कर सकती थी। देवर या अन्य व्यक्ति से वह इच्छानुसार विवाह कर सकती थी। पर्दा-प्रथा नही थी। स्त्रियाँ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए स्वतन्त्र थीं। पुरुषों द्वारा स्त्रियों की रक्षा करना परम कर्त्तव्य माना जाता था। उनका अपमान करना लोग पाप समझते थे।

स्त्री-पुरुष समान रूप से धार्मिक कृत्यों को करते थे। किसी भी यज्ञ आदि में पति-पत्नी दोनों का होना आवश्यक था। ऐतरेय ब्राह्मण में स्त्री को 'जाया' कहा गया है जिसका अर्थ है कि स्त्री अपने पति को दूसरा जन्म देती है (जायति पुन)। बाल्मीकि के अनुसार स्त्रियों को अकेले यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त था। पुत्र के जन्म को अधिक महत्त्व दिया जाता था। पुत्र का महत्त्व वंश विस्तार, तर्पण, पिण्डदान आदि के कारण अधिक था। ऋग्वेद में वीर पुत्रों की कामना के लिए बारबार प्रार्थना का उल्लेख मिलता है। सारांशत वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों के समान अच्छी थी।

2. उत्तर-वैदिक काल—ईसा से 600 वर्ष पूर्व से लेकर ईसा के 300 वर्ष बाद तक का काल उत्तर-वैदिक काल कहलाता है। महाभारत की रचना उस काल में प्रारम्भ हुई थी जो एक संस्कृति काल था तथा उसमें स्त्रियों की स्थिति के बारे मे भिन्न-भिन्न तथा विरोधी विचार मिलते हैं। वैदिक काल में तो स्त्रियो की स्थिति अच्छी परन्तु बाद में उनकी स्थिति मे परिवर्तन होने लगा। अनुशासन पर्व में भीष्म पितामह के अनुसार स्त्री को सदैव आदरणीय मानकर उससे स्नेह का व्यवहार किया जाना चाहिए। "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता।" अर्थात् जहाँ स्त्रियों की पूजा की जाती है वहाँ देवताओं का निवास होता है। यह भी लिखा है कि इनकी अनुपस्थिति में सारे कामकाज पुण्यरहित हो जाते है। भीष्मपितामह ने नारी के दो प्रकारों का उल्लेख किया है—साध्वी और असाध्वी। साध्वी नारी धरती की माँ और संरक्षिका है तथा असाध्वी नारियाँ वे हैं जिन्हें उनके पापपूर्ण व्यवहार के कारण कहीं भी पहिचाना जा सकता है। उत्तर वैदिक काल के प्रारम्भिक वर्षों अर्थात् ईसा के करीब 300 वर्ष पूर्व तक स्थिति ठीक थी। सम्पन्न परिवार की लड़कियों को शिक्षा दी जाती थी। वे वेदों का अध्ययन कर सकती थी। वे अपना वर स्वयंवर मे पसंद कर चुनती थीं। उनके धार्मिक और सामाजिक अधिकार यथावत् थे। बाद में नारी की स्थिति में परिवर्तन आए जो निम्नांकित है।

जैन और बौद्ध धर्म के प्रभाव इस काल में प्रभावशाली हो गए। ये धर्म स्त्री को सम्मान देते थे। अनेक स्त्रियो ने इन धर्मों के प्रचार का कार्य किया। बाद में जब इन धर्मों का पतन हुआ तो उसके साथ-साथ स्त्रियो की स्थिति भी बिगड़ती चली गई। ए.एस. अल्तेकर के अनुसार, आर्यगृह मे अनार्य नारी का प्रवेश नारियो की सामान्य स्थिति की अवनति का मुख्य कारण है। यह अवनति ईसा के करीब 1000 वर्ष पूर्व से धीरे-धीरे अति सूक्ष्म रूप मे प्रारम्भ हुई और करीब 500 वर्ष पश्चात् काफी स्पष्ट मालूम पड़ने लगी। बाद मे मनु परम्परा आ गई। इस काल मे नारियों की स्वतत्रता पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए गए। यज्ञ करना तथा वेदो का अध्ययन प्रतिबन्धित हो गए। विधवा पुनर्विवाह

पर रोक लगा दी गई। शिक्षा प्राप्त करना कठिन हो गया। इससे उनकी स्थिति धीरे-धीरे बिगड़ने लगी।

स्मृति युग मे स्त्रियों के समस्त अधिकारो को समाप्त कर दिया गया। स्मृतिकारो ने स्त्री को प्रत्येक अवस्था मे परतंत्र बना दिया। उसे बचपन मे पिता के संरक्षण में, युवावस्था मे पति के और वृद्धावस्था मे पुत्र के संरक्षण में रहने के आदेश दिए गए। स्त्री के लिए एक मात्र कर्त्तव्य पति की सेवा करना रह गया। विधवा पुनर्विवाह बन्द कर दिए गये तथा सती का प्रावधान निश्चित कर दिया। इस प्रकार स्त्रियों की स्थिति सिद्धान्त रूप मे पूर्ण रूप से खराब कर दी गई जो आगे चल कर व्यावहारिक रूप में विकसित हो गई।

3. धर्मशास्त्र काल— यह काल ईसा के पश्चात् तीसरी शताब्दी से लेकर 11वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक का है। जो कुछ मनुस्मृति मे स्त्रियों के प्रतिबन्धो के बारे मे लिखा था उसे धर्मशास्त्र काल में व्यावहारिक रूप दिया गया। इस काल में पराशर, विष्णु और याज्ञवल्क्य संहिताओं की रचना मनस्मृति को ही आधार मानकर की गई। समाज तथा स्त्रियों पर इतने अधिक प्रतिबन्ध लगाए गए कि इसे सामाजिक और धार्मिक संकीर्णता का काल कहते हैं। स्त्री शिक्षा पर पाबन्दी लग गई। स्त्री के लिए एकमात्र विवाह संस्कार रह गया। कन्याओ के विवाह की आयु घट कर 10-12 वर्ष रह गई तथा बाल-विवाह का प्रचलन बढ़ गया। वर के चुनाव मे कन्या की भूमिका समाप्त हो गई। कुलीन विवाह तथा अनुलोम विवाह का महत्त्व बढ़ने से बहुपत्नी विवाह होने लगे। रखैल रखने का रिवाज प्रारम्भ हो गया। विधुर 8 या 10 वर्ष की कन्या से विवाह करने लगा। विधवाओं की सख्या बढने लगी। इस धर्मशास्त्र काल या संकीर्णता के काल मे स्त्रियाँ माता से 'सेविका' तथा गृहलक्ष्मी से 'याचिका' बन गईं। स्त्री के लिए पति ही देवता और विवाह ही एकमात्र उसके लिए धार्मिक सस्कार रह गया। पति की मृत्यु के बाद सती होना सर्वश्रेष्ठ आदर्श स्थापित करने का प्रयास किया गया। स्त्रियो के पतन का सबसे अधिक जिम्मेदार धर्मशास्त्र काल रहा है। इस काल ने नारी को उपभोग की वस्तु मात्र बना दिया है। इस काल मे स्त्रियो का स्थान सभी क्षेत्रो मे पुरुष से निम्न हो गया।

4. मध्यकाल— 11वीं शताब्दी से लेकर 18वीं शताब्दी तक का समय मध्यकाल कहलाता है। 11वीं शताब्दी के प्रारम्भ से मुसलमानो का प्रभाव भारत पर बढ़ने लगा। हिन्दू धर्म और सस्कृति को मुस्लिम धर्म और संस्कृति से सुरक्षित रखने के लिए अनेक प्रयास किए गए। सर्वप्रथम स्त्रियो की सुरक्षा के लिए अनेक कदम उठाए गए। स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा तथा रक्त की शुद्धता के लिए अब 5 या 6 वर्ष की आयु में ही कन्याओ का विवाह किया जाने लगा। बाल-विवाहों को प्राथमिकता दी जाने लगी। स्त्रियों को घर की चारदीवारी में रखा जाने लगा। बाहर निकलने पर पर्दे का ध्यान रखा जाने लगा। स्त्री शिक्षा पर रोक लगा दी गई।

विधवा पुनर्विवाह पर रोक लगा दी गई। सती-प्रथा को प्रोत्साहित किया जाने लगा। सम्पत्ति मे स्त्रियो के अधिकार को समाप्त कर दिया गया। आर्थिक दृष्टिकोण से स्त्रियाँ परतन्त्र हो गईं। उस काल मे विश्व के अन्य समाजो मे स्त्री की स्थिति भारतीय नारी से कहीं अधिक खराब थी। ऐसा उपलब्ध साहित्य से पता चलता है।

मुसलमानो की इस प्रवृत्ति "जेहि की कन्या सुन्दर देखी तेहि पर जाइ धरे हथियार" ने बाल विवाह को अत्यधिक प्रोत्साहित किया।

सारांश में यही तथ्य सामने आते है कि मध्यकाल में धर्म के नाम पर तथा मुसलमानों से हिन्दू धर्म तथा संस्कृति की सुरक्षा की आड में भारतीय हिन्दू नारी पर अनेक प्रतिबन्ध लगा कर उसका घोर शोषण किया गया था।

5. ब्रिटिश काल— 18वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों से लेकर 1947 तक के समय को ब्रिटिश काल मानते हैं। अंग्रेजी सरकार ने भारत के मुसलमानों से राजनैतिक सत्ता प्राप्त की थी। मुसलमान उनके विरुद्ध थे ही, वे हिन्दुओं को अपने विरुद्ध नहीं करना चाहते थे। इसलिए अंग्रेज़ों ने हिन्दुओं के धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रो मे कोई सुधार नहीं करने की नीति अपनाई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश शासन काल में हिन्दू स्त्रियों के सुधार के लिए भी अग्रेजी सरकार ने कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया। इस काल में भी स्त्रियो की स्थिति निम्नलिखित क्षेत्रो मे दयनीय रही—

5.1 पारिवारिक क्षेत्र— पारिवारिक जीवन में उन्हे कुछ भी अधिकार प्राप्त नहीं थे। परिवार का मुखिया पुरुष होता था। सारी शक्तियाँ, निर्णय आदि के अधिकार उसी के पास होते थे। स्त्रियो को परिवार के बाहर जाने का अधिकार नही था। वह तो केवल सन्तानें पैदा करती तथा घर-गृहस्थी के कार्य करती। बाल-विवाह होता था। वर के चुनने में उससे पूछा नहीं जाता था। पति कैसा भी हो उसे विवाह विच्छेद करने का अधिकार नहीं था। विधवा होने पर तो उसकी स्थिति बड़ी करुणामय हो जाती थी। मनोरंजन के कोई साधन नही थे।

5.2 सामाजिक क्षेत्र— सामाजिक क्षेत्र मे भी स्त्रियों को कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे। बाल-विवाह तथा पर्दा-प्रथा के फलस्वरूप वह घर के बाहर जाकर कोई औपचारिक शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नही रखती थी। स्वतंत्रता प्राप्ति से पहिले स्त्रियों में साक्षरता का प्रतिशत मात्र 6 प्रतिशत था। समाज में उसका कोई स्वतत्र व्यक्तित्व नही था। बहुपत्नी विवाह सम्पन्न परिवारों में प्रचलित थे। स्त्री को उसके साथ सामंजस्य या व्यवस्थापन करना पडता था। धार्मिक और पारम्परिक दृष्टि से स्त्रियो का कार्यक्षेत्र घर की चारदीवारी था।

5.3 आर्थिक क्षेत्र— सन् 1937 से पहिले स्त्री को आर्थिक क्षेत्र में कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं थे। पणिक्कर के अनुसार हिन्दू समाज में पुत्री के अधिकार को कानून द्वारा समाप्त कर दिया गया, पत्नी पति के परिवार का एक अग बन गई और विधवाओं को मृत समान मान लिया गया। स्त्रियों को केवल स्त्री धन सम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे। स्त्रियाँ घर के बाहर जाकर कोई आर्थिक कार्य नही कर सकती थीं। संयुक्त परिवार में उन्हें कोई भी सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार प्राप्त नहीं थे। स्त्रियाँ पुरुषों के अत्याचार सहती थीं। अविवाहित लडकी का संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं था। नाभिक परिवार में उसका अधिकार लडकों और विधवाओ के बाद आता था।

5.4 राजनैतिक क्षेत्र— राजनैतिक क्षेत्र मे सन् 1919 तक स्त्रियो को वोट देने का अधिकार पूर्ण रूप से प्राप्त नही था। सन् 1935 मे स्त्रियो को मताधिकार, उनकी शिक्षा, पति की स्थिति, सम्पत्ति आदि के अनुसार दिया गया। किसी भी राजनैतिक कार्य में स्त्रियों को भाग नही लेने दिया जाता था। उनका जीवन घर की चारदीवारी तक ही सीमित था। महात्मा गाँधी ने स्त्रियो को घर के बाहर लाने का प्रयास किया जिसके फलस्वरूप स्त्रियों ने स्वतंत्रता आन्दोलन आदि में भाग लेना प्रारम्भ किया।

स्त्रियों की निम्न स्थिति के कारण

ईसा से 300 वर्ष पूर्व से लेकर 1947 तक स्त्रियो की स्थिति निम्न से निम्नतम होती चली गई। इसके प्रमुख कारण अग्राकित है—

पूर्ण रूप से पराश्रित हो गईं परन्तु निम्न जातियों की स्त्रियाँ क्योंकि बाहर कार्य करती थीं इसलिए उनकी आर्थिक स्थिति फिर कुछ ठीक थी। हिन्दू समाज पुरुष प्रधान बनता चला गया तथा स्त्री की स्थिति आर्थिक दृष्टि से इतनी खराब हो गई कि वह अपने अधिकारों की माँग करने योग्य भी नहीं रही।

6. संयुक्त परिवार व्यवस्था— संयुक्त परिवार व्यवस्था को बनाए रखने के लिए मध्यकाल में तथा इसके बाद अनेक प्रयास किए गए जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से स्त्रियों की प्रस्थिति को गिराने में सहायक सिद्ध हुए। संयुक्त परिवार प्रणाली के लिए आवश्यक था कि स्त्री उसमें सहयोग करे अथवा उसे इतना दबा कर रखा जाए कि वह आवाज नहीं उठा सके। परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बनती चली गईं कि उस पर अनेकानेक प्रतिबन्ध लदते चले गए। पणिक्कर ने भी लिखा है कि स्त्रियों की सामाजिक स्थिति संयुक्त परिवार प्रणाली के कारण भी निम्न है। निम्न प्रतिबन्धों, तरीकों तथा व्यवस्थाओं द्वारा स्त्रियों को संयुक्त परिवार में दबा कर रखा गया। कन्या को हिन्दू संयुक्त परिवार में कोई भी अधिकार नहीं दिया गया; उसे शिक्षा प्राप्त करने से वंचित रखा गया क्योंकि शिक्षित होने पर वह समझदार हो जाती, व्यवसाय करने योग्य हो जाती, स्वावलम्बी हो जाती। इस प्रकार वह संयुक्त परिवार में रहना पसंद नहीं करती। अपने पसंद के योग्य व्यक्ति से विवाह करना पसंद करती या हो सक्ता है कि अविवाहित जीना पसंद करती। विधवा को सम्पत्ति में अधिकार से वंचित कर दिया गया। इससे उसके पास परिवार में बने रहने के अतिरिक्त और कोई आर्थिक विकल्प नहीं रहा जिससे वह अपना भरण-पोषण कर सके। परिवार की अटूटता बनाए रखने के उपर्युक्त प्रयास स्त्री के लिए अभिशाप सिद्ध हुए और वह ऐसे पति की सेवा करने के लिए भी बाध्य हो गई जो कोढ़ी, पतित, अंगहीन, बीमार, कामी और निर्धन ही क्यों न हो। संयुक्त परिवार ने जितना शोषण और ह्रास स्त्री जाति का किया है उतना शायद ही अन्य कारक ने किया हो।

7. ब्राह्मणवाद— हिन्दू धर्म में ब्राह्मणवाद ने स्त्रियों को एक प्रकार से योजनाबद्ध तरीके से शोषण की स्थिति में पहुँचा दिया। इसकी स्थिति का ह्रास मनुस्मृति काल तथा धर्मशास्त्र काल से प्रारम्भ हुआ। धर्मशास्त्र काल में पराशर संहिता, विष्णु संहिता, और याज्ञवल्क्य संहिता मनुस्मृति के आधार पर लिखी गईं। इनमें स्त्रियों पर अनेक प्रतिबन्ध लगाए गए। स्त्री शिक्षा व विधवा पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध लगाए गये। पति की मृत्यु के बाद सती होने को आदर्श कृत्य बताया गया। ब्राह्मणवाद को जब-जब अवसर मिला उसने स्त्री पर प्रतिबन्ध लादे तथा पुरुष को देवता तुल्य बनाया। स्त्रियाँ जो अनपढ़, अन्धविश्वासी, धार्मिक विश्वास प्रवृत्ति वाली होती हैं उन्होंने भी इन प्रतिबन्धों को सहर्ष स्वीकार करके अपनी स्थिति को दयनीय बनाने में एक प्रकार से सक्रिय योगदान दिया।

8. मुसलमानों के आक्रमण— भारत में मुसलमानों के आगमन और आक्रमण के अनेक प्रभाव पड़े। स्त्रियों की स्थिति मे गिरावट आई। मुसलमान आक्रमणकारियों मे स्त्रियों की कमी थी। उन्होंने हिन्दू स्त्रियों से विवाह करने के प्रयास किए चाहे वे विधवा ही क्यो न हो। स्त्रियों पर चारों ओर से प्रतिबन्ध लगा दिए गए। पर्दाप्रथा, शिक्षा पर रोक, बाल-विवाह आदि को व्यावहारिक रूप दे दिया गया। स्त्रियों की सामाजिक स्थिति खराब हो गई।

उपर्युक्त तथ्यो से स्पष्ट हो जाता है कि भारत में हिन्दू स्त्रियों की स्थिति अनेक क्षेत्रो—धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि मे निम्न हो गई। इसके मुख्य कारण बाल-विवाह, दहेज, अशिक्षा, ब्राह्मणवाद, संयुक्त परिवार प्रणाली, पुरुषों का एकाधिकार, अशिक्षा, पर्दाप्रथा, मुसलमानों का आक्रमण आदि-आदि रहे।

हिन्दू स्त्रियों की समस्याएँ

हिन्दू स्त्रियों पर अनेक प्रतिबन्ध स्मृति काल में तथा धर्मशास्त्र काल में लगने शुरू हुए जो बढ़ते-बढ़ते 19वीं शताब्दी तक सभी क्षेत्रों में फैल गए। स्त्रियों के लिए अनेक पारिवारिक और वैवाहिक समस्याएँ उत्पन्न हो गईं। सदियों से स्त्रियों का शोषण होता रहा। उनके अनेक अधिकार छिन गए। बाल-विवाह, अशिक्षा, विधवा पुनर्विवाह पर रोक, दहेज, विवाह विच्छेद पर निषेध, बेमेल विवाह, अन्तर्जातीय विवाह पर रोक, बहु-पत्नी विवाह, कन्यादान एक आदर्श, पर्दाप्रथा आदि अनेक समस्याओं ने उग्र रूप धारण कर लिया इतना ही नहीं, कुछ पारिवारिक समस्याएँ भी इनके लिए अभिशाप बन गईं जैसे परिवार का पुरुष प्रधान हो जाना, स्त्रियों को सम्पत्ति में अधिकार नहीं देना, पति की सेवा करना उनका एकमात्र धर्म बना देना, परिवार में उसे दासी का दर्जा देना आदि। इन समस्याओं का विवेचन परिवार और विवाह के अध्यायों में भी विस्तार से किया जा चुका है।

सुधार आन्दोलन

I. उन्नीसवीं शताब्दी के सुधार आन्दोलन—19वीं शताब्दी तक हिन्दू स्त्री की स्थिति बहुत दयनीय, अमानुषिक और अत्याचारपूर्ण हो गई थी। इसी शताब्दी के प्रारम्भ में स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के लिए प्रयासों की शुरूआत हुई। सर्वप्रथम 1813 में ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को आदेश दिया कि वे सभी वर्गों में शिक्षा का प्रसार करें। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। अनेक भारतवासियों ने स्त्रियों की दयनीय स्थिति को देखकर उसे सुधारने के प्रयास किए। इनमें उल्लेखनीय सुधारक राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, कर्वे, महात्मा गाँधी आदि हैं।

भारतवर्ष में स्त्री-सुधार आन्दोलन को प्रारम्भ करने का श्रेय राजा राममोहन राय (1772-1833) को जाता है। आपने सन् 1828 में *ब्रह्म समाज* की स्थापना स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के लिए की थी। आपने सती-प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई और आन्दोलन किया। इन्हीं के प्रयासों के फलस्वरूप अंग्रेजी सरकार ने सन् 1829 में सती प्रथा को कानून बना कर प्रतिबन्धित ही नहीं कर दिया बल्कि वास्तव में इसके विरुद्ध सरकारी कदम उठाए और समाप्त कर दिया। आपने तथा ब्रह्म समाज ने स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार करने के लिए कार्य किया। स्त्रियों को सम्पत्ति में अधिकार दिलवाने और बाल-विवाह को समाप्त करने के लिए भी महत्त्वपूर्ण कार्य किए।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने हिन्दू समाज तथा स्त्रियों के सुधार के लिए अनेक कार्य किए। आप स्मृतियों के कटु आलोचक थे। रूढ़िवादी हिन्दू धर्म के कट्टर विरोधी थे। आप वैदिक आदर्शों के परम समर्थक तथा प्रचारक थे। आपने हिन्दू समाज की कुरीतियों को समाप्त करने तथा सुधार के कार्यों को करने के लिए सन् 1875 में आर्य समाज की स्थापना बम्बई में की थी। आपने उत्तर-भारत में स्त्री शिक्षा के प्रसार के लिए काफी काम किया। आर्य समाज के द्वारा बाल-विवाह और पर्दाप्रथा के विरुद्ध सराहनीय कार्य किए गए। आपने विधवा विवाह के पक्ष में भी आवाज उठाई।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भी एक बड़े समाज सुधारक हुए हैं। आपने व्यक्तिगत रूप से बिना किसी संघ की स्थापना के स्त्रियों के सुधार के लिए अनेक कार्य किए थे। उससे स्त्रियों की स्थिति में सुधार भी हुए थे। आपने स्त्री-शिक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता दी तथा सर्वाधिक महत्त्व दिया था। आपने सन् 1855 से 1858 के बीच 40 कन्या विद्यालय खोले। आपका मानना था कि जब तक,

स्त्रियाँ शिक्षित नहीं होंगी तब तक इनका विकास नहीं हो सकता।स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के लिए विधवा-विवाह पुन. प्रारम्भ करने के लिए आन्दोलन किया। इसी के परिणामस्वरूप सन् 1856 में आप विधवा-विवाह कानून पास करवाने मे सफल हुए। आपने बहु-पत्नी विवाह का घोर विरोध किया। कुलीन विवाह के विरुद्ध भी आपने स्वस्थ जनमत तैयार करने के लिए प्रयास किए।

कर्वे ने पूना मे स्त्रियों के सुधार के लिए उल्लेखनीय कार्य किए। आपने अनेक विधवा-आश्रम खोले। इनमें विधवाओं के रहने की व्यवस्था की गई। इन आश्रमों में स्त्रियों को शिक्षा देने का कार्य प्रारम्भ किया। 19वीं शताब्दी में दुर्गाबाई देशमुख, रमाबाई और रुखमाबाई जैसी प्रगतिशील महिलाओं ने भी सुधार के लिए प्रयास किए। आप लोगों ने पुरानी रूढ़ियों को त्यागने की वकालत की थी। स्त्रियो को उनके अधिकार माँगने के लिए प्रोत्साहित किया।

II. बीसवीं शताब्दी के सुधार आन्दोलन— 20वीं शताब्दी के वे सुधार आन्दोलन जो भारत के स्वतंत्र होने से पूर्व हुए थे तथा बाद में कुछ अधिनियम बने थे उनको निम्नलिखित तीन भागों में बाँटा जा सकता है'—

1. महात्मा गाँधी द्वारा सुधार आन्दोलन,
2. स्त्री संगठनों द्वारा सुधार कार्य, तथा
3. संवैधानिक व्यवस्थाएँ।

1. महात्मा गाँधी द्वारा सुधार आन्दोलन— महात्मा गाँधी ने स्त्रियों की समस्याओं को समझा। उन्नीसवीं शताब्दी के समाज सुधारकों का आपने समर्थन किया। गाँधी ने स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के कार्यक्रम को स्वतंत्रता के राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अंग बना लिया। महात्मा गाँधी प्रतिवर्ष राष्ट्रीय काँग्रेस के माध्यम से ब्रिटिश सरकार को स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के सम्बन्ध में प्रस्ताव भिजवाया करते थे। इन प्रस्तावों में स्त्रियो की समस्याओ—स्त्री शिक्षा के प्रसार, कुलीन विवाह और दहेज प्रथा पर नियन्त्रण, बाल-विवाह समाप्ति, अन्तर्जातीय विवाह के प्रसार आदि का उल्लेख किया जाता था तथा सरकार का समर्थन माँगा जाता था। आपने महिलाओ को राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन मे भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया। आपके प्रयासों के फलस्वरूप लाखों महिलाएँ घरो से बाहर निकलीं तथा उन्होंने स्वतंत्रता आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया। आपने विधवा पुनर्विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह की वकालत की तथा बाल-विवाह तथा कुलीन विवाह का विरोध किया।

2. स्त्री-संगठनों द्वारा सुधार कार्यक्रम— स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के लिए स्वयं स्त्रियो द्वारा अनेक स्त्री-संगठनो की स्थापना की गई। वैसे तो ऐसा प्रथम संगठन 'भारतीय महिला राष्ट्रीय परिषद' सन् 1875 मे स्थापित हुआ। लेकिन इनके प्रभावशाली कार्यक्रम 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में सामने आए। भारत में स्त्री आन्दोलन को प्रभावशाली बनाने में मारग्रेट नोबल, एनी बीसेण्ट तथा मारग्रेट कुशनस् का विशेष योगदान रहा। भारतीय महिला समिति, 1917 में मद्रास में स्थापित की गई। सन् 1927 में 'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन' पूना मे हुआ जिसमें स्त्री-शिक्षा के प्रसार के लिए विशेष प्रयास किए गए। इस संगठन ने स्त्री-शिक्षा के लिए लेडी इरविन कॉलेज 1932 में दिल्ली में स्थापित किया। इसने स्त्रियों के लिए सम्पत्ति में अधिकार तथा मताधिकार के लिए प्रयास किए। संगठन ने बहुपत्नी विवाह, बाल-विवाह, दहेज प्रथा आदि के विरोध मे आन्दोलन किए। उपर्युक्त संगठनों के अतिरिक्त 'विश्व विद्यालय महिला संघ', 'भारतीय ईसाई महिला मण्डल', 'अखिल भारतीय स्त्री-शिक्षा सस्था' और 'कस्तूरबा गाँधी राष्ट्रीय स्मारक ट्रस्ट' ने भी भारत में स्त्रियों की स्थिति मे सुधार के लिए उल्लेखनीय कार्य किए है।

(5) बाल-विवाह निरोधक अधिनियम में संशोधन सन् 1978 में किया गया जिसके अनुसार अब लड़की की विवाह की आयु 18 वर्ष तथा लड़के की विवाह की आयु 21 वर्ष कर दी गई है।

(6) विशेष विवाह अधिनियम, 1954 में संशोधन करके स्त्री को यह अधिकार दे दिया गया है कि अगर उसका विवाह 18 वर्ष से कम आयु में हुआ है तो वह चाहे तो विवाह को रद्द घोषित कर सकती है।

(7) सती निरोधक अधिनियम 1929 में पारित किया गया था।

(8) *अन्तर्विभागीय समन्वय समितियों का गठन केन्द्र तथा राज्य सरकारों के स्तर पर विभिन्न* विभागों तथा मंत्रालयों में तालमेल स्थापित करने के लिए किया गया है। ये समितियाँ यह देखती हैं कि महिलाओं के कल्याण के लिए बनाए गए अधिनियमों का पालन ठीक से हो रहा है अथवा नहीं।

(9) राष्ट्रीय आयोग का गठन 1990 में राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने स्त्रियों की स्थिति को सुधारने तथा उनकी समस्याओं के समाधान के लिए किया था।

(10) वीमेन्स डवलपमेण्ट कॉरपोरेशन स्थापित किए गए हैं। इनका कार्य महिलाओं को प्रशिक्षण, ऋण और बाजार की सुविधाएँ दिलवाना है।

5. प्रौढ़ महिलाओं के लिए व्यावसायिक प्रशिक्षण तथा संक्षिप्त पाठ्यक्रम— केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड द्वारा सन् 1958 में प्रौढ़ महिलाओं के लिए व्यावसायिक प्रशिक्षण और शिक्षा में संक्षिप्त पाठ्यक्रम की योजना चलाई गई। इस योजना का उद्देश्य जरूरतमन्द महिलाओं को नौकरी की सुविधाएँ उपलब्ध कराना है और सुयोग्य प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओं को तैयार करना है। यह योजना 18 से 30 वर्ष की आयु की स्त्रियों— अध्यापिका, बाल सेविका, स्वास्थ्य-निरीक्षिका, नर्स, दाई आदि का काम कर सकें (जो कुछ स्कूली शिक्षा प्राप्त हों) को माध्यमिक, हाई स्कूल अथवा इसके समकक्ष परीक्षा दिलवाने के लिए तैयार कराता है। अब यह योजना उनके लिए भी है जिनके पति सेना में मारे गए अथवा युद्ध में अपंग हो गए।

6. प्रौढ़ महिलाओं के लिए प्रकार्यात्मक साक्षरता— यह कार्यक्रम सन् 1975-76 में प्रारम्भ किया गया था। इस कार्यक्रम का उद्देश्य 15 से 45 वर्ष के आयु समूह की महिलाओं को स्वच्छता और स्वास्थ्य, भोजन और पोषक तत्त्वों, गृह-प्रबन्ध और शिशु देख-रेख, पाठशाला और व्यावसायिक योग्यता के बारे में अनौपचारिक शिक्षा देना है।

7. सीमावर्ती क्षेत्र कल्याण केन्द्र— भारत में सीमावर्ती क्षेत्र में कल्याण सेवाओं को बढ़ाने के उद्देश्य से 86 कल्याण केन्द्र प्रारम्भ किए गए है। इन केन्द्रों में मातृत्व सेवाएँ, शिशु देखभाल, दस्तकारी प्रशिक्षण और सामाजिक शिक्षा प्रदान की जाती है। ये केन्द्र अरुणाचल प्रदेश; जम्मू और कश्मीर में लेह; उत्तर प्रदेश में चमोली, गुजरात में कच्छ, और बनासकांठा, राजस्थान में श्री करणपुर और जैसलमेर तथा हिमाचल प्रदेश में लाहौल तथा किन्नौट आदि में खोले गए हैं।

8. पोषण कार्यक्रम— गरीबों, पिछड़े वर्गों, जन-जातीय क्षेत्रों, गन्दी बस्तियों में बच्चों तथा स्त्रियों में कुपोषण की समस्या है। इसे दूर करने के लिए वर्ष 1970-71 में इन क्षेत्रों में कुपोषण को दूर करने के लिए कार्यक्रम प्रारम्भ किए गए। विश्व खाद्य योजना भारत के दस राज्यों में 1976 से चल रही है जिसके द्वारा बच्चों, *गर्भवती महिलाओं तथा बच्चों को दूध पिलाने वाली माताओं* को पूरक पोषण दिया जाता है।

9. *अन्य कल्याण कार्यक्रम*— समाज कल्याण विभाग नगरों मे कामकाजी महिलाओं के लिए कार्यशील महिला छात्रावास बनवाता है। ग्रामीण क्षेत्र मे महिला मण्डल नारी विकास के लिए कार्य करते हैं। महिला कल्याण के लिए सम्मेलन और बैठकें आयोजित की जाती हैं। सन् 1958 से समाज कल्याण बोर्ड अपंग और अनाथ स्त्रियों की मदद करता है, उन्हे कार्य दिलवाता है। भारत मे 'अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष' सन् 1975 में मनाया गया था। भारत मे पत्र-पत्रिकाओं द्वारा भी महिलाओं मे जागृति लाने का प्रयास किया जा रहा है।

10. सातवीं पंचवर्षीय योजना और महिला कल्याण— इस योजना का उद्देश्य स्त्रियो की सामाजिक और आर्थिक स्थिति को सुधारना रहा। स्त्रियों मे आत्म-विश्वास जागृत करना, उन्हें विकास के कार्यों मे सहयोग देने लायक बनाना तथा राष्ट्रीय विकास की मुख्य धारा मे सम्मिलित करना—सातवी पचवर्षीय योजना मे महिला के विकास के मुख्य उद्देश्य रहे। स्त्रियो के लिए एकीकृत कार्यक्रम चलाए गए। स्त्रियो की शिक्षा, नौकरी, पोषण तथा स्वास्थ्य आदि समस्याओ के समाधान के लिए प्रयास किए गए। सातवीं पंचवर्षीय योजना मे सामाजिक और महिला कल्याण कार्यक्रमो पर 8012.36 करोड़ रुपये खर्च करने की व्यवस्था की गई। सरकार ने इस योजना के द्वारा महिलाओ की स्थिति मे सुधार के लिए राज्य और केन्द्र के स्तर पर विशेष ध्यान दिया। आठवी पचवर्षीय योजना मे स्त्री-कल्याण के अनेक प्रयास किए जा रहे है।

मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति

भारत मे मुस्लिम स्त्रियों की व्यवस्थित और क्रमबद्ध स्थिति की जानकारी का मूल स्रोत अरबी धर्म है। प्राचीन अरब की सामाजिक व्यवस्था ने भारत में मुस्लिम स्त्रियो की स्थिति को प्रभावित किया है। मुस्लिम स्त्रियो की स्थिति मे आज भी उनके अभावो को देखा जा सकता है। भारत मे मुस्लिम स्त्रियो की स्थिति जानने के लिए अरबी समाज मे स्त्रियो की स्थिति का अध्ययन करना आवश्यक है। समय-समय पर इनकी स्थिति में परिवर्तन आया है। मुस्लिम स्त्रियो की स्थिति का इतिहास और वर्तमान मे स्वरूप निम्नलिखित प्रकार है।

प्राचीन अरबी समाज में स्त्रियों की स्थिति— रॉबर्टसन स्मिथ के अनुसार प्राचीन अरब समाज मे स्त्रियो की स्थिति पुरुषो से उच्च थी जो उस समय के विवाह की विशेषताओ से स्पष्ट हो जाता है। स्वय स्त्री अपने पति का चयन करने के लिए स्वतत्र थी। स्त्री स्वय के पति को अपने डेरे मे बुलाती, उसके साथ सम्बन्ध रखती और अपनी इच्छानुसार डेरे से बाहर निकाल देती थी। उत्पन्न सन्ताने स्त्री के सम्बन्धियो के सरक्षण मे पला करती थी। इस 'बीना' विवाह मे परिवर्तन हुआ। पुरुष को प्रधानता मिली। बाद मे बहु-पत्नी विवाह का प्रचलन हो गया। स्त्री की स्वेच्छाचारिता समाप्त हो गयी। विवाह के बाद स्त्री पति के पिता के घर जाकर रहने लगी। बच्चे पिता के घर पलने लगे। स्त्रियो द्वारा विवाह विच्छेद कम हो गए। पुरुषों की सत्ता स्थापित हो गई। वश पिता से पुत्र की ओर चलने लगा। परिवार का मुखिया पुरुष बन गया। स्त्रियो की सामाजिक स्थिति हीन हो गई तथा पुरुष प्रभावशाली। स्त्री उपभोग की वस्तु हो गई। अब पुरुष जब चाहे स्त्री को त्याग सकता था। अरब समाज मे पत्नी को सम्पत्ति माना जाने लगा था। आक्रमण मे स्त्रियो को लूटना भी एक उद्देश्य हो गया। मुस्लिम स्त्री की स्थिति दयनीय हो गई।

7वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे हजरत मुहम्मद साहब ने इस्लाम धर्म मे परिवर्तन करके स्त्रियो की स्थिति को सुधारने का प्रयास किया। वे स्त्री को अधिक स्वतत्रता देने के पक्ष मे नही थे लेकिन स्त्रियो की परिस्थितियाँ सुधारना चाहते थे। आपने स्त्रियो को कई धार्मिक और सामाजिक अधिकार

दिलवाए। मुहम्मद साहब बहु-पत्नी विवाह के पक्ष में नहीं थे । इसलिए आपने आदेश दिया कि 'एक पुरुष एक समय में केवल चार पत्नियाँ तक रख सकता है, उसे सभी के साथ समानता का व्यवहार करना होगा।' *स्त्री को विवाह के समय मेहर की व्यवस्था करके आर्थिक सुरक्षा प्रदान करवाई* । स्त्रियों को कुरान के द्वारा विवाह-विच्छेद के व्यापक अधिकार मिले हुए हैं । मुस्लिम स्त्री को सम्पत्ति में भी अधिकार की व्यवस्था है। मुहम्मद साहब के प्रयासों से मुस्लिम स्त्री को अनेक अधिकार प्राप्त हुए जिन्हें निम्नलिखित अधिकारों के वर्णन से समझा जा सकता है—

1. विधवा पुनर्विवाह— मुस्लिम समाज में स्त्री को पति की मृत्यु के बाद पुनर्विवाह करने का अधिकार प्राप्त है । मुस्लिम विवाह एक स्त्री-पुरुष के बीच समझौता है जो पति की मृत्यु से स्वत: टूट जाता है। मुस्लिम समाज में विधवा स्त्री द्वारा किया गया पुनर्विवाह इस्लामसम्मत समझा जाता है। *विवाह से पहिले स्त्री को 'इद्दत' की अवधि का पालन इसलिए करना पड़ता है कि कहीं वह मृत* पति से गर्भवती तो नहीं है।

2. *तलाक का अधिकार*— *मुस्लिम विवाह एक पति-पत्नी के बीच समझौता है* जिसे दोनों पक्षों में से कोई अथवा दोनों सहमति से समाप्त कर सकते हैं। मुस्लिम स्त्री भी अपने पति को विशेष परिस्थितियों में तलाक दे सकती है। पत्नी न्यायालय मे भी तलाक की माँग कर सकती है तथा समाज द्वारा दिए गए अधिकारों के तहत भी बिना न्यायालय में गए भी तलाक दे सकती है । कभी-कभी मेहर की राशि को छोड़कर भी तलाक दे सकती है।

3. विवाह से पूर्व स्वीकृति— मुस्लिम विवाह में मुल्ला गवाहों की उपस्थिति में वधू से विवाह की स्वीकृति प्राप्त करता है, उसके बाद ही विवाह सम्पन्न किया जाता है। इस अधिकार के कारण स्त्री विवाह के लिए मना कर सकती है। विवाह वर-वधू की सहमति से ही होता है।

4. बाल-विवाह का अभाव— इस्लाम धर्म मे 15 वर्ष से कम आयु की लड़की का विवाह उसके माता-पिता अथवा संरक्षकों की अनुमति के बिना नहीं हो सकता । मुस्लिम समाज में बाल विवाह को अच्छा नही मानते हैं। बालिग होने पर बाल-विवाह को रद्द किया जा सकता है अगर पति ने सहवास नहीं किया हो । सिया लोगो में बाल-विवाह की प्रथा नहीं है ।

5. सम्पत्ति पर अधिकार— मुस्लिम स्त्री को अपने पिता की सम्पत्ति मे भाइयों की तरह सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त है। मुस्लिम स्त्री को पुत्री, पत्नी और माँ रूप में अपने परिवार में सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार है। पति से पत्नी *'खर्च-ए-पानदान' (पान खाने का खर्च) प्राप्त करने की अपेक्षा* रखती है। पति द्वारा पत्नी को विवाह के अवसर पर 'मेहर' देने के वायदे के अनुसार उसे मेहर माँगने का अधिकार है। तलाक के समय तो इसका भुगतान करना आवश्यक होता है । एक मुस्लिम स्त्री को अपने मृत पुत्र की सम्पत्ति में से 1/3 से 1/6 के बीच निर्धारित हिस्सा मिलता है । तथा पत्नी को पति की सम्पत्ति में से 1/4 से 1/8 के बीच सम्पत्ति मिलती है। स्त्री अपनी सम्पत्ति का जैसे चाहे वैसे उपभोग कर सकती है । स्त्री जैसे चाहे वैसे प्राप्त मेहर, सम्पत्ति, धन, आभूषण आदि को खर्च कर सकती है।

6. परिवार सम्बन्धी अधिकार— मुस्लिम धर्म सबको समान अधिकार देता है। उसके अनुसार कोई छोटा-बड़ा नहीं है । परन्तु व्यवहार मे असमानता है । परिवार पुरुष प्रधान होते है । इसमें पितृसत्तात्मक (सत्ता पुरुष के पास), पितृस्थानीय (विवाह के बाद वर-वधू, वर के पिता के पास जाकर रहते है), और *पितृवंशीय (वंश पिता से पुत्र को चलता है) परम्पराएँ मिलती है।* पुरुषों का स्थान ऊँचा तथा स्त्रियों का नीचा होता है। पति का स्थान पत्नी से उच्च होता है। बड़ी आयु के

सदस्य छोटी आयु वाले से ऊँची प्रस्थिति का आनन्द लेते है । स्त्रियो को अनेक अधिकार प्राप्त नहीं होते। पर्दा प्रथा होने के कारण स्त्रियाँ जनानखाने मे रहती हैं। बाहर जाने पर अनेक पाबन्दियाँ लगी होती हैं। हमेशा पर्दा रखना पड़ता है । पुरुषों की तरह स्त्रियो को अनेक अधिकार प्राप्त नही होते है, बल्कि इसके विपरीत अनेक प्रतिबन्ध लगे होते हैं । परिवार के महत्त्वपूर्ण निर्णय पुरुष तथा लड़को में पारस्पर सलाह के आधार पर लिए जाते है।

मुस्लिम स्त्रियों की समस्याएँ

मुस्लिम स्त्रियों को सिद्धान्त रूप मे तो सम्पत्ति म अधिकार, मेहर, तलाक आदि अनेक अधिकार प्रदान किए गए हैं परन्तु वास्तविक जीवन और व्यवहार में देखा जाए तो ये हिन्दू स्त्री की तरह अनेक सामाजिक, पारिवारिक और वैवाहिक समस्याओं से पीडित हैं। इनकी सामाजिक स्थिति पुरुष की तुलना में बहुत नीची है। मुस्लिम महिलाएँ मुख्य रूप से पुरुष प्रधान व्यवस्था, बहुपत्नी विवाह, तलाक, पर्दा प्रथा तथा स्त्री पुरुष में असमानता आदि से ग्रसित है, जो निम्नलिखित है—

1. बहु-पत्नी प्रथा— मुस्लिम परिवार बहुपत्नी विवाही भी होते है । एक समय मे एक पुरुष चार स्त्रियो से विवाह करने का धार्मिक रूप से अधिकारी है । इससे स्त्रियो मे कलह, मनमुटाव, तनाव आदि पैदा हो सकते है । स्त्री का पालन-पोषण तथा सामाजीकरण ऐसे ही वातावरण में होने से उसे विवाह के बाद कुछ बुरा तथा अटपटा नही लगता है। वह इन परिस्थितियों में व्यवस्थापन तथा अनुकूलन कर लेती है। समाज तलाक की सुविधा प्रदान कर रहा है फिर भी पत्नियाँ तलाक इसलिए नही लेती हैं कि वे बचपन से ही मानसिक रूप से इन परिस्थितियो के लिए तैयार हो चुकी होती हैं । पति से सभी पत्नियो के साथ समान व्यवहार करने की अपेक्षा की जाती है परन्तु ऐसा सामान्यतया होता नहीं है।

2. पर्दा प्रथा—मुस्लिम समाज तथा परिवार मे पर्दा-प्रथा एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक मूल्य है। मुस्लिम परिवार मे तथा बाहर स्त्रियो को पर्दे मे रखा जाता है। घर मे स्त्रियों के लिए 'जनानखाना' तथा पुरुषो के लिए 'मर्दानखाना' होता है । स्त्रियाँ घर में भी पुरुषो से बिना पर्दा बात नही कर सकती है। उनके घरो की खिडकियो तथा दरवाजो पर पर्दे और चिकें लगी रहती है। स्त्रियाँ घर के बाहर बुर्के, घूँघट आदि मे निकलती है। स्त्रियो को पर्दे की छूट केवल विशेष परिस्थिति जैसे इलाज या गवाही के समय दी जाती है। मुस्लिम परिवार मे स्त्रियो पर पर्दा-प्रथा का विशेष प्रतिबन्ध होता है।

3. तलाक की समस्या— मुस्लिम परिवार में स्त्रियो की निम्न स्थिति होती है। वे अनेक बन्धनो मे अपना जीवन व्यतीत करती है , उन्हे पुरुषों की तुलना मे अनेक अधिकारो से वंचित रहना पड़ता है । तलाक के मामले मे पुरुष को अनेक तरीको से तलाक देने के अधिकार प्राप्त है। पर्दा-प्रथा के कारण सार्वजनिक स्थानो तथा सामाजिक व्यवहार मे स्त्रियो को कोई स्वतंत्रता प्राप्त नही है। पुरुषो पर आर्थिक निर्भरता तथा अशिक्षा के कारण तलाक नहीं दे सकती तथा पति के अत्याचार सहन करती रहती है।

4. धार्मिक कट्टरता— मुस्लिम परिवार का आधार धार्मिक है। कुरान उनकी धार्मिक पुस्तक है। मुस्लिम परिवार कुरान मे दिए गए नियमो के अनुसार कार्य करता है। मोहम्मद साहब स्त्रियो के सार्वजनिक स्थानो में आने-जाने के कट्टर विरोधी थे । धार्मिक कट्टरता ने स्त्रियो पर अनेक बन्धन लगाए हुए है ।

5. अधिकारों की अव्यावहारिकता— मुस्लिम स्त्रियो को सिद्धान्त रूप मे अधिकार तो अनेक प्राप्त हैं परन्तु व्यवहार मे उन्हे कोई अधिकार प्राप्त नहीं है । वे तलाक नहीं दे सकतीं, नौकरी नहीं

कर सकतीं, घर के बाहर नहीं जा सकतीं तथा नागरिक अधिकारों आदि से वंचित होना आदि उनकी समस्याएँ हैं। मुस्लिम धर्म बहुत कट्टर है इस कारण मुस्लिम स्त्रियों को अनेक अधिकारों से वंचित कर रखा है। वह गैर-मुस्लिम पुरुष से विवाह नहीं कर सकती हैं। स्त्री के ऊपर बन्धन ही बन्धन हैं। वह पति की दया पर जीवन व्यतीत करती है।

मुस्लिम स्त्रियों की समस्या के समाधान हेतु प्रयास—

मुस्लिम स्त्रियों की विभिन्न समस्याओं के समाधान हेतु प्रयास बहुत कम हुए हैं। जो प्रयास किए गए हैं उनको भी कार्यान्वित नहीं किया गया है। ब्रितानिया शासन काल में दो अधिनियम बनाए गए थे— (1) मुस्लिम शरीयत अधिनियम, 1937, और (2) मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1939। शरीयत अधिनियम के अनुसार मुस्लिम स्त्री को पति के नपुंसक होने और पति द्वारा पत्नी पर व्यभिचार का झूठा आरोप लगाने पर तलाक मिल सकता है। पत्नी इला और जिहर तलाक भी ले सकती है। दूसरा, मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम मुस्लिम स्त्री को निम्नलिखित आधारों पर तलाक लेने का अधिकार देता है, जैसे— पति पागल, नपुसक, संक्रामक यौन रोग या कोढ़ से पीड़ित हो, चार साल से लापता हो, सात या अधिक वर्षों से जेल में हो, दो वर्षों से भरण-पोषण नहीं कर पा रहा हो, वैवाहिक कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता हो, क्रूर हो, अधिक पत्नियाँ होने पर सबके साथ समान व्यवहार नही करता हो, धार्मिक कार्यों में बाधा डालता हो, आदि। दु ख इस बात का है कि व्यवहार में मुस्लिम स्त्रियों को किसी भी प्रकार के समाधान को अपनाने नहीं दिया जाता है। धर्म की कट्टरता के कारण स्त्रियाँ भी रूढिवादी, अन्धविश्वासी तथा परम्परावादी हैं। मुस्लिम कानून में स्त्रियों को कुछ अधिकार प्राप्त हैं उनको कार्य रूप देने की भी बडी आवश्यकता है।

स्त्रियो की समस्याओं हेतु प्रयास—

स्त्रियो की स्थिति में सुधार के लिए जो प्रयास 19वी शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर आज तक किए गए उनके क्रान्तिकारी परिणाम सामने आए है। सिद्धान्त रूप में उन्हे पुरुषों के समान अनेक व्यक्तिगत, पारिवारिक, वैवाहिक और राजनैतिक अधिकार कानून द्वारा दिए गए हैं, उनसे स्त्रियो की स्थिति के व्यावहारिक रूप में काफी सुधार देखने को मिलता है। स्त्रियो की स्थिति के सुधार के *अनेक औपचारिक और अनौपचारिक, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, लघु और वृहद् कारक रहे हैं।* एम.एन. श्रीनिवास के अनुसार पश्चिमीकरण, लौकिकीकरण और जातीय गतिशीलता ने स्त्रियो की सामाजिक-आर्थिक स्थिति को उन्नत करने मे काफी योग दिया है। स्त्री शिक्षा का काफी प्रसार और प्रचार हुआ है। व्यवसाय के अनेक अवसरो की वृद्धि हुई है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अनेक अधिनियमों तथा संवैधानिक प्रावधानो ने स्त्रियों के अनेक परम्परागत प्रतिबन्धों को समाप्त कर दिया है। स्त्रियों को पुरुषो के समान जीवन व्यतीत करने का अवसर प्रदान किया है तथा स्त्रियाँ इसका पूर्ण लाभ भी उठा रही हैं। स्त्रियो की स्थिति से सम्बन्धित अनेक परिवर्तन हो रहे हैं जिनमे से महत्त्वपूर्ण परिवर्तन निम्नलिखित हैं।

(1) सुधार आन्दोलन— स्त्रियों की समस्याओं के समाधान के लिए 19वीं शताब्दी में अनेक समाज सुधारकों ने प्रयास किए। 1828 में राजा राममोहन राय के प्रयासों से स्त्री सुधार के लिए ब्रह्म समाज की स्थापना की थी। उनके प्रयासो से 1829 मे सती प्रथा निरोधक अधिनियम बना। *लोगों को बालविवाह तथा विधवा की हानियाँ बताईं। इसके प्रभाव से 1856 में विधवा पुनर्विवाह* बना। इसके बनवाने मे ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रयास उल्लेखनीय हैं। स्त्री-शिक्षा के लिए स्वामी दयानन्द सरस्वती और महर्षि कर्वे के प्रयास सराहनीय हैं। इन समाज सुधारको ने बाल-विवाह,

प्रर्दा प्रथा, बहुपत्नी विवाह आदि का भी विरोध किया था। 1872 में 'विशेष विवाह अधिनियम' केशवचन्द्र सेन के प्रयासों से बना जिसमें स्त्रियों को विधवा-पुनर्विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह के अधिकार दिए गए।

स्त्रियों की स्थिति को सुधारने में महिला संगठनों तथा महिलाओं स्वयं ने भी अनेक प्रयास किए हैं, जैसे– 'भारतीय महिला समिति', 'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन', 'विश्वविद्यालय महिला संघ', 'कस्तूरबा गाँधी स्मारक ट्रस्ट', 'अखिल भारतीय स्त्री शिक्षा संघ' आदि। रमा बाई रानाडे, मेडम कामा, मार्ग्रेट नोबल, ऐनी बीसेण्ट आदि महिलाओं ने महिला विकास के लिए उल्लेखनीय कार्य किए हैं। महात्मा गाँधी ने स्त्रियों को राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल किया तथा स्त्रियों को पुरुषों के समान लाने के लिए प्रयास किए।

(2) संवैधानिक प्रावधान– स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के लिए महत्त्वपूर्ण अधिनियम बने है। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के द्वारा बाल-विवाह समाप्त किया गया। एक-विवाह, विवाह-विच्छेद, विधवा-पुनर्विवाह तथा स्त्रियों को न्यायिक पृथक्करण आदि के अधिकार दिए गए है। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956; स्त्रियों और कन्याओं का अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम, 1956; दहेज निरोधक अधिनियम, 1961 तथा इसके संशोधन का अधिनियम, 1968; मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961; समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976; अपराधी संशोधन अधिनियम, 1983 आदि स्त्रियों की दशा को सुधारने के लिए पारित किए गए है। इन अधिनियमों का सविस्तार वर्णन *अध्याय-19 "विवाह, परिवार तथा जाति से सम्बन्धित सामाजिक विधान"* में पढ़िए।

(3) स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति– शिक्षा के दृष्टिकोण से भारतीय महिला पिछड़ी रही थी। इसे पढ़ने के अवसर बहुत कम उपलब्ध थे। सन् 1961 में महिला साक्षरता 0.8 प्रतिशत थी। सन् 1981 मे यह बढ़कर 24.82 प्रतिशत हो गई है। सन् 1882 मे शिक्षित महिलाओं की कुल संख्या 2,045 थी जो बढ़कर सन् 1981 में सात करोड़ 91.5 लाख मे अधिक हो गई है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद स्त्रियाँ अनुसंधान, औद्योगिक संस्थाओं तथा तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने लगी है। विज्ञान और गणित के विषयों में लड़कियों ने अच्छे अंक प्राप्त करके यह सिद्ध कर दिया कि वे लड़कों से कम नहीं है। स्त्रियाँ अपना विकास करने के अवसरों का उपयोग कर रही है। लड़कियाँ, कला, विज्ञान, गृह विज्ञान, शिल्पकला, हस्तकला, संगीत आदि विषयों को पढ़ने लगी हैं। ग्रामों की तुलना में नगरों मे स्त्रियों का शैक्षिक जगत मे विकास अधिक हुआ है।

4. आर्थिक क्षेत्र में प्रगति– 20वीं शताब्दी ने महिलाओं के लिए व्यवसाय के अनेक अवसर प्रदान किए है। अब वे भारतीय विदेश सेवा, भारतीय प्रशासन सेवा तथा दूसरी केन्द्रीय सेवाओं में कार्यरत है। पहिले मध्यम वर्ग और उच्च वर्ग की महिलाएँ घर के बाहर काम नहीं करती थी। लेकिन अब वे काम करने लगी हैं। ग्रामों में 80 प्रतिशत महिलाएँ काम करती हैं। आधुनिक शिक्षा, औद्योगिकीकरण, आधुनिकीकरण आदि ने स्त्रियों को काम करने के नए-नए अवसर प्रदान करके उन्हें आत्मनिर्भर बनने के लिए प्रेरित किया है। अणु शक्ति विभाग में स्त्रियों की संख्या उल्लेखनीय है। शिक्षा, समाज कल्याण, पर्यटन आदि विभागों में भी स्त्रियाँ खूब काम करने लगी है। टेलीफोन, टंकण लिपिक, स्वास्थ्य विभाग, शिक्षा, समाज-कल्याण, बैंक आदि मे महिलाओं की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इसके अनेक कारण हैं, जैसे–वस्तुओं की कीमतों का बढ़ना, उच्च शिक्षा प्राप्त करना, भौतिक वस्तुओं को प्राप्त करने का आकर्षण आदि।

5. राजनैतिक चेतना में वृद्धि— स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद स्त्रियों में राजनैतिक चेतना में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है। सन् 1937 में केवल 10 महिलाओं ने चुनाव लड़ा था जबकि 41 स्थान महिलाओं के लिए सुरक्षित रखे गए थे। स्वतंत्र भारत के संविधान, 1950 में स्त्रियो और पुरुषों को समान नागरिक अधिकार प्रदान किए गए। सन् 1952 के चुनाव में लोकसभा में 23 तथा राज्य सभा में 19 महिलाएँ गईं अथवा मनोनीत की गई थीं। इसी वर्ष राज्यो की विधान सभाओं मे स्त्रियों की कुल संख्या 58 थी । सन् 1957 के विधान सभाओं के चुनावों मे 342 महिलाएँ खडी हुई उनमें से 195 निर्वाचित हुईं। सन् 1971, 1977, 1980, 1985 और 1989 के चुनावों से सिद्ध होता है कि स्त्रियों मे अपने मत के अधिकार के प्रति जागरूकता दिनोदिन बढती जा रही है। ग्राम पचायतों से लेकर प्रधानमंत्री पद के पदों पर स्त्रियों ने सफलतापूर्वक कार्य कर दिखाया है। भारतवर्ष में महिलाओं ने अनेक पदो, जैसे— मन्त्री, मुख्यमंत्री, राज्यपाल आदि पर काम करके स्पष्ट कर दिया है कि उनमें राजनैतिक चेतना काफी बढी है। अब वे घर की चारदीवारी के बाहर निकलने लगी है। इनकी स्थिति में काफी सुधार हुआ है।

6. सामाजिक जागरूकता में वृद्धि— निम्नलिखित तथ्यों से स्पष्ट होता है कि स्त्रियों में सामाजिक जागरूकता में पिछले वर्षों में काफी विकास हुआ है। स्त्रियाँ शिक्षा ग्रहण करने लगी हैं। मतदान देती हैं। नौकरियाँ करती हैं। राजनैतिक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण पदो पर कार्य कर रही हैं। इससे पर्दा-प्रथा के समाप्त होने पर प्रभाव पडा है। स्त्रियाँ घर की चारदीवारी से बाहर निकलने लगी हैं। बाल-विवाह, बेमेल विवाह, दहेज आदि का विरोध करने लगी है। अन्तर्जातीय विवाह, प्रेम विवाह और विलम्ब विवाह को अच्छा समझने लगी है तथा अनुकूल परिस्थितियो में ऐसे विवाह करने लगी हैं। विवाह विच्छेद होने लगे है। स्त्रियाँ अब पुरुष की दासी नहीं है। वे अनेक सामाजिक सगठनो और महिला क्लबों की सदस्या हैं। नौकरी करती है । चुनावों में खडी होती हैं । रूढियों का विरोध करती है। इनके धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोणो मे परिवर्तन आया है। जाति-प्रथा के प्रतिबन्धों तथा रूढ़ियो के प्रति इनका रुख बदल रहा है। विधवा-पुनर्विवाह को अच्छा मानने लगी है।

7. पारिवारिक क्षेत्र में अधिकारों की प्राप्ति— परिवार मे स्त्रियो की स्थिति में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो रहे हैं। संयुक्त परिवार से एकाकी परिवारों में परिवर्तन हो रहा है। इससे छोटे परिवार में पति-पत्नी की प्रस्थिति समान या बराबर हो गई है। बच्चो के पालन-पोषण, परिवार की आय, बजट, बच्चों की शिक्षा, आय का उपयोग आदि पति-पत्नी मिलकर करते है । स्त्रियाँ नौकरी करके आय की वृद्धि में सहयोग देने लगी हैं । विवाह धार्मिक संस्कार नहीं है । वह कानून के आधार पर एक समझौता है। पुरुष के क्रूर, अत्याचारी, व्यभिचारी होने पर पत्नी तलाक ले लेती है । स्त्रियाँ अपने अधिकारो को समझने लगी हैं । वे शिक्षित हैं। तर्क करना तथा अधिकारों की माँग करना जानती हैं। विलम्ब विवाह होने लगे हैं। बर्गेस के कथनानुसार पत्नी एकाकी परिवार में पति की मित्र और सहयोगी है। स्त्रियाँ भी पारिवारिक निर्णयों में अपना मत रखती है तथा निर्णयों को प्रभावित करने लगी है। निकट भविष्य में स्त्रियाँ परिवार मे पुरुष के समान पद और भूमिका प्राप्त कर लेंगी।

विगत वर्षों मे भारत में स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन की प्रक्रिया में तेजी आई है। नगरों और महानगरों मे इनकी स्थिति मे काफी सुधार हुआ है। ग्रामों में परिवर्तन की प्रक्रिया की गति धीमी है। स्त्रियो की स्थिति को दो भागों में बाँट कर देखा जाए तो एक पक्ष में तो आश्चर्यजनक परिवर्तन हो चुके है। यह पक्ष है सैद्धान्तिक पक्ष। स्त्री को एक व्यक्तित्व के रूप में सभी अधिकार सिद्धान्त रूप मे प्रदान कर दिए गए हैं। व्यावहारिक पक्ष में परिवर्तन में विलम्ब दृष्टिगोचर होता है। इसमें परिवर्तन की गति धीमी है। फिर भी पिछली शताब्दियो की तुलना में काफी सुधार हुआ है।

उपर्युक्त तथ्यों, प्रावधानों तथा उपलब्धियों से स्पष्ट हो जाता है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से हिन्दू स्त्रियों की व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक और राजनैतिक स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए है। अनेक सुविधाएँ कानून तथा अन्य गैर-सरकारी संगठनों ने देने के प्रयत्न किये हैं। उनकी स्थिति में काफी सुधार हुआ है। परन्तु यह कुल जनसंख्या का लगभग एक चौथाई मात्र मे ही तो है। वास्तव में अभी भी नारी पर जो अनेक अत्याचार हो रहे है, शोषण हो रहे है, उनका समाधान होना शेष है। जनसंख्या को देखते हुए परिवर्तन काफी कम है । परन्तु समाज की प्रथाओं रूढ़ियों, परम्पराओं, धार्मिक मूल्यों, अन्धविश्वास आदि के संदर्भ में सुधार जो कुछ अब तक हुआ है वह प्रशंसनीय तथा उत्साहवर्धक है। उपर्युक्त प्रगति के आधार पर आशा की जा सकती है कि भविष्य में स्त्रियों की स्थिति में आशातीत परिवर्तन और सुधार हो जाएगा।

समानता की खोज

सम्पूर्ण विश्व में स्त्रियाँ पुरुषों के समान अधिकार तथा पद चाहती है। सदियों से इनका शोषण हो रहा है। नारीवाद की उत्पत्ति ने महिला आन्दोलन और नारी-मुक्ति संगठनों को जन्म दिया है। आज घर के अन्दर पत्नी पति के समान, बहिन भाई के, पुत्री पुत्र के, बहू बेटी के समान अधिकार, सम्मान तथा समानता की माँग कर रही है। दूसरी ओर घर के बाहर समाज मे नारी पुलिस, डॉक्टर, इन्जिनियर, पायलट और ऐसी ही अन्य सेवाओं मे अपने हिस्से की माँग कर रही है। नारी घर और उसके बाहर समानता चाहती है । जो सुख-सुविधाएँ पुरुषों को प्राप्त हैं नारी भी वैसी सुख-सुविधाएँ और वस्तुएँ चाहती हैं। शिक्षित स्त्रियाँ बाहर व्यवसाय करने लगी है । अब नारी घर की चारदीवारी मे नहीं रहना चाहती है। मूल्यो मे वृद्धि का विरोध नारियाँ भी करने लगी है। पितृसत्तात्मक समाज मे स्त्रियाँ समानता की माँग कर रही है। महिला सामाजिक कार्यकर्ताओं, महिला संगठनों, राजनीतिज्ञों ने मूल्य-वृद्धि, दहेज, बलात्कार, शोषण आदि मामलो को उठाया है। इससे स्त्रियों मे समानता के प्रति जागरूकता पैदा हुई है। अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस, अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष, नारी उत्थान सम्बन्धी सभाएँ, गोष्ठियाँ, अनुसंधान आदि इसके परिणाम है। भारत सरकार द्वारा नियुक्त स्त्री प्रस्थिति सम्बन्धी समिति, 1974 की रिपोर्ट का सभी ने स्वागत किया था।

लेकिन वस्तु स्थिति आज भी भयानक है। बम्बई, दिल्ली, कानपुर आदि महानगरों और नगरों मे दहेज, हत्या, स्त्री-हत्या, बलात्कार आदि के विरुद्ध आए दिन हड़ताल और जुलूस निकलते है। अखबार ऐसी खबरो से भरे रहते है। मध्यम वर्ग, उच्च जातियो आदि मे दहेज-हत्या, तथा दहेज के लालच मे वधुओ को जला देते है, अमानुषिक व्यवहार करते है। वधू, उसके माता-पिता, सम्बन्धियो आदि का आर्थिक तथा अन्य प्रकार से शोषण किया जाता है। अविवाहित-कामकाजी महिलाओ को वस्तु तथा धन समझा जाता है और सरलता से कम दहेज मे विवाह सम्पन्न हो जाता है। ये सब घटनाक्रम यही स्पष्ट करते है कि नगरों में नारियो की स्थिति दयनीय है। माँग समानता की अवश्य हो रही है।

ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं की स्थिति का अध्ययन करने से पता चला है कि वहाँ भी इनका जीवन घर की चारदीवारी मे निम्न स्थिति मे व्यतीत हो रहा है। आंद्रे बेतेई ने पाया है कि उच्च जातियो की देखा-देखी मध्यम एवं निम्न जातियों के ठीक आर्थिक वाले परिवारों ने अपने घर की महिलाओं को घर के बाहर खेतो पर काम करने से रोक लिया है । समाज मे ऐसे परिवारों की प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। परन्तु ऐसा करने से उन महिलाओं की परम्परागत स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता

है । स्त्रियों की दशा सुधारने में, समानता लाने में, अभी अनेक प्रयास करने होंगे तथा समय भी बहुत लगेगा ।

नारी एक स्वतंत्र व्यक्तित्व

सदियों से नारी को कभी भी एक स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में समाज में स्थान नहीं दिया गया। धर्मशास्त्रों में नारी को बचपन में पिता, युवावस्था में पति तथा वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में रहने के विधान का उल्लेख है । भारतीय समाज में नारी को परिवार में भूमिकाओं के आधार पर पहिचाना जाता है, जैसे—पुत्री, वधू, माता, सास, पत्नी आदि । एक सम्प्रदाय ने नारी शोषण एवं नारी की प्रस्थिति की समानता पूँजीवादी समाज में शोषित श्रमिकों से की है। पुरुष प्रधान परिवार में नारी पुरुषो पर भरण-पोषण के लिए आश्रित होती है। ग्रामों में वह खेतों पर भी काम करती है और घर में भी पूरा काम करती है । पितृसत्तात्मक परिवार में स्त्रियाँ पराधीन होती हैं। पुरुषों के अत्याचार सहन करती है। कामकाजी महिलाएँ भी पुरुषों के अधीन जीवनयापन करती हैं।

भारतीय नारी के अपने व्यक्तिगत मित्र नहीं होते है । उसके परिवार के बाहर उन्हीं लोगों से *सम्बन्ध होते है जो परिवार के अन्य सदस्य स्थापित करते हैं। अगर नारी स्वयं स्वतंत्र रूप से मित्र* बना लेती है तो उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अन्य पुरुष से सम्बन्धों को समाज हमेशा शक की नजर से देखता है। पर्दा-प्रथा एक अभिशाप है। दहेज हत्या, दुलहन-दाह स्त्रियों की स्थिति को स्पष्ट करता है कि उसकी अलग से पहिचान तो दूर की बात है वह एक जीव प्राणी के रूप में आत्म-रक्षा भी नही कर सकती है।

अनुलोम विवाह ने नारी की स्थिति निम्न कर दी है। संविधान ने यौन-भेद और जाति-भेद समाप्त कर दिया है । विवाह, तलाक, दहेज, बलात्कार, विधवा पुनर्विवाह, सम्पत्ति पर अधिकार आदि कानून बन गए हैं परन्तु व्यवहार में नारी इनका लाभ नही उठा पा रही है । अनेक तर्क तथा तथ्य देकर सिद्ध किया जाता है कि नारी पुरुष के समान है। परन्तु देखा जाए तो स्त्री-पुरुषों में अन्तर बढ़ गए है। साक्षरता, रोजगार, शिक्षा और प्रशिक्षण, स्त्री-मृत्यु-दर, स्वास्थ्य रक्षा, चिकित्सा सुविधाओ का उपयोग आदि मे पुरुष की स्थिति अच्छी है । पुरुष प्रधान समाज होने के कारण स्त्रियों का पिछडापन समाप्त नहीं हो पा रहा है । इस क्षेत्र में बहुत सुधार तथा प्रयास की आवश्यकता है ।

स्त्रियो की दयनीय प्रस्थिति को धनी-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षित, ग्रामीण-नगरीय संदर्भ में समझना होगा। लेओन ट्रॉटस्की का कथन है, "पुरुषोचित अहंवाद की कोई सीमा नहीं है। संसार को समझने के लिए हमे इसको नारियों के नेत्रों से देखना होगा।"

प्रश्न

1. भारतीय स्त्रियों की प्रमुख सामाजिक समस्याओं की विवेचना कीजिए।
   (उत्तर तीन पृष्ठों से अधिक नहीं)
2. हिन्दू स्त्रियो की प्रमुख समस्याओ का वर्णन कीजिए। (मा शि.बो. अजमेर, 1994)
3. मुस्लिम स्त्रियों की प्रमुख सामाजिक समस्याएँ कौन-कौन-सी हैं?
4. भारत मे नारी की समस्याओं के समाधान हेतु किए गए प्रयासों की विवेचना कीजिए।
5. आधुनिक समय मे भारतीय नारी की स्थिति में आए परिवर्तनों की विवेचना कीजिए।
6. स्त्रियो की सामाजिक प्रस्थिति की विवेचना कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (उत्तर संकेत सहित)

(1) नीचे कुछ प्रश्न और उनके उत्तर के विकल्प दिए गए हैं, सही विकल्पों का चयन कीजिए–

1. उत्तर-वैदिक काल का प्रारम्भ कब से माना जाता है ?

(अ) ईसा से 600 वर्ष पूर्व (स) ईसा से 3,000 वर्ष पूर्व

(ब) ईसा से 400 वर्ष बाद (द) ईसा से 1000 वर्ष बाद

[उत्तर- (अ)]

2. ब्रह्म समाज के संस्थापक थे–

(अ) विवेकानन्द (स) दयानन्द सरस्वती

(ब) राजा राममोहन राय (द) ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

[उत्तर- (ब)]

3. 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में महिलाओं की साक्षरता का प्रतिशत है-

(अ) 18 (स) 39.29

(ब) 27 (द) 31

[उत्तर- (स)]

4. निम्नांकित कथन सत्य हैं या असत्य?

(i) उत्तर-वैदिक काल मे स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त थे।

[उत्तर- सत्य]

(ii) अनुलोम विवाह में वधू उच्च जाति या वर्ण की होती है।

[उत्तर- असत्य]

5. निम्न में से उन समाज सुधारकों के नाम चुनिए जिन्होंने नारी की स्थिति को सुधारने के प्रयास किए थे–

(i) चन्द्र शेखर आजाद (v) स्वामी दयानन्द सरस्वती

(ii) राजा राममोहन राय (vi) ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

(iii) लाल बहादुर शास्त्री (vii) केशव चन्द्र सेन

(iv) महात्मा गाँधी (viii) लाला लाजपत राय

[उत्तर-(ii), (iv), (v), (vi), (vii)]

6. निम्नलिखित में से सही कथनों का चयन कीजिए–

(i) भारत में वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों से निम्न थी।

(ii) अंग्रेजों के शासन काल में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों से नीची थी।

(iii) संयुक्त परिवार मे स्त्रियों को सम्मान कम मिलता है।

[उत्तर-सही- (ii), (iii),गलत- (i)]

7. निम्नलिखित के सही जोड़े बनाइए–

(i) मध्यकाल (अ) 11वीं से 18वीं शताब्दी

(ii) ब्रह्म समाज (ब) 1972

(iii) विधवा पुनर्विवाह (स) 1829

(iv) विशेष विवाह अधिनियम (द) 1856

[उत्तर- (i) अ, (ii) स, (iii) द, (iv) ब]

8. निम्नलिखित वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए—
(i) ब्रह्म समाज की स्थापना .... की थी।
(ii) हिन्दू विवाह अधिनियम सन् .... में बना था।
(iii) अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष .... में मनाया गया था।
(iv) दहेज निरोधक अधिनियम सन् .... में बना था।
(v) विधवा पुनर्विवाह अधिनियम सन् .... में बना था।
(vi) हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम सन् .... में बना था।
[उत्तर- (i) राजा राममोहन राय, (ii) 1955, (iii) 1975, (iv) 1961, (v) 1856, *(vi) 1956*]

अतिलघु-उत्तरीय प्रश्न

(i) स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने वाले तीन अधिनियम बताइए।
(ii) स्त्रियों की निम्न दशा के तीन कारण बताइए।
(iii) महिलाओं पर किए जाने वाले तीन शोषण/अपराध बताइए।

लघु-उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—
(i) वैदिक काल मे स्त्रियों की स्थिति
(ii) 'समानता की खोज'
(iii) 'नारी एक स्वतंत्र व्यक्तित्व
(iv) मुस्लिम स्त्रियों की समस्या के समाधान हेतु प्रयास।

□□□

अध्याय - 11

भारत में जनसंख्या समस्या एवं समाज
(Population Problem and Society in India)

किसी देश की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति उस देश की जनसंख्या से प्रभावित होती है अर्थात् देश की जनसंख्या वहाँ पर उपलब्ध साधनों की तुलना में सन्तुलित होनी चाहिए। देश को समृद्ध बनाने में जनसंख्या की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। देश के आर्थिक विकास की सबसे बड़ी बाधा जनसंख्या की अधिकता है। इसकी अनियंत्रित वृद्धि से आर्थिक विकास, आवास-प्रवास, पारिवारिक समस्याएँ, गरीबी, बेरोजगारी, अपराध एवं जनसंख्या-विस्फोट जैसी समस्याओं की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं। इसके विपरीत जनसंख्या-नियंत्रण से देश का उत्पादन, आर्थिक विकास, आवास-प्रवास, राजनैतिक सम्बन्ध, सुनियोजित परिवर्तन एवं समाज की नीति आदि सभी सकारात्मक रूप में प्रभावित होते हैं। अतः जनसंख्या को प्रभावित करने वाले कारक, जनसंख्या से उत्पन्न समस्याएँ, इसकी वृद्धि के कारण एवं रोकने के उपाय आदि के विषय में विस्तार से अध्ययन करना आवश्यक है। इन सब पर निम्नलिखित दृष्टि से विचार किया जा सकता है।

जनसंख्या के सिद्धान्त

प्राचीन काल से लेकर आज तक जनसंख्या के सम्बन्ध में समाज के कर्णधारों, धार्मिक मुखियाओं, राजनेताओं और वैज्ञानिकों आदि ने विचार किया है। अध्ययन की सुविधा एवं क्रमबद्धता के लिये उपलब्ध सामग्री को निम्नलिखित नौ भागों में बाँटकर अध्ययन किया जा सकता है।

1. प्राचीन विचारक, 2. पूर्व माल्थस विचार, 3. माल्थस का सिद्धांत, 4. नव-शास्त्रीय सिद्धांत, 5. प्राकृतिक या जैविकीय सिद्धांत, 6. सैडलर का सिद्धांत, 7. थामस डबलडे का सिद्धांत 8. इष्टतम जनसंख्या का सिद्धांत तथा 9. जनांकिकीय संक्रमण सिद्धांत।

(1) प्राचीन विचारक — प्राचीन विचारकों— मनु, कौटिल्य, कनफ्यूशियस, प्लेटो, अरस्तू आदि ने जनसंख्या की समस्या, महत्त्व आदि पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। इन सभी विद्वानों ने जनसंख्या की वृद्धि को महत्त्व दिया था क्योंकि प्राचीनकाल में जनसंख्या की कोई समस्या नहीं

थी। मनु ने पुत्र और पोते के जन्म को महत्त्वपूर्ण बताया है तथा मोक्ष एवं स्वर्ग प्राप्ति के लिये पुत्र का होना आवश्यक बताया है। विष्णु गुप्त कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में अधिक जनसंख्या के महत्त्व को बताते हुये लिखा है कि वृहद् जनसंख्या राजनैतिक, आर्थिक और सैन्य शक्ति का आधार है। आपने ग्राम की जनसंख्या 100 से 500 तक ठीक मानी है। हिन्दू धर्म में विवाह एक धार्मिक सस्कार है जिसके उद्देश्य धर्म, प्रजा और रति है। प्रजा अर्थात् पुत्र प्राप्ति भी विवाह का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है जो समाज की निन्तरता के लिये आवश्यक है। बाद में यौवनारंभ से पूर्व (बाल-विवाह) कन्या का विवाह करना धार्मिक एवं पावन कृत्य बन गया। पुत्र जन्म, पितृदान अर्पण, बाल-विवाह, कृषि के व्यवसाय आदि ने संयुक्त परिवार को परम्परा बना दिया। प्राचीन काल मे भूमि की बाहुल्यता थी। हलीय कृषि होती थी। उसमें अधिक श्रमिकों की आवश्यकता के कारण जनसंख्या वृद्धि को प्रोत्साहित किया जाता था।

चीनी लेखों में जनसंख्या नियन्त्रण तथा इसमें कमी के कारणों का उल्लेख मिलता है। खाद्यान्न आपूर्ति के अभाव में मृत्यु-दर बढती है। असामयिक विवाह से बाल-मृत्यु अधिक होती है। खर्चीले विवाह उत्सवों के कारण विवाह कम होते हैं। इन सबके कारण तथा युद्ध के कारण जनसंख्या की वृद्धि नहीं हो पाती है। कनफ्यूशियस के सिद्धान्त भी जनसंख्या वृद्धि का समर्थन करते हैं। इन्होंने जनसंख्या तथा भूमि के अनुपात का सिद्धान्त दिया। इनका सुझाव था कि सरकार अधिक जनसंख्या वाले क्षेत्रों से कम जनसंख्या वाले क्षेत्रों में लोगों को बसाए। रोम के विचारकों ने भी *जनसख्या वृद्धि का समर्थन किया था। ये लोग रोम साम्राज्य के विस्तार की सोचते थे तथा* जनसंख्या वृद्धि के उपाय सोचत थे। प्लेटो और अरस्तू ने 'इष्टतम' जनसंख्या का वर्णन किया है। प्लेटो ने एक नगर के लिए 5,040 लोगों की जनसख्या आदर्श बताई है। इन्होने कम तथा अधिक जनसख्या के समाधान भी बताए थे।

(II) पूर्व-माल्थस विचार (15 वीं शताब्दी से 1798 तक) — माल्थस से पूर्व के विचारों को तीन वर्गों में बाँट कर देख सकते हैं— (1) इस्लामी लेखक, (2) ईसाई लेखक, और (3) 17 वीं तथा 18 वीं शताब्दी को यूरोप का वणिकवाद। **"इस्लामी लेखकों"** ने कई प्रकार से जनसंख्या *वृद्धि को प्रोत्साहित किया था और आज भी कर रहे हैं। इस धर्म में एक मुस्लिम चार पत्नियाँ रख* सकता है। बाल-विवाह एक प्रथा बन गया है। इब्न खल्दून का कहना था कि प्रति व्यक्ति आय का प्रेरक कारक घनी जनसंख्या है। विशाल सेना, राजनैतिक सुरक्षा और श्रम-विभाजन भी अधिक जनसख्या से ही सभव है। इस्लाम धर्म आज भी जनसंख्या का विरोधी नहीं है तथा जनसंख्या वृद्धि का समर्थक और पोषक है।

प्रारम्भ मे ईसाई धर्म ने जनसख्या वृद्धि विरोधी नियमों पर जोर दिया था। इस धर्म ने ब्रह्मचर्य *पर जोर दिया। विवाह और प्रजनन को बुरा बताया। कौमार्य की प्रशंसा की। गर्भपात, शिशु-वध, शिशु त्याग, बहु-विवाह एवं तलाक को बुरा समझा। आगे चलकर इस ईसाई धर्म ने भी प्रजनन के* लिए विवाह के महत्त्व को माना। इस धर्म के विचार जनसख्या के सिद्धान्त के सम्बन्ध में नहीं होकर दार्शनिक, नैतिक और धार्मिक अधिक थे।

पुनर्जागरण के काल तथा 15वी शताब्दी से 18 वी शताब्दी में अनेक परिवर्तनो तथा आविष्कारो के कारण समाज मे लोगो ९. आवश्यकता अधिक पड़ने के फलस्वरूप संयुक्त परिवारों

बाल-विवाह और आप्रवासन को जनसंख्या वृद्धि के लिए प्रोत्साहित किया गया। इस काल में व्यापार का तेजी से विकास हुआ था। मध्यकाल का सामन्तवाद समाप्त हो रहा था तथा पूँजीवाद का उदय हुआ था। अनेक आविष्कारों के फलस्वरूप औद्योगिक क्रान्ति प्रारम्भ हुई जिसमें अधिक श्रमिकों की आवश्यकता महसूस की गई। एक ओर नए राष्ट्रों में प्रतिस्पर्द्धा हो रही थी। परस्पर युद्ध होते थे जिसमें लोगों की आवश्यकता पड़ती थी। देश उत्पादन अधिक करके राष्ट्रीय आय बढ़ाना चाहते थे। एक ओर अधिक राजनैतिक और आर्थिक लाभ प्राप्त करने के लिए जनसंख्या वृद्धि को प्रोत्साहित किया जा रहा था और दूसरी ओर प्रतिस्पर्द्धा के बढ़ने के डर से जनसंख्या को सीमित करने के विचार प्रस्तुत किए गये।

(III) माल्थस का जनसंख्या का सिद्धान्त— सर्वप्रथम माल्थस ने जनसंख्या का सिद्धान्त अपनी पुस्तक 'एन ऐसे ऑन प्रिन्सीपल्स ऑफ पापुलेशन' 1798 में दिया है। आपने यह सिद्धान्त यूरोप के कई देशों की जनसंख्या के अध्ययन के आधार पर प्रतिपादित किया है। माल्थस ने जनसंख्या के सिद्धान्त से सम्बन्धित निम्नलिखित तीन बातें बताई है—

(1) जनसंख्या में रेखागणितीय वृद्धि — जब वृद्धि का क्रम 1,2,4,8,16,32,64 आदि के रूप में होता है तो उसे रेखागणितीय प्रगति कहते हैं। माल्थस की मान्यता है कि जनसंख्या की वृद्धि रेखागणितीय क्रम में होती है और इस प्रकार से किसी भी देश की जनसंख्या 25 वर्षों में दुगनी हो जाती है।

(2) खाद्य-सामग्री में अंकगणितीय अनुपात में वृद्धि— जब वृद्धि का क्रम 1,2,3,4,5,6,7,8, आदि के क्रम में होता है तो उसे अंकगणितीय प्रगति कहते हैं। माल्थस की मान्यता है कि खाद्य-सामग्री के उत्पादन में वृद्धि बहुत धीमी तथा अंकगणितीय अनुपात में होती है। जनसंख्या में वृद्धि खाद्य सामग्री की तुलना में तेजी से होती है। जिस अवधि में खाद्य-सामग्री चार गुनी होगी, उसी अवधि में जनसंख्या आठ गुनी हो जाएगी। इस प्रकार से जनसंख्या के बढ़ने के साथ-साथ खाद्य-सामग्री कम पड़ती जाती है। माल्थस की मान्यता है कि देश की जनसंख्या को उपलब्ध खाद्य-सामग्री के अनुसार नियंत्रित रखना चाहिए। आपका यह भी कहना है कि भूमि की उत्पादकता में भी निरन्तर कमी आती जाती है। जनसंख्या के खाद्य-सामग्री के अनुपात में अधिक होने पर समाज में अनेक समस्याएँ— भुखमरी, बेकारी, युद्ध आदि— उत्पन्न हो जाएँगी।

(3) जनसंख्या नियंत्रण के तरीके — माल्थस ने जनसंख्या के नियंत्रण के दो तरीकों का उल्लेख किया है (1) निश्चयात्मक नियंत्रण और (2) निरोधात्मक नियंत्रण।

3 I. निश्चयात्मक नियंत्रण— जब किसी देश की जनसंख्या खाद्य-सामग्री की तुलना में बहुत अधिक बढ़ जाती है तो प्रकृति उस देश की अतिरिक्त जनसंख्या को भूकम्प, बाढ़, सूखा, प्लेग, महामारी, भुखमरी आदि के द्वारा घटा देती है। इस प्रकार के नियंत्रण को निश्चयात्मक या नैसर्गिक नियंत्रण भी कहते हैं। इस नियंत्रण में मृत्यु-दर बढ़ जाती है।

3.2. निरोधात्मक नियंत्रण— निरोधात्मक नियंत्रण में समाज स्वयं जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के उपाय खोजता है तथा उन्हें लागू करता है, जैसे— नैतिक संयम, विवाह का परिपक्व आयु तक स्थगित करना, बुराई से दूर रहना, परिवार नियोजन, संतति निरोध, आत्मसंयम, ब्रह्मचर्य का पालन, कृत्रिम साधनो का प्रयोग आदि। माल्थस की मान्यता है कि जब निरोधात्मक नियंत्रण द्वारा समाज अपनी जनसंख्या को नियंत्रित नहीं रख पाता है तो प्रकृति निश्चयात्मक नियंत्रणो द्वारा जनसंख्या को खाद्य-सामग्री के अनुरूप घटा देती है।

माल्थस के सिद्धान्त की आलोचना— माल्थस का सिद्धान्त निराशावादी अधिक लगता है। आपका सिद्धान्त ऐतिहासिक तथ्यों, वैज्ञानिक आविष्कारों, यातायात के साधनों तथा श्रम-शक्ति में वृद्धि के कारण सत्य और प्रमाणित नहीं है।

1. ऐतिहासिक आंकड़ों से स्पष्ट हो जाता है कि जनसंख्या में वृद्धि हमेशा रेखागणितीय प्रगति के रूप में नही होती है तथा खाद्य-सामग्री में वृद्धि अंकगणितीय प्रगति के रूप में ही हो यह आवश्यक नहीं है।

2. वैज्ञानिक आविष्कारों, अच्छी पैदावार के बीजों, खादों तथा खेती के उपकरणों के फलस्वरूप खाद्य-सामग्री का उत्पादन जनसंख्या में वृद्धि के अनुसार काफी मात्रा में बढ़ाया गया है, जैसे— भारत में हरित क्रान्ति के द्वारा पैदावार बढ़ाई गई है।

3. यातायात के साधनों के द्वारा एक स्थान से खाद्य-सामग्री उस स्थान पर भेजना सरल हो गया है जहाँ पर खाद्य-सामग्री का अभाव है।

4. श्रम-शक्ति में वृद्धि का सीधा सम्बन्ध जनसंख्या की वृद्धि के साथ है। जनसंख्या में वृद्धि होती है तो काम करने वाले हाथों की संख्या भी बढ़ती है जो अपने श्रम द्वारा खाद्य-सामग्री की व्यवस्था कर सकते हैं। आज के युग में माल्थस का सिद्धान्त अवैज्ञानिक, असत्य तथा अप्रामाणिक है।

(IV) नवशास्त्रीय सिद्धान्त— नव-शास्त्रीय काल में दो विचारधाराएँ थीं— (1) राजनैतिक अर्थव्यवस्था का शास्त्रीय सम्प्रदाय और (2) समाजवादी तथा मार्क्सवादी विचारधारा को मानने वाला सम्प्रदाय। इन दोनो सम्प्रदायों के विद्वानो का मत था कि जब जनसंख्या बढ़ती है तो मजदूरी (वेतन) कम हो जाती है जो समाज में निर्धनता को बढ़ाती है। मार्क्स, माल्थस के आलोचक थे तथा उनकी मान्यता थी कि समाज में जनसंख्या की वृद्धि का कारण पूँजीवाद है। जब समाजवाद स्थापित हो जाएगा तो लोगों की आय में वृद्धि होगी, रहन-सहन की परिस्थितियों में सुधार होगा, जन्म-दर और मृत्यु-दर दोनो घटेंगी, आय का समान वितरण होगा तथा असमानताएँ समाप्त हो जायेंगी। जे.एस. मिल का कहना था कि माल और सेवाओं के प्रवाह से जनसंख्या नियंत्रित की जा सकती है जो जन-सख्या के दबाव को भी कम करेगी। प्रौद्योगिक विकास भी जनसंख्या के दबाव को कम करता है।

(V) प्राकृतिक या जैविकीय सिद्धान्त— इस सिद्धान्त के अनुसार जब जनसंख्या के घनत्व में वृद्धि होती है और सुख-सुविधाएँ बढ़ती हैं तो प्रजनन दर घटती है। इसको जनसंख्या का

निश्चित जनसंख्या की आवश्यकता होती है और उस संख्या को इष्टतम जनसंख्या कहा जाता है। जब इस इष्टतम जनसंख्या से जनसंख्या कम होती है तो उसे न्यून-जनसंख्या वाला तथा अधिक होने पर अति-जनसंख्या वाला देश कहा जाता है। इस इष्टतम जनसंख्या के सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी यह है कि इस सिद्धान्त में आर्थिक पक्ष को विशेष महत्त्व दिया गया है जब कि जनसंख्या को अन्य अनेक कारक भी प्रभावित करते हैं।

(IX) जनांकिकीय संक्रमण सिद्धान्त— यह सिद्धान्त समाजों (आदिम, मध्यम और आधुनिक) के ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है। विद्वानों ने जनांकिकीय उद्विकास के चरण जन्म और मृत्यु दरों के विभिन्न मिश्रणो के आधार पर निम्नलिखित बताए हैं— (1) अत्यन्त स्थिर चरण, (2) प्रारम्भिक विस्तार की अवस्था, (3) बाद के विस्तार की अवस्था, (4) निम्न स्थिर अवस्था, और (5) गिरती हुई अवस्था। जन्म और मृत्यु दरों में अधिक अन्तर संक्रमण के कारण होता है। इससे जनसंख्या विस्फोट भी होता है।

भारत की जनसंख्या की संरचना

1991 की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या 84.39 करोड थी। आज भारत की जनसंख्या लगभग 90 करोड का आँकड़ा पार कर चुकी है। परिवार कल्याण के भागीरथ प्रयासों के बावजूद सन् 2000 तक एक अरब का आँकड़ा पार कर चुकेगी, जनसंख्या की दृष्टि से भारत विश्व का दूसरा देश है तथा क्षेत्रफल की दृष्टि से सातवाँ है। ससार मे प्रति 100 व्यक्तियो में 15 भारतीय है अर्थात् प्रत्येक सातवाँ व्यक्ति भारतीय है। ये संसार की 2.4 प्रतिशत भूमि पर निवास करते है। दूसरे देशों की तुलना में भारत की जनसंख्या में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। भारत में प्रतिवर्ष एक आस्ट्रेलिया के बराबर जनसंख्या बढ़ जाती है। हमारे देश में सबसे गम्भीर समस्या जनसंख्या और उसकी वृद्धि है। इसी समस्या के कारण अन्य समस्याओं— बेरोजगारी, आवास, स्वास्थ्य कुपोषण, अशिक्षा आदि का समाधान नहीं हो पा रहा है। बढती जनसख्या पर नियत्रण बहुत आवश्यक है। भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह भारत की जनसंख्या के विभिन्न पहलुओं से अवगत रहे तथा जनसंख्या नियंत्रण में अपना पूर्ण सहयोग दे। इसी संदर्भ में यहाँ पर हम भारत की जनसख्या के विभिन्न पहलुओं— जन्म-दर, मृत्यु-दर, जनसंख्या घनत्व, प्रत्याशित आयु, आयु रचना, लिंग अनुपात, धर्म, भाषा, साक्षरता, ग्रामीण-नगरीय जनसंख्या, अनुसूचित जातियो तथा जन-जातियो की जनसंख्या आदि का अध्ययन करेगे।

भारत में जनसंख्या वृद्धि

भारतीय जनगणना के आधार पर देखा जाय तो जनसंख्या वृद्धि की स्थिति स्पष्ट हो सकती है कि इसमे प्रति दस वर्षों में कितनी वृद्धि होती है— इसे 1891 से नियमित रूप में देखा जा सकता है। जनगणना का कार्य इसी समय प्रारम्भ हुआ है — अग्रलिखित तालिका के आधार पर इनकी तुलना सुगमता से की जा सकती है जिसमें सन् 1891 से सन् 1991 तक की जनसंख्या को प्रति दस वर्ष के अन्तर पर दर्शाया गया है—

तालिका - 1

भारत में जनसंख्या वृद्धि (1891 - 1991)

जनसंख्या वर्ष	कुल जनसंख्या (करोड़)	दसवर्षीय वृद्धि दर%
1891	23.59	-
1901	23.83	1.0
1911	25.20	5.73
1921	25.12	-0.8
1931	27.88	11 00
1941	31 85	14.23
1951	36.09	13.31
1961	43.90	21.64
1971	54.79	24.80
1981	68.97	24.75
1991	84.39	23.50

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि सन् 1891 में भारत की जनसख्या लगभग 23.5 करोड़ थी, वहाँ 1991 मे बढकर 84 39 करोड़ हो गई। यह वृद्धि 1941 के पश्चात् बहुत तीव्र गति से हुई है। 1947 में भारत पाक विभाजन के कारण पाकिस्तान से बहुत बड़ी संख्या मे भारत मे लोग आ गए। इसलिए 1951 से 1961 के बीच वृद्धि दर 21.6 प्रतिशत हो गई। इसके पश्चात् भी वृद्धि अनवरत रूप से जारी है और 1981 से 1991 के मध्य तो इसमे सर्वाधिक तीव्रता दिख रही है, जिसे जनसख्या विस्फोट का सूचक अवश्य ही माना जा सकता है। यदि पाश्चात्य देशो की स्थिति देखें तो अमेरिका, रूस, जापान व ब्राजील की जनसंख्या से भी यह कहीं अधिक है। आस्ट्रेलिया की तो कुल आबादी ही भारत की वार्षिक जनसंख्या वृद्धि के समान है, जबकि क्षेत्रफल की दृष्टि से इसे भारत के क्षेत्रफल से कही अधिक बड़े क्षेत्रफल वाला देश माना जा सकता है। अब इसी अनुपात मे जनसख्या वृद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है। 1901 मे जनसख्या का घनत्व 72 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर था जो 1991 में बढकर 267 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर हो गया। भारत का क्षेत्रफल 32,80,483 वर्ग किलोमीटर है। परन्तु जनसख्या को देखते हुए बहुत कम है।

1. जन्म-दर और मृत्यु-दर— किसी देश की जनसख्या को निर्धारित करने के दो प्रमुख आधार है। पहला, उस देश की जन्म-दर और दूसरा उस देश की मृत्यु-दर। तीसरा एक गौण कारण देश में आने वाले प्रवासी भी है। भारत मे जन्म-दर अधिक रही है। देश में सभी जन्म लेने वाले और मरने वालो के नाम पजीकृत नही कराए जाने के कारण सही आँकड़ो का पता लगाना सम्भव नही है। ये आँकड़े अनुमानित ही कहे जा सकते हैं। तालिका-2 में भारत में विभिन्न दशकों में जन्म एव मृत्यु-दर प्रदर्शित की गई है।

तालिका - 2

जन्म-दर एवं मृत्यु-दर (1921-1990)

दशक	जन्म-दर (प्रति हजार प्रति वर्ष)	मृत्यु-दर (अनुमानित) (प्रति हजार प्रति वर्ष)
1921-30	46.4	36.3
1931-40	35.2	31.2
1941-50	39.3	27.4
1951-60	41.7	28.8
1961-70	41.1	18.9
1971-80	33.6	11.9
1981-90	30.9	10.8

1991 में भारत में जन्म-दर 29.9व्यक्ति प्रति हजार प्रति वर्ष है। यह दर चीन को छोड़कर *अन्य देशों की तुलना मे सर्वाधिक है। ग्रामो में जन्म-दर नगरों की तुलना में अधिक है। अन्य देशों* की तुलना में भारत में मृत्यु-दर भी अधिक है। 1921 से पहले अकाल, महामारी और कई प्रकार की असाध्य एवं सक्रामक बीमारियों, जैसे— प्लेग, मलेरिया और इन्फ्लूएन्जा आदि के कारण मृत्यु-दर बहुत उच्च थी। भारत में गरीबी एवं जीवन-स्तर निम्न है इस कारण पौष्टिक आहार एवं चिकित्सा सुविधाओं का अभाव रहता है। 1921 से मृत्यु- दर में निरन्तर कमी आई है और 1991 में 1921 की तुलना मे मृत्यु-दर साढे तीन गुणा के लगभग घटी है। इसका कारण चिकित्सा विज्ञान के विकसित होने और भारत के सुदूर क्षेत्रों तक फैल गई चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सुविधाओं को *उपलब्ध करना है। लेकिन* धार्मिक कट्टरता, रूढ़िवादिता, अज्ञानता, अशिक्षा आदि के कारण जन्म-दर को मृत्यु-दर की तुलना में कम नही कर पाने के कारण जो अन्तर सामने आया है उसने *जनसंख्या विस्फोट का रूप धारण कर लिया है। 1991 के अनुसार मृत्यु-दर 9.6 व्यक्ति प्रति हजार* प्रति वर्ष है तथा जन्मदर 29.9 व्यक्ति प्रति हजार प्रति वर्ष है। इस प्रकार जनसंख्या में वृद्धि लगभग 20.3 व्यक्ति प्रति हजार प्रति वर्ष है। आज भारतवर्ष में प्रति मिनिट 48 बच्चो का जन्म होता है। निष्कर्षत: आज सबसे बडी आवश्यकता इस बढती जनसंख्या पर अंकुश लगाने के लिए युद्ध स्तर पर प्रयास करने की है।

2. जनसंख्या का घनत्व— एक वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में जितने व्यक्ति रहते हैं वह जनसंख्या का घनत्व कहलाता है। जनसंख्या के घनत्व का आकलन करने के लिए देश की कुल जनसंख्या में उस देश के कुल भू-भाग का भाग दिया जाता है। भागफल उस देश की जनसंख्या का घनत्व कहलाता है। भारत में जनसंख्या का घनत्व 1901 में 72 व्यक्ति, 1961 में 173, 1981 में 216 और 1991 में 267 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर पाया गया। देश में सर्वाधिक जनसंख्या का घनत्व दिल्ली में

7,219 है। दूसरे स्थान पर चंडीगढ का जनसंख्या घनत्व 5,620 है। राज्यो मे सबसे अधिक जनसंख्या का घनत्व पश्चिमी बंगाल में 766 व्यक्ति, केरल मे 747, उत्तर प्रदेश में 471, राजस्थान में 128 है। राज्यों मे सबसे कम जनसंख्या का घनत्व अरुणाचल में 10 व्यक्ति, मिजोरम में 33, नागालैण्ड में 71 व्यक्ति है।

3. प्रत्याशित आयु— किसी देश के निवासियों की प्रत्याशित आयु से तात्पर्य है कि उस देश के निवासी की जन्म के समय कितनी आयु की आशा की जाती है। भारतवर्ष मे लोगो की औसत आयु 1911 मे 24 वर्ष, 1951 मे 32.1 वर्ष, 1961 मे 41.2 वर्ष, 1971 मे 46.4 वर्ष, 1981 54 वर्ष, 1991 मे 55.4 वर्ष पाई गई। भारतवर्ष मे औसत आयु मे वृद्धि के कारण अधिकाधिक शिक्षा, चिकित्सा की सुविधा, रहन-सहन के स्तर मे वृद्धि, मातृत्व एव शिशु-कल्याण की सस्थाओ की स्थापना तथा सन्तुलित आहार आदि हैं।

4. आयु संरचना— जनांकिकीय अध्ययन में आयु संरचना का विशेष महत्त्व है। इसके अध्ययन एवं विश्लेषण से अनेक तथ्य सामने आते हैं। 1991 की जनगणनानुसार 60 वर्ष या इससे अधिक आयु के लोग 6.49% हैं। 36 प्रतिशत 14 वर्ष तक की आयु के बच्चे हैं। शेष 57 51% जनसख्या मे 15 से 59 वर्ष की बीच के आयु के लोग हैं। केवल 33.45 प्रतिशत जनसंख्या कार्यशील है। जनसख्या की आयु सरचना पिछले दशको में लगभग स्थिर रहने का कारण प्राकृतिक विपदाओं तथा युद्ध आदि समस्याओं का प्रकोप नहीं रहना है। इसके कारण स्त्री-पुरुषो का अनुपात भी स्थिर रहा है।

5. लिंग अनुपात— स्त्री-पुरुष अनुपात या लिंग अनुपात के द्वारा यह पता चलता है कि समाज मे विवाह की दर, मृत्यु-दर तथा बच्चो की दर कितनी है। भारत की जनसख्या की यौन-सरचना से पता चलता है कि प्रति हजार पुरुषो पर स्त्रियो की सख्या हमेशा कम रही है। 1991 में 1000 पुरुषो पर स्त्रियों की संख्या 929 पाई गई है तथा 1981 में 935 स्त्रियाँ थीं। केरल में 1000 पुरुषो पर 1036 स्त्रियाँ हैं। यह स्त्रियों की संख्या राज्यो में सबसे अधिक है। मध्य प्रदेश में 932, राजस्थान मे 913, महाराष्ट्र मे 936 स्त्रियाँ है। विश्व मे अमेरिका, रूस और ब्रिटेन में स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक हैं। भारत में पुरुषो की तुलना में स्त्रियो की संख्या कम होने के कारण है — बाल्यकाल में कन्याओं के उचित पालन-पोषण का अभाव, बाल-विवाह के कारण स्त्रियों का बाल्यावस्था मे गर्भवती होना तथा प्रसव के समय अधिक मृत्यु होना है। लड़को की तुलना मे कन्याओं के पालन-पोषण पर कम ध्यान देना है।

6. साक्षरता— साक्षरता का सीधा सम्बन्ध देश के विकास की गति के साथ है। समाज के जितने अधिक लोग साक्षर होंगे उस समाज का विकास भी उतना ही अधिक होगा। 1991 मे भारत मे साक्षरता 52 21% प्रतिशत अर्थात् आधे से कुछ अधिक है। 1951 की तुलना मे यह प्रगति तिगुने से भी कुछ अधिक है। पुरुषो मे साक्षरता 64 13 प्रतिशत तथा स्त्रियो मे 39 29 प्रतिशत है। 22 42 करोड़ पुरुष तथा 12 77 करोड़ स्त्रियाँ साक्षर हैं। केरल मे देश मे सर्वाधिक साक्षरता (100%) है। सबसे कम साक्षरता राजस्थान मे 39 29% है। ग्राम के स्त्री-पुरुषो की तुलना मे नगरो में अधिक साक्षरता मिलती है।

तालिका -

भारत में साक्षरता 1951 से 1991

वर्ष	साक्षरता का प्रतिशत
1951	16.7
1961	24.0
1971	29.5
1981	36.2
1991	52.21

7. धर्म– भारत में कुल जनसंख्या का 82.7% हिन्दू, 11.2% मुसलमान है।.तीसरा स्थान 2.4%ईसाइयों का है। सिक्ख 1.9%, बौद्ध 0.7% तथा जैन 0.48% हैं। सिक्ख प्रधानत: पंजाब में निवास करते हैं। जैन और बौद्ध धर्मावलम्बी हिन्दुओं से मिलते-जुलते हैं। हिन्दुओं में 2.37% तथा मुसलमानो में 3.1% वार्षिक दर से जनसंख्या में वृद्धि हो रही है। विभिन्न धर्मों में साम्प्रदायिक मतभेद होने से राष्ट्रीयता में बाधाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। इनमें एकता, उदारता तथा पारस्परिक सहिष्णुता की अत्यन्त आवश्यकता है।

8. भाषा– भारतवर्ष में लगभग 1,652 भाषाएँ एव बोलियाँ है। भारत में प्रमुख दो भाषाई वर्ग हैं– (1) द्रविड भाषाएँ एवं (2) इण्डोआर्यान भाषाएँ। भारतीय संविधान मे 18 भाषाओं को मान्यता प्रदान की गई है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा का सम्मान प्राप्त है। भाषा के कारण देश में कुछ राज्यों का निर्माण भी हुआ है। देश की एकता में भाषाई मतभेद बाधक रहे हैं।

9. ग्रामीण तथा नगरीय जनसंख्या– भारत मुख्यत: ग्रामों का देश है। 1991 की जनगणनानुसार देश मे 74.3% लोग ग्रामों में तथा 25.7% लोग नगरों में निवास करते हैं। चार व्यक्तियों में से एक *व्यक्ति नगर मे निवास करता है। पिछले वर्षों में ग्रामों से नगरों में प्रवसन की गति तेज रही है, जिसके* प्रमुख कारण– नगरों मे व्यवसाय के अच्छे अवसरों का होना, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा, शिक्षा, रहन-सहन के अच्छे स्तर आदि का होना, है। ग्राम और नगर के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिए अध्याय दो देखिए।

10. अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों की जनसंख्या– 1991 की जनगणनानुसार देश मे अनुसूचित जातियो की जनसख्या लगभग 13.82 करोड है तथा अनुसूचित जनजातियो की *जनसख्या 6 78 करोड़ है। यह देश की कुल जनसंख्या का लगभग एक चौथाई (25%) भाग है।* सर्वाधिक अनुसूचित जातियाँ 2.34 करोड़ उत्तर प्रदेश में निवास करती है। सर्वाधिक अनुसूचित जनजातियाँ 1.79 करोड़ मध्यप्रदेश मे निवास करती है।

भारत में जनसंख्या वृद्धि के कारण– उपर्युक्त विश्लेषण के *आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है* कि भारत में जनसंख्या मे अपरिमित वृद्धि हो रही है। प्रत्येक वर्ष अनुमानत: 1.3 करोड़ जनसंख्या बढती है, किन्तु इसके साथ ही एक प्रश्न और उत्पन्न होता है कि इस वृद्धि के क्या कारण हैं? पूर्व

के वर्षों में यह वृद्धि क्यों कम है, और अब निरन्तर वृद्धि क्यों हो रही है ? इन सब प्रश्नो के उत्तर खोजने पर विदित होता है कि भारत की जनसंख्या को प्रभावित करने वाले मुख्य रूप मे तीन कारक है– (1) जन्म-दर (2) मृत्यु-दर, और (3) आवास - प्रवास। इनमे भी दो कारण अति महत्वपूर्ण हैं अत. इन पर विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

भारत में जन्मदर एवं मृत्युदर– भारत मे जन्मदर एव मृत्युदर के आकड़ों मे पर्याप्त वैविध्य दिखाई देता है, क्योंकि सभी जन्मे व मृत व्यक्तियो के नाम पंजीकृत नहीं किए जाते है। इसी कारण अनुमानित आधार एवं पंजीकृत आधार दोनों में अन्तर है। जन्मदर और मृत्युदर की गणना एक वर्ष में प्रति हजार व्यक्तियों के पीछे जन्मे और मृत व्यक्तियों की संख्या के रूप मे की जाती है। सन् 1921 के पूर्व जन्मदर एवं मृत्युदर दोनों समान होने के कारण जनसंख्या नियन्त्रित रही। उसमें अधिक वृद्धि नहीं हुई, किन्तु 1931 के दशक में मृत्युदर में कमी होने के परिणामस्वरूप जनसंख्या मे अधिक वृद्धि हुई। धीरे-धीरे जन्मदर-मृत्युदर का अन्तर बढता गया। इस निरन्तर बढ़ती जन्मदर और घटती हुई मृत्युदर के क्या कारण रहे जिन्होंने जनसंख्या को बढ़ाया– इस पर विचार करना आवश्यक है।

उच्च जन्मदर के कारण – सन् 1971-80 के मध्य जन्मदर की जो वृद्धि हुई है, वह विश्व के अनेक देशो की तुलना में अधिक है, यह जन्मदर स्त्रियो की प्रजनन क्षमता पर आधारित होती है। भारत मे स्त्री की प्रजनन क्षमता 45 वर्ष तक मानी जाती है। यह प्रजनन क्षमता अन्य देशों की तुलना में काफी ऊँची है। इस उच्च प्रजनन क्षमता के मुख्य रूप से निम्नलिखित कारक उत्तरदायी है–

1. भारत की जलवायु गर्म है। इस कारण लड़कियों में परिपक्वता शीघ्र आ जाती है। फिर प्रजनन क्षमता लम्बी अवधि तक चलती रहती है।

2. बाल-विवाह का परिणाम अधिक सन्तानो को जन्म देना है जो उच्च जन्मदर के लिए सकारात्मक रूप मे उत्तरदायी है।

3. अशिक्षा जन्म की उच्च दर का कारण है। जनसंख्या वृद्धि के भावी परिणामों पर अशिक्षित लोग विचार नहीं कर पाते है।

4. मनोरंजन के साधनो के अभाव के कारण ग्रामीण व निम्न वर्ग स्त्री की ओर अधिक अनुरक्त होता है।

5. संयुक्त परिवार भी एक कारण है। प्राय बड़े लोग अपने जीवन-काल मे पौत्र-प्रपौत्र देखने की कामना रखते है। अत सीमित परिवार की ओर ध्यान न देकर पुत्र-प्राप्ति का उद्देश्य उनकी दृष्टि में महत्वपूर्ण है, इसमें जन्मदर बढ़ी है और जनसंख्या मे वृद्धि होती है।

6. निम्न जीवन स्तर के व्यक्ति परिवार को सीमित नहीं रखना चाहते क्योंकि उनकी दृष्टि मे जितने अधिक बच्चे होंगे, उतना ही वे उत्पादन कार्य करेंगे। उनके यहाँ हर बच्चा कमाता है। परिणामस्वरूप जन्मदर मे वृद्धि होती जाती है।

7. परिवार नियोजन के साधनों की जानकारी का अभाव भी जन्म-दर वृद्धि का कारण होता है।

8. पुत्री की तुलना में पुत्र प्राप्ति को महत्व दिया जाता है, इसके पीछे धार्मिकता की भावना प्रबल होती है। धर्मशास्त्रानुसार मोक्ष-प्राप्ति के लिए पुत्रोत्पत्ति आवश्यक है, इससे भी जन्म-दर मे वृद्धि होती है।

9. कुछ धर्म जन्मदर नियन्त्रण को पाप मानते हैं -- इस्लाम धर्म में मान्यता है कि पृथ्वी पर अधिकाधिक मानव वृद्धि हो-- इस मान्यता के कारण जन्मदर में वृद्धि उनकी दृष्टि में अच्छी है।

10. विवाह की अनिवार्यता भी जन्मदर वृद्धि का कारण है। हिन्दू धर्म में जीवन -मरण के चक्र से मुक्ति तभी मिल सकती है, जब पुत्र-प्राप्ति हो— उसके लिए वैवाहिक-जीवन की आवश्यकता होती है। इससे जनसंख्या में वृद्धि होती है।

11. व्यक्ति को सामाजिक दृष्टि से मान्यता तभी मिलती है जब वह विवाहित हो, पुत्र वाला हो, क्योंकि श्राद्ध, तर्पण व पीढी की निरन्तरता आदि को बनाये रखने से ही व्यक्ति को सामाजिक मान्यता मिलती है। इस कारण से जन्म-दर में वृद्धि होती है।

12. चिकित्सा सुविधाओं में वृद्धि के परिणामस्वरूप जन्मदर बढ़ी है, और मृत्यु-दर में कमी हुई है। इससे जनसंख्या में वृद्धि हुई है।

इस प्रकार अनेक कारणो से जन्म-दर में वृद्धि हुई है।

गिरती हुई मृत्यु-दर— जहाँ जन्म-दर में वृद्धि हुई है वहीं अब मृत्यु-दर में कमी हुई है। भारत में इस सदी के प्रारम्भ मे मृत्यु-दर भी 43 प्रति हजार के लगभग थी, जो अब घटकर 14.8 प्रतिहजार रह गई है— प्रमुख रूप से निम्नलिखित कारण मृत्यु-दर में कमी के हो सकते हैं—

1. विज्ञान के विस्तृत ज्ञान के परिणामस्वरूप मानव ने अकाल, बाढ़ व सूखा जैसी विनाशकारी प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण पा लिया है , जिसके कारण मृत्यु-दर में गिरावट आई है।

2. शारीरिक व्याधियाँ, जैसे — हैजा, प्लेग, मलेरिया व चेचक जैसी बीमारियाँ प्राणघातक बीमारियो की रोकथाम के साधनों की उपलब्धता के कारण मृत्यु-दर में कमी आई है।

3. चिकित्सा सुविधाओ में वृद्धि व सरकार के पर्याप्त प्रयासों के कारण शिशुओ की मृत्यु-दर कम हुई है। अनेक टीके, दवाएँ आदि की जानकारी सचार माध्यमों द्वारा समय-समय पर प्रसारित होने से लोगों मे जागरूकता बढ़ी है।

4. शिक्षा का प्रसार भी स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता का कारण रहा है इससे मृत्यु-दर कम हुई है। इस प्रकार अनेक सरकारी एवं निजी प्रयासो से, स्वास्थ्य कार्यक्रमों की सहायता से, चिकित्सा सुविधाओं के प्रसार से तथा आवागमन आदि के साधनों के परिणामस्वरूप मृत्यु-दर में कमी आई है।

शिशु मृत्यु-दर मे गिरावट— सन् 1921 के पश्चात् न केवल बाल व युवा मृत्यु-दर में गिरावट आई है, बल्कि शिशु मृत्यु-दर भी कम हुई है— शिशु से सम्बन्धित आकड़ों से स्पष्ट होता है कि 1921 की अवधि में औसत शिशु मृत्यु-दर 220 के लगभग थी और 1980 के दशक में यह लगभग 123 प्रति हजार है। शिशु मृत्यु-दर मे भारी गिरावट आई है। इससे प्रत्याशित-आयु में भी वृद्धि हुई है। सन् 1921 से 30 की अवधि में जहाँ एक बालक केवल 27 वर्ष जीवित रहने की आशा कर सकता था, वहीं अब भारत मे जीवित रहने की आयु लगभग 53.5 वर्षों तक पहुँच गई है।

पूर्वोक्त सम्भावनाओ के आधार पर निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि जनसंख्या वृद्धि का कारण मृत्यु-दर मे कमी का होना है किन्तु जन्मदर मे जब तक गिरावट नही लाई जायेगी, तब तक

7. परिवार कल्याण को बढ़ावा देने के लिए स्वयंसेवी संस्थाओं का प्रयोग करना।

8. परिवार कल्याण कार्यक्रमों के लिए सरकार, स्वीकृत स्थानीय निकाय व स्वयंसेवी संगठन आदि को दान के रूप में दी जाने वाली राशि पर आय-कर में छूट देना।

9. राज्य सरकारों को दी जाने वाली केन्द्रीय सहायता का 8% परिवार कल्याण के कार्यों पर व्यय करना।

10. भारत सरकार व राज्य सरकारों के सभी मन्त्रालयों एवं विभागों को परिवार कल्याण कार्यक्रम से सम्बद्ध करना।

11. गर्भ-निरोध व प्रजनन जीव-विज्ञान में अनुसंधान कार्य पर बल देना।

12. राज्यों में परिवार कल्याण कार्यक्रम का गठन और सावधानीपूर्वक प्रचार तथा केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल द्वारा स्थिति की समीक्षा करना।

छठी पंचवर्षीय योजना में पुन: इसके सम्बन्ध में योजनाएँ बनाई गईं। इस योजना मे 1,010 करोड रुपये व्यय करने का प्रावधान परिवार नियोजन पर प्रस्तावित हुआ। इस समय मुख्य लक्ष्य इस प्रकार रखे गए—

1. परिवार के 4.2 बच्चों के औसत आकार को घटाकर 2.3 बच्चे करना।

2. 21 प्रतिहजार जन्म-दर का स्तर करना।

3. 9 प्रति हजार मृत्यु-दर करना।

4. 36.56% दम्पत्तियों को सुरक्षित करना।

5. 22 करोड स्त्री-पुरुषों के बन्ध्याकरण ऑपरेशन करना तथा 11 करोड़ लोगों को परिवार नियोजन के साधन उपलब्ध कराना।

सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) में परिवार कल्याण कार्यक्रम पर 3,120.4 करोड़ रुपये खर्च किए गये थे। 42% गर्भधारण करने वाले दम्पत्तियो को सुरक्षा प्रदान करने का अनुमान है। सन् 2000 तक जन्म-दर 21 प्रति हजार, मृत्यु-दर 9 प्रति हजार, शिशु मृत्यु-दर 60 प्रति हजार, प्रत्याशित आयु 64 वर्ष तथा कारगर दम्पति सुरक्षा दर 60% होने की सम्भावना है। देश में मार्च 1991 तक सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द 1,923; प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र 20,059 तथा उपकेन्द्र 1,30,978 परिवार कल्याण सुविधाएँ प्रदान करने के लिए खोले जा चुके थे।

परिवार कल्याण कार्यक्रम की प्रगति

परिवार कल्याण कार्यक्रम की प्रगति को निम्नलिखित पक्षों के आधार पर देखा जा सकता है—1. **बन्ध्याकरण** — बन्ध्याकरण कार्यक्रम के अन्तर्गत सन् 1976-77 में 26.7 लाख बन्ध्याकाण हो चुके थे, वहीं सन् 1977 के पश्चात् 82.6 लाख ऑपरेशन किए गए। 1980 में ही 17.40 लाख बन्ध्याकरण किए गए। इस प्रकार इस ओर अधिक कार्य हुआ है। मार्च 1982 तक कुल 361.8 लाख ऑपरेशन किए जा चुके थे। बन्ध्याकरण कार्यक्रम के अन्तर्गत 1983 तक 402.4 लाख बन्ध्याकरण किए गए और इसके बाद भी इस ओर प्रगति दिखाई दे रही है। मार्च, 1992 तक 8.08 करोड़ नसबन्दी ऑपरेशन किए जा चुके हैं।

2. लूप तथा निरोध — लूप का प्रयोग चतुर्थ पचवर्षीय योजना से ही विशेष रूप से किया जाने लगा था। सन् 1975-76 मे 6.1 लाख और सन् 1976-77 मे 5 लाख 80 हजार लूप प्रयुक्त हुए। सन् 1980 में 6 2 लाख व 1983 तक 106 लाख लूप लगाए जा चुके है। इस प्रकार लूप की दर इस समय तक 19.9 प्रति सहस्त्र रही है।

निरोध का प्रयोग सन् 1976-77 की अवधि में 9 8 करोड़ हो चुका था। उसके बाद सन् 1982-83 की अवधि में 12 उपभोक्ता सामग्री विपणन कम्पनियों द्वारा 4.15 लाख से अधिक खुदरा दुकानों के माध्यम से चलाई जा रही योजना के अन्तर्गत 24.12 करोड निरोध बेचे गये। मुफ्त वितरण की योजना के अन्तर्गत 17.28 करोड निरोध, 938 डायफ्राम, 42,291 जैली-क्रीम ट्यूब तथा 9,270 फोम की टिकियाएँ बाँटी गईं। मार्च 1992 तक 4.7 करोड़ आई.यू डी. इनसर्शन किये हैं।

3. खाने की गर्भ-निरोधक गोलियाँ— गर्भ निरोधक गोलियो का वितरण शहरी केन्द्रो, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों तथा स्वैच्छिक सस्थाओं द्वारा किया गया तथा लोगो ने इसका पालन भी किया है। वर्तमान में 4,719 ग्रामीण व 2515 शहरी केन्द्रों व अस्पतालों द्वारा इन गोलियो का वितरण किया जा रहा है। 1991-92 में 30 लाख जनसख्या इसका प्रयोग कर रही थी।

4. विशेष योजनाएँ— विशेष योजनाओं के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में तीन योजनाएँ प्रमुख रूप से परिवार कल्याण के अन्तर्गत कार्यरत है — (1) अखिल भारतीय अस्पताल प्रसवोत्तर कार्यक्रम, (2) बंध्याकरण शय्या योजना, तथा (3) बन्ध्याकरण तथा गर्भ-समापन सुविधा के लिए प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रो का नवीनीकरण करना।

अखिल भारतीय प्रसवोत्तर कार्यक्रम 554 अस्पतालो मे चलाया जा रहा है। सन् 1982-83 की अवधि मे इस कार्यक्रम का विस्तार 50 उपजिला अस्पतालो मे किया गया तथा इसके अतिरिक्त छठी पचवर्षीय योजना में 350 उपजिला अस्पतालों का विस्तार किया जा रहा है।

बन्ध्याकरण और गर्भ-समापन सुविधाएँ ग्रामीण व अर्द्ध-शहरी क्षेत्रो के 275 उपजिला अस्पतालो के 1,650 बिस्तरो तथा 1,000 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रो में प्रदान की जा रही है। विभिन्न राज्यो मे 833 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रो को सुदृढ करने के प्रयास साथ-साथ किये जा रहे है। केन्द्रों की पुनरुद्धार योजनाओं के अन्तर्गत विभिन्न राज्यों के अन्य 833 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों के दृढीकरण के प्रयास भी किए जा रहे है।

स्वैच्छिक संगठनो, स्थानीय निकायों व सरकारी सस्थानो मे महिलाओ की बन्ध्याकरण की सेवाओ के प्रावधान के लिए शय्या योजना के अन्तर्गत 2,101 शैय्या लगाई जा रही है। 1983-84 की अवधि में स्वैच्छिक सगठनो मे 200 और बन्ध्याकरण शैय्या की वृद्धि का प्रस्ताव था।

5. गर्भ-समापन — सन् 1975-76 मे 2,06,710 सन् 1976-77 मे 3,12,754 तथा सन् 1980-81 में 3,85, 749 गर्भपात किए गये थे। सन् 1982-83 मे 4,09,296 गर्भपात किए गये थे। इसकी सुविधा के लिए अच्छे उपकरणों से सुसज्जित/अनुमोदित अस्पतालो में पूर्ण प्रशिक्षित डॉक्टरो द्वारा चिकित्सकीय गर्भपात किए जा रहे है। इस कार्य के प्रारम्भ होने से अब तक कुल 28,09,817 गर्भपात किए जा चुके है। इस कार्य के लिए विभिन्न चिकित्सा- महाविद्यालयो एव अस्पतालो में 60 से अधिक प्रजनन विशेषज्ञो को विश्व स्वास्थ्य सगठन (W.H O) के द्वारा

आधुनिक तक्नीकी प्रशिक्षण दिया गया है। भारत में 16 केन्द्रों पर इस सम्बन्ध में अनुसंधान व्यवस्था है।

6. प्रेरणा एवं शिक्षा—परिवार कल्याण का उद्देश्य 12 करोड़ प्रजनन योग्य दम्पत्तियों तक परिवार नियोजन से सम्बन्धित जानकारी प्रदान करना है जिससे वे इस ओर जागृत रहकर अपने परिवार को सीमित रख सकें। इसके लिए परिवार कल्याण विभाग द्वारा पुस्तिकाएँ,पत्रिकाएँ, फ़ोल्डर आदि को नेताओं व कार्मिकों को सीधे ही भेजा जाता है, रेडियो, समाचारपत्र, फिल्म, दूरदर्शन, नाटक, एकांकी व गीत आदि के द्वारा भी इसका प्रचार किया जा रहा है। स्कूलों, कॉलेजों व प्रौढ़-शिक्षा केन्द्रों के कार्यक्रमों में परिवार कल्याण कार्यक्रम को सम्मिलित किया गया है।

नवीन बीस सूत्री कार्यक्रम में भी परिवार कल्याण से सम्बन्धित निम्नलिखित बातों पर विशेष आग्रह रखा गया है—

(1) परिवार नियोजन को स्वैच्छिक आधार पर सार्वजनिक अभियान के रूप में चलाया जाए।

(2) महिलाओं एवं बच्चों के कल्याण कार्यक्रम को और तीव्रता से किया जाए।

(3) सामान्य प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा-सुविधाओं में अधिकाधिक वृद्धि की जाए तथा कुष्ठ, क्षय रोग एवं अन्धता को नियन्त्रित करने के उपाय किए जायें।

(4) 6 से 14 वर्ष तक के बालकों के लिए प्राथमिक शिक्षा की व्यापक व्यवस्था की योजना की जाए।

परिवार-कल्याण का सम्बन्ध जनसंख्या नियन्त्रण से है और जनसंख्या पर नियन्त्रण सम्पूर्ण विश्व की दृष्टि से हितकारी है अत. अब परिवार कल्याण को विभिन्न पक्षों की दृष्टि से देखने का प्रयास किया जायेगा।

जनाधिक्य के प्रभाव (समस्याएँ)

1. आर्थिक—परिवार कल्याण कार्यक्रम का प्रभाव आर्थिक स्तर पर प्रत्यक्षत: दिखाई देता है। आर्थिक दृष्टि से भारत में परिवार-कल्याण अत्यावश्यक है क्योंकि बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण देश मे निर्धनता व बेरोजगारी की समस्या अत्यधिक जटिल हो गई है। यह वृद्धि भारत की खाद्य-समस्या व राष्ट्रीय आय को प्रत्यक्षत: प्रभावित कर रही है। जिस रूप में राष्ट्रीय आय में औसत वार्षिक वृद्धि होती है, उसी अनुपात में प्रति व्यक्ति आय बहुत कम हो पाती है, अर्थात् राष्ट्रीय आय की वृद्धि जनसंख्या वृद्धि के कारण प्रभावी नहीं रह पाती। उसी प्रकार खाद्य समस्या भी ज्यों की त्यों बनी हुई है जबकि अनेक सरकारी व गैर-सरकारी प्रयासों से खाद्यान्नों में प्रतिवर्ष वृद्धि हो रही है। यह जनसंख्या वृद्धि न केवल खाद्य व आय को प्रभावित कर रही है, बल्कि व्यक्ति के रहन-सहन पर भी इसका प्रभाव पड़ा है। बड़े नगरो की स्थिति इस रूप मे अधिक शोचनीय है। दिल्ली में 63%; बम्बई में 72.3%; मद्रास में 67.5%; कलकत्ता में 72%; कानपुर में 62% व्यक्ति केवल एक कमरे में रहते है। तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण आवास की समस्या गम्भीर रूप से बढ़ रही है, इससे रहन-सहन के स्तर पर विपरीत प्रभाव पड़ रहा है।

अत: यदि खाद्य, बेरोजगारी व आवास आदि की समस्या पर नियन्त्रण पाना है तो इसके लिए आवश्यक है कि जनसंख्या को सीमित रखा जाए। जनसंख्या को परिवार नियोजन के माध्यम से

सीमित किया जा सकता है। सारांशतः परिवार नियोजन आर्थिक विकास को पूर्णतया प्रभावित करता है।

2. सामाजिक— परिवार -कल्याण का प्रभाव सम्पूर्ण समाज पर पड़ेगा व समाज का उत्थान व विकास भी होगा यदि परिवार में कम बच्चे होंगे, तो सबको उचित मात्रा मे भोजन, रहन-सहन व स्वास्थ्य मिलेगा, इससे पारिवारिक शांति बनी रहेगी। कलह, संघर्ष, तनाव और परेशानियाँ नहीं होंगी। प्रत्येक सदस्य को अपनी आत्मिक उन्नति के अवसर प्राप्त हो सकेंगे। स्त्रियाँ भी समाज में अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखने में सफल हो सकेंगी। उन्हें केवल सन्तानोत्पत्ति का माध्यम ही नहीं माना जा सकेगा, और जब सब प्रकार से सबका उदय होगा तो इससे समाज का उदय स्वतः ही होगा। इस प्रकार समाज की दृष्टि से परिवार-कल्याण अति महत्त्वपूर्ण है। जनसंख्या वृद्धि के कारण ऐसा नहीं हो पा रहा है।

3. राजनैतिक — परिवार-कल्याण राजनैतिक दृष्टि से भी श्रेयस्कर है। यदि देश में व्यक्तियों का आर्थिक स्तर उन्नत होगा, सबको आवास मिलेगा, आय के स्रोत सबके लिए उन्मुक्त रहेंगे, खाद्य समस्याएँ व्यक्ति को व्यथित नहीं करेंगी, बेरोजगारी नहीं होगी और लोगों का स्वास्थ्य ठीक होगा तो राजनैतिक दृष्टि से भी उथल-पुथल नहीं होगी। राजनैतिक स्थिरता बनी रहेगी। परिवार का छोटा आकार स्वस्थ बालक को जन्म देता है और जब स्वस्थ सन्तान होगी तो स्वस्थ मस्तिष्क होगा। इससे बड़े होकर देश के स्वस्थ भावी नागरिक कहला सकेंगे। इस रूप में राजनैतिक कुशलता तभी आ सकेगी जब व्यक्ति सभी प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होंगे। इसके लिए परिवार का सीमित होना अत्यावश्यक है। जनसंख्या वृद्धि राजनैतिक प्रगति में बाधा है।

4. स्वास्थ्य की समस्याएँ— बालकों की स्वस्थ उत्पत्ति के लिए माता का स्वस्थ रहना आवश्यक है। न केवल उत्पत्ति, बल्कि उनका पालन-पोषण भी तभी सही रूप में हो सकता है जब माता स्वस्थ होगी। बार-बार के गर्भधारण से एवं दो बच्चों के बीच पर्याप्त अन्तर न रखने से माता का स्वास्थ्य खराब हो जाता है। जल्दी-जल्दी स्त्री को गर्भवती बनने देने का अर्थ माँ और बच्चा दोनों के साथ अन्याय करना है। महिलाओं में प्रायः खून की कमी, कमजोरी आदि का कारण पुनः पुनः प्रजनन है।

उपर्युक्त वर्णित परिवार-कल्याण के विविध पक्षों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि जनसंख्या वृद्धि से अनेक समस्याओं की उत्पत्ति होती है। यह कुपोषण, खाद्य-समस्या, मूल्य वृद्धि, बेरोजगारी, आवास-समस्या, अशिक्षा, आर्थिक ह्रास, गिरता जीवन स्तर, पारिवारिक विघटन एवं निर्धनता जैसी अनेक समस्याओं की जन्मदात्री मानी जा सकती है। अतः जनसंख्या वृद्धि को नियंत्रित करना परमावश्यक है।

परिवार कल्याण के मार्ग में बाधाएँ

भारत में परिवार-कल्याण कार्यक्रम को प्रारम्भ हुए अनुमानतः 40 वर्ष व्यतीत हो गए। विभिन्न योजनाओं द्वारा इस पर पर्याप्त धनराशि व्यय की जा चुकी है। अनेक संस्थाएँ इस ओर प्रयासरत हैं किन्तु इसमें आशातीत सफलता नहीं मिल पा रही है। इसका कारण है कि परिवार-कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रमों को लोगों द्वारा स्वेच्छा से अपनाया नहीं जा रहा है। केवल सरकारी प्रयासों

से कोई योजना तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक जनता का सहयोग उसे प्राप्त न हो। परिवार-कल्याण के कार्य की सफलता में भी अनेक बाधाएँ हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(I) धार्मिक बाधाएँ—परिवार-कल्याण के बीच आने वाली सबसे बड़ी बाधा धर्म है। सभी धर्म-सम्प्रदाय संतति-निरोध को अधार्मिक कृत्य कहकर उसका विरोध करते हैं। सभी धर्मों के मत में विवाह एक पवित्र धार्मिक संस्कार है और सन्तानोत्पत्ति इसका सबसे बड़ा उद्देश्य है। विभिन्न धर्मों में इसकी व्याख्या अलग-अलग है किन्तु सार एक ही है— उदाहरणार्थ—

1.1 परिवार-कल्याण और हिन्दू धर्म— हिन्दू धर्म में व्यक्ति के जीवन को चार भागों में बाँट दिया गया है जिसे आश्रम-व्यवस्था कहा जाता है। ये आश्रम चार हैं — (1) ब्रह्मचर्याश्रम, (2) गृहस्थाश्रम, (3) वानप्रस्थाश्रम, एवं (4) संन्यासाश्रम। प्रत्येक आश्रम की आयु 25 वर्ष मानी गई है- अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम जन्म से 25 वर्ष, 25 से 50 वर्ष तक गृहस्थाश्रम, 50 से 75 वर्ष तक वानप्रस्थाश्रम एवं 75 से मृत्युपर्यन्त संन्यासाश्रम को माना गया है। चारों आश्रमों के द्वारा हिन्दू धर्म में चार पुरुषार्थों की प्राप्ति की जाती है। ये पुरुषार्थ हैं— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। ये पुरुषार्थ ही मनुष्य जीवन का सार हैं। ब्रह्मचर्याश्रम में 25 वर्ष बिताने के पश्चात् व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है जहाँ वह विवाह करके सन्तानोत्पत्ति करता है और पाँच ऋणों (देवऋण, पितृऋण, ऋषिऋण, अतिथि ऋण और नृऋण) से मुक्ति पाता है। पितृऋण व्यक्ति तभी चुका सकता है जब पुत्रोत्पत्ति हो क्योंकि पुत्र ही पिता को मुक्ति दिलाता है। हिन्दू धर्म में श्राद्ध, तर्पण आदि का पवित्र कार्य पुत्र द्वारा ही किया जाता है। यदि किसी व्यक्ति के पुत्र नहीं है तो उसे मोक्ष नहीं मिल सकती। इसी से पुत्र प्राप्ति की महत्ता स्पष्ट होती है। इस मान्यता के आधार पर लोग विवाह व पुत्र जन्म को आवश्यक मानते हैं किन्तु सन्तति- निग्रह को अच्छा माना जाता है, अथवा कम से कम 10 बच्चों तक की अनुमति वेदों द्वारा भी देय है। अत: धार्मिक व्यक्तियों पर इसका प्रभाव रहता है। वेद, उपनिषद् व मनुस्मृति में पुत्र-प्राप्ति को आवश्यक माना गया है।

ऋग्वेद में कई स्थानों पर एक ही सन्तानोत्पत्ति को धर्म माना गया है किन्तु पुत्र-जन्म के बिना मोक्ष नहीं है। इस पर सभी वेद, उपनिषद, स्मृतियाँ आदि एकमत है।

भारत में जनसंख्या वृद्धि का कारण यही है कि हिन्दू धार्मिक मान्यतानुसार उत्तराधिकारी के रूप में पुत्र जन्म अनिवार्य माना गया है। यदि इस मान्यता को अनिवार्य न मानें तो जनसंख्या वृद्धि पर नियन्त्रण किया जा सकता है। हिन्दू धर्म की यह मान्यता सबसे बड़ी बाधा है।

1.2. परिवार कल्याण और मुस्लिम धर्म—हिन्दू धर्म के समान ही मुस्लिम धर्म में भी परिवार कल्याण को मजहब के खिलाफ माना गया है। इस्लाम धर्म की यह मान्यता है कि जब खुदा के बन्दे शादी करते है, तो वे इस्लाम धर्म में आधे पारगत हो जाते है। इस्लाम धर्म के अनुसार खुदा बन्दे से कहता है कि " विवाह करो तथा वंशवृद्धि करो, ताकि अन्य जातियों की अपेक्षा अपनी जाति को तथा मुझे गौरव प्राप्त हो सके।" इस्लाम धर्म के अनुसार सर्वोत्तम मनुष्य वही है जिसकी अधिक से अधिक पत्नियाँ हों। इसी से इस्लाम धर्म मे बहु-पत्नी विवाह प्रचलित है।

इस्लाम धर्म की मान्यतानुसार जन्म, विवाह, तलाक, दहेज आदि से सम्बन्धित समस्याएँ शरीअत तथा फिक्र द्वारा सुझाई जाती हैं। यदि कोई शंका उत्पन्न हो जाती है तो मुसलमान व्यक्ति मुल्ला और काजी से पूछकर उसका समाधान कर लेता है। इसी सम्बन्ध में जब मुल्ला से राय माँगी

कि दो बच्चों के जन्म के मध्य कितना अन्तर होना चाहिए अथवा क्या गर्भ-निरोधक उपाय अपनाने चाहिये जिससे पैदा होने वाली संतान के बोझ से माँ-बाप के स्वास्थ्य पर तथा परिवार की आर्थिक स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। इसमें सुझाव दिया गया कि पति-पत्नी परस्पर विचार करके निर्णय ले सकते है। इस रूप में इस्लाम में परिवार-कल्याण मजहब के खिलाफ नहीं माना गया है। यह मान्यता जब तक मुसलमानो में नहीं होगी तब तक जनसंख्या वृद्धि पर रोक नहीं लग सकती।

यद्यपि आज उनकी मान्यताओं में थोडा परिवर्तन आया है और वे भी परिवार -कल्याण की ओर प्रवृत्त होने लगे हैं फिर भी इस्लाम धर्म की मान्यता परिवार-कल्याण की सबसे बड़ी बाधा है।

1.3. परिवार कल्याण और रोमन कैथोलिक धर्म— परिवार -कल्याण के विषय में रोमन कैथोलिक धर्म की भी यही मान्यता है कि सतति-निग्रह ईश्वर तथा प्रकृति के नियम के विपरीत है, अत. जो लोग ऐसा कृत्य करते हैं, वे भयंकर पाप करते हैं। रोमन कैथोलिक धर्म के अनुयायियों के अनुसार परिवार-कल्याण के साधनों द्वारा परिवार को नियोजित करना जघन्य अपराध है। किन्तु रोमन कैथोलिक धर्म का विरोध परिवार-कल्याण के साध्य से नहीं है, साधन से है। इसका अर्थ है कि ये लोग परिवार- कल्याण को नैतिकता, स्वास्थ्य व आर्थिक दृष्टिकोण से आवश्यक समझते है, किन्तु इस कार्य के लिए गर्भ-निरोधक साधनों की अपेक्षा 'आत्म-सयम' को अधिक महत्व देते है। इस प्रकार रोमन कैथोलिक धर्म भी परिवार-कल्याण को स्वेच्छया स्वीकार नही करता। यह एक बडी बाधा है।

यद्यपि वर्तमान मे इसमे काफी परिवर्तन हो रहे है, इससे भविष्य के लिए अच्छी सम्भावनाएँ दिखाई दे रही है।

(II) परिवार कल्याण और नैतिक बाधाएँ— नैतिकता की दृष्टि से भी जन-साधारण की मान्यता है कि सतति-निग्रह करना पाप है, किन्तु बदलते संदर्भ मे इन मान्यताओ का खडन हो रहा है। जो कार्य प्राचीन समय मे उचित था, आज की मान्यताओ मे उसका खडन किया जाता है, जैसे—सती प्रथा, बहुपत्नी विवाह आदि उस समय कभी मान्य रहे होंगे, किन्तु आज इनका विरोध किया जाता है। उसी प्रकार परिवार- कल्याण भी वयोवृद्ध लोगो के मत मे अनैतिक कर्म हो सकता है किन्तु समाज की दृष्टि से इसका पालन करना हितकर है।

अत. नैतिकता भी परिवार-कल्याण की बड़ी बाधा है। ग्रामवासी आज भी परिवार-कल्याण को प्रकृति के कार्यों मे मानव द्वारा किया जाने वाला हस्तक्षेप मान कर इसे अनैतिक व अप्राकृतिक कृत्य मानते है। फिर भी अनेक प्रयासों के कारण मान्यताओं मे बदलाव आ रहा है।

(III) आर्थिक बाधाएँ—अनेक शोधो से यह परिणाम निकलता है कि प्राय निम्न वर्ग अथवा निर्धन व्यक्तियो के परिवारों में बच्चो की अधिकता होती है और जैसे-जैसे उच्च वर्ग की ओर व्यक्ति जायेगा, वहाँ सतति-निग्रह मिलेगा। इस प्रकार गरीब और गरीब होता जाता है। इसका कारण यह है कि निम्न वर्ग मे हर व्यक्ति आय का स्रोत होता है अत जितने अधिक बच्चे होंगे उतना ही परिवार का जीवनयापन श्रेष्ठतर होगा, इस कारण से वे सतति- निग्रह के पक्ष मे नहीं है। यह एक

बड़ी बाधा है। इस ओर प्रयास करने की आवश्यकता है, जिससे वे परिवार-कल्याण कार्यक्रम को अपनाकर अपना आर्थिक स्तर उन्नत करें तथा जनसंख्या वृद्धि को रोकें। इसके लिए उन्हे परिवार-कल्याण के साधन उपलब्ध कराये जाने चाहिये तथा उनमे परिवार-कल्याण के प्रति सकारात्मक मानसिकता जागृत करनी चाहिए।

(IV) सामाजिक बाधाएँ— परिवार-कल्याण का विरोध सामाजिक परम्पराओं के कारण भी लोगो द्वारा किया जाता है। प्राचीन परम्परा को मानने वालो की यह धारणा है कि जितने अधिक बच्चे होंगे, उतनी ही परिवार की शक्ति व संगठन दृढ होगा। एक बच्चे का क्या भविष्य ? इसलिए परिवार की सुरक्षा की दृष्टि से अधिक बच्चे होने आवश्यक है। इसके अतिरिक्त एक और कारण परिवार-कल्याण न अपनाने का है। वह यह है कि लोगो की धारणा है कि इससे समाज मे अनैतिकता व चारित्रिक दुराचरण को बढ़ावा मिलेगा। क्योंकि जब लोगों को अवैध सन्तानोत्पत्ति का भय ही नही रहेगा तो समाज मे दुराचारो को बढावा मिलेगा। इससे सामाजिक व्यवस्था बिगड़ जायेगी।

किन्तु उपर्युक्त दोनो कारण आज निरर्थक प्रतीत हो रहे हैं, क्योंकि परिवार के कल्याण व सुरक्षा का उद्देश्य, जो प्राचीन समय में था, अब राष्ट्र से सम्बन्धित हो गया है। भाग्यवादिता का दृष्टिकोण भी अब धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। 'बच्चे भगवान की देन हैं' अनपढ लोगो की यह धारणा भी परिवार- कल्याण के प्रचार-प्रसार के फलस्वरूप समाप्त हो रही हैं। साथ ही दुराचार के विकसित होने का भय भी अब नही रहा है, क्योंकि परिवार-कल्याण ने तो ऐसी अवैध सन्तानों से मुक्ति दिलाई है। दुराचार, पाप, अवैध सन्तान तो हर युग की देन है किन्तु आज परिवार-कल्याण के परिणामस्वरूप इसमे राहत मिलती है

इस प्रकार यद्यपि सामाजिक बाधाएँ भी परिवार-कल्याण को सफल नहीं होने देतीं, किन्तु भविष्य मे सामाजिक मान्यताओ मे बदलाव आयेगा और लोग परिवार-कल्याण की महत्ता को समझेंगे। इसके अतिरिक्त भी कुछ व्यावहारिक बाधाएँ परिवार-कल्याण को अपनाने में है, जैसे—

(V) परिवार नियोजन से सम्बन्धित कार्यकर्त्ता पूर्ण रूप से प्रशिक्षित नही है, अत: वे लोगों को तार्किक ढंग से समझाने मे अक्षम रहते है।

(VI) कभी-कभी बन्ध्याकरण के पश्चात् भी सन्तानोत्पत्ति हो जाती है, ऐसी स्थिति में दम्पत्ति के सम्बन्धो मे दरार पड़ जाती है; अत लोग इससे बचते हैं।

(VII) कुछ लोगो की यह मान्यता है कि बन्ध्याकरण के बाद वे शारीरिक श्रम करने में अक्षम हो जायेंगे अत जिन लोगो को शारीरिक श्रम करना आवश्यक है, जैसे— मजदूर व किसान आदि, वे परिवार-कल्याण के साधनों के विरोधी हो गए हैं। अत उन्हें सही जानकारी से अवगत कराने की आवश्यकता है।

(VIII) परिवार-कल्याण के लिए जो साधन उपलब्ध है, वे महँगे है अत. निर्धन वर्ग को उन्हें खरीदने मे कठिनाई होती है। साथ ही ये गर्भ-निरोधक के साधन सभी स्थानो पर सुगमता से नहीं मिलते। यह भी परिवार कल्याण के मार्ग में बड़ी बाधा है।

(IX) अशिक्षा भी एक प्रबल कारण है । पति-पत्नी दोनों को इन साधनों की पूर्ण जानकारी होनी चाहिए। इसके प्रभावों से अवगत होना चाहिए, तभी वे इन उपायों को अपना सकेंगे।

(X) इस कार्यक्रम को जन-जन तक नहीं पहुँचाया जा रहा है। विज्ञापनों का अभाव व कर्मचारियों की लापरवाही भी एक बड़ी बाधा है।

इस प्रकार उपर्युक्त अनेक बाधाओं के उपरान्त भी आज इस कार्य में प्रगति है। यदि भविष्य में सरकार व समाज दोनों मिलकर प्रयास करेंगे, दम्पत्तियों को सही जानकारी देंगे, उदासीनता का भाव नहीं रखेंगे तो आशा की जा सकती है कि भविष्य में इस दिशा में पूर्ण सफलता प्राप्त हो सकेगी और इससे जनसंख्या वृद्धि को रोका जा सकेगा।

परिवार नियोजन एवं जनसंख्या नियन्त्रण के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निराकरण— परिवार नियोजन कार्यक्रम को प्रारम्भ हुए अनेक वर्ष बीत गए। किन्तु इसमें पूर्ण सफलता अभी भी नहीं मिली। क्योंकि परिवार नियोजन से सम्बन्धित कार्यकर्त्ताओं की लापरवाही, प्रचार - विज्ञापनों का अभाव, परिवार कल्याण साधनों का स्तर न उतरना व उत्तरदायित्व की भावना के अभाव के परिणामस्वरूप ग्रामीण लोगों में उसके प्रति अधिक रोष है। किन्तु इन बाधाओं का निराकरण थोड़े से प्रयासों से किया जा सकता है। इसके लिए निम्नलिखित उपाय किए जा सकते हैं—

(1) शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार किया जाए जिससे लोग पढ़-लिखकर स्वेच्छा से परिवार-कल्याण कार्यक्रम को अपनाएँ और सन्तानोत्पत्ति कम करें। इससे जनसंख्या वृद्धि को रोका जा सकता है।

(2) विवाह की आयु बढ़ाने से भी प्रजननशीलता की दर को कम किया जा सकता है। यदि लड़कों के लिए यह आयु 24 वर्ष और लड़कियों के लिए विवाह की आयु 21 वर्ष कर दी जाये तो जन्म दर में कमी की जा सकती है।

(3) परिवार नियोजन के कार्यकर्त्ताओं को पूर्णतया प्रशिक्षित किया जाए और अच्छे कार्यकर्त्ताओं को पुरस्कृत किया जाए जिससे वे उत्साही होकर लोगों को सही जानकारी दें व उनके साथ आत्मीयता का व्यवहार करें।

(4) सुजनन कार्यक्रम प्रारम्भ किया जाये। सुजनन कार्यक्रम का अर्थ है कि शारीरिक एवं मानसिक रूप से विकलांग व्यक्तियों को सन्तानोत्पत्ति से वंचित रखा जाए जिससे जनसंख्या वृद्धि को रोका जा सके। अर्थात् अपाहिज, अल्प बुद्धि, पागल, विकृत मस्तिष्क वाले एवं रोगी व्यक्तियों को सन्तान-उत्पत्ति करने से रोका जाना चाहिए।

(5) बन्ध्याकरण कार्यक्रम में विशेष सतर्कता बरतनी चाहिये जिससे बन्ध्याकरण कराने के पश्चात् व्यक्ति पुनः सन्तानोत्पत्ति के योग्य न बन जाये।

(6) यद्यपि सरकार ने गर्भपात के नियमों में ढील दी है, इसे सरकारी मान्यता भी दी जा चुकी है, किन्तु इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि परिवार द्वारा गर्भपात के नियम [illegible] जाए। अर्थात् यदि परिवार में कोई महिला स्वेच्छा से गर्भ समापन कराना चाहती है तो [illegible]

लोगों के द्वारा स्थिति की गम्भीरता को स्वीकारते हुए इस कार्य के लिए उसे प्रोत्साहित किया जाना चाहिये। इससे जनसंख्या वृद्धि पर नियन्त्रण किया जा सकता है।

(7) परिवार नियोजन कार्यक्रम को अपनाने के लिए अधिकाधिक संख्या में लोगों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिये। इसके लिए जन-संचार माध्यमों, जैसे—टी.वी., रेडियो, समाचार-पत्र-पत्रिकाओं में अधिकाधिक विज्ञापन, नाटक, गीत आदि दिए जाने चाहिये। साथ ही गाँवों में घर-घर जाकर महिलाओं को इस रूप में सही जानकारी देनी चाहिये।

(8) कृषि व औद्योगिक उत्पादनों में नवीन वैज्ञानिक यन्त्रों आदि का प्रयोग किया जाना चाहिये, जिससे ग्रामीणों की इस प्रकार की भावना में कमी आयेगी कि, कृषि में बड़ा परिवार होना आवश्यक है और वे स्वयं ही धीरे-धीरे परिवार को सीमित रखने पर बल देने लगेंगे।

(9) बालक एवं बालिका के बीच के भेदभाव को समाप्त किया जाना चाहिये जिससे दम्पति लड़के की उत्पत्ति को अत्यावश्यक मानकर, सन्तान उत्पन्न करते ही न चले जाएँ, जब तक पुत्र प्राप्ति न हो।

(10) मातृ एवं कल्याण केन्द्रों की अधिकाधिक संख्या में स्थापना की जाए।

(11) गर्भ-निरोधक दवाओं को कम कीमत पर एवं सुगमता से उपलब्ध कराया जाए।

(12) परिवार नियोजन से सम्बन्धित वैज्ञानिक अनुसंधानों को बढ़ावा दिया जाए।

(13) कानूनी तौर पर भी परिवार को सीमित रखने का प्रयास किया जाए। इसके लिए सरकारी नौकरी मे लगे लोगो पर परिवार नियोजन से सम्बन्धित कुछ नियम लागू किए जा सकते हैं।

(14) सामाजिक सुरक्षा की योजनाएँ प्रारम्भ की जायें जिससे वृद्धावस्था, बीमारी, दुर्घटना व बेकारी जैसी स्थितियो में आर्थिक सुरक्षा प्रदान की जा सके। इससे व्यक्ति परिवार पर कम आश्रित रहेगा और उस स्थिति मे व्यक्तियो की मानसिकता मे बदलाव आएगा और जनसख्या वृद्धि पर नियन्त्रण किया जा सकेगा।

(15) धार्मिक रूढ़ियो, प्रथाओं व मान्यताओं मे बदलाव लाया जाए। इस कार्य के लिए साक्षरता अभियान सही उपाय है। इससे ग्रामवासियों की संकीर्ण मानसिकता में बदलाव आयेगा।

इस प्रकार अनेक प्रयासों से परिवार-कल्याण कार्यक्रम को रुचिकर बनाया जा सकता है, इसके महत्त्व को बढाया जा सकता है जिससे जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण रखा जा सके।

भारत में परिवार-कल्याण (परिवार नियोजन) कार्यक्रम का मूल्यांकन—सन् 1952 से सरकार द्वारा भारत में परिवार-कल्याण कार्यक्रम बहुत बड़े स्तर पर प्रारम्भ किया गया है। सरकार परिवार-कल्याण के उद्देश्यों को जनता तक पहुँचाने के लिए, उसे प्रोत्साहित करने के लिए युद्ध स्तर पर प्रयासरत है। इस कार्यक्रम पर पर्याप्त आर्थिक व्यय किया जा रहा है। भारत की जनसख्या नीति का आधार ही परिवार- कल्याण है। अत इस कार्यक्रम मे जनसख्या को कम करने वाले साधनो पर बल दिया जा रहा है जिससे जन्मदर मे कमी हो सके। अत इसकी सफलता के विषय मे

स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि भारत में कल्याण-कार्यक्रम कहाँ तक सफल रहा है ? भारत में परिवार-कल्याण कार्यक्रम की सफलता का मूल्यांकन निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर किया जा सकता है —

1. लक्ष्य प्राप्ति — परिवार-कल्याण साधनों के आँकड़ों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि अनेक योजनाओं में परिवार-कल्याण का जो लक्ष्य रखा गया है, जितनी आर्थिक सहायता राशि रखी गई है, उसके अनुपात में इसमें सफलता भी मिली है। उदाहरण के लिए सन् 1983 तक 15 से 44 वर्ष की 25.9% युवतियाँ परिवार-कल्याण के किसी साधन को अपनाकर संतानोत्पत्ति से बची थीं। मार्च 1992 तक 8.08 करोड़ नसबन्दी ऑपरेशन किये जा चुके हैं।

2 जन्मदर में गिरावट—सन् 1951-61 अवधि में जन्मदर 41.7 प्रति हजार थी और योजना आयोग के अनुसार 1991 की अवधि तक इसका अनुमानत: 27.0 प्रति हजार होना सम्भावित है। इससे स्पष्ट होता है कि जन्मदर में निरन्तर गिरावट आ रही है। यह परिवार-कल्याण कार्यक्रम की सफलता का प्रतीक है।

3. वृद्धि दर — सन् 1961 से 1971 तक जनसंख्या की अनुमानित वृद्धि दर 2.6% वार्षिक थी और 1971 से 1981 के मध्य 0.02% की वृद्धि इसमें हुई है। इसका अर्थ है कि भारत में परिवार-कल्याण कार्यक्रमों के प्रभाव के कारण जन्मदर में कमी आई है। यह एक आशान्वित कदम है।

4 जनसंख्या सम्बन्धी अनुसंधान —तृतीय पंचवर्षीय योजना के उपरान्त परिवार कल्याण-कार्यक्रम के क्षेत्र में अनुसंधान की दिशा में कदम उठाये जा रहे हैं। वर्तमान में 16 राज्यों में जनांकिकी अनुसंधान केन्द्र स्थापित है, जिनमें अनुसंधान कार्य हो रहा है। प्रजनन जीव विज्ञान व प्रजनन शक्ति नियन्त्रण के क्षेत्र में भी जैव चिकित्सीय अनुसंधान का कार्य भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद व राष्ट्रीय स्वास्थ्य केन्द्र व परिवार-कल्याण केन्द्र संस्थान में किया जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी विश्व स्वास्थ्य संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय बाल आपात कोष व संयुक्त राष्ट्र परिवार सहायता कोष आदि भारत को अनेक प्रकार से सहायता दे रहे है। इसमें जनसंख्या की विस्तृत जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

5.परिवार नियोजन के सम्बन्ध में विभिन्न वर्गों की रुचि— 1969 में इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ पब्लिक ओपीनियन के अनुसार निम्नलिखित आंकड़े परिवार-कल्याण नियोजन के सम्बन्ध में प्राप्त हुए हैं — (i) 72% व्यक्ति (नगरीय) तीन या इससे कम बच्चों को पसन्द करते है, 66% ग्रामीण तीन या इससे अधिक बच्चो को पसंद करते है। (ii) 85% विश्वविद्यालय डिग्री वाले व्यक्ति, 79% हायर सैकण्डरी पास लोग तथा 70% प्राथमिक स्तर तक शिक्षित व्यक्ति तीन या उससे कम बच्चो को पसन्द करते है। (iii) 21 से 35 वर्ष की उम्र के 72% व्यक्ति तथा 36 से 59 वर्ष के 65% व्यक्ति तीन या कम बच्चो को पसन्द करते हैं।

इसके बाद भी अनेक शोधें हो रही है जिनके परिणाम अभी प्रकाश में नहीं आए किन्तु अनुमानत अब सभी नगरीय जन दो बच्चे या एक बच्चा ही पसन्द करते है। यह भी परिवार-कल्याण कार्यक्रम की सफलता ही कही जा सकती है। अब लोगो की विचारधाराओं में काफी बदलाव आया है।

6. प्रचार -प्रसार का प्रभाव— परिवार कल्याण के अत्यधिक प्रचार-प्रसार के परिणामस्वरूप भी लोगों में परिवार को नियोजित करने के प्रति दृष्टिकोण बना है— इसके वातावरण की सृष्टि परिवार- कल्याण की सबसे बडी सफलता है।

7. गर्भपात को मान्यता— परिवार-कल्याण को लोकप्रिय बनाने के दृष्टिकोण से सरकार ने गर्भपात के नियमो में शिथिलता दी है। इसे वैधानिक मान्यता प्रदान करने से जनसामान्य पर अच्छा प्रभाव पडा है।

8. सुदृढ़ संगठनात्मक ढाँचा — परिवार-कल्याण का ढाँचा अब सुदृढ़ हो चुका है। अनेक विभागों की स्थापना की जा चुकी है जहाँ परिवार कल्याण से सम्बन्धित व स्वास्थ्य सम्बन्धित कार्य किये जा रहे हैं। यह सब परिवार-कल्याण कार्यक्रम की सफलता का द्योतक है।

जनसंख्या वृद्धि को रोकने के उपाय

भारत मे जनसंख्या वृद्धि को रोकने के उपायों मे परिवार नियोजन महत्त्वपूर्ण साधन है। परिवार को नियोजित करने का अर्थ है जनसंख्या को कम करना, अथवा परिवार को सीमित करना। अर्थात् परिवार नियोजन से आशय दो बच्चों के जन्म के मध्य उपयुक्त अंतर रखने से तथा कम संतान रखने से है।

1. शिक्षा का प्रसार—भारत में शिक्षा का स्तर अति निम्न है, और ग्रामो में इसका प्रतिशत बहुत कम है। इसी कारण अशिक्षित परिवार मे अधिक बच्चे उत्पन्न होते है। अत: यदि सभी को साक्षर बनाने का प्रयास किया जाये, तो इससे शिक्षित व्यक्ति परिवार नियोजन की वास्तविकता को समझेगे और कम सन्तानोत्पत्ति करेंगे,

2 विवाह की आयु में वृद्धि— जनसंख्या कम करने के लिए विवाह की आयु में वृद्धि की जानी अत्यावश्यक है। इससे प्रजननशीलता की दर कम होगी। यदि लड़कियों के लिए विवाह की आयु 21 वर्ष एव लड़को के लिए विवाह की आयु 24 कर दी जाए तो जन्मदर में अवश्य कमी आयेगी।

3 गर्भपात के नियमों में उदारता— गर्भपात को वैधानिक मान्यता देने के साथ-साथ इसके नियमों में और अधिक शिथिलता लाने की आवश्यकता है, जैसे — वर्तमान समय में कोई स्त्री कानूनन तभी गर्भपात करा सकती है, जब— (1) गर्भ धारण करना माँ व शिशु दोनों के स्वास्थ्य के लिए अहितकर हो, (2) जब सन्तान के अपंग होने की सम्भावना हो, तथा (3) जब लडकी के साथ जबर्दस्ती यौन सम्बन्ध स्थापित किया गया हो।

4. स्त्रियों की स्थिति में सुधार — सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि परिवार के वयोवृद्ध व सभी को अपनी मानसिकता में परिवर्तन लाना होगा, जैसे— 'पुत्र के बिना मोक्ष नहीं' जैसी धारणाएँ स्त्री को विवश करती है - स्त्री स्वय भी इसके लिए उत्तरदायी है अत: इन मान्यताओ मे बदलाव लाने की आवश्यकता है। इससे स्त्री की स्थिति मे सुधार होगा।

5. मनोरंजन—मनोरंजनों का अभाव भी व्यक्ति को निष्क्रिय बना देता है। इससे वे यौन सम्बन्धी आकर्षण को ही महत्ता प्रदान करने लगते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि ऐसे मनोरंजन

के साधन जो सस्ते हों, जनसाधारण की पहुँच के परे न हो— सरकार द्वारा उपलब्ध कराये जायें जिससे व्यक्ति बाह्य दुनियाँ मे रुचि लेना प्रारम्भ करे।

6. **प्रेरणा कार्यक्रम**— परिवार नियोजन कार्यक्रम की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि इसका प्रचार-प्रसार, बातचीत, भाषण, समाचार-पत्र, विज्ञापन आदि द्वारा अनौपचारिक एव औपचारिक दृष्टि से अधिकाधिक कराया जाए, जिससे लोगों के मनोमस्तिष्क में परिवार नियोजन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न हो।

7 **प्रोत्साहन कार्यक्रम**— भारत में भी अन्य देशों के समान परिवार नियोजन को अपनाने के लिए अनेक प्रोत्साहन दिए जा सकते है जिससे जनसंख्या पर नियन्त्रण हो सकेगा। यदि सरकारी व गैर- सरकारी नौकरियों मे एक या दो बच्चों का आदर्श स्थापित करने वालों को अतिरिक्त सुविधाएँ दी जाएँ तो इस समस्या पर नियत्रण समय रहते रखा जा सकता है।

8 **यौन शिक्षा**— परिवार नियोजन का क्या अर्थ है, यह किसके लिए है, इसका क्या परिणाम राष्ट्र के स्तर पर होगा आदि के सम्बन्ध मे विस्तार से जानकारी देने के लिए स्कूल, कॉलेजों मे यौन-शिक्षा एक विषय के रूप मे लागू की जा रही है। इस ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है, क्योंकि इस के लिए प्रशिक्षित अध्यापकों की आवश्यकता होती है। अत. प्रशिक्षण कार्यक्रम समय-समय पर चलाए जाने चाहिये जिससे बालकों को वे सही रूप में सम्बन्धित तथ्यों से अवगत करा सकें।

9 **परिवार नियोजन के साधन**— परिवार को नियोजित करने के लिए निम्नलिखित उपायों मे और तीव्रता लाई जानी चाहिए—

(i) **गर्भ-निरोधक साधनों को उपलब्ध कराना**-ग्रामीण समुदाय व निर्धन वर्ग मे गर्भ-निरोधक साधनो को नि:शुल्क व पर्याप्त मात्रा मे वितरित किया जाना चाहिये।

(ii) **बन्ध्याकरण के बाद सुरक्षा**— प्राय बन्ध्याकरण करने के पश्चात् लोगों मे कुछ न कुछ जटिलताएँ हो जाती है जिससे उनके स्वास्थ्य व मस्तिष्क पर बुरा असर पड़ता है। अत बन्ध्याकरण के उपरान्त व्यक्तियों की उचित देखभाल की जानी चाहिये जिससे वे न केवल स्वास्थ्य ही दृष्टि से, अपितु मानसिक दृष्टि से भी स्वय को सुरक्षित अनुभव करे।

(iii) **सतति निग्रह साधनो के विषय मे अनुसधान**— सतति निग्रह साधनो के विषय मे पर्याप्त शोध की आवश्यकता है। कौनसा साधन सर्वाधिक सरलता से प्रयुक्त हो सकता है तथा उसके कोई गलत प्रभाव नहीं होंगे ऐसे साधनों की और खोज की जानी चाहिये। परिवार नियोजन के तरीके सरल व सस्ते होने चाहिये।

(iv) **अधिक केन्द्रों की स्थापना**— परिवार-कल्याण से सम्बन्धित केन्द्र अधिकाधिक मात्रा मे खोले जाएँ जहाँ इनमें प्रशिक्षित व्यक्ति रखे जाएँ और आवश्यक चिकित्सा व देखभाल की अधिकाधिक श्रेयस्कर व्यवस्था की जाए। अधिकारी वर्ग लोगों मे आत्मीयता का व्यवहार करें।

(v) गोपनीयता— परिवार नियोजन से सम्बन्धित सभी तथ्य गुप्त रहने चाहिये क्योंकि यह विषय व्यक्ति के निजी जीवन से सम्बन्धित है इससे परिवार नियोजन की लोकप्रियता को बढ़ावा मिलेगा।

प्रश्न

1. भारत में अनियन्त्रित जनसंख्या वृद्धि या जनसंख्या विस्फोट के कारणों का उल्लेख कीजिये।
2. 'भारत में परिवार-कल्याण' पर एक निबन्ध लिखिए।
3. भारत की जनसंख्यात्मक संरचना का वर्णन कीजिए।
4. जनसंख्या सम्बन्धी माल्थस के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
5. परिवार-कल्याण के मार्ग मे आने वाली बाधाओं का उल्लेख कीजिए। इसके निराकरण के उपाय बताइये।
6. भारत मे परिवार-कल्याण कार्यक्रम का मूल्यांकन कीजिए।
7. राष्ट्रीय जनसंख्या नीति पर प्रकाश डालिये।
8. जनसंख्या वृद्धि को रोकने के उपायो पर प्रकाश डालिये।
9. भारत मे जनसंख्या -विस्फोट के प्रमुख कारण क्या हैं ? (दो पृष्ठों में)

(माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, अजमेर, 1994)

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नांकित के उत्तर दीजिये —
   (अ) 1991 की जनगणना के अनुसार भारत की कुल जनसंख्या क्या है ?
   (ब) 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में साक्षरता की दर क्या है ?
   (स) 1991 की जनगणना के अनुसार भारत का जनसंख्या-घनत्व क्या है ?
   (द) 1991 की जनगणना के अनुसार ग्रामीण जनसंख्या का प्रतिशत क्या है?
   (च) भारत का सबसे बड़ा शहर कौनसा है ?
   (छ) 1991 की जनसंख्या के अनुसार भारत मे लिंग अनुपात क्या है ?

   (मा.शि.बोर्ड, अजमेर, 1994)

   [उत्तर :- (अ) 84.39 करोड़, (ब) 52.21, (स) 267, (द) 74.3%, (च) बम्बई, (छ) 929 स्त्रियाँ प्रति हजार पुरुष]
2. निम्नांकित वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए—

   (मा.शि.बो.अजमेर, 1994)

   (क) चाणक्य ने .... नामक पुस्तक लिखी।
   (ख) माल्थस के अनुसार जनसंख्या का वृद्धि-क्रम ....है।

लघु- उत्तरीय प्रश्न

1. माल्थस का जनसंख्या का सिद्धान्त क्या है ?
2. जनसख्या का इष्टतम या आदर्श सिद्धान्त क्या है ?
3. राष्ट्रीय जनसंख्या नीति की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
4. नवशास्त्रीय सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।

अध्याय - 12

भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति एवं दिशा

(Nature and Direction of Social Change in India)

परिवर्तन प्रकृति का आवश्यक नियम है। इस संसार में प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। मानव समाज भी परिवर्तनशील है। आज तक कोई समाज ऐसा नहीं है जहाँ परिवर्तन न हुए हों। परिवर्तन किसे कहते हैं ? इसकी क्या विशेषताएँ होती हैं ? परिवर्तन क्यों होता है ? आदि अनेक प्रश्न हैं जिनका उत्तर खोजने का प्रयास विद्वान कर रहे हैं।

परिवर्तन का अर्थ किसी क्रिया या वस्तु की पूर्व की स्थिति में बदलाव आना है। समाजशास्त्री फिचर ने परिवर्तन को स्पष्ट करते हुए बताया है कि, "परिवर्तन पहले की अवस्था या अस्तित्व के प्रकार में अन्तर को कहते हैं।" परिवर्तन का सम्बन्ध वस्तु, समय एवं भिन्नता से है।

(1) वस्तु से तात्पर्य यह है कि परिवर्तन किस विषय अथवा वस्तु में आ रहा है, क्योंकि बिना वस्तु को बताए परिवर्तनों को स्पष्ट रूप से नहीं बताया जा सकता।

(2) परिवर्तन के लिए समय का अन्तराल होना आवश्यक है। एक ही समय में परिवर्तन को स्पष्ट नहीं किया जा सकता, जैसे—शिक्षा-पद्धति में बदलाव का अध्ययन करना है तो वैदिक-काल की शिक्षा की तुलना आधुनिक काल की शिक्षा से करके—शिक्षा में हुए परिवर्तन का अध्ययन कर सकते हैं।

(3) भिन्नता का अर्थ है विभिन्न समयों में वस्तु या विषय में भिन्नता का मिलना, क्योंकि यदि वस्तु के रूप में किसी प्रकार का अन्तर न आए तो परिवर्तन नहीं कहा जा सकता। परिवर्तन तो वस्तु के रूप, रंग, आकार, संरचना आदि में पूर्ण रूप से भिन्नता आ जाने पर माना जाता है। अतः परिवर्तन का सम्बन्ध भिन्नता से भी होता है।

परिवर्तन क्यों होता है ? इसके उत्तर में ग्रीन का मानना है कि प्रत्येक समाज असन्तुलन के दौर से गुजर रहा है। कुछ व्यक्ति सम्पूर्ण सन्तुलन की इच्छा रखते हैं तथा कुछ इसके लिए प्रयास करते हैं।

विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन को निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया है—

1. मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, "समाजशास्त्री होने के नाते हमारी रुचि सामाजिक सम्बन्धों में है। केवल इन सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन को ही सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।"

2. किंग्सले डेविस के मत में, *"सामाजिक परिवर्तन से हम केवल उन्हीं परिवर्तनों को समझते* हैं जो सामाजिक संगठन अर्थात् समाज के ढाँचे और प्रकार्यों में घटित होते हैं।" इस प्रकार डेविस ने सामाजिक परिवर्तन को पूर्णतः संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक दृष्टि से देखा है अर्थात् उनके मत में सामाजिक परिवर्तन तभी माना जाता है जब समाज की विभिन्न इकाइयों, जैसे—संस्थाओं, समुदायों, समितियों, समूहों आदि में परिवर्तन होता है तथा साथ ही इन परिवर्तनों से इनके प्रकार्यों में भी परिवर्तन आता है।

3. जेन्सन के मत में, *"सामाजिक परिवर्तन को लोगों के कार्य करने तथा विचार करने के* तरीकों में होने वाले रूपान्तरण के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"

4. जॉनसन के मतानुसार, "अपने मूल अर्थ में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन है।"

5. बोटोमोर के अनुसार, "सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत उन परिवर्तनों को सम्मिलित किया जा सकता है जो सामाजिक सरचना, सामाजिक संस्थाओं अथवा उननके पारस्परिक सम्ब न्धों में घटित होते हैं।"

6. गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, "सामाजिक परिवर्तन जीवन की मानी हुई रीतियों में परिवर्तन को कहते है। चाहे ये परिवर्तन भौगोलिक दशाओं में परिवर्तन से हुए हों या सांस्कृतिक साधनों, जनसंख्या की रचना या विचारधारा के परिवर्तन से अथवा समूह के अन्दर ही आविष्कारों के फलस्वरूप हुए हो।"

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि—

(1) सामाजिक परिवर्तन समाज की सरचना एवं उसके प्रकार्यों में परिवर्तन को कहते हैं।

(2) सामाजिक परिवर्तन व्यक्ति विशेष अथवा कुछ ही व्यक्तियो मे आए परिवर्तन से नही माना जाता, बल्कि समाज के अधिकांश अथवा सभी व्यक्तियो द्वारा उसे जीवन-विधि व विश्वासों मे स्वीकार किए जाने पर माना जाता है।

(3) सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक सत्य है अर्थात् प्रत्येक काल में परिवर्तन होता रहता है।

(4) सामाजिक परिवर्तन मानव के सामाजिक सम्बन्धों मे परिवर्तन से सम्बन्धित है।

सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ

विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तनों की अनेक विशेषताएँ बताई है जो इसकी अवधारणा को और अधिक स्पष्ट करती है। ये विशेषताएँ निम्नलिखित है—

1. सामाजिक प्रकृति— सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज में होने वाले परिवर्तन से होता है न कि व्यक्तिगत स्तर पर हुए परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहा जा सकता है। अर्थात् जब सम्पूर्ण समाज की इकाइयो, जैसे— जाति, समूह, समुदाय आदि के स्तर पर परिवर्तन आता है तभी उसे सामाजिक परिवर्तन की सज्ञा दी जाती है। किसी एक इकाई में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन नहीं कह सकते।

2. सार्वभौमिक प्रघटना— सामाजिक परिवर्तन सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक है। विश्व का कोई ऐसा समाज नहीं जहाँ परिवर्तन न हुआ हो। यद्यपि विभिन्न समाजो में परिवर्तन की गति एवं स्वरूप भिन्न हो सकता है।

3. स्वाभाविक एवं अवश्यम्भावी— परिवर्तन चूँकि प्रकृति का शाश्वत सत्य है, आवश्यक रूप से होता है अत यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया कहा जा सकता है। समाज भी स्वाभाविक रूप से परिवर्तित होता रहता है। प्राय. मानव स्वभाव परिवर्तन का विरोधी होता है लेकिन फिर भी परिवर्तन तो होता ही है क्योंकि व्यक्ति की आवश्यकताएँ, इच्छाएँ, परिस्थितियाँ स्वाभाविक रूप से परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होती हैं। उदाहरण के लिए, प्राचीन समय में मकानों की बनावट भिन्न प्रकार की होती थी लेकिन आधुनिक समय में जबकि सब काम के लिए मशीनो पर निर्भर रहना पड़ता है। स्वाभाविक रूप से ही मकानों के ढाँचे में बदलाव आ गया, जिसका आना अवश्यम्भावी था, अर्थात् मानव अपनी बदलती परिस्थिति से समायोजन करने के लिए अनिवार्य रूप से परिवर्तन को स्वीकार कर लेता है। यह एक स्वाभाविक घटना है।

4. तुलनात्मक एवं असमान गति— सामाजिक परिवर्तन सभी समाजो मे पाया जाता है किन्तु सभी समाजो में इसकी गति अलग-अलग होती है। सामाजिक परिवर्तन देश, काल, परिस्थितियों से भी घनिष्ठतया सम्बन्धित है अर्थात् हर देश की परिस्थितियाँ असमान होती है अत हर देश मे सामाजिक परिवर्तन भी असमान गति से होता है जिसे तुलनात्मक रूप से ही जाना जा सकता है। आदिम समाजों की तुलना में शहरी समाज मे सामाजिक परिवर्तन तीव्र गति से होता है। शहरी क्षेत्र में तकनीकी विकास आदिम क्षेत्र की तुलना मे तीव्र गति से हो रहा है। यहाँ हम दोनो समाजो मे हुए सामाजिक परिवर्तन की तुलना करके ही उनकी असमान गति का अनुमान लगा पा रहे है।

5. जटिल प्रघटना— दो समाजो में हुए परिवर्तनो की तुलना के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक परिवर्तन हुआ है किन्तु कितना या किस तरह का? इसकी माप-तोल सम्भव नही होती। उदाहरण के लिए आज के विचार, मूल्य, परम्पराएँ, रीतिरिवाज प्राचीन समय से भिन्नता लिए हुए हैं लेकिन कितना अन्तर है इसको मापा नहीं जा सकता क्योंकि परिवर्तन गुणात्मक रूप में होता है अत सामाजिक परिवर्तन की विशेषता ये है कि यह एक जटिल तथ्य है, सरलता से इसका रूप नहीं समझा जा सकता।

6. भविष्यवाणी सम्भव नहीं— परिवर्तन होता तो अवश्य है लेकिन वह किस दिशा मे होगा? किस रूप मे होगा? किस स्थान पर होगा? आदि स्पष्ट नही होता। उदाहरण के लिए तकनीकी विकास का प्रभाव सम्पूर्ण देश पर पड़ा है। रहन-सहन, भोजन-व्यवस्था, आवागमन, भौतिक सुख- सुविधा आदि अनेक क्षेत्र इससे प्रभावित है लेकिन व्यक्तियो के विचार, विश्वास, मूल्य किस सीमा तक इससे प्रभावित है और होंगे इसकी भविष्यवाणी करना कठिन है।

सामाजिक परिवर्तन एक प्रक्रिया के रूप में

विज्ञान मे 'परिवर्तन' एक तटस्थ शब्द है। अर्थात् परिवर्तन अच्छा-बुरा, विकास-ह्रास, दिशा, निरन्तरता या किसी सिद्धान्त को व्यक्त नहीं करता है। परिवर्तन मे तो समय के आधार पर केवल अन्तर देखा जाता है। जब परिवर्तन मे निरन्तरता का गुण समाहित हो जाता है तो उसे प्रक्रिया कहते है। मैकाइवर ने प्रक्रिया की परिभाषा देते हुए लिखा है, "प्रक्रिया का अर्थ वर्तमान शक्तियों की क्रियाशीलता द्वारा एक निश्चित रूप मे निरन्तर परिवर्तन से है।" निरन्तर सामाजिक परिवर्तन ही

सामाजिक उद्विकास और सामाजिक संरचना

सामाजिक उद्विकास द्वारा सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या हरबर्ट स्पेन्सर, टायलर मोगन आदि ने की है। स्पेन्सर ने कहा कि जिस प्रकार से जीवों का विकास सरलता से जटिलता, न्यून विभेदीकरण से अधिकतम विभेदीकरण तथा न्यूनतम निपुणता से अधिकतम निपुणता की ओर होता है उसी प्रकार से समाज, राज्य, धर्म आदि का विकास भी सरलता, न्यून विभेदीकरण तथा न्यून निपुणता से जटिलता, अधिकतम विभेदीकरण तथा अधिकतम निपुणता की ओर होता है। प्रारम्भ में समाज छोटे, सरल, सादा, सीधे, न्यून श्रम विभाजन वाले थे। धीरे-धीरे उनका आकार बड़ा हुआ, श्रम का विभाजन बढ़ा, विशेषीकरण आया, परस्पर निर्भरता बढ़ी, सहयोग करना आवश्यक हो गया तथा समाज, संस्कृतियाँ तथा इनके विभिन्न अंग एवं संस्थाएँ सरल से जटिल अवस्था मे परिवर्तित हो गईं। आदिम सरल समाज जटिल महानगर में परिवर्तित हुए। इसी प्रकार जंगली अवस्था से सभ्य अवस्था, संयुक्त परिवार से एकाकी परिवार, कामाचार से एक-विवाह, बाल-कला से प्रतीकात्मक कला, बहु-देवतावाद से एक-देवतावाद, आदि क्षेत्रों में उद्विकास परिवर्तन देखे गए। उद्विकास के सिद्धान्त द्वारा विद्वानों ने सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में परिवर्तन की व्याख्या की है। विद्वानों के अनुसार सामाजिक उद्विकास एकरेखीय न होकर बहुरेखीय है तथा सामाजिक परिवर्तन पुनः लौट भी सकता है। जीव जगत में उद्विकास के चरणो की पुनरावृत्ति नहीं होती है परन्तु सामाजिक परिवर्तन मे चरणों की पुनरावृत्ति हो सकती है। सामाजिक परिवर्तन में बाह्य कारक भी परिवर्तन को प्रभावित करते हैं। सामाजिक उद्विकास के द्वारा विद्वानो ने अनेक समाजों के परिवर्तन के रूपों तथा दिशा की निश्चित विधि से व्याख्या की है। उद्विकास की दृष्टि से भारतीय समाज एव संस्कृति तथा इसके विभिन्न प्रकरणों तथा संस्थाओ (जाति, परिवार, धर्म, विवाह, सभ्यता आदि) के परिवर्तन की सुनिश्चित तथा क्रमबद्ध व्याख्या एव मूल्यांकन किया गया है। विद्वानों ने उद्विकास की दृष्टि से भारतीय समाज तथा संस्कृति के परिवर्तन को– (1) पूर्व मुगल काल, (2) मुगल काल, (3) ब्रितानिया काल, और (4) उत्तर-स्वातन्त्र्य काल मे विभाजित करके अध्ययन किया है। सामाजिक उद्विकास के सिद्धान्त ने समाज एवं संस्कृति के अध्ययन को वैज्ञानिकता प्रदान की है। सर्वप्रथम इसी सिद्धान्त ने समाज तथा संस्कृति के अध्ययन को वैज्ञानिक बनाया।

(2) क्रान्ति

क्रान्ति सामाजिक परिवर्तन का ऐसा चरम स्वरूप है जिसका उद्देश्य सत्ताधारियों को झटका देना होता है या उनको सत्ता से हटाना होता है अथवा उनको जान से मार डालना होता है। क्रान्ति द्वारा विद्यमान सामाजिक व्यवस्था तथा सत्ता को उखाड़कर फेंक दिया जाता है। सामाजिक परिवर्तन के अन्य प्रकारो की तुलना मे क्रान्ति धीमी नही होती है। इसमे परिवर्तन की प्रक्रिया तीव्र होती है। इसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था मे आमूलचूल परिवर्तन लाना होता है। नकारात्मक दृष्टि से देखें तो क्रान्ति विद्रोह, गदर, बलवा, बगावत, सैन्य-द्रोह आदि नहीं होती है। क्रान्ति को समझने के लिए इसकी परिभाषाओ का अध्ययन आवश्यक है।

क्रान्ति का अर्थ एवं परिभाषा–

(1) हॉर्टन और हण्ट के अनुसार, "क्रान्तिकारी आन्दोलन वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को उखाड़ कर उसके स्थान पर एक बिल्कुल भिन्न व्यवस्था लाना चाहता है।"

(2) किम्बाल यंग के अनुसार, "क्रान्ति एक ऐसा आकस्मिक सामाजिक परिवर्तन है जो साधारणत वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था को बलपूर्वक उलट देने से घटित होता है और जिसके फलस्वरूप सामाजिक और कानूनी नियंत्रण के नए स्वरूपों की स्थापना होती है।"

(3) बोगार्डस के अनुसार, "सामाजिक क्रान्ति असद्भावना तथा रक्तपात की कीमत पर शक्तिशाली विप्लव पैदा करके अच्छे व बुरे दोनों प्रकार के मूल्यों को उखाड़ फेंकती है और विस्तृत सामाजिक पुनर्गठन की माँग करती है।"

(4) वर्थीम लिखते हैं, "मेरे अनुसार मूल कसौटी यह है कि क्रान्ति सदैव विद्यमान सामाजिक व्यवस्था और वर्तमान सत्ता संरचना को उखाड़ फेंकती है.... ."

उपर्युक्त परिभाषाओं से यही निष्कर्ष निकलता है कि "क्रान्ति समाज में आकस्मिक परिवर्तन करती है। इसमें बल का प्रयोग होता है। सामाजिक तथा कानून के नए स्वरूपों को स्थापित करती है। अच्छे-बुरे सभी मूल्यों को उखाड़ फेंकती है। इसमें रक्तपात द्वारा भी परिवर्तन हो सकता है।"

सामाजिक क्रान्ति की विशेषताएँ– सामाजिक क्रान्ति को समझने के लिए इसकी विशेषताओं का ज्ञान आवश्यक है, जो निम्नलिखित हैं–

(1) नव-सामाजिक व्यवस्था की स्थापना– क्रान्तिकारी पुरानी सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था तथा सत्ता को उखाड़ कर फेंक देते हैं तथा नई सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करते हैं।

(2) आमूल-चूल परिवर्तन– क्रान्ति के द्वारा समाज के विभिन्न पक्षों उप-व्यवस्थाओं तथा संरचना में आमूल-चूल परिवर्तन आता है।

(3) नेतृत्व में परिवर्तन– क्रान्ति का प्रमुख उद्देश्य नेतृत्व में परिवर्तन होता है। पुराने नेताओं तथा मुखियाओं को हटा कर नए नेता प्रमुख पदों पर आसीन होते हैं।

(4) सामाजिक असंतोष– क्रान्ति का प्रमुख कारण सामाजिक असन्तोष है। जब समाज में असंतोष बहुत बढ़ जाता है तथा उसे दूर करने के प्रयास नहीं किए जाते हैं तो समाज में क्रान्ति आती है।

(5) व्यापक क्षेत्र– जब समाज में क्रान्ति होती है तो शायद ही कोई क्षेत्र परिवर्तन से अछूता रह पाता है। क्रान्ति के द्वारा सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक आदि किसी भी क्षेत्र में आमूल-चूल परिवर्तन तेजी से होते हैं।

(6) तीव्र गति– क्रान्ति की सामाजिक परिवर्तन की गति तीव्र होती है। यह सामाजिक परिवर्तन के अन्य सभी प्रकारों से तीव्र परिवर्तन का प्रकार है।

(7) सामूहिक क्रिया– जब समाज में क्रान्ति होती है तो उसमें अनेक लोग भाग लेते हैं। सामूहिक रूप से प्रयास करने पर ही क्रान्ति सम्भव होती है। व्यक्ति विशेष क्रान्ति नहीं कर सकता है।

(8) लाभ-हानि दोनों- क्रान्ति के द्वारा पुराने सत्ताधारियों को हानि उठानी पड़ती है तथा क्रान्ति के सफल हो जाने पर क्रान्तिकारियों को अनेक लाभ (सत्ता में पद) मिलते हैं।

(9) हिंसात्मक/अहिंसात्मक— सामान्यतया क्रान्ति हिंसात्मक होती है परन्तु यह आवश्यक नहीं है। कई बार क्रान्ति अहिंसात्मक भी होती है, जैसे— गाँधी जी ने भारत को अहिंसात्मक क्रान्ति द्वारा स्वतंत्रता दिलाई थी।

(10) सचेत एवं जागरूक प्रयास— सचेत एवं जागरूक प्रयास क्रान्ति करने के लिए आवश्यक होते है। क्रान्ति अपने-आप कभी नहीं होती है।

भारत में सामाजिक क्रान्ति

भारत मे सामाजिक क्रान्ति हुई है अथवा नहीं ? इस सम्बन्ध में दो मत हैं। एक मत को मानने वाले विद्वान क्रान्ति मे हिंसा को एक आवश्यक तत्त्व मानते हैं। भारत में सामाजिक परिवर्तन अहिंसात्मक तथा शान्तिपूर्ण तरीकों से हुए हैं। परिवर्तन की गति भी धीमी रही है। जो विद्वान सामाजिक क्रान्ति में हिंसा, तीव्र गति, आमूलचूल परिवर्तन मानते हैं उनके अनुसार भारत मे सामाजिक क्रान्ति नही हुई है। परन्तु दूसरे मत को मानने वाले विद्वानों की मान्यता है कि भारत में सामाजिक क्रान्तियाँ हुई हैं। ऑगबर्न तथा निमकॉफ के अनुसार "संस्कृति में महत्त्वपूर्ण प्रकार के तीव्र परिवर्तन को क्रान्ति कहते हैं।" इस परिभाषा के अनुसार तो भारतीय संस्कृति में क्रान्तिकारी परिवर्तन अनेक बार हुए हैं। ब्रिस्टन का कथन है, "वर्तमान सामाजिक संरचना के प्रति धारणाओं और मूल्यों मे आमूल-चूल परिवर्तन को क्रान्ति कहते हैं।" इन समाजशास्त्रियों की परिभाषाओं और क्रान्ति की विशेषताओ के आधार पर भारत मे सामाजिक परिवर्तनों का सिंहावलोकन करें तो पाएँगे कि भारत मे क्रान्तियाँ हुई है। अहिंसक क्रान्तियों मे औद्योगिक क्रान्ति, जनांकिकीय क्रान्ति, विद्युदणुवी क्रान्ति, कम्प्यूटर क्रान्तियों का उल्लेख किया जाता है। 1868 में जापान में मेजी शासन की पुन स्थापना, 1948 में चेकोस्लोवाकिया की क्रान्ति, और वर्तमान मे चीन में सांस्कृतिक क्रान्ति आदि ऐसी क्रान्तियाँ है जिनमें बहुत कम खून बहा था।

महात्मा गाँधी ने अहिंसक सामाजिक क्रान्ति का सचालन करके ब्रितानिया सरकार से भारत को स्वतन्त्र किया। गाँधी ने, सविनय, असहयोग, अवज्ञा-आन्दोलन और 'भारत छोड़ो आन्दोलन' तथा आमरण अनशन आदि उपायों से अंग्रेजी राजनैतिक व्यवस्था को उखाड़ फेंका था। उन्हें समकालीन लोगो का जन-समर्थन प्राप्त था। लेकिन गाँधी जी भारत की सामाजिक व्यवस्था में पूर्ण क्रान्तिकारी परिवर्तन नही ला पाए। राजा, महाराजा, जमींदारों, जागीरदारों, बड़े व्यापारियो और उद्योगपतियो पर तुरन्त और प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव नही पड़ा। राजाओं को 1969 तक शाही भत्ता दिया गया। उनको नए कानून के अन्तर्गत पैतृक सम्पत्ति और भूमि रखने की भी छूट दी गई थी। उनकी जमीन, जायदाद और जागीरों के उन्मूलन के बदले मे मुआवजा भी दिया गया था। आचार्य विनोबा भावे तथा जय प्रकाश नारायण ने भारत में सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए गाँधीवाद का अनुकरण किया था। विनोबा जी ने भू-दान और ग्रामदान के द्वारा भूमि प्राप्त करके उसे गरीबों में बाँटा था। जय प्रकाशजी ने 1980 के दशक में 'सम्पूर्ण क्रान्ति' का विचार दिया।

भारत में सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रों में क्रान्ति द्वारा आधारभूत परिवर्तन हुए हैं। राजनैतिक संरचना में सबसे अधिक परिवर्तन आए हैं। 1947 में भारत स्वतंत्र हुआ। 1950 में नया संविधान लागू हुआ। इस सविधान द्वारा राजनैतिक अधिकारों, पदो, विचारो में क्रान्तिकारी परिवर्तन आए। सभी को मतदान का अधिकार दिया गया। धर्म, जाति, जन्म, रंग, लिंग भेद, प्रजाति आदि असमानताओं को समाप्त किया गया। इसके द्वारा मानव गरिमा की भावना और समाज के दलित वर्गों, जातियों-जनजातियो, में जागृति पैदा हुई। स्वतंत्रता प्राप्ति से पहिले की

तुलना में आज भारत में नागरिक अधिक स्वतंत्रता, सुरक्षा, समानता, भ्रातृत्वता, आदि का अनुभव कर रहे हैं। अनेक क्षेत्रों में मनोवैज्ञानिक क्रान्तिकारी परिवर्तन देखे जा सकते है। स्त्रियों, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, कृषकों, भूमिहीन श्रमिकों, काश्तकारों आदि में क्रान्तिकारी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक परिवर्तन देखे जा सकते हैं।

जाति-व्यवस्था के प्रतिबन्धों में परिवर्तन आया है। प्रदत्त प्रस्थिति से अर्जित प्रस्थिति की ओर परिवर्तन एक क्रान्तिकारी कदम है। अनेक अधिनियम, विवाह, दहेज-प्रथा, विधवा पुनर्विवाह, विवाह विच्छेद, अस्पृश्यता अपराध अधिनियम, स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार अधिनियम, आदि समय-समय पर पारित करके सामाजिक व्यवस्था को बदलने का प्रयास किया जाता रहा है। नगरीयकरण, औद्योगिकीकरण, पंचवर्षीय योजनाएँ, यातायात एव सचार के साधनों द्वारा क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। ग्रामीण क्षेत्रो मे समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, हरित क्रान्ति आदि भी भारत में क्रान्तिकारी परिवर्तन के उदाहरण है।

(3) प्रगति

प्रगति सामाजिक परिवर्तन की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। इसमें निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए योजनाबद्ध प्रयास किए जाते हैं। प्रगति ऐसा सामाजिक परिवर्तन है जिसमें मूल्य निर्धारित करके अच्छाई के लिए परिवर्तन किया जाता है। इस परिवर्तन के द्वारा सुख-सुविधाओं में वृद्धि होती है तथा लाभ अधिक होता है एव हानि कम। प्रगति का अर्थ भिन्न-भिन्न कालों और समाजों में भिन्न-भिन्न मिलता है। एक ही समाज के विभिन्न युगों में भी इसका अर्थ अलग-अलग मिलता है। विद्वानों में भी प्रगति के अर्थ के सम्बन्ध में एक मत नहीं मिलता है। प्राचीन काल मे प्रगति से तात्पर्य आध्यात्मिक लक्ष्यों की प्राप्ति था। आज आधुनिक युग में भौतिक सुख-सुविधाओ की प्राप्ति एव वृद्धि प्रगति कहलाती है। प्रगति मूल्य सापेक्ष अवधारणा है। अब हम प्रगति की *अवधारणा, विशेषताएँ, मापदण्ड आदि पक्षो का अध्ययन करेंगे।*

प्रगति का अर्थ एवं परिभाषा—एल.एफ. वार्ड, ऑगबर्न एव निमकॉफ, हारनेन हार्ट तथा हॉब -हाउस ने प्रगति की निम्नलिखित परिभाषाएँ दी हैं—

(1) वार्ड के अनुसार, "प्रगति वह है जो मानवीय सुख मे वृद्धि करती है।"

(2) ऑगबर्न तथा निमकॉफ के अनुसार, "प्रगति का अर्थ होता है—अच्छाई के लिए परिवर्तन और इसलिए प्रगति मे मूल्य-निर्धारण होता है।"

(3) हार्ट के अनुसार, "सामाजिक प्रगति सामाजिक ढाँचे मे वे परिवर्तन है जो कि मानवीय कार्यों को मुक्त करें, प्रेरणा और सुविधा प्रदान करें तथा उसे सगठित करे।"

उपर्युक्त परिभाषाओ के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रगति अच्छाई के लिए किया गया सामाजिक परिवर्तन है जो समाज में सुख में वृद्धि करती है, यह मूल्यो पर आधारित सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन करता है तथा समाज को संगठित रखता है। प्रगति समाज के मूल्यो, शक्तियो, तार्किकता, तकनीकी उन्नति आदि पर आधारित योजनाबद्ध परिवर्तन होता है।

प्रगति की विशेषताएँ—प्रगति की विशेषताओं का अध्ययन करने मे इसका अर्थ और स्पष्ट हो जाएगा। इसकी विशेषताएँ अग्रलिखित हैं—

1. निश्चित लक्ष्य– प्रगति एक ऐसा विशिष्ट परिवर्तन है जिसका निश्चित लक्ष्य होता है। भिन्न-भिन्न समाजो के लक्ष्य भिन्न-भिन्न होते हैं। विशिष्ट समाज अपनी आवश्यकतानुसार लक्ष्य एवं दिशा तय करके परिवर्तन की योजना बनाते है तथा समाज की प्रगति करते है।

2. मूल्य सापेक्ष परिवर्तन– प्रगति मूल्यों पर आधारित एवं निर्धारित सामाजिक परिवर्तन है। समाज अपनी परम्पराओं तथा आदर्शों के आधार पर परिवर्तन के लक्ष्य एवं दिशा निश्चित करते है। ऐसे मूल्यों से सम्बन्धित तथा आधारित परिवर्तन प्रगति कहलाते है।

3. समाज से सम्बन्धित परिवर्तन– समाज से सम्बन्धित परिवर्तन ही प्रगति हो सकते हैं। क्योंकि प्रगति मूल्यों, आदर्शों, लक्ष्यों आदि से सम्बन्धित परिवर्तन है जो केवल मानव समाज में ही सम्भव हैं। अन्य प्राणियों में प्रगति का होना सम्भव नहीं है। पशु योजना नहीं बना सकते है मानव समाज योजनाबद्ध परिवर्तन करके प्रगति करता है।

4. नियोजित एवं सचेत परिवर्तन– प्रगति अन्य प्रकार के परिवर्तनो से इस अर्थ में भी भिन्न है कि इसमे मानव समूह मिल कर सचेत रूप से अपनी आवश्यकताओं के अनुसार योजना नियोजित करके परिवर्तन करते हैं।

5. तुलनात्मक अवधारणा– प्रगति सामाजिक परिवर्तन की एक तुलनात्मक अवधारणा है। यह समाज एव समय सापेक्ष है। भिन्न-भिन्न समाजों के मूल्य, आदर्श, परम्परा एवं आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न होती है। क्योंकि प्रगति मूल्य सापेक्ष है इसलिए अलग-अलग समाजों की प्रगित के लक्ष्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं। प्रगति के लक्ष्य एक ही समाज के अलग-अलग कालों में भी बदलते रहते हैं। एक समाज में जो प्राचीन काल में प्रगति कहलाती थी आज पिछड़ापन हो सकती है। उदाहरण के रूप मे आध्यात्मिक लक्ष्य प्राचीन काल में प्रगति थे आज भौतिकवाद की ओर परिवर्तन प्रगति है। प्रगति समय और स्थान के अनुसार बदलती रहती है। भारत में जनसंख्या एक समस्या है परन्तु पश्चिम के कुछ देशो मे जनसंख्या वृद्धि प्रगति मानी जाती है। प्रगति की अवधारणा परिवर्तनशील है।

6. प्रगति लाभकारी परिवर्तन अधिक एवं हानिकारक कम है। प्रगति समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर नियोजित की जाती है, इसलिए इसमें लाभ की सम्भावना अधिक रहती है।

सामाजिक प्रगति की कसौटियाँ– विद्वानो ने प्रगति को नापने के लिए कुछ मापदण्ड दिए हैं जिससे यह पता लगाया जा सकता है कि कौन-सा परिवर्तन सामाजिक प्रगति है। अर्थशास्त्री पीगू आर्थिक कल्याण को तथा अन्य विद्वान आय, जीवन स्तर, उद्योग, उत्पादन, व्यापार तथा वाणिज्य इत्यादि मे वृद्धि को प्रगति कहते है। समाजशास्त्री बोगार्डस ने प्रगति को मापने के निम्नलिखित चौदह आधार दिए है– (1) प्राकृतिक स्रोतों का सार्वजनिक उपयोग, (2) शारीरिक एवं मानसिक स्वस्थता, (3) स्वस्थ वातावरण का विकास, (4) मनोरंजन के उपयोगी साधनों मे वृद्धि, (5) संगठित परिवारो मे वृद्धि, (6) रचनात्मक कार्यों के अवसरों का विकास, (7) व्यापार एवं उद्योग के अधिकारों म वृद्धि,(8) सामाजिक बीमे की सुविधाओं में वृद्धि, (9) जीवन-स्तर मे वृद्धि, (10) सरकार और जनता के पारस्परिक सहयोग मे वृद्धि, (11) कला का प्रसार, (12) धार्मिक एव आध्यात्मिक पक्षो का विकास, (13) व्यावसायिक, बौद्धिक और कल्याणकारी शिक्षा का विस्तार, तथा (14) सहयोगी तथा सहकारी जीवन मे वृद्धि।

सामाजिक प्रगति के लिए सहायक दशाएँ—

निम्नांकित कुछ सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक दशाएँ हैं जो प्रगति की प्रक्रिया में सहायक सिद्ध होती हैं—

(1) सामाजिक सुरक्षा— जब समाज में लोग अपने को सुरक्षित महसूस करते है तो ऐसे समाज मे प्रगति के अवसर बढ़ जाते हैं।

(2) आत्म-विश्वास— सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक है कि समाज के लोगों मे स्वयं में आत्मविश्वास होना चाहिए कि वे प्रगति कर सकते है।

(3) कार्य में विश्वास— अगर लोग कार्य में विश्वास रखते है, मेहनती हैं, तो प्रगति के अवसर बढ जाते है। समाज के लोग भाग्यवादी होंगे, रूढ़िवादी होंगे, धार्मिक नियतिवादी है तो प्रगति के अवसर कम हो जाएँगे।

(4) नैतिक चरित्र— जिस समाज मे लोग बेईमान, अनैतिक, भ्रष्ट तथा अन्यायी होंगे तो वह समाज प्रगति नहीं कर सकता है। वह समाज तेजी से प्रगति करता है जिस समाज के सदस्य नैतिक चरित्र वाले होते हैं।

(5) शिक्षा का स्तर— समाज के जितने अधिक लोग शिक्षित होंगे तथा शिक्षा का स्तर जितना उच्च होगा वह समाज उतनी ही तीव्रता से प्रगति करेगा। शिक्षा समाज के सदस्यों को नवीन परिवर्तनों को स्वीकार करने तथा आविष्कार करने के लिए आधार प्रदान करती है।

(6) स्वतंत्रता एवं समानता— स्वतंत्रता एवं समानता लोगों में कर्त्तव्यपरायणता, उत्तरदायित्व की भावना एवं प्रगति करने के लिए जिज्ञासा एवं आत्मविश्वास पैदा करती है। इसलिए स्वतंत्र देश गुलाम देशों की तुलना में तेजी से प्रगति करते हैं।

(7) राजनैतिक स्थिरता— सामाजिक प्रगति के लिए राजनैतिक एवं प्रशासनिक स्थिरता आवश्यक है। उसके अभाव में लोगों मे असुरक्षा की भावना रहती है। उनके प्रयास निष्फल हो सकते हैं।

(8) योग्य नेतृत्व— सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक है कि समाज के जनसाधारण को कोई दिशा निर्देश देने वाला हो। उनको त्याग और बलिदान करने के लिए तैयार करे तथा प्रगति करने के लिए तैयार करे, त्यागी तथा निस्वार्थ भाव से जनसाधारण का नेतृत्व करे। अच्छे नेतृत्व के द्वारा समाज प्रगति करता है।

(9) वैज्ञानिक एवं औद्योगिक प्रगति— सामाजिक प्रगति के लिए समाज में आधुनिकतम वैज्ञानिक एवं औद्योगिक ज्ञान उपलब्ध होना चाहिए। उन्नत औद्योगिकी के अभाव मे समाज धीमी प्रगति करता है। समाज की प्रगति का सीधा गुण सम्बन्ध वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास के साथ होता है।

(10) नवीनतम आविष्कार— जब समाज में नवीनतम आविष्कार उपलब्ध होते हैं तो उससे अनेक समस्याओं का समाधान करके समाज प्रगति करता है। समाज मे सुख-सुविधाएँ बढ़ती हैं तो ये प्रगति के सूचकांक हैं।

(11) अनुकूल पर्यावरण— समाज की तीव्र गति से प्रगति के लिए अनुकूल भौगोलिक एवं प्राकृतिक पर्यावरण आवश्यक है। इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि जिन देशो मे वर्षा, नदियाँ, झीलें, प्राकृतिक सम्पदा, जैसे— उपजाऊ भूमि, खनिज पदार्थ, चाँदी, सोना, लोहा, कोयला, पेट्रोल, यूरेनियम के विपुल भण्डार रहे उन देशों ने तेजी से प्रगति की है।

(12) इष्टतम जनसंख्या— प्रगति का सम्बन्ध राष्ट्र की भौगोलिक सम्पदा तथा जनसंख्या के साथ सीधा है। जिस देश में जब इष्टतम जनसंख्या होती है उस समय उसकी प्रगति की दर भी अधिकतम होती है। इष्टतम जनसंख्या से जब जनसंख्या अधिक अथवा कम होती है तब प्रगति की दर भी कम हो जाती है। इष्टतम जनसख्या उपलब्ध प्राकृतिक सम्पदा का अधिकतम दोहन करती है जिसका सामाजिक प्रगति की दर को बढ़ाने मे सकारात्मक सहयोग मिलता है।

(13) न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति— सामाजिक प्रगति की न्यूनतम आवश्यकता यह है कि समाज के सभी सदस्यो को भोजन, वस्र और आवास की सुविधाएँ उपलब्ध हों। इन न्यूनतम आवश्यकताओं के अभाव मे समाज प्रगति की सोच भी नहीं सकता।

प्रगति के द्वन्द्व— रोमीन ने प्रगति के द्वन्द्व पर प्रकाश डाला है। आपका कहना है कि समाज मे निश्चित दिशा तथा लक्ष्यों के लिए प्रगति होती है तो उसका लाभ एक वर्ग विशेष को अधिक मिलता है। यह वर्ग विशेष तब तक तीव्र गति से प्रगति चाहता है जब तक उसके निहित स्वार्थ प्राप्त नहीं हो जाते हैं। जब इनके स्वार्थों तथा लाभों की पूर्ति की चरम सीमा आ जाती है तब ये प्रगति को रोकते हैं। पुन शीघ्र तथा तीव्र परिवर्तन नहीं होने देते हैं। दूसरी ओर दलित वर्ग की स्थिति दयनीय होती है। वह लाभों से वंचित रहता है। जब दलित वर्ग उत्थान तथा प्रगति करने का प्रयास करता है तो उच्च वर्ग उसमे बाधा पैदा करता है। इसी को रोमीन 'प्रगति का द्वन्द्व' कहते हैं। इसी प्रकार का द्वन्द्व राज्यो के बीच भी देखा जा सकता है। सम्पन्न राज्यो और क्षेत्रो में अधिक प्रगति होती है तथा कमजोर राज्यो और क्षेत्रो मे कम अथवा नहीं के बराबर प्रगति होती है। यह द्वन्द्व वर्गों जातियो, समूहा, परिवारो आदि मे भी मिलता है।

सामाजिक प्रगति एवं सामाजिक परिवर्तन—

प्रश्न उठता है कि क्या प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन सामाजिक प्रगति है ? प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन प्रगति नही होते है। वही सामाजिक परिवर्तन प्रगति कहलाते है जो समाज के निर्धारित लक्ष्यो एव लाभ प्राप्ति तथा मानवीय कल्याण एव सुख-सुविधाओं को बढ़ाने के लिए किए जाते है। जो परिवर्तन प्रगति की कसौटियों पर खरे उतरते हैं उन्हीं परिवर्तनों को प्रगति कहा जाता है। परिवर्तन अपने आप मे एक तटस्थ एवं मूल्य-रहित अवधारणा है जो उद्विकास, क्रान्ति, प्रगति, विकास या आन्दोलन कुछ भी हो सकता है।

आधुनिक युग एवं प्रगति— वर्तमान युग प्रगतिशील है या नहीं, इसका मूल्यांकन भौतिक तथा अभौतिक सस्कृति के आधार पर कर सकते हैं। वर्तमान युग मे लोगो का चारित्रिक तथा नैतिक पतन हुआ है; सच्चाई, दया, मानवीय मूल्यों में कमी आई है। झूठ, बेईमानी, धोखाधडी, श्वेत अपराध, यौन स्वच्छन्दता, आदि बढे हैं। इस प्रकार आधुनिक युग में अभौतिक क्षेत्र मे प्रगति के स्थान पर अधोगति हुई है। भौतिक सुख-सुविधाओ, साधनो आदि की उपलब्धि के आधार पर आधुनिक युग ने प्रगति की है। विज्ञान, उद्योग, प्रौद्योगिकी, आविष्कार, सचार और यातायात के साधन, चिकित्सा तथा स्वास्थ्य सुविधाएँ, शिक्षा आदि क्षेत्रों मे काफी प्रगति हुई है।

भारत में प्रगति– भारत ने प्रगति की है अथवा नहीं ? इसका मूल्यांकन भी भौतिक तथा अभौतिक संस्कृतियों की उपलब्धि के आधार पर कर सकते हैं। वर्तमान काल में अभौतिक क्षेत्र में भारत में प्रगति नहीं हुई है। हर क्षेत्र में भ्रष्टाचार बढ़ा है। गत वर्षों में आध्यात्मिक प्रगति के स्थान पर नैतिक चरित्र का ह्रास हुआ है। झूठ, बेईमानी, घूसखोरी, हत्याओं, बाल-अपराध तथा अपराध, चोरी, डकैती आदि में निरन्तर वृद्धि हो रही है। भौतिक क्षेत्र में भारत ने प्रगति की है। भारत अन्य राष्ट्रों– अमेरिका, जापान, आदि की तुलना में वैज्ञानिक, प्रौद्योगिकी तथा तकनीकी में बहुत कम प्रगति कर पाया है। वैज्ञानिकों, अभियन्ताओं, तकनीशियनों की संख्या के आधार पर भारत का विश्व में दूसरा स्थान है। भारत के अनेक वैज्ञानिक, डॉक्टर, अभियन्ता विश्व के अनेक राष्ट्रों मे कार्य कर रहे है। विकासशील देशों में भारत का स्थान प्रगति के आधार पर ऊँचा है। कई राज्यों, क्षेत्रों, ज़िलों आदि का विकास किया है तो कई दूर-दराज के राज्य काफी पिछड़े हुए हैं। अनेक प्रयासों द्वारा अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, पिछड़े वर्गों, महिलाओं आदि की प्रगति के लिए कार्य किए जा रहे हैं। इनमें प्रगति भी हो रही है किन्तु जनसंख्या विस्फोट के कारण अनेक क्षेत्रों में प्रगति करने पर भी भारत पिछड़ा हुआ है।

(4) विकास

समाजशास्त्र में विकास एक नूतन अवधारणा है। यह अवधारणा प्रगति की तरह वांछित दिशा में परिवर्तन की ओर संकेत देती है। विकास एक सम्मिश्र, संदर्भात्मक और सापेक्ष अवधारणा है। विकास को समझने के लिए इसकी परिभाषाओं और विशेषताओं का अध्ययन करेंगे।

विकास का अर्थ एवं परिभाषा–

1. योगेन्द्र सिंह के अनुसार, "समाज के सदस्यों में वांछनीय दिशा में नियोजित सामाजिक परिवर्तन लाने के उपाय को विकास कहते हैं।" आपने आगे यह भी लिखा है, "अतः विकास की धारणा सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और राजनैतिक और भौगोलिक परिस्थिति के आधार पर प्रत्येक समाज में भिन्न-भिन्न पाई जाती है।

2. मिर्डल के अनुसार विकास का अर्थ आधुनिकीकरण के आदर्शों को सामाजिक जीवन मे उतारने से है। आपके शब्दों में, "विकास का अर्थ सामाजिक व्यवस्था में उन अनेक अवांछनीय अवस्थाओं का सुधार करना है जिनके कारण अल्प-विकास की स्थिति बनी हुई है।"

3. ए. स्कॉफ के अनुसार, "माप के पैमाने और सन्दर्भ के एक निश्चित ढाँचे में एक निश्चित प्रकार के परिवर्तनों को बताने वाला शब्द विकास है जो मूल्यों की एक निश्चित व्यवस्था के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से एक घटना की परिमाणात्मक वृद्धि का प्रतिनिधित्व करता है। आपने इस परिभाषा में विकास की तीन विशेषताएँ बताई है, जो निम्नलिखित हैं– (1) विकास ऐसा शब्द है जो निश्चित ढाँचे में निश्चित प्रकार के परिवर्तन को स्पष्ट करता है, (2) इस परिवर्तन को पैमाने द्वारा परिमाणात्मक वृद्धि के रूप में नापा जा सकता है, और (3) विकास मूल्यों से सम्बन्धित होता है। इस प्रकार विकास प्रगति से मिलता-जुलता है परन्तु प्रगति व्यापक अवधारणा है और विकास निश्चित अवधारणा है। विकास की अवधारणा प्रकृति सदर्भात्मक और सापेक्षित है। प्रगति की प्रकृति सामान्य है और औचित्यात्मक कारकों पर आधारित है। प्रगति की अवधारणा औद्योगिक क्रान्ति के युग से जुड़ी हुई है और विकास नवीन अवधारणा है।

4. 'द चैलेंज ऑफ डेवलपमेंट' गोष्ठी के अनुसार विकास एक तुलनात्मक अवधारणा है। इन्होंने विकास शब्द का प्रयोग कम आय वाले देशों और पश्चिमी देशों में हो रहे औद्योगिकीकरण की तुलना करने के लिए किया है। पश्चिमी देश अधिक विकसित हैं तथा कम आय वाले देश कम विकसित है।

5. हॉबहाउस के अनुसार, ''एक समुदाय का विकास मात्रा, कार्य-क्षमता, स्वतंत्रता और सेवा की पारस्परिकता में वृद्धि के साथ-साथ होता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि विकास ऐसी अवधारणा है जो एक समाज, क्षेत्र और जनता की सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक आवश्यकताओं की स्थिति को सापेक्ष रूप में स्पष्ट करता है।

सामाजिक विकास की विशेषताएँ—

1. सार्वभौमिक प्रक्रिया— सभी समाजों में सभी कालों में विकास की प्रक्रिया होती रहती है। विश्व में जहाँ-जहाँ मानव समाज है वहाँ-वहाँ किसी न किसी रूप में विकास होता रहता है।

2. सम्मिश्र अवधारणा— विकास एक मिश्रित अवधारणा है जिसमें अनेक क्षेत्रों में परिवर्तन साथ-साथ होते हैं, जैसे— समाज के विकास में व्यापार, कृषि, उद्योग, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति को सम्मिलित करते है। विकास एक सयुक्त प्रघटना है। इसमें मानव जीवन के सभी पहलुओ को सम्मिलित किया जाता है।

3. कल्याणकारी परिवर्तन— विकास ऐसा परिवर्तन है जिसमें बच्चों, स्त्रियों, वृद्धों, बीमार बेरोजगार लोगो, कमजोर वर्गों और अल्पसंख्यकों आदि के कल्याण का ध्यान रखा जाता है।

4. मूल्याधारित परिवर्तन— विकास कार्यक्रमों का उद्देश्य पिछड़े वर्गों, जातियों तथा जनजातियों, ग्राम और नगरों, महिलाओं, श्रमिकों के कल्याण का होता है इसलिए यह मूल्यों पर आधारित परिवर्तन है।

5. समाज सापेक्ष अवधारणा— विकास की अवधारणा भिन्न-भिन्न समाजो की सामाजिक-सास्कृतिक आवश्यकताओ; राजनैतिक, आर्थिक एव भौगोलिक परिस्थितियो के कारण भिन्न-भिन्न होती है। यह समाजों से सम्बन्धित है इसलिए इसे समाज सापेक्ष अवधारणा कहा गया है।

6. चक्रीय-कार्य-कारण भाव— सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न अंग अन्तर्निर्भर होते हैं। किसी एक अग अथवा अवस्था में विकास का प्रभाव अन्य अवस्थाओं तथा अंगों में परिवर्तन लाता है। अगर बेरोजगारी को रोका नहीं जाएगा तो अन्य समस्याएँ— निर्धनता, निरक्षरता, कुपोषण, आदि बढेंगी। इसे ही चक्रीय-कार्य-कारण भाव कहते है जो विकास की प्रक्रिया का विशेष लक्षण है। एक में विकास का प्रभाव अन्य क्षेत्रों पर पड़ता है।

7. अवांछनीय अवस्थाओं का सुधार— मिर्डल ने विकास का अर्थ बताते हुए लिखा, ''विकास का अर्थ सामाजिक व्यवस्था में उन अनेक अवांछनीय अवस्थाओं का सुधार करना है जिनके कारण अल्प-विकास की स्थिति बनी हुई है।'' विकास समाज की अवांछनीय अवस्थाओं का सुधार करता है।

8. उत्तरोत्तर परिवर्तन— सामाजिक विकास एक अवस्था से दूसरी तथा तीसरी अवस्था की ओर आगे बढ़ते रहने वाला परिवर्तन है। इसमें विभेदीकरण की वृद्धि सदैव ऊपर की ओर होती है। उत्तरोत्तर परिवर्तन विकास की विशेषता है।

9. लौकिक परिवर्तन— विकास का सम्बन्ध केवल भौतिक जगत के परिवर्तन से है। इसका धर्म, अध्यात्म या अभौतिक जगत से कोई सम्बन्ध नहीं है।

10. माप सम्भव— किसी समाज का विकास कितना हुआ है अथवा वह अन्य समाजो की तुलना में किस क्षेत्र में कितना अधिक या कम विकसित है इसे मापा जा सकता है। स्कॉफ का कहना है कि विकास एक घटना की परिमाणात्मक वृद्धि को बताता है। माप के पैमाने और सदर्भ के एक निश्चित ढाँचे में एक निश्चित प्रकार के परिवर्तन को बताने वाला शब्द विकास है।

विकास के प्रमुख मापदण्ड—

सभी समाजों मे विकास का कोई-न-कोई विशिष्ट स्वरूप अवश्य होता है। इसके दो प्रमुख मापदण्ड हैं— (1) समाज का जनजातीय या कृषि की अवस्था से औद्योगिक समाज की ओर परिवर्तन, तथा (2) आर्थिक परिवर्तन।

मिचेल ने विकास की छ प्रमुख कसौटियों का उल्लेख किया है— (1) अशिक्षा से सार्वभौमिक शिक्षा की ओर परिवर्तन, (2) एकतन्त्र से प्रजातन्त्र और सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार की ओर परिवर्तन, (3) कानून के सामने सभी की समानता मे वृद्धि, (4) राष्ट्रीय प्रभुसत्ता में वृद्धि, (5) धन के केन्द्रीकरण से उचित और न्यायपूर्ण वितरण की ओर परिवर्तन, और (6) स्त्रियों की दासी की स्थिति से साथी की स्थिति में परिवर्तन। इन मापदण्डों के द्वारा किसी भी समाज के विकास का मूल्यांकन किया जा सकता है।

सामाजिक विकास की दशाएँ— हॉबहाउस ने सामाजिक विकास की निम्नलिखित दशाओ का उल्लेख किया है जो विकास में सहायक होती हैं तथा इनके अभाव मे विकास करना कठिन होता है—

(1) पर्यावरण सम्बन्धी दशाएँ— अनुकूल पर्यावरण में समाज तीव्र गति से विकास करता है तथा प्रतिकूल पर्यावरण में विकास की गति धीमी होती है। भौगोलिक पर्यावरण, प्राकृतिक संसाधन, खनिज पदार्थ, जलवायु, समतल तथा उपजाऊ भूमि आदि का होना विकास के लिए आवश्यक है।

(2) जैविकीय दशाएँ— समाज के सदस्य स्वस्थ, हृष्टपुष्ट, निरोगी, बलवान होने हैं तो समाज के विकास मे सहायक होते हैं। रुग्ण, कमजोर, बीमार, अस्वस्थ जनसंख्या वाला समाज विकास नहीं कर पाता है। समाज की इष्टतम जनसंख्या होती है तो विकास अधिकतम गति से होता है। जन्मदर तथा मृत्यु-दर एवं प्राकृतिक संसाधनों मे संतुलन होना चाहिए।

(3) मनोवैज्ञानिक दशाएँ— सामाजिक विकास के लिए आवश्यक है कि समाज के लोग मानसिक रूप से विकास के लिए तैयार हों। इसके लिए सदस्यो को बताना होगा कि परिवर्तन के लक्ष्य क्या हैं ? उनका लाभ क्या है ? उस निश्चित परिवर्तन के अभाव में हानियाँ क्या-क्या है? आदि, आदि।

(4) सामाजिक दशाएँ— सामाजिक विकास के लिए अनुकूल सामाजिक परिस्थितियो का होना भी आवश्यक है। विकास सामाजिक मूल्यों, प्रथाओं, धर्म, रीति-रिवाज, संस्कृति आदि के अनुरूप होगा तभी समाज के सदस्य सहयोग करेंगे अन्यथा विकास का विरोध किया जाएगा।

विकास के सम्बन्ध में मिर्डल के विचार—

गुन्नार मिर्डल ने सामाजिक विकास के सम्बन्ध में अपने विचार एशियन ड्रामा पुस्तक में प्रस्तुत किए है। आपने विकास का अर्थ 'आधुनिकीकरण के आदर्शों' को सामाजिक जीवन में उतारने से लगाया है। मिर्डल आगे लिखते हैं, "विकास का अर्थ सामाजिक व्यवस्था में उन अनेक अवांछनीय अवस्थाओं का सुधार करना है जिनके अल्प-विकास की स्थिति बनी हुई है।" मिर्डल की मान्यता है कि व्यवस्था का एक समग्र रूप होता है जिसके विभिन्न अंग परस्पर आत्मनिर्भर और सम्बन्धित होते है। किसी एक में परिवर्तन का प्रभाव अन्य में परिवर्तन लाता है। आपके अनुसार किसी एक अवस्था में अगर ऊपर की ओर परिवर्तन होता है तो अन्य अंगों या उप-व्यवस्थाओं में भी ऊपर की ओर परिवर्तन होता है। आप संस्थागत उपागम के द्वारा अध्ययन पर जोर देते है। अध्ययनकर्त्ता को यह ज्ञात करना चाहिए कि लोग विकास के कितने उत्सुक हैं ? उनकी मनोकामना क्या है ? लोग जीवन के स्तर, आय, आदि मे परिवर्तन लाने के लिए कितने उत्सुक हैं ?

मिर्डल ने विकास की दशाओ को निम्नलिखित छः भागों मे विभक्त किया है— (1) उत्पादन और आय, (2) उत्पादन की अवस्थाएँ, (3) जीवन स्तर, (4) जीवन और कार्य के प्रति अभिवृत्तियाँ (5) संस्थाएँ, और (6) नीतियाँ।

भारत में अनेक योजनाएँ वाँछित दिशा में परिवर्तन करने के लिए चलायी गई हैं तथा उनको विकास कार्यक्रम नाम दिया गया है, जैसे— ग्रामीण भारत में 1952 में ग्रामीण विकास कार्यक्रम शुरू किया गया। अनेक आर्थिक विकास कार्यक्रम— स्त्रियों, दलित वर्गों, उद्योग-धन्धों, कृषि के विकास के लिए अनेक नीतियों को कार्यान्वित किया गया है। राजनैतिक, सामाजिक, शैक्षणिक आदि अनेक विकास कार्यक्रम चलाए गए है। सरकार ने अनुसूचित जातियो, जनजातियो, आदि के लिए भी अनेक विकास एवं कल्याणकारी कार्यक्रम चला रखे हैं। विकास कार्यक्रम संयुक्त तथा मिश्रित प्रघटना है इसमें समाज के अनेक पक्षों का ध्यान रखा जाता है।

सामाजिक आन्दोलन

सामाजिक आन्दोलन परिवर्तन का एक विशिष्ट प्रकार है जिसमें समाज अथवा संस्कृति में नवीन परिवर्तन लाने अथवा नवीन परिवर्तन को रोकने के लिए सामूहिक प्रयास किए जाते हैं। इसका उद्देश्य विभिन्न क्षेत्रो मे आंशिक अथवा आमूल-चूल परिवर्तन लाना होता है। ये क्षेत्र धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, आदि होते है। सामाजिक आन्दोलन में सामूहिक प्रयास द्वारा समाज अथवा सदस्यों मे परिवर्तन लाने या विरोध का गुण होता है। इस आन्दोलन की अपनी विशेषताएँ, प्रकार, उद्देश्य, प्रभाव आदि होते हैं। सर्वप्रथम इसके अर्थ को जानने का प्रयास करेंगे।

सामाजिक आन्दोलन का अर्थ एवं परिभाषा—

1. हार्टन तथा हण्ट के अनुसार, "सामाजिक आन्दोलन समाज अथवा उसके सदस्यों में परिवर्तन लाने अथवा उसका विरोध करने का सामूहिक प्रयास है।"

2. टर्नर एव किलियन के अनुसार, "एक सामाजिक आन्दोलन को एक समाज अथवा समूह जिसका कि वह एक भाग है, के अन्तर्गत कुछ निरन्तरता से परिवर्तन उत्पन्न करने या एक परिवर्तन को रोकने के लिए सामूहिक व्यवहार के रूप में परिभाषित करते हैं।"

(2) धार्मिक आन्दोलन में दक्षिण भारत में एम.एन.डी.पी. और पंजाब में अकाली आन्दोलन गिने जाते है।

(3) साम्प्रदायिक आन्दोलन में कर्नाटक में लिंगायत आन्दोलन तथा उत्तर-पूर्व भारत मे वैष्णव आन्दोलन को शामिल किया जाता है।

(4) अनुभागीय आन्दोलन में महिलाओं, विद्यार्थियों, अल्पसंख्यक समूहों, निम्न जातियों, पिछड़े वर्गों और अन्य विशिष्ट श्रेणियो के लोगों के आन्दोलन रखे जाते हैं।

(5) धर्मनिरपेक्ष आन्दोलन में सम्पूर्ण समाज अथवा इसके किसी एक भाग की सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के परिवर्तन के लिए किए गए आन्दोलन आते हैं।

(6) राजनैतिक आन्दोलन में सामान्यत राजनैतिक दलों अथवा विशिष्ट राजनैतिक समूहो द्वारा संचालित आन्दोलन आते हैं।

(7) क्रान्तिकारी आन्दोलन में वे आन्दोलन आते हैं जिनका उद्देश्य विद्यमान सामाजिक व्यवस्था को जड़मूल से उखाड़ कर नई समाज-व्यवस्था की स्थापना करना होता है। फ्रांस और रूस की क्रान्तियाँ इसके उदाहरण हैं।

भारत में सामाजिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय आन्दोलन

भारत में 19वी शताब्दी से आन्दोलनो की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी। तब से आज तक अनेक सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन हुए है। जिनकी विस्तार से विवेचना **अध्याय 14-"भारत में सामाजिक-धार्मिक सुधार आन्दोलन"** में की गई है। राजनैतिक आन्दोलन अथवा राष्ट्रीय आन्दोलन की विवेचना **अध्याय, 15** में की गई है।

भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रमुख प्रक्रियाएँ

भारत मे सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन अनेक समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानव-शास्त्रियों— श्रीनिवास, रेडफील्ड, मैरियट, मजूमदार, दुबे, योगेन्द्र सिंह आदि ने किया है। इन्होने परिवर्तन के अध्ययन के उपागम दिए है। योगेन्द्र सिंह ने भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया की विवेचना अपनी पुस्तक **मॉडर्नाइजेशन ऑफ इण्डियन ट्रेडिशन** तथा एक लेख **कान्सेप्ट्स एण्ड थ्योरीज ऑफ सोशियल चेंज** मे की है। सिंह ने सामाजिक परिवर्तन के सभी उपागमों को निम्नलिखित तीन उपागमो मे वर्गीकृत किया है– (1) उद्विकासीय उपागम, (2) सांस्कृतिक उपागम : संस्कृतिकरण-पश्चिमीकरण, लघु और दीर्घ परम्परा, और बहुल परम्पराएँ, तथा (3) संरचनात्मक उपागम : विभेदीकरण और गतिशीलता विश्लेषण और द्वंद्वात्मक ऐतिहासिक उपागम।

(1) उद्विकासीय उपागम

इस उपागम द्वारा भारत मे विद्यमान विवाह, परिवार, बन्धुत्व, जाति व्यवस्था, ग्रामीण समुदाय आदि संस्थाओ का कालक्रमिक अध्ययन किया गया है। इस उपागम के अध्ययन के स्रोत धार्मिक ग्रंथ, महाकाव्य, पौराणिक साहित्य, मौखिक परम्पराएँ रही है। जाति की उत्पत्ति और विकास इन्हीं स्रोतों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। भारतीय ग्रामों का ऐतिहासिक वर्णन सर हैनरी मैन, बेडेन-पॉवेल, कार्ल मार्क्स आदि ने किया है। इनकी मान्यता थी कि भारतीय ग्राम

पश्चिम के ग्राम जैसे रहे हैं। प्रारम्भ में इनमें प्रत्येक क्षेत्र में समूह साम्यवाद था तथा संयुक्त सम्पत्ति, संयुक्त-हिस्सेदारी थी फिर एकल स्वामित्व, भूस्वामित्व आदि में परिवर्तन हुआ था। प्रकार्यात्मक उपागम के समर्थकों ने उद्विकास की आलोचना की। प्रकार्यवादी पद्धति ने भारतीय ग्रामों को श्रम-विभाजित तथा विशेषीकृत (जजमानी तथा जाति व्यवस्था) बताया। आत्मनिर्भरता पर बल दिया तथा व्यवस्था की विभिन्न इकाइयों मे पारस्परिक निर्भरता तथा एकता को स्पष्ट किया।

(2) सांस्कृतिक उपागम

सांस्कृतिक उपागम में प्रमुख रूप से संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण, लघु और दीर्घ तथा बहुशाखी परम्पराएँ हैं। ये निम्नलिखित प्रकार हैं—

2.1 संस्कृतिकरण— एम.एन. श्रीनिवास ने भारत में सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या और विश्लेषण करने के लिए दो अवधारणाओ— (1) संस्कृतिकरण, और (2) पश्चिमीकरण, का प्रयोग किया है। आपने संस्कृतिकरण की निम्नलिखित परिभाषा दी है—

"संस्कृतिकरण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक 'निम्न' जाति या जनजाति या अन्य समूह एक उच्च जाति विशेषतः एक द्विज जाति की प्रथाओं, धार्मिक कृत्यों, आस्थाओं, विचारधारा और जीवन प्रणाली को अपनाता है।"

निम्न जातियाँ अपने से उच्च जातियों की जीवन-पद्धति, रीति-रिवाजो, पवित्र एवं लौकिक मूल्यों को अपनाती हैं। ये निम्न जातियाँ या समूह उच्च जातियो की भाषा कर्म, धर्म, पाप-पुण्य, मोक्ष जैसी शब्दावलियों को भी अपनाती है। ये त्यौहारों व उत्सवो, जैसे— दीपावली, दशहरा, होली, रक्षा बन्धन, आदि मनाने लगती है। उच्च जातियों के देवी-देवताओ, जैसे— राम, कृष्ण, शिव, हनुमान, सीता, पार्वती आदि की पूजा-पाठ, व्रत आदि करती है। संस्कृतिकरण करने वाली निम्न जातियाँ, जनजातियाँ या समूह एक या दो पीढी के बाद अपने उच्च होने का दावा करती है। धीरे-धीरे उनका दावा स्वीकार कर लिया जाता है तथा उनकी प्रस्थिति मे अन्तर आ जाता है। श्रीनिवास के अनुसार संस्कृतिकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा निम्न श्रेणी के समूह सामाजिक स्तरीकरण में अपनी प्रस्थिति ऊँची प्राप्त कर लेते है। आपके अनुसार संस्कृतिकरण करने वाली जाति ब्राह्मणो एवं उच्च जातियो की संस्कृति तथा जीवन के तरीको का अनुकरण करती हैं। ये उच्च जातियाँ प्रभु जाति भी हो सकती है। "प्रभु जाति" श्रीनिवास उसे कहते है जिसे धार्मिक कर्म-काण्डों, आर्थिक सम्पन्नता, राजनैतिक सत्ता एव शक्ति (मतो का बाहुल्य) जातीय संस्तरण मे उच्च स्थान प्राप्त होता है। शिक्षा भी संस्कृतिकरण की प्रक्रिया पर प्रभाव डालती है।

संस्कृतिकरण की आलोचना—

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया मे निम्नलिखित कमियाँ है। यह सामाजिक-सांस्कृतिक गतिशीलता की बहुत सीमित व्याख्या करती है। पहिले श्रीनिवास ने लिखा कि निम्न जातियाँ केवल ब्राह्मण जातियों का अनुकरण करती हैं जिसे इन्होंने 'ब्राह्मणीकरण' कहा था। बाद में संस्कृतिकरण मे द्विज जातियो का अनुकरण करना बताया। निम्न-जातियाँ उच्च-जातियों के उन लक्षणो का अनुकरण कर रही हैं जो लक्षण, या सांस्कृतिक प्रतिमान उच्च जातियो के लिए महत्वपूर्ण नहीं है। ऐसी अनेक घटनाएँ होती रहती है जिसमे उच्च-जातियाँ निम्न-जातियो को संस्कृतिकरण करने से रोकती है धमकी देती हैं, उन पर अत्याचार करती है। श्रीनिवास की मान्यता है कि संस्कृतिकरण से स्थिति .

परिवर्तन आते हैं। आलोचकों का कहना है कि स्थितिगत परिवर्तन जाति के भीतर आते हैं अर्थात् अपनी जाति में उनकी प्रस्थिति ऊँची हो जाती है न कि वे अन्य जातियों से ऊँचा उठते है। जाति परिवर्तित नहीं होती है। जाति के अन्दर परिवर्तन होता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में गतिशीलता आई है– ग्रामों में कम तथा नगरों तथा महानगरों में अधिक। संस्कृतिकरण सभी क्षेत्रो में नही पाया जाता है। डी.एन. मजूमदार का कथन है कि संस्कृतिकरण की प्रक्रिया कुछ स्थानों में ही मिलती है।

संस्कृतिकरण एवं ब्राह्मणीकरण– श्रीनिवास ने सर्वप्रथम दक्षिण भारत के कुर्ग लोगों में पाया कि वे ब्राह्मणों की संस्कृति– वेश-भूषा, जीवन-पद्धति, खान-पान, कर्मकाण्ड आदि का अनुकरण कर रहे थे। उन्होने माँस खाना तथा पशु-बलि को त्याग दिया था। इस प्रक्रिया को श्रीनिवास ने ब्राह्मणीकरण कहा। बाद में उन्होंने देखा कि अनेक स्थानों में निम्न-जातियाँ उच्च-जातियों, ब्राह्मणों के अतिरिक्त क्षत्रिय, वैश्य, वर्ण के स्तर की जातियों की संस्कृति का भी अनुकरण करती हैं। आपने पाया कि ब्राह्मणीकरण संकीर्ण अवधारणा है उसके स्थान पर सस्कृतिकरण की अवधारणा का प्रयोग किया तथा सुझाव दिया।

ब्राह्मणीकरण तथा संस्कृतिकरण में अन्तर–

(1) श्रीनिवास ने पहिले ब्राह्मणीकरण की अवधारणा प्रतिपादित की तथा बाद में संस्कृतिकरण की अवधारण' द' तपादित किया। (2) आपने पाया कि ब्राह्मणीकरण संकीर्ण अवधारणा है तथा संस्कृतिकरण का क्षेत्र विस्तृत है। (3) ब्राह्मणीकरण में निम्न-जातियाँ, ब्राह्मण-जाति की संस्कृति का अनुकरण करती हैं तथा संस्कृतिकरण में निम्न-जातियाँ द्विज-जातियों तथा प्रभु-जातियों का अनुकरण करती है। (4) ब्राह्मणीकरण की प्रक्रिया निश्चित समाज, स्थान, प्रदेश, काल आदि से सम्बन्धित है जबकि संस्कृतिकरण की प्रक्रिया की कोई सीमा नहीं है, यह वृहद् प्रक्रिया है।

2.2 पश्चिमीकरण–

पश्चिमीकरण परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जिसमें पश्चिमी संस्कृति, विशेष रूप से ब्रितानिया सस्कृति के संपर्क में आने से परिवर्तन होते है। सरल शब्दों मे भारत में पश्चिमी या ब्रितानिया संस्कृति के अनुकरण या प्रसार को पश्चिमीकरण कहते है। श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण की निम्नलिखित परिभाषा दी है–

"एक सौ पचास वर्षों के अंग्रेजी राज के फलस्वरूप भारतीय समाज में और संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों के लिए मैने 'पश्चिमीकरण' शब्द का प्रयोग किया है और यह शब्द प्रौद्योगिकी, संस्थाएँ, विचारधारा और मूल्य आदि विभिन्न स्तरों पर होने वाले परिवर्तनों को समाविष्ट करता है।"

ब्रितानिया की सांस्कृतिक विशेषताओं को विभिन्न जातियों, विशेष रूप से उच्च-जातियों ने अपनाया है। इतना ही नहीं इसके अतिरिक्त शिक्षा, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, विचारधारा तथा मूल्यो का भी अनुकरण किया है। ऐसा श्रीनिवास की मान्यता है।

पश्चिमीकरण की विशेषताएँ– श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण की अग्रलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है–

(1) संस्थाओं में परिवर्तन– श्रीनिवास ने लिखा है कि पश्चिमीकरण से भारत की प्राचीन संस्थाओं, जैसे–प्राचीन शिक्षा संस्थाओं, सेना, सरकारी नौकरी, न्याय आदि में परिवर्तन आया है। पश्चिमीकरण के कारण अनेक नई संस्थाएँ– समाचार-पत्र, ईसाई धर्म, चुनाव आदि का भी प्रसार हुआ है।

(2) मानवतावाद और तर्कबुद्धिवाद– आपकी मान्यता है कि पश्चिमीकरण की प्रक्रिया मानवतावाद और तर्कबुद्धिवाद के मूल्यों पर आधारित है। श्रीनिवास के अनुसार ये दोनों मूल्य आधुनिकीकरण की अवधारणा में नहीं होते हैं। मानवतावाद में आयु, लिंग, धर्म, जाति, प्रस्थिति के भेद की भावना नहीं होती है। सबको समान माना जाता है। श्रीनिवास की मान्यता है कि ब्रितानिया शासन के 150 वर्ष के फलस्वरूप भारत में मानवतावाद और औचित्यवाद के मूल्यों की उत्पत्ति हुई, ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर सत्य नहीं है।

(3) समानता के सिद्धान्त की स्थापना और निश्चित अधिकारों की भावना का विचार पश्चिमीकरण के द्वारा हुआ है।

पश्चिमीकरण के स्तर– श्री निवास ने पश्चिमीकरण के तीन स्तर बताए है– (1) प्राथमिक स्तर से तात्पर्य उन लोगों से है जो ब्रिटिश के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क में आए, (2) द्वितीय स्तर से अभिप्राय उन लोगों से है जो लोग प्राथमिक स्तर पर आए लोगों से प्रत्यक्ष रूप में लाभान्वित हुए तथा (3) तृतीय स्तर से अर्थ उन लोगों से है जो पश्चिमीकरण की प्रक्रिया से परोक्ष रूप में लाभान्वित होते है।

संस्कृतिकरण एवं पश्चिमीकरण द्वारा परिवर्तन–

संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण के द्वारा भारत में अनेक सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन हुए हैं। ब्रितानिया शासन के साथ पश्चिम की संस्कृति, सभ्यता, प्रौद्योगिकी, विज्ञान आदि का भारत में आगमन हुआ। अँग्रेजों के पास सत्ता और शक्ति होने के कारण उनका स्थान ब्राह्मणों से भी उच्च हो गया। श्रीनिवास तथा डेविस की मान्यता है कि ब्राह्मणों ने अंग्रेजी संस्कृति (पश्चिमीकरण) का अनुकरण किया तथा ब्राह्मणों की संस्कृति का निम्न जातियो ने अनुकरण किया। अंग्रेजी शासन तथा सत्ता से सम्बन्धित लाभ प्राप्त करने के लिए ब्राह्मणों तथा अन्य शिक्षित लोगों ने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करना प्रारम्भ किया। इससे भारत में एक वर्ग पश्चिमीकरण की प्रक्रिया द्वारा परिवर्तित होने लगा। उस वर्ग की वेश-भूषा, रहन-सहन के तरीके, खान-पान, सोच-विचार आदि बदले। पश्चिमीकरण की प्रक्रिया भारत के विभिन्न क्षेत्रों तथा जातियों एवं वर्गों में भिन्न-भिन्न थी। श्रीनिवास के अनुसार मैसूर में पश्चिमीकरण की दौड में ब्राह्मण सबसे आगे थे। ब्राह्मणों का स्थान लेने के लिए निम्न जातियो में ब्राह्मणीकरण की प्रक्रिया द्वारा परिवर्तन आए। ब्राह्मण अंग्रेजो की संस्कृति तथा अन्य जातियाँ अंग्रेजो तथा ब्राह्मणो की संस्कृति का अनुकरण कर रही थी।

ब्रितानिया सरकार ने भारत की अर्थव्यवस्था को नष्ट कर दिया, कुटीर उद्योग समाप्त हो गए। "फूट डालो और राज्य करो" की रणनीति को अपनाया। एक जाति या समूह को अन्य जाति या समूह के विरुद्ध भडकाना तथा लडाना ब्रितानिया सरकार का प्रमुख कार्य हो गया था। पश्चिमीकरण के कारण सामाजिक प्रस्थिति तथा स्तरीकरण में अन्तर-विभेद पैदा हो गया। श्रीनिवास के द्वारा प्रतिपादित संस्कृतिकरण तथा पश्चिमीकरण की प्रक्रियाएँ भारत मे सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या और विश्लेषण के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान हैं। लेकिन ये अवधारणाएँ भारतीय समाज के प्रमुख क्षेत्रो, जैसे– राजनैतिक व्यवस्था, उसकी संरचना और कार्यों के परिवर्तन की व्याख्या नहीं करती

हैं। इसी प्रकार वर्ग-संघर्षों, जैसे– धनी-निर्धन, भू-स्वामी और भूमिहीन कृषकों, समर्थ तथा कमजोर के मध्य परिवर्तित हो रहे सम्बन्धों की व्याख्या नहीं करते हैं। आपकी इन अवधारणाओं द्वारा परिवर्तन का अध्ययन एक सीमा तक ही किया जा सकता है।

2.3 लघु-परम्परा एवं दीर्घ परम्परा– रॉबर्ट रेडफील्ड ने भारत में सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन के लिए लघु-परम्परा और दीर्घ- परम्परा की अवधारणाओं का उल्लेख किया है। आपकी मान्यता है कि सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों का आधार 'परम्परा का सामाजिक संगठन' है। भारत की परम्परा का सामाजिक संगठन लघु-परम्परा और दीर्घ-परम्परा से निर्मित हुआ है। जन- साधारण और अशिक्षित कृषकों से सम्बन्धित परम्परा लघु है। अभिजात या चिन्तनशील तथा गणमान्य लोगों से सम्बन्धित परम्परा दीर्घ है। इन परम्पराओं की संस्थागत भूमिकाएँ, प्रस्थितियाँ और सम्बन्धित लोग होते है। इन परम्पराओं में निरंतर अंत क्रिया होती है। रेडफील्ड के अनुसार जन-साधारण और अभिजात में परस्पर विचारों का प्रवाह, और सम्बन्धों का आदान-प्रदान होता रहता है।

दीर्घ-परम्पराएँ धर्मशास्त्रों में विद्यमान होती हैं तथा इनकी विषय-वस्तु शास्त्रीय तथा सांस्कृतिक होती है। दीर्घ-परम्पराएँ व्यवस्थित, चिन्तनशील तथा लिखित होती है।

लघु-परम्पराएँ शास्त्रीय नही होती है। इनका धर्मशास्त्रों मे वर्णन भी नही मिलता है। ये कम व्यवस्थित तथा अनिश्चित होती हैं। इनका एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरण मौखिक रूप से होता है। लघु-परम्परा चिन्तनशील कम तथा स्थानीय होती है। यह अशिक्षित कृषक समाज में विद्यमान होती है। इन दोनो परम्पराओं मे परस्पर विचारों का प्रवाह और सामाजिक सम्बन्धों का आदान-प्रदान तथा अन्त क्रिया होती रहती है। इन दोनों लघु एवं दीर्घ परम्पराओ की अन्त क्रिया की विवेचना अनेक विद्वानों ने की है। कुछ प्रमुख विवेचनाएँ निम्नलिखित है—

2.4 सार्वभौमिकरण और स्थानीयकरण—

मैकिम मैरियट ने लघु-परम्परा और दीर्घ-परम्परा मे परस्पर अन्त क्रियाओं की प्रक्रियाओ की व्याख्या के लिए दो अवधारणाएँ– (1) सार्वभौमिकरण और (2) स्थानीयकरण– दी हैं। आपका कहना है कि जब लघु परम्पराओं के तत्वों का प्रसार ऊपर की ओर होता है उसका प्रसार या फैलाव वृहद् स्तर तक हो जाता है। लघु परम्पराओं के तत्व दीर्घ परम्पराओ के साथ जुड जाते हैं, तो इस प्रक्रिया को मैरियट सार्वभौमिकरण कहते हैं। स्थानीयकरण वह प्रक्रिया है जिसमें दीर्घ-परम्परा के तत्व नीचे की ओर जाते है तथा लघु-परम्परा के अंग बन जाते हैं। नीचे की ओर जाने से तात्पर्य है कि दीर्घ-परम्परा के तत्व अशिक्षित जन-साधारण तक पहुँच जाते हैं। जब लघु-परम्परा के तत्व ऊपर की ओर तथा दीर्घ परम्परा के तत्व नीचे की ओर जाते हैं तो उनके मूल स्वरूप में परिवर्तन भी हो जाता है। मैरियट ने लघु तथा दीर्घ परम्पराओं मे परस्पर अन्त क्रिया की सार्वभौमिकरण तथा स्थानीयकरण द्वारा व्याख्या की है।

आलोचना—

सार्वभौमिकरण और स्थानीयकरण का उपागम बहुत सीमित परिवर्तन की व्याख्या कर पाता है। इसके द्वारा सास्कृतिक परिवर्तन को तो समझा जा सकता है परन्तु सामाजिक संरचना की व्याख्या संस्कृति के द्वारा की जाती है। यह उपागम अभिजात और जनसाधारण, या सम्पन्न एवं दमनित के बीच अन्त क्रिया की जो सरल व्याख्या करता है वास्तव मे वह इतनी सरल नहीं है जितनी

सरल लघु एवं दीर्घ परम्पराओं के बीच है। इसके अतिरिक्त परम्पराएँ केवल दो ही नहीं हैं बल्कि अनेक हैं।

2.5 बहु-ध्रुवीय परम्पराएँ— एस.सी. दुबे का कहना है कि भारत में परम्पराओं का संगठन द्विध्रुवीय (लघु-दीर्घ, सार्वभौमिक-स्थानीय) नहीं है बल्कि बहुध्रुवीय है। आपने भारतीय संस्कृति के अध्ययन के आधार पर निम्नलिखित छ परम्पराओं का उल्लेख किया है— (1) शास्त्रीय परम्पराएँ, (2) उद्‌गामी राष्ट्रीय परम्परा, (3) क्षेत्रीय परम्परा, (4) स्थानीय परम्परा (5) पश्चिमी परम्परा, तथा (6) सामाजिक समूहों की उप-सांस्कृतिक परम्पराएँ।

दुबे द्वारा वर्णित ये छ. परम्पराएँ भी सांस्कृतिक परिवर्तन के अध्ययन मे तो सहायक हैं परन्तु सामाजिक संरचना का अध्ययन सीधे करने पर जोर नहीं देती है।

(3) संरचनात्मक उपागम

समाजशास्त्र में सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन संरचनात्मक उपागम से भी कर सकते हैं। उसमें विचार, मानक, मूल्य आदि चरों के आधार पर अध्ययन नहीं किया जाता है बल्कि समाज का सरचनात्मक विश्लेषण करके परिवर्तन का अध्ययन किया जाता है। संरचनात्मक विश्लेषण के आधार— भूमिकाएं और प्रस्थितियां होती हैं तथा इसमें समूह तथा लोगो की श्रेणियों का विश्लेषण किया जाता है। सामाजिक सम्बन्धों की भिन्नता तथा सामाजिक श्रेणियो को इकाइयाँ मानकर अध्ययन किया जाता है। पहिले भूमि, राजनैतिक सत्ता आदि पर जमींदारों, जागीरदारों, राजा-महाराजाओं आदि का नियंत्रण था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जमींदारी उन्मूलन तथा राज्य सत्ता की प्राचीन परम्पराओं को समाप्त किया गया, इससे सामाजिक संरचना में परिवर्तन आए। संरचनात्मक उपागम के द्वारा जो अध्ययन किए गए उनमे निम्नलिखित परिवर्तन स्पष्ट हुए हैं। पहिले सामाजिक गतिशीलता नहीं थी। समाज प्रदत्त प्रस्थिति पर आधारित था। लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अर्जित प्रस्थिति उभर कर सामने आने लगी। कानून द्वारा परम्परात्मक उच्चता और निम्नता को समाप्त कर दिया गया। व्यवहार में भी यह समाप्त हो रही है। खेतिहर मजदूर, किसान तथा कृषक भूस्वामी बन गए। पहिले के भू-स्वामी सामान्य कृषक बन गए। परम्परागत सामाजिक सरचना को आधुनिक यातायात के साधनो— वयस्क मताधिकार, पंचायती राज, विकास कार्यक्रमो, हरित-क्रान्ति आदि ने परिवर्तित किया है। जाति वर्ग मे परिवर्तित हो रही है। परम्परागत शक्ति-सरचना मे अनेक परिवर्तन आए है। सामाजिक संरचना के विभिन्न मानक, भूमिकाएँ, प्रस्थितियाँ, प्रकार्य, आदि में परिवर्तन हुए हैं। आधुनिक शिक्षा ने भी नवीन परिवर्तन लाने मे सहयोग दिया है।

अनेक संरचनात्मक परिवर्तन आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में भी हुए है। उनमें अनेक जातियो और व्यक्तियों ने विकास किया है। पहले जो जातियाँ और लोग दलित थे, निम्न थे, वे आज प्रमुख और शक्ति के महत्वपूर्ण निर्णायक बन गए हैं। जाति के सरचनात्मक लक्षणो मे अनेक परिवर्तन आए है। व्यवसाय परम्परागत नहीं रहे हैं, अर्जित हो गए है। जाति-व्यवस्था जातिवाद मे परिवर्तित हो रही है। अनेक मध्यम जातियाँ पंचायत, विधान सभा तथा लोक सभा में महत्त्वपूर्ण पदो पर आसीन हैं। अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा पिछड़े वर्गों को कानून अधिकार और आरक्षण मिला है जिससे प्रमुख जातियों तथा आरक्षित जातियो में संघर्ष भी बढ़ा है। ये संघर्ष बिहार, उत्तर प्रदेश, कर्नाटक में अधिक बढ़े हैं। द्विज जातियों का अन्य जातियो के साथ सरचना मे द्वंद्व देखा जा सकता है। इससे संघर्ष बढ़े है।

(4) द्वंद्वात्मक-ऐतिहासिक उपागम

कार्ल मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन के लिए द्वंद्वात्मक-ऐतिहासिक उपागम प्रतिपादित किया है। आपने परिवर्तन के निम्नलिखित चार चरणों का उल्लेख किया है—(1) एशियाई, (2) प्राचीन, (3) सामन्तवादी, और (4) आधुनिक-बुर्जुआ उत्पादन विधियाँ। मार्क्स ने भारत को अपने प्रारम्भिक विचारों में एक स्थिर, ऐतिहासिक और आदिम सामाजिक संरचना बताया। बाद में आपने इस विचार में संशोधन किया तथा निम्नलिखित पाँच चरणों का वर्णन किया है—(1) जनजातीय समुदाय, जिसके पास अविभाजित सम्पत्ति के रूप में भूमि और खेती होती है, (2) जनजातीय समुदाय का विघटन और पारिवारिक समुदायों में इसका रूपान्तरण और सामुदायिक सम्पत्ति की समाप्ति होती है, (3) उत्तराधिकार के अधिकारों या बंधुता के अंश के आधार पर भूमि में भागीदारी का निर्धारण तथा असमानता की स्थापना (असमानता में वृद्धि का कारण जनजातीय युद्ध रहे), (4) नातेदारी पर आधारित असमानता का सम्पत्ति या वास्तविक कृषि-स्वामित्व पर आधारित असमानता में परिवर्तन, और (5) सामुदायिक भूमि के वितरण की व्यवस्था।

डी.पी. मुकर्जी, ए.आर. देसाई, तथा अनेक विद्वानों ने भारत में सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण मार्क्सवादी द्वंद्वात्मक उपागम से किया है। इनमे जाति और राजनीति, उत्पादन की पद्धतियाँ, वर्ग संघर्ष आदि के परिवर्तन का अध्ययन महत्त्वपूर्ण रहे हैं। डी.पी. मुकर्जी ने कुछ संशोधन के साथ द्वद्ववाद द्वारा परिवर्तन का अध्ययन किया था। आपने परम्पराओं के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखा कि भारतीय परम्परा में अनुकूलन करने की शक्ति है। परम्परा सदैव विद्यमान रहने वाली शक्ति है। परम्पराएँ तनाव और संघर्ष के बाद अनुकूलन लाती है। ए.आर. देसाई ने भारत में राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि के विश्लेषण एवं अध्ययन के लिए मार्क्स के द्वंद्ववाद को उपयुक्त ठहराया है। आपका कहना है कि सामाजिक परिवर्तन और विकास की प्रकृति के निर्णायक वर्ग पर आधारित असमानताएँ और अन्तर्विरोध हैं। देसाई के अनुसार भारत में राष्ट्रवाद का उदय ब्रितानिया सरकार द्वारा लागू की गई आर्थिक अवस्थाएँ रही हैं। रामकृष्ण मुकर्जी ने भी मार्क्सवादी उपागम के आधार पर अध्ययन किया है जो उनकी पुस्तक 'द राइज एण्ड फॉल ऑफ द ईस्ट इण्डिया कम्पनी' में मिलता है।

(5) ज्ञानात्मक-ऐतिहासिक उपागम

भारत मे सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन करने के लिए लुई ड्यूमों ने ज्ञानात्मक-ऐतिहासिक उपागम का सुझाव दिया है। आपकी मान्यता है कि सामाजिक संरचना में परीवर्तन लाने के लिए पहिले सांस्कृतिक या वैचारिक परिवर्तन का लाना अत्यावश्यक है। जब तक विचारों में परिवर्तन नही होगा संरचना में परिवर्तन लाना कठिन है।

(6) संस्थात्मक उपागम

इस उपागम के समर्थक गुन्नार मिर्डल हैं। आपका कहना है कि सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन संस्थात्मक उपागम के द्वारा करना चाहिए। मिर्डल का कहना है कि आर्थिक विकास में अन्य कारक जो आर्थिक नहीं हैं परिवर्तन में बाधक होते है। आपने संस्थात्मक उपागम में इन्हीं गैर-आर्थिक कारको की भूमिका का आर्थिक विकास मे बाधाओं के रूप में वर्णन किया है। अगर हम निश्चित दिशा में कोई आर्थिक विकास करना चाहते हैं तो उससे पहिले हमे जीवन और कार्य तथा

सम्बन्धित संस्थाओं के सम्बन्ध में लोगों की मनोवृति को बदलना होगा। ऐसा करना आपने आवश्यक बताया है। इसके बिना आप परिवर्तन को कठिन मानते हैं।

(7) एकीकृत उपागम

भारत के आधुनिक समाजशास्त्री योगेन्द्र सिंह ने भारत मे सामाजिक परिवर्तन के उपर्युक्त उपागमों की विवेचना एव मूल्यांकन के बाद "एकीकृत उपागम" प्रस्तुत किया है। आपने इस एकीकृत उपागम मे भारत मे सामाजिक परिवर्तन के सभी पक्षों को प्रस्तुत किया है जैसे परिवर्तन के स्रोत, सांस्कृतिक सरचना, सामाजिक संरचना, इनके परिवर्तन के स्तर, परिवर्तन के आन्तरिक एव बाह्य कारक आदि। आपने कहा कि भारत में सामाजिक परिवर्तन— (1) सांस्कृतिक सरचना में देखना चाहिए अर्थात् लघु-परम्परा और दीर्घ-परम्परा मे क्या परिवर्तन हुए है, (2) सामाजिक सरचना मे परिवर्तन का अध्ययन करना चाहिए अर्थात् सूक्ष्म-संरचना और वृहद्-संरचना के परिवर्तनों का अध्ययन करना चाहिए, (3) सांस्कृतिक संरचना के स्तर पर आपने विजातीय परिवर्तनो के सदर्भ में इस्लामीकरण और पश्चिमीकरण की विवेचना की है। आपने लघु-परम्परा और दीर्घ-परम्परा पर जो इनके प्रभाव पड़े है उनका वर्णन किया है, (4) सामाजिक संरचना मे भी आपने लघु एव वृहद् स्तर पर परिवर्तनो की विवेचना की है। लघु स्तर अर्थात् सूक्ष्म परिवर्तनो के रूप में आपने भूमि का विभेदीकरण एव नव-वैधीकरण का वर्णन किया है तथा वृहद् सामाजिक सरचना मे राजनैतिक नवाचारो, अभिजात की नूतन-रचनाएँ, शासनतंत्र, उद्योग आदि को सम्मिलित किया है। सिंह के अनुसार सांस्कृतिक और सामाजिक संरचनाओ में परिवर्तन आन्तरिक और बाह्य कारको द्वारा होते है। आपके अनुसार सामाजिक परिवर्तन का कारण सामाजिक व्यवस्था की परम्परा के भीतर और बाहर दोनो ही रूपों में होता है। आपने भारत मे सामाजिक परिवर्तन के एकीकृत उपागम मे सभी पक्षो की व्याख्या की है। अधिकतर वैज्ञानिकों ने भारत में सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन मे सांस्कृतिक संरचना पर विशेष ध्यान दिया है तथा सामाजिक सरचना पर कम। योगेन्द्र सिंह ने इनमे समन्वय स्थापित किया है।

प्रश्न

1 सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा दीजिए। भारतवर्ष मे सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति एव दिशा पर एक सोदाहरण टिप्पणी लिखिए। (चार पृष्ठों में)
(मा.शि.बो., अजमेर, 1994)
2 क्रान्ति की परिभाषा दीजिए। वर्तमान में सामाजिक क्रान्ति का वर्णन कीजिए।
3. उद्विकास की परिभाषा दीजिए तथा विशेषताओ पर प्रकाश डालिए।
4 प्रगति का अर्थ बताइए तथा इसकी विशेषताओ की विवेचना कीजिए।
5. विकास से आप क्या समझते है ? इसकी विशेषताओ का उल्लेख कीजिए।
6. सामाजिक आन्दोलन से आप क्या समझते है ? सामाजिक आन्दोलन के प्रमुख प्रकारो का वर्णन कीजिए।
7 भारतीय समाज मे सामाजिक परिवर्तन के सदर्भ मे संस्कृतिकरण एव पश्चिमीकरण की प्रक्रियाओ का वर्णन कीजिए। (चार पृष्ठो मे)
(मा शि बो , अजमेर, 1994)

8. सामाजिक परिवर्तन के उद्विकास या एकीकृत उपागम की विवेचना कीजिए।
9. निम्नलिखित विद्वानों के सामाजिक परिवर्तन सम्बन्धी योगदान पर एक पृष्ठ लिखिए–
   (1) एम.एन. श्रीनिवास
   (2) योगेन्द्र सिंह
   (3) एस.सी. दुबे
   (4) गुन्नार मिर्डल

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (उत्तर संकेत सहित)

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–
   (1) सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक .... है।
   (2) किसी भी वस्तु के बाहर की ओर फैलने को .... कहते हैं।
   (3) सामाजिक परिवर्तन का एकीकृत उपागम .... ने दिया है।
   (4) सार्वभौमिक और स्थानीयकरण की अवधारणा ...., ने दी है।
   (5) किंग्सले डेविस के अनुसार सामाजिक परिवर्तन से हम केवल उन्हीं परिवर्तनों को समझते है जो सामाजिक संगठन अर्थात् समाज के ढाँचे और .... में घटित होते है।
   (6) लघु और दीर्घ परम्परा की अवधारणा .... ने दी है।
   (7) संस्कृतिकरण की अवधारणा .... ने प्रतिपादित की है।
   (8) बहुध्रुवीय परम्पराओं का वर्गीकरण .... ने दिया है।
   [उत्तर- (1) प्रक्रिया, (2) उद्विकास, (3) योगेन्द्र सिंह, (4) मैकिम मेरियट, (5) कार्यों, (6) रॉबर्ट रैडफील्ड, (7) एम.एन. श्रीनिवास, (8) एस.सी. दुबे]
2. निम्नलिखित के उपयुक्त जोड़े बनाइए–
   (1) सार्वभौमिकरण (अ) रैडफील्ड
   (2) बहु-ध्रुवीय परम्पराएँ (ब) एस.सी. दूबे
   (3) दीर्घ-परम्परा (स) योगेन्द्र सिह
   (4) एकीकृत उपागम (द) स्पेन्सर
   (5) उद्विकास (क) मैकिम मेरियट
   (6) सस्कृतिकरण (ख) मार्क्स
   (7) द्वन्द्ववाद (ग) एम.एन. श्रीनिवास
   [उत्तर- (1) क, (2) ब, (3) अ, (4) स, (5) द, (6) ग, (7) ख]
3. निम्नलिखित कुछ प्रश्न और उनके उत्तरों के विकल्प दिए हैं, आपको सही विकल्प का चुनाव करना है–

(1) ''सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।'' यह कथन किसका है ?
   (अ) डेविस (ब) श्रीनिवास (स) मैकाइवर और पेज (द) बॉटोमोर
(2) सामाजिक उद्विकास का सिद्धान्त दिया है–
   (अ) ग्रीन, (ब) स्पेन्सर (स) मैकाइवर (द) डेविस
(3) संस्कृतिकरण की अवधारणा किस वैज्ञानिक ने प्रतिपादित की है ?
   (अ) दुबे (ब) श्रीनिवास (स) योगेन्द्र सिंह (द) रैडफील्ड

(4) लघु तथा दीर्घ परम्परा की अवधारणा का वर्णन किसने किया है ?
(अ) श्रीनिवास (ब) मैकिम मैरियट (स) श्रीनिवास (द) रॉबर्ट रैडफील्ड

(5) एस.सी. दुबे ने भारत की परम्पराओं को कितने प्रकारों में बाँटा है ?
(अ) चार (ब) पाँच (स) छ

(6) स्थानीयकरण और सार्वभौमिकरण की प्रक्रियाएँ किसने बताई है ?
(अ) दुबे, (ब) योगेन्द्र सिंह (स) मार्क्स (द) मैकिम मैरियट

(उत्तर- (1) स, (2) ब, (3) ब, (4) द, (5) स, (6) द।

अतिलघु-उत्तरीय प्रश्न

1. लघु एवं दीर्घ परम्पराओं का अर्थ बताइए। (लगभग आगे पृष्ठ में)
(मा. शि. बो., अजमेर, 1994)
2. ब्राह्मणी करण और संस्कृति करण में अन्तर बताइए (लगभग आगे पृष्ठ में)
(मा. शि. बो., अजमेर, 1994)
3. सामाजिक प्रगति के कोई तीन मापदण्ड बताइए।
4. क्रान्ति की कोई एक परिभाषा दीजिए।
5. उद्विकास की कोई तीन विशेषताएँ बताइए।
6. उद्विकास की एक परिभाषा दीजिए।
7. किंग्सले डेविस द्वारा दी गई सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा दीजिए।
8. सामाजिक परिवर्तन की मैकाइवर और पेज की परिभाषा दीजिए।

लघु-उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए,-

1. क्रान्ति
2. प्रगति
3. विकास
4. आन्दोलन
5. उद्विकास
6. संस्कृतिकरण
7. पश्चिमी करण
8. लघु-परम्परा
9. दीर्घ-परम्परा
10. सार्वभौमिकरण
11. स्थानीयकरण
12. एकीकृत उपागम

□□□

अध्याय – 13

सामाजिक परिवर्तन के कारक

(Factors of Social Change)

अनेक समाज विचारको ने इस तथ्य का अध्ययन किया कि सामाजिक परिवर्तन क्यों होता है ? वे कौन-से कारक है जो सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। लेकिन पूर्णतया व स्पष्ट कारक अभी भी विवादास्पद व भ्रामक हैं। कोई एक कारक को जिम्मेदार बताता है तो दूसरा अन्य कारक को— सम्भवत अनेक कारक मिलकर सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होते है। संक्षेप में सामाजिक परिवर्तन के निम्नलिखित कारक हो सकते हैं—

(1) प्राकृतिक कारक

(2) प्राणिशास्त्रीय कारक

(3) जनसख्यात्मक कारक

(4) प्रौद्योगिकीय कारक

(5) आर्थिक कारक

(6) सांस्कृतिक कारक

(7) राजनैतिक कारक

(8) कानूनी कारक

(9) वैचारिक कारक

(10) महापुरुषों की भूमिका

इन पर विस्तार से विचार किया जायेगा।

(1) प्राकृतिक कारक— प्राकृतिक कारक सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होते है। जैसे—भूकम्प, बाढ, अतिवृष्टि आदि गाँवों को अपनी चपेट में ले लेते है जिससे परिवार उजड़ जाते हैं या इधर-उधर अपनी सुरक्षा के लिए चले जाते हैं जिसके कारण उनके वास्तविक सम्बन्ध भी अदृश्य हो जाते हैं। जिससे परिवार, विवाह, नातेदारी आदि में परिवर्तन आ जाता है। जहाँ प्रकृति का प्रकोप किसी रूप में नही होता, प्रकृति शान्त रहती है वहाँ पर समाज प्रगति करते है। विज्ञान का विकास होता है, नवीन निर्माण होते है। कृषक लोग अच्छी खेती होने पर सामाजिक उत्सव मनाते

हैं जिससे उनमें सामाजिक एकता बढ़ती है। समाज सशक्त बनता है। प्रतिस्पर्धा आदि कम होती है। इस प्रकार प्राकृतिक कारक प्रकार्यात्मक और अप्रकार्यात्मक दोनों प्रकार के परिवर्तन लाते हैं।

भारत कृषि प्रधान देश है। ग्रामों की खुशहाली प्रकृति पर निर्भर रहती है। अच्छी वर्षा होने पर खुशहाली आती है। बाढ़ या सूखा के कारण जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। भारत में प्रत्येक साल कहीं अच्छी वर्षा तो कहीं अतिवृष्टि या सूखा पड़ता है। प्राकृतिक भिन्नता के कारण भारत में विविध संस्कृतियाँ तथा धर्म मिलते हैं।

प्राकृतिक एवं भौगोलिक कारकों की भिन्नता के कारण से भारत में सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनैतिक संरचनाओं में भिन्नताएँ मिलती है तथा परिवर्तन होते रहते हैं।

(2) प्राणिशास्त्रीय कारक– प्राणिशास्त्रीय कारक वे कारक हैं जो जनसंख्या के प्रकार का निर्धारण करते है। व्यक्तियों का स्वास्थ्य, शारीरिक एवं मानसिक क्षमता, विवाह की आयु, प्रजनन-दर, कद, शारीरिक गठन आदि सभी जैविकीय कारकों से सम्बन्धित है। किसी समाज के लोगों की जन्म एवं मृत्यु-दर, जनसंख्या की न्यूनता एवं अधिकता, औसत आयु आदि भी प्राणिशास्त्रीय कारकों से प्रभावित होती है। उदाहरणार्थ– यदि किसी समाज में पुरुषों की औसत आयु कम है तो वहाँ विधवा-विवाह के रूप में सामाजिक परिवर्तन आ सकता है, इसके परिणामस्वरूप स्त्री की प्रस्थिति एवं बच्चों की शिक्षा आदि भी प्रभावित होंगी।

इसी तरह जनसंख्या की न्यूनता अथवा अधिकता समाज की संस्थाओं आदि को प्रभावित करेगी। यदि किसी समाज में स्त्रियों की संख्या अधिक है तो बहु-पत्नी विवाह की प्रथा हो सकती है। लोगों का मानना है कि अन्तर्जातीय विवाह से प्रतिभाशाली सन्तान उत्पन्न होती है जो नवीन आविष्कार व परिवर्तन ला सकती है। भारत में जाति-व्यवस्था विवाह को संचालित करती है जिससे जनसंख्या का अनुपात संतुलित रहता है।

प्लेटो भी यही मानते है कि प्राणिशास्त्रीय दृष्टि से श्रेष्ठ लोगों वाला समाज उन्नति करता है। विपरीत स्थिति होने पर समाज अवनति को प्राप्त होता है।

(3) जनसंख्यात्मक कारक– सामाजिक परिवर्तन के लिए जनसंख्यात्मक कारक भी महत्त्वपूर्ण होते है। किसी समाज की जनसंख्या उसकी संरचना को प्रत्यक्षतः प्रभावित करती है, जैसे– अधिक जनसंख्या होने से उस स्थान मे गरीबी होगी, जिससे समाज में संघर्ष व तनाव होगा। यदि किसी स्थान की जनसंख्या कम होती है तो इस समाज मे योग्य व्यक्तियों की कमी हो जाती है और उपलब्ध सामग्री का उपयोग नहीं होने से उस समाज की आर्थिक स्थिति दुर्बल हो जायेगी।

मैकाइवर एवं पेज ने अपनी पुस्तक 'सोसाइटी' में लिखा है, "उन्नीसवीं शताब्दी में जनसंख्या की अभूतपूर्व वृद्धि के साथ परिवार-नियोजन का विकास हुआ। इन पद्धति का पारिवारिक सम्बन्धों तथा विवाह के प्रति दृष्टिकोण पर भी प्रभाव पड़ा.... एकाकी परिवार की कमी के साथ विवाह व तलाक की सुविधा, पति-पत्नी के सम्बन्ध व माता-पिता के प्रति सन्तान का सम्बन्ध, परिवार की आर्थिक निर्भरता आदि में परिवर्तन हो रहे हैं।"

भारतवर्ष मे जनसंख्या की वृद्धि तेजी से हो रही है जिसके कारण देश मे गरीबी, अशिक्षा, बेकारी, निम्न जीवन स्तर, जनसंख्या के घनत्व मे वृद्धि, नगरों में आवास की समस्या आदि बढ़ रही

हैं। जब तक देश की जनसंख्या पर नियंत्रण नहीं किया जाएगा ये समस्याएँ भारतीय समाज और संस्कृति को प्रगति नही करने देंगी। देश के सभी विकास कार्यक्रम जनसंख्यात्मक कारकों के कारण असफल हो रहे है तथा सामाजिक परिवर्तन में बाधा बने हुए हैं।

(4) प्रौद्योगिकीय कारक— सामाजिक परिवर्तन का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कारक प्रौद्योगिकीय कारक है। समाज मे आज जो कुछ परिवर्तन सभी दिशाओं में दिखाई देता है, वह सब नवीन तकनीक का प्रभाव है। प्रौद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप नगरीकरण बढ़ा है, नए-नए कल-कारखानों का आविष्कार हुआ है जिसमें स्त्री-पुरुष सभी को काम मिला है। स्त्रियाँ घर के क्षेत्र से निकलकर बाहर आई है जिससे पर्दा-प्रथा, छुआ-छूत व जाति-बन्धनों में ढील हुई है। नवीन संस्थाएँ खुली हैं अर्थात् जब भी किसी नवीन तकनीक का प्रादुर्भाव होता है तो वह हमारे सामाजिक जीवन को अवश्य प्रभावित करती है।

मैकाइवर एव पेज ने लिखा है कि जब किसी नई मशीन का आविष्कार होता है तो वह अपने साथ सामाजिक जीवन में एक नए परिवर्तन को लाती है। ऑगबर्न ने केवल रेडियो के आविष्कार के कारण हुए 150 परिवर्तनो का उल्लेख किया है। स्पाइसर ने अपनी पुस्तक में ऐसे अनेक अध्ययनों की चर्चा की है जिससे स्पष्ट होता है कि छोटे यन्त्र के आ जाने से भी एक समुदाय में विस्तृत व अनपेक्षित परिवर्तन हो सकते हैं।

भारत मे अभी इन परिवर्तनो पर अधिक प्रकाश नही डाला गया। बोटोमोर ने इसी सन्दर्भ में कहा है कि भारतवर्ष में अनेक प्रक्रियाएँ एक साथ घटित हो रही हैं। अनेक वांछित एवं अवांछित परिवर्तन दिखाई देते हैं जो प्रत्यक्ष रूप में औद्योगीकरण तथा नवीनीकरण से उत्पन्न होते है।

भारत में औद्योगीकरण के अनेक परिणाम दिखाई देते हैं। जैसे-नगरों में अनेक घनी बस्तियाँ बस गई हैं, सामाजिक सम्बन्धों मे औपचारिकता आ गई है, अपराधों में वृद्धि हुई है। श्रम-विभाजन एव विशेषीकरण बढ़ा है। श्रमिकों की समस्याओं ने संघर्ष को जन्म दिया है। धर्म के प्रभाव में व नैतिकता में कमी आई है। दुर्घटना, बीमारी आदि बढे हैं। भारत में जीवन यन्त्रवत् होता जा रहा है। व्यक्ति को अपने व अपने परिवार के लिए भी समय नही रहा है। इस प्रकार प्रौद्योगीकरण ने भारतीय समाज को अनेक रूपो में प्रभावित किया है।

(5) आर्थिक कारक— कार्ल मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन के लिए आर्थिक कारक को महत्त्वपूर्ण माना है। इनका मानना है कि प्रत्येक समाज में दो वर्ग पाए जाते है। एक पूँजीपति वर्ग तथा दूसरा श्रमिक वर्ग। ये वर्ग उत्पादन के साधनों व सम्पत्ति पर अधिकार की दृष्टि से है। दोनो वर्गों में सदैव संघर्ष होता रहता है। वर्ग-सघर्ष एक समाज व्यवस्था को समाप्त करता है और उसके स्थान पर दूसरी व्यवस्था जन्म ले लेती है, जैसे—यदि समाज पूँजीवाद से साम्यवादी व्यवस्था को अपना लेता है तो नई *समाज व्यवस्था जन्म* ले लेती है।

विवाह, आवास, स्वास्थ्य, जनसंख्या, विवाह-विच्छेद, बेकारी, गरीबी, आत्म-हत्या, मद्यपान आदि समाज की आर्थिक स्थिति से ही सम्बन्धित हैं। आर्थिक परिस्थितियों के कारण राजनैतिक उथल-पुथल, आतंक, क्रान्ति आदि का जन्म होता है। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति का वितरण, लोगों का जीवन-स्तर, वर्ग-सघर्ष, उत्पादन, व्यापार आदि भी आर्थिक कारण से उत्पन्न होते हैं जो सामाजिक संरचना को प्रभावित करते हैं। कहने का आशय है कि समाज की आर्थिक संरचना में परिवर्तन का अर्थ सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था में परिवर्तन होना है।

(7) राजनैतिक कारक— सांस्कृतिक कारको के समान ही राजनैतिक कारक भी सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब सत्ता अथवा सरकार बदली है तो उसने अपने अनुसार समाज में अनेक परिवर्तन किए हैं। प्रत्येक राजनैतिक दल की अपनी-अपनी राजनैतिक नीतियाँ होती हैं। उदाहरण के लिए, भारत में जब अंग्रेज सत्ता छोड़कर गए तो भारतीय सरकार ने समाज में अनेक सुधार किए। छुआछूत की समाप्ति, दास-प्रथा की समाप्ति, बैंकों का राष्ट्रीयकरण, राजाओं के अधिकारों की समाप्ति, जागीरदारी प्रथा का उन्मूलन आदि कारको ने भारत में सामाजिक जीवन को अनेक रूपों में प्रभावित किया है।

अनेक क्रान्तियाँ व युद्ध भी सामाजिक जीवन को प्रभावित करते हैं। भारत में 1947 में देश के बँटवारे के कारण अनेक लोग मारे गए और उनकी स्त्रियाँ व बच्चे, बूढे दूसरे स्थानों पर जाकर शरणार्थी बन कर रहे तथा धीरे-धीरे वहाँ की संस्कृति को अपना लिया था। बँटवारे के कारण राजनैतिक व सामाजिक दोनों ही व्यवस्थाएँ बदलीं। इस प्रकार राजनैतिक सत्ता, युद्ध, क्रांति आदि सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होते है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश की राजनैतिक सरचना तथा संगठन में आमूल-चूल परिवर्तन आया। 1950 में देश का सविधान पारित हुआ। जिसमें आयु, लिंग भेद, जाति, धर्म, वर्ग, प्रजाति आदि का भेदभाव समाप्त किया गया। इन कारकों का प्रभाव भारत की जाति व्यवस्था तथा अन्य महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्थाओ पर पड़ा। राजनैतिक परिवर्तनों ने भारत में चुनाव प्रणाली, मतदान का अधिकार, समानता तथा भ्रातृत्व को बढावा दिया। राज्य सरकार, केन्द्र सरकार, पंचायती राज आदि राजनैतिक प्रणालियाँ स्थापित की गई। इससे अनेक सामाजिक परिवर्तन आए। संयुक्त परिवार, जाति प्रथा, ग्रामीण सामाजिक संरचना आदि परम्परागत विशेषताओ से आधुनिक विशेषताओ मे परिवर्तित होने लगा। एकाकी परिवार, वर्ग व्यवस्था, जातिवाद आदि में वृद्धि हुई। शक्ति सरचना प्रदत्त से अर्जित में बदली है। अनुसूचित जातियों, जनजातियों, पिछडे वर्गों का विकास करने पर ध्यान दिया गया। उनमें परिवर्तन हो रहा है जिससे सामाजिक संरचना में परिवर्तन आ रहा है। अनेक अधिनियम तथा कानून बने हैं जो परिवर्तन के महत्त्वपूर्ण कारक सिद्ध हुए हैं।

(8) कानूनी कारक— कानून सामाजिक परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण कारक है। भारत में अनेक परिवर्तन भारत के सविधान द्वारा हुए हैं। भारत मे कानून द्वारा अनेक आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तन किए गए है। विभिन्न वर्गों, जातियों तथा लोगों में अनेक विभिन्नताओं, जैसे— ऊँच-नीच, छुआछूत, प्रतिबन्धों आदि को समाप्त करने के लिए अनेक कानून पारित किए गए हैं। अनेक अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, मतान्धता आदि को समाप्त करने के लिए कानून का सहारा लिया जाता है। कानून के द्वारा सामाजिक सुधार एवं कल्याणकारी कार्य किए जा सकते हैं। सामाजिक समस्याओं तथा अपराधों को रोक कर समाज को विघटन से बचाया जा सकता है।

भारत मे सामाजिक सुधार के लिए अनेक कानून बनाए गए हैं। विवाह, परिवार, जाति, स्त्रियों की सामाजिक स्थिति, पिछड़े वर्गों मे सामाजिक परिवर्तन करने के लिए अनेक अधिनियम बने हैं। कुछ उल्लेखनीय कानून जिनसे समाज मे परिवर्तन आया है निम्नलिखित हैं— सती प्रथा पर रोक 1829 मे कानून द्वारा लगाई गई थी। विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1858; विशेष विवाह अधिनियम, 1872; बाल विवाह निरोधक अधिनियम, 1929; हिन्दू विवाह अधिनियम, 1925, दहेज निरोधक अधिनियम, 1962 आदि के द्वारा समाज में परिवर्तन लाने के प्रयास किए गए हैं। इनके अतिरिक्त श्रमिको की समस्याएँ, कर्मचारियों के चयन, कार्य करने के घण्टे, वेतन, बोनस, भविष्य निधि

आदि से सम्बन्धित नियम बनते रहते हैं। कानून ने भारत में अनेक सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

(9) वैचारिक कारक— विचारधाराएँ भी सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होती हैं। जैसे किसी समस्या के हल के लिए समाज-विद्वान अपने विचार प्रस्तुत करते हैं और जिसके विचार मान्य हो जाते हैं वे सामाजिक संरचना में परिवर्तन ले आते हैं। विचारों मे परिवर्तन आने से प्रथाएँ, कानून, रीतिरिवाज भी परिवर्तित हो जाते हैं, जैसे— एक विचारधारा को मानने वाला दल जब सत्ता में आता है तो वह अपने अनुसार समाज में अनेक परिवर्तन कर देता है। कई बार दो विचार परस्पर विरोधी होते हैं और दोनों मान्य भी होते हैं, ऐसी स्थिति मे समाज-व्यवस्था दो भागों में बँट जाती है, जैसे— मार्क्स की विचारधारा से प्रभावित होकर आज सम्पूर्ण विश्व दो मान्यताओं में बँट गया है— एक ओर पूँजीवादी राष्ट्र हैं तो दूसरी ओर साम्यवादी राष्ट्र हैं। इस प्रकार विचारधाराएँ भी सामाजिक परिवर्तन लाती हैं। भारत में अनेक धर्मों, राजनैतिक दलो, समाज सुधारकों ने अपनी-अपनी विचारधारा के अनुसार परिवर्तन लाने का प्रयास किया है।

(10) महापुरुषों की भूमिका— समाज की व्यवस्था को सुचारु रूपेण चलाने के लिए महान पुरुषों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। इतिहास मे इस बात के प्रमाण मिलते है कि समाज कभी भी महापुरुषों से विमुख नहीं रहा है। समाज में जितनी भी क्रान्तियाँ-आन्दोलन आदि हुए हैं, सभी किसी न किसी महापुरुष के मस्तिष्क की उपज थीं। भारत मे अछूतोद्धार, विधवा-विवाह, सती-प्रथा-निवारण, पर्दा-प्रथा जैसी बुराइयों को हटाने में हमारे नेताओं— राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन, स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहस, दयानन्द सरस्वती आदि का योगदान रहा है। भारत को आजाद कराने में महात्मा गाँधी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। भारत की विदेश नीति पं. नेहरू का प्रभाव कही जा सकती है। श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने भी भारत की समाज-व्यवस्था के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किए। 'बीस सूत्री कार्यक्रम' उन्हीं की देन है। विश्व के स्तर पर भी चर्चिल, हिटलर, मुसोलिनी, रूजवेल्ट आदि की भूमिका सामाजिक आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण रही है।

निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तनों के लिए समय-समय पर महापुरुषों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिए हैं।

सामाजिक परिवर्तन के उपर्युक्त सभी कारक समाज को प्रभावित करते है लेकिन कौनसा कारक विशेष है, ऐसी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। अनेक कारको के सम्मिलित योग से सामाजिक परिवर्तन घटित होते हैं क्योंकि किसी समाज मे परिवर्तन के लिए एक कारक प्रभावी होता है तो दूसरे समाज में कोई अन्य कारक महत्त्वपूर्ण हो सकता है, यह इस पर निर्भर करता है कि परिवर्तन किस प्रकार का है।

प्रश्न

1. सामाजिक परिवर्तन के कौन-कौन से कारक है ? किन्हीं चार का वर्णन कीजिए।
2. सामाजिक परिवर्तन में सांस्कृतिक कारको की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
3. सामाजिक परिवर्तन और आर्थिक कारक के बीच पाए जाने वाले सम्बन्धो की विवेचना कीजिए।

4. राजनैतिक कारक का सामाजिक परिवर्तन के साथ क्या सम्बन्ध है ? बताइए।
5. सामाजिक परिवर्तन में कानून किस प्रकार प्रभाव डालता है ? स्पष्ट कीजिए।
6. सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक और प्रौद्योगिक कारकों की विवेचना कीजिए।
7. प्राकृतिक एवं प्राणीशास्त्रीय कारकों का सामाजिक परिवर्तन पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (उत्तर संकेत सहित)

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–
   (1) कार्ल मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन का प्रमुख कारण......... माना है।
   (2) सामाजिक परिवर्तन का आर्थिक कारक .... ने बताया है।
   (3) कानून के द्वारा .... परिवर्तन होता है।
   (4) जनसंख्या का प्रभाव सामाजिक .... पर पड़ता है।
   (5) रेडफील्ड ने भारत में सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या दीर्घ एवं .... परम्पराओं के द्वारा की है।
   (6) श्रीनिवास ने भारत में सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या .... एवं पश्चिमीकरण के द्वारा की है।
   [उत्तर-(1) आर्थिक, (2) कार्ल मार्क्स, (3) सामाजिक, (4) परिवर्तन, (5) लघु (6) संस्कृतिकरण]
2. निम्नलिखित के सही जोड़े बनाइए–

(1) संस्कृतिकरण	(अ) जनसंख्यात्मक कारक
(2) आर्थिक कारक	(ब) प्राकृतिक कारक
(3) बाढ, भूकम्प, सूखा	(स) मैक्किम मैरियट
(4) जन्म-मृत्यु दर (जनसंख्या विस्फोट)	(द) रैडफील्ड
(5) सार्वभौमिकरण-स्थानीयकरण	(क) कार्ल मार्क्स
(6) लघु-दीर्घ परम्परा	(ख) श्रीनिवास

   [उत्तर- (1) ख, (2) (क), (3) ब, (4) अ, (5) स, (6) द]
3. नीचे कुछ प्रश्न एवं उनके उत्तरों के विकल्प दिए गए हैं, आपको उनमें से सही विकल्पों का चुनाव करना है–
   (1) हिन्दू विवाह अधिनियम किस सन् में पारित हुआ था ?
   (अ) 1945 (स) 1965
   (ब) 1955 (द) 1975
   (2) सती-प्रथा निरोधक अधिनियम किस सन् में पारित हुआ था ?
   (अ) 1728 (स) 1829
   (ब) 1928 (द) 1828
   (3) निम्न में कौनसा कारक जनसंख्यात्मक कारक है ?
   (अ) औद्योगिकीकरण (स) धर्म
   (ब) परिवार का व्यवसाय (द) जन्म-दर
   (4) सामाजिक परिवर्तन का आर्थिक कारक किसने बताया ?
   (अ) डेविस (स) रेडफील्ड
   (ब) महात्मा गाँधी (द) मार्क्स

(5) संस्कृतिकरण की अवधारणा का प्रतिपादक कौन था ?

(अ) रेडफील्ड (स) मार्क्स

(ब) मैकिम मैरियर (द) श्रीनिवास

(6) भारत का संविधान कब पारित हुआ।

(अ) 1950 (स) 1947

(ब) 1850 (द) 1955

[उत्तर- (1) ब, (2) स, (3) द, (4) द, (5) अ, (6) अ]

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. सामाजिक परिवर्तन के निम्न कारकों पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

(अ) प्राकृतिक कारक (ख) सांस्कृतिक कारक

(ब) प्राणीशास्त्रीय कारक (ग) प्रौद्योगिकीय कारक

(स) जनसंख्यात्मक कारक (घ) कानूनी कारक

(द) आर्थिक कारक (च) वैचारिक कारक

(क) राजनैतिक कारक (छ) महापुरुषों की भूमिका

अति लघु-उत्तरीय प्रश्न

(अ) सामाजिक परिवर्तन के किन्हीं तीन कारकों को बताइए।

(ब) सामाजिक परिवर्तन के जनसंख्यात्मक कारकों के दो उदाहरण दीजिए।

(स) भारत में कानूनी कारक के तीन उदाहरण बताइए।

(द) किन्हीं दो महापुरुषों के नाम बताइए जिन्होंने भारत में सामाजिक परिवर्तन को दिशा दी थी।

□□□

अध्याय - 14

भारत में सामाजिक-धार्मिक सुधार आन्दोलन

(Socio-Religious Reform Movements in India)

सामाजिक आन्दोलनों को सामाजिक विकास अथवा प्रगति का एक अंग माना जा सकता है क्योंकि उनका संचालन समाज एवं संस्कृति में नवीन परिवर्तन लाने के लिए किया जाता है। कभी-कभी नवीन परिवर्तनों का विरोध करने के लिए भी सामाजिक आंदोलन किए जाते हैं। इन आंदोलनों का स्वरूप प्रारम्भ में असंगठित होता है, बाद में उनमें संगठन आता है। इन आंदोलनों का उद्देश्य सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक आदि क्षेत्रों में अंशत अथवा पूर्णतः परिवर्तन लाना अथवा सुधार करना होता है।

ए.आर. देसाई के अनुसार "सुधार आंदोलन प्राचीन मूल्य व्यवस्थाओं और नवीन सामाजिक-आर्थिक वास्तविकताओं मे विरोधाभास के कारण प्रतिफलित राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप है।"

हार्टन एवं हण्ट के मतानुसार "सामाजिक आंदोलन समाज अथवा उसके सदस्यों में परिवर्तन लाने अथवा उसका विरोध करने का सामूहिक प्रयास है।"

सारांशत यह कहा जा सकता है कि सामाजिक आंदोलन समाज अथवा संस्कृति के किसी एक अंग अथवा उसके सम्पूर्ण रूप में परिवर्तन लाने अथवा परिवर्तन का विरोध करने के लिए किए जाते हैं।

सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन

अंग्रेजो के भारत मे आगमन से 19वी शताब्दी में अनेक धार्मिक और सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो गई थीं। एक ओर पाश्चात्य विचारधारा ने नवयुवकों को अपनी ओर आकृष्ट किया, और वे पश्चिमी वेश-भूषा, रहन-सहन और खान-पान को श्रेयस्कर समझने लगे तो दूसरी ओर ईसाइयत का प्रभाव समाज मे बढ़ रहा था। मिशनरी लोग भारतीय धर्मों का विरोध कर रहे थे। अंग्रेजियत का प्रभाव बढ रहा था और भारतीय अपनी शिक्षा को भूलते जा रहे थे। अनेक सामाजिक कुप्रथाओ ने भारतीय समाज को जर्जर बना दिया था। लोग ईसाई धर्म से प्रभावित होकर अपने सामाजिक रीति-रिवाजों को अपनाने में लज्जा का अनुभव करने लगे थे। इन परिस्थितियो के परिणामस्वरूप चारों ओर अराजकता, अन्धविश्वास और राजनैतिक अन्धकार फैल रहा था। भारतीयों की परस्पर

कलह के परिणामस्वरूप अंग्रेजों ने अपना वर्चस्व यहाँ स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया था। भारत की ऐसी विषम स्थिति ने यहाँ के बुद्धिजीवियों को अपनी स्थिति पर दृष्टिपात करने के लिए विवश कर दिया। भारतीय समाज व धर्म के विषय में उनमें नवीन चेतना का संचार हुआ और परिणामस्वरूप 19वीं शताब्दी में भारत में अनेक धर्म एवं समाज-सुधार आदोलन हुए। इनमे धर्म की नवीन व्याख्या की जाने लगी और सामाजिक बुराइयों पर प्रहार किया गया। इस प्रक्रिया को धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में नवजागरण अथवा पुनर्जागरण का नाम दिया गया। इन आंदोलनों में भारत के गौरव की पुनर्स्थापना का प्रयास किया गया तथा सामाजिक कुरीतियों को दूर करके समाज की प्रगति का मार्ग तैयार किया गया।

19वीं शताब्दी में जो धर्म-समाज-सुधार आंदोलन हुए उनको मुख्यतया तीन चरणों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) पहला चरण 1877 ई. से पूर्व का माना जा सकता है जब ये आंदोलन व्यक्तिनिष्ठ थे। उस समय केशवचन्द्र सेन ने अपने प्रयत्नों मे 1872 ई. मे 'ब्रह्म मेरिजेज एक्ट' पास करवाया जिसके आधार पर विधवा-विवाह को कानूनी तौर पर वैध मान लिया गया और बाल-विवाह व बहु-विवाह को निषिद्ध माना गया।

(2) 1877-1919 ई. समाज सुधार आदोलनो का द्वितीय चरण था जब समाज सुधार के सगठित प्रयास किए गए। लोकमान्य तिलक जैसे नेताओ ने उस समय राजनैतिक स्वतत्रता को सामाजिक सुधार के लिए आवश्यक माना। इस प्रकार धर्म एव समाज सुधार आदोलनो मे राष्ट्रीय जागरण को प्रमुखता दी गई।

(3) 1919 ई. के पश्चात् धर्म-समाज-सुधार आदोलन पूर्णतया राजनैतिक आदोलनो से सम्बद्ध हो गया और हरिजनों का उद्धार एक प्रमुख कार्यक्रम बन गया।

धर्म एवं समाज सुधार आन्दोलनों के कारण—

धर्म एवं समाज सुधार आन्दोलनों के प्रमुख कारण सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक थे जिनके विरोध में प्रबुद्ध वर्ग में जागरूकता बढी। ईसाइयत का प्रचार, भारतीय धर्मों की निन्दा, भारतीय प्रशासन का विदेशियों के हाथों में जाना व सामाजिक कुप्रथाओं आदि कारणों से राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द जैसे समाज सुधारकों ने 19वीं सदी में आंदोलन किए— मुख्य रूप से इन आंदोलनों के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे।

1. **ईसाइयत का प्रभाव**— 19वीं सदी का भारतीय समाज अनेक अन्धविश्वासों में जकड़ा हुआ था। मूर्तिपूजा, जादू-टोना, बहुदेववाद, जातीय बन्धन, स्त्रियो की हीन दशा आदि अनेक कारणों ने समाज को जर्जर बना दिया था। ईसाई मिशनरियो ने हिन्दू धर्म की अत्यधिक आलोचना करना प्रारम्भ किया और प्रचलित कुरीतियो के लिए इस धर्म को दोषी ठहराया। ईसाई मिशनरियो के इस प्रचार से भारतीयो को चुनौती मिली और उन्होने ईसाई-धर्म से हिन्दू-धर्म की रक्षा करने के उद्देश्य से आदोलन प्रारम्भ किए।

2. **पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव**— पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव के कारण शिक्षित मध्यम वर्ग यूरोपीय विचारो से प्रभावित हो रहा था। अंग्रेजी शिक्षा पद्धति द्वारा यूरोपीय विज्ञान, दर्शन और साहित्य का अध्ययन भारत में होने लगा। उन साहित्यकारों के उत्तेजक विचारों से भारतीयो ने नवीन

दिशा प्राप्त की, वे यूरोप की उदारवादी विचारधारा से परिचित हुए। परिणामस्वरूप शिक्षित मध्यम वर्गीय लोग भारतीय धर्म और समाज की व्यवस्थाओं के औचित्य को समझकर उनमें निहित रीतिरिवाजो के अन्धानुकरण का विरोध करने लगे, जिससे आंदोलन हुए।

3. पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव— पाश्चात्य सभ्यता ने भी भारतीयों को अत्यधिक प्रभावित किया। पश्चिमी वेशभूषा, खान-पान, विचार आदि से प्रभावित होकर भारतीय समाज से उनका विश्वास उठ गया। ऐसी स्थिति मे बौद्धिक वर्ग ने यह अनुभव किया कि यदि भारतीय धर्म और समाज में आवश्यक सुधार नहीं किए गए तो समाज का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। फलस्वरूप पाश्चात्य सभ्यता का विरोध कर भारतीय धर्म और समाज में आस्था रखने के लिए आंदोलन किये जाने लगे।

4. भारतीय समाचार-पत्रों का योगदान— भारतीय समाचार-पत्रों ने भी सुधार आंदोलन में अपना योगदान दिया। भारतीयों का प्रथम अंग्रेजी भाषा में समाचार-पत्र 1816 में 'बंगाल गजट' के नाम से प्रकाशित हुआ। 1818 में 'दिग्दर्शन' तथा 'समाचार दर्पण' प्रकाशित हुए। 1821 में 'संवाद कौमुदी' नामक साप्ताहिक राजा राममोहन राय ने प्रकाशित किया। 1822 मे 'समाचार चन्द्रिका' और अंग्रेजी में 'ब्राह्मनिकन मैगजीन' आदि निकलने प्रारम्भ हुए। इन समाचार-पत्रों के माध्यम से भारतीयो ने सामाजिक-धार्मिक समस्याओ पर विचार-विमर्श प्रारम्भ किए जिससे भारतीयों ने समाज और धर्म की रक्षा के प्रयत्न प्रारम्भ किए।

5. बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के कार्य— 1784 ई. में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना हुई जिसने धर्म और समाज सुधार आंदोलनों के विकास मे अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इस सोसाइटी ने भारतीय प्राचीन ग्रन्थों व यूरोपीय साहित्य का भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया। मैक्समूलर, मोनियर, विलसन आदि विद्वानों ने प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला और साहित्य को विश्व के सम्मुख रखकर भारतीयों को अपनी प्राचीन गौरवमयी सभ्यता और संस्कृति से अवगत कराया। साथ ही भारतीयों को पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का भी परिचय हुआ जिसमें भारतीयो के आदर्श की भी प्रशंसा की गई थी। इन सबसे भारतीयों मे स्वय के सामाजिक रीति-रिवाजों से दूर चले जाने का अहसास हुआ और उनमें अपने धर्म मे निहित बुराइयों को दूर कर उनका कल्याण करने की भावना का विचार जागृत हुआ। समाज व धर्म सुधार की दृष्टि से अंग्रेजी शासन के समय अनेक आंदोलन प्रारम्भ हुए। इन सभी आंदोलनों की विशेषता अथवा उद्देश्य निम्नलिखित थे।

(1) सभी आदोलनो का मुख्य उद्देश्य भारत की सास्कृतिक एकता और प्राचीन गौरव को पुन स्थापित करना था।

(2) सभी सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनो के परिणामस्वरूप भारतीय जनता में राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ और अग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष और विद्रोह की भावना का जन्म हुआ।

(3) इन आदोलनों की एक विशेषता यह थी कि इन्होने समाज में व्याप्त कुप्रथाओं (सती-प्रथा, बाल-वध, अशिक्षा, बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा आदि) का निवारण करने का प्रयास किया जिससे देश की सामाजिक स्थिति मे सुधार हुआ। धार्मिक क्षेत्र में भी इन आन्दोलनों के परिणामस्वरूप मूर्तिपूजा, बहुदेववाद व धार्मिक अन्धविश्वासो का विरोध हुआ।

(4) सभी सुधार आंदोलनों की विशेषता, प्राचीन एवं आधुनिक मूल्यों में समन्वय प्राप्त करना था। इन्होंने व्यक्ति को आत्माभिव्यक्ति की स्वतंत्रता दी, सामाजिक समानता को महत्त्व दिया और भारत के विकास में अवरोध उत्पन्न करने वाली बाधाओं को दूर किया।

(5) सभी सुधारान्दोलनों की प्रकृति जनतान्त्रिक थी इसलिए उन्होंने सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में विशेषाधिकारों को समाप्त कर संस्थाओं का जनतान्त्रीकरण करना आवश्यक माना।

(6) सभी आंदोलनों में समाज-सुधार के साथ ही समाज-सेवा को भी महत्त्व दिया गया। पिछड़े और कमजोर वर्गों के उत्थान की ओर उनका ध्यान गया।

(7) सभी आंदोलनों ने भारतीय समाज और राष्ट्र को नवीन चेतना प्रदान की। ये आंदोलन विकासशील परिवर्तन के लिए थे इसलिए इन्होंने हिन्दू धर्म को उसके दोषों से मुक्त कर उसमें जागृति उत्पन्न की किंतु इनका उद्देश्य परम्परागत व्यवस्था को पूर्णतः परिवर्तित करना नहीं रहा।

भारत के कुछ प्रमुख सुधार आन्दोलन

भारत के कुछ प्रमुख सुधार आन्दोलनों में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, प्रार्थना समाज, द सर्वेंट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी, थियोसोफिकल सोसाइटी, सत्यशोधक समाज आंदोलन, श्रीनारायण धर्म परिपालन आंदोलन, सिख, पारसी व जनजातीय आंदोलन एवं गाँधी सुधार आन्दोलन प्रमुख हैं जिनका उल्लेख निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है।

ब्रह्म समाज
(BRAHMA SAMAJ)

भारतीय पुनर्जागरण के अग्रदूत और समाज सुधार आंदोलनों के प्रवर्तक राजा राममोहन राय का जन्म 1772 ई. में बंगाल के राधानगर नामक ग्राम में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। प्रारम्भ से ही वे मेधावी, प्रतिभासम्पन्न थे। उन्होंने हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी, अरबी, फारसी, संस्कृत एवं यूनानी भाषा पर आधिपत्य कर लिया था। उन्होंने वेदों, उपनिषदों का गहन अध्ययन किया। 15 वर्ष की अवस्था में उन्होंने फारसी में एक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने मूर्तिपूजा का खण्डन किया और एकेश्वरवाद की प्रशंसा की। तिब्बत जाकर उन्होंने बौद्ध मत का अध्ययन किया। राजा राममोहन राय ने हिन्दू, ईसाई, इस्लाम, बौद्ध आदि सभी धर्मों का गहन अध्ययन किया और सभी धर्मों में निहित कर्मकाण्डों को समाप्त करने का प्रयास किया। उन पर ईसाई धर्म का भी प्रचुर प्रभाव पड़ा। अन्त में चालीस वर्ष की अवस्था में अपना सारा जीवन लोकहित में लगाने के उद्देश्य से सरकारी पद से त्याग-पत्र देकर वे 1814 में कलकत्ता में स्थाई रूप से बस गए। 20 अगस्त सन् 1828 में शुद्ध एकेश्वरवाद की उपासना के लिए राजा राममोहन राय ने 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की। ब्रह्म समाज का आशय 'एक ईश्वर में विश्वास रखने वाले लोगों की संस्था' था। ब्रह्म समाज के प्रमुख सिद्धान्त एक ही ईश्वर की उपासना, मानव मात्र के प्रति भाईचारे की भावना एवं सभी धर्मों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना था। उन्होंने मूर्ति-पूजा, यज्ञ, बलि-प्रथा एवं जाति-बन्धनों की भर्त्सना की। वे किसी एक धर्म में निष्ठा नहीं रखते थे, वरन् सभी धर्मों की मौलिक एकता व सत्यता में उनका विश्वास था। नेताजी सुभाष ने उन्हें 'भारतीय पुनर्जागरण का मसीहा' कहा। के.एम. पनिक्कर के शब्दों में **"राजा राममोहन राय ने भारत में सर्वप्रथम धर्मनिरपेक्ष आन्दोलन को जन्म दिया।"**

ब्रह्म समाज के प्रमुख सिद्धान्त एवं उसके या विविध क्षेत्रों में आए सुधारों व योगदान को अग्रलिखित रूप में देखा जा सकता है—

1. धार्मिक सिद्धान्त एवं सुधार— ब्रह्म समाज मूलतः भारतीय था और इसका आधार उपनिषदों का अद्वैतवाद था। ब्रह्मसमाज के मुख्य धार्मिक सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(1) ईश्वर एक है, वह संसार का स्रष्टा, पालक और रक्षक है; उसकी शक्ति, प्रेम, न्याय और पवित्रता अपरिमित है।

(2) आत्मा अमर है, उसमे उन्नति करने की असीम क्षमता है और वह अपने कार्यों के लिए भगवान के सामने उत्तरदायी है।

(3) आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रार्थना, भगवान का आश्रय और उसके अस्तित्व की अनुभूति आवश्यक है।

(4) किसी भी बनाई हुई वस्तु को ईश्वर समझकर नहीं पूजना चाहिए और न किसी पुस्तक या पुरुष को निर्वाण अथवा मोक्ष का एकमात्र साधन मानना चाहिए।

ब्रह्म समाज में वेदो और उपनिषदों को आधार मानकर बताया गया है कि ईश्वर एक है, सभी धर्मो मे सत्यता है, मूर्तिपूजा और कर्मकाण्ड निरर्थक हैं तथा सामाजिक कुरीतियों का धर्म से कोई सम्बन्ध नही है। इस प्रकार धर्म की व्याख्या करते हुए उन्होने ईसाई धर्म के कर्मकाण्डों एवं ईसामसीह के ईश्वरीय अवतार होने के दावे का भी खंडन किया। परिणामस्वरूप जो हिन्दू ईसाई धर्म ग्रहण कर रहे थे, वे अपना धर्म-परिवर्तन करने से रुक गए। ब्रह्म समाज ने भारत के अनेक धर्मो के सुधार का मार्ग प्रशस्त किया। इसलिए इस समाज का नाम धर्म सुधार के क्षेत्र में अग्रणीय है।

(2) सामाजिक सुधार— समाज सुधार के क्षेत्र में ब्रह्म समाज का योगदान अद्वितीय है। हिन्दू समाज मे ऐसी कोई कुरीति नही थी जिस पर ब्रह्म समाज ने आक्रमण न किया हो। बाल-विवाह, बहुविवाह, जाति-प्रथा, छुआछूत, नशा आदि कुरीतियो का डटकर विरोध किया गया। साथ ही स्त्री- शिक्षा, विधवा पुनर्विवाह, तलाक और सिविल मैरिज का भरपूर समर्थन किया गया। उस समय के समाज में व्याप्त वर-विक्रय और कन्या-वध जैसी कुरीतियो के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन छेड दिया गया और समता का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए लाखो हिन्दुओ को ईसाई धर्म स्वीकार करने से रोका गया। 1822 और 1830 मे दो प्रकाशनों द्वारा राममोहन राय ने स्त्रियों के सामाजिक, कानूनी और सम्पत्ति के अधिकारों पर प्रकाश डाला। सती-प्रथा पर रोक लगाने के लिए 1829 में कानून बनाकर उसे गैर-कानूनी घोषित करने मे राममोहन राय का ही प्रमुख हाथ था।

(3) साहित्यिक और शैक्षणिक सुधार— साहित्यिक और शैक्षणिक क्षेत्र में भी ब्रह्म समाज का कार्य उल्लेखनीय है। अपने विचारो को प्रचारित करने के लिए राममोहन राय ने विभिन्न समाजो की स्थापना की, अनेक पुस्तके लिखीं, और अनेक धार्मिक ग्रन्थों का विभिन्न भाषाओं मे अनुवाद किया। समय-समय पर अनेक पत्र-पत्रिकाओं और समाचार-पत्रो का प्रकाशन किया गया। 'संवाद कौमुदी' और 'मिरातउल' नामक अखबार का प्रकाशन किया गया। केशवचंद्र सेन ने भारतीय ब्रह्म समाज द्वारा 'तत्व कौमुदी', 'ब्राह्म पब्लिक ओपिनियन' और 'संजीवनी' आदि पत्र भी प्रकाशित किए। राममोहन राय ने आंग्ल भाषा और पाश्चात्य शिक्षा का भी समर्थन किया। वे आधुनिक युग की प्रगति के लिए अंग्रेजी के ज्ञान को आवश्यक मानते थे। ब्रह्म समाज ने विभिन्न स्कूल और कॉलेज खोले। राजा राममोहन राय ने कलकत्ता में 'वेदान्त कॉलेज', 'इंग्लिश स्कूल' और 'हिन्दू कॉलेज' की स्थापना की। 'युवा बंगाल आंदोलन' को 'हिन्दू कॉलेज' ने ही जन्म दिया।

(4) राष्ट्रीय सुधार– ब्रह्म समाज ने राष्ट्रीयता की भावना के निर्माण मे भी योगदान दिया। राममोहन राय ने हिन्दू कानून में सुधार करने के लिए आवाज उठाई। स्त्रियों के सामाजिक, कानूनी, और सम्पत्ति के अधिकार पर बल दिया। समाचार-पत्रों पर लगे प्रतिबन्धों का विरोध किया। सर्वप्रथम विचार-स्वतंत्रता का नारा उन्होंने ही बुलन्द किया। अधिकाधिक संख्या में भारतीयों को शासन और सेना मे भर्ती करने की माँग की। उन्होंने न्याय मे जूरी प्रथा का समर्थन किया, और न्यायपालिका को प्रशासन से अलग करने की माँग की। राममोहन किसानों के हिमायती थे। साथ ही वे अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण हल के भी पक्षधर थे। एडम ने लिखा है, "स्वतंत्रता की लगन उनकी अन्तःआत्मा की सबसे जोरदार लगन थी और यह प्रबल भावना उनके धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि सभी कार्यो में फूट-फूट कर निकल पडती थी।" इसलिए उन्हे "नए युग का अग्रदूत" कहा गया है।

1833 मे राममोहन राय का देहावसान हो गया। इसके बाद ब्रह्म समाज आन्दोलन को देवेन्द्रनाथ टैगोर और केशवचन्द्र सेन से सम्भाला। देवेन्द्र नाथ के प्रयासों से इस आन्दोलन ने एक पृथक् सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया। उन्होंने धर्म सुधार की प्रक्रिया में तेजी की और उसे एक सगठित ढाँचे का रूप प्रदान किया। उपनिषदों से सामग्री एकत्र कर उन्होंने 'ब्रह्म धर्म' नामक ग्रंथ लिखा जिसमें ब्रह्म समाजियों की उपासना के नियम थे। उनका उद्देश्य ईसाइयत के प्रभाव में कमी करना था। इस प्रकार देवेन्द्रनाथ ने ब्रह्म समाज को शक्तिशाली बनाया और उसके सिद्धान्तों की पुन व्याख्या की।

1857 के पश्चात् ब्रह्मसमाज में एक नवीन परिवर्तन हुआ। केशवचन्द्र सेन को देवेन्द्र नाथ ने ब्रह्म समाज का प्रधानाचार्य बनाया। केशवचन्द्र कुशाग्र बुद्धियुक्त, अत्यत उदार व्यक्ति थे, साथ ही यूरोपीय धर्म, शिक्षा और संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित थे। वे प्राचीन रूढ़ियों और धार्मिक बन्धनों के विरुद्ध थे। वे जाति-प्रथा का उन्मूलन करना चाहते थे और धर्म के नैतिक पक्ष पर अधिक बल देते थे। उन्होंने 'भारतीय ब्रह्म समाज' की स्थापना की। स्थान-स्थान पर घूम-घूमकर ब्रह्म समाज का प्रचार-प्रसार भी किया। इस प्रकार केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म समाज की अत्यधिक उन्नति की।

1878 में कुछ ब्रह्म समाजियो ने केशवचन्द्र सेन से अलग होकर 'साधारण ब्रह्म समाज' की स्थापना की। इस नए समाज ने सुधारवादी मार्ग चुना और पर्दा-प्रथा की समाप्ति, विधवा-पुनर्विवाह का शुभारम्भ, बाल-विवाह और बहुविवाह का उच्छेदन और स्त्रियों की उच्च शिक्षा के लिए प्रयास प्रारम्भ किए। इन्होंने अंतर्जातीय खान-पान आदि को भी प्रोत्साहित किया। उन्होंने उपनिषदों पर आधारित अद्वैतवाद का प्रचार किया– इस प्रकार इस धर्म ने सभी क्षेत्रों मे राजनैतिक चेतना उत्पन्न की।

प्रार्थना समाज
(PRARTHANA SAMAJ)

प्रार्थना समाज की स्थापना ब्रह्म समाज की एक शाखा के रूप में न्यायाधीश महादेव गोविन्द रानाडे के नेतृत्व में 1867 मे हुई। प्रार्थना समाज की प्रेरणा केशवचन्द्र सेन से मिली। इस समाज के प्रमुख कार्यकर्ता पी सी. मजूमदार, महेन्द्र नाथ बोस और नवीन चन्द्र राय आदि थे। इस समाज की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य समाज-सुधार था। इस समाज के सदस्य स्वयं को नवीन सम्प्रदाय का नही, वरन्, हिन्दू धर्म का ही एक अंग मानते थे। 1882-83 मे पण्डित रमा बाई ने इस समाज मे

सम्मिलित होकर 'आर्य महिला समाज' का गठन किया। 'सुबोध पत्रिका' का प्रकाशन भी इस समाज द्वारा होने लगा। इस समाज के अनुयायियो पर नामदेव, तुकाराम और रामदास आदि संतों का बहुत प्रभाव था। धीरे-धीरे प्रार्थना समाज का प्रचार-प्रसार दक्षिण भारत मे भी हुआ। मद्रास प्रेसीडेन्सी और तेलगू प्रदेश में इसकी अनेक शाखाएँ भी स्थापित की गईं। प्रार्थना समाज के प्रमुख सिद्धांत निम्नलिखित है।

(1) ईश्वर एक है और उसने इस विश्व को रचा है।

(2) ईश्वर की उपासना से इस लोक और परलोक में सुख की प्राप्ति होती है।

(3) ईश्वर की उपासना प्रेम एवं श्रद्धा के साथ करनी चाहिए।

(4) मूर्तिपूजा ईश्वर की सच्ची उपासना नही है।

(5) ईश्वर कभी अवतार नहीं लेता, न उसने किसी पुस्तक की रचना की है।

(6) सभी मनुष्य ईश्वर की संतान हैं।

वास्तव मे प्रार्थना समाज के सिद्धान्त ब्रह्म समाज के सिद्धान्तो के ही अनुरूप हैं। इस समाज ने हिन्दू समाज में प्रचलित जाति-प्रथा की समाप्ति पर बल दिया। विधवा-विवाह व स्त्री-शिक्षा का समर्थन किया। अन्तर्जातीय विवाह एवं खान-पान व दलित वर्गों के उत्थान का समर्थन किया और इन कार्यों के लिए अनेक सस्थाओ की स्थापना की गई। अनेक अनाथालय, रात्रि-पाठशालाएँ, विधवा-आश्रम, कन्या-पाठशालाएँ खोली गई। उन्होने पंढरपुर में परित्यक्त शिशु-आश्रम भी स्थापित किया। दलित वर्ग के उद्धार के लिए भी भरपूर प्रयास किए गए। इस प्रकार रानाडे ने अपना सम्पूर्ण जीवन इस समाज की सेवार्थ अर्पित कर दिया। वे समाज सुधार को ही धार्मिक कृत्य मानते थे। मजदूरो की दरिद्रता का उन्मूलन करने का इस संस्था ने भरसक प्रयास किया।

आर्य समाज

(ARYA SAMAJ)

आर्य समाज के सस्थापक गुजरात के संन्यासी स्वामी दयानद सरस्वती थे। इनके द्वारा स्थापित आर्य समाज आन्दोलन ब्रह्म समाज से भिन्न था। दयानंद सरस्वती का जन्म 1824 में काठियावाड में मोरवी के एक कस्बे टंकारा में एक धनी रूढ़िवादी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनका बचपन का नाम मूलशकर था। जब वे 14 वर्ष के थे तो शिवरात्रि के पर्व पर शिवमदिर मे एक चूहे को शिवलिग पर चढकर प्रसाद खाते देखकर मूर्तिपूजा से उनका विश्वास उठ गया। 1845 मे 21 वर्ष की आयु में आध्यात्मिक खोज के लिए उन्होने घर का त्याग कर दिया। 1860 में मथुरा पहुँच कर वहाँ दण्डी स्वामी ब्रजानन्द के चरणो मे बैठकर ज्ञान प्राप्त किया। ब्रजानन्द ने उन्हे वेदो मे निहित ज्ञान की व्याख्या समझाई। उन्हे पौराणिक हिन्दू धर्म की कुरीतियो और अन्धविश्वासो का खण्डन कर देश मे वैदिक धर्म और सस्कृति की पुन. स्थापना करने का आदेश दिया, जिसका पालन दयानद सरस्वती ने जीवन भर किया। सन् 1875 में दयानंद ने बम्बई मे आर्य समाज की स्थापना की थी। 30 अक्टूबर, 1883 मे राजस्थान के अजमेर शहर मे उन्हें किसी ने विष दे दिया जिससे उनका देहावसान हो गया।

आर्य समाज के सिद्धान्त— स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्य समाज के मौलिक सिद्धान्तो का परिचय उनके महान ग्रथ "सत्यार्थ प्रकाश" मे मिलता है। इस ग्रथ के आधार पर आर्य समाज के दस सिद्धान्त है, जो अग्रलिखित है—

(1) ईश्वर एक है तथा वह निराकार है। वह सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, निर्विकार, सर्वव्यापी, अजर-अमर है। अत. उसकी उपासना करनी चाहिए।

(2) वेद ही सच्चे ज्ञान के स्रोत है। अत वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

(3) प्रत्येक व्यक्ति को सदा सत्य ग्रहण करने और असत्य का त्याग करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

(4) संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है।

(5) सब कार्य धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।

(6) प्रत्येक को अपनी ही उन्नति मे सतुष्ट नहीं रहना चाहिए, सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

(7) प्रत्येक को अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

(8) समस्त ज्ञान का निमित्त कारण और उसके माध्यम से समस्त बोध ईश्वर है।

(9) सभी को धर्मानुसार प्रीतिपूर्वक यथायोग्य व्यवहार करना चाहिए।

(10) व्यक्तिगत हितकारी विषयों मे प्रत्येक व्यक्ति को आचरण की स्वतंत्रता रहे, परन्तु सामाजिक भलाई से सम्बन्धित विषयो मे सब मतभेदो को भुला देना चाहिए।

उपर्युक्त नियमों अथवा सिद्धान्तों के आधार पर हिन्दू समाज मे सुधार लाने के उद्देश्य से आर्य समाज ने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए। मूर्तिपूजा व हिन्दू धर्म के अन्धविश्वासो का खण्डन किया और वैदिक सिद्धातो का प्रचार किया। आर्य समाज ने धार्मिक-सामाजिक, शैक्षणिक और राजनैतिक क्षेत्र मे अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य व सुधार किए। आर्य समाज का योगदान निम्नलिखित है—

1. धार्मिक सुधार— आर्य समाज ने मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड, बलिप्रथा, स्वर्ग-नरक कल्पना और भाग्यवादिता का विरोध किया। वेदो की श्रेष्ठता का दावा किया और हवन, यज्ञ, मन्त्रोच्चारण व कर्म आदि पर बल दिया। हवन वायुमण्डल को शुद्ध करता है। उसने अनेकेश्वरवाद का भी विरोध किया। पौराणिक रूढ़ियों की निन्दा की। ईश्वर की उपासना, अच्छे कर्म और ब्रह्मचर्यव्रत के पालन करने पर जोर दिया क्योंकि इससे मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। इस समाज ने मृतको के श्राद्ध का विरोध किया। मात्र वैदिक धर्म को ही मानव का सच्चा धर्म बताया। स्वामी दयानद ने व्यापक धार्मिक क्रान्ति का श्रीगणेश किया। श्री अरविंद ने कहा था, "राजा राममोहन राय उपनिषदों पर ही ठहर गए, किन्तु दयानद ने उपनिषदों से भी आगे देखा और यह जान लिया कि हमारी सस्कृति का वास्तविक मूल वेद ही है।"

2. साहित्यिक व शैक्षणिक सुधार— आर्य समाज का योगदान साहित्यिक व शैक्षणिक क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण है। स्वामी दयानन्द ने संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन पर बल दिया। अज्ञानता को दूर करने के उद्देश्य से उन्होंने प्राचीन गुरुकुल प्रणाली प्रचलित की जहाँ ब्रह्मचर्यव्रत का निर्वाह करते हुए छात्र विद्याध्ययन कर सकें। उन्होंने वेदों को विद्या का भण्डार बताया और अंग्रेजी ज्ञान को थोथा बताया। दयानद ने नारी के पर्दा-प्रथा का विरोध किया क्योंकि यह शिक्षा मे बाधक थी। हरिद्वार के पास गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की जिसमें हिन्दी के माध्यम से विषयों का अध्ययन कराया जाता है। डी.ए.वी. कॉलेज जो आज स्थान-स्थान पर चल रहे हैं, उन्हीं के प्रयास का परिणाम है।

3. सामाजिक सुधार– आर्य समाज ने हिन्दू समाज में व्याप्त अनेक कुरीतियों, जैसे– बाल-विवाह, बहुविवाह, सती-प्रथा, पर्दाप्रथा व जाति-प्रथा आदि के विरोध में आवाज बुलन्द की। उन्होंने छुआछूत तथा समुद्र-यात्रा- निषेध के विरोध में आवाज उठाई और प्राचीन वर्ण व्यवस्था को उच्च माना। आर्य समाज ने स्त्रियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने तथा सामाजिक जीवन में पूरी तरह भाग लेने का अधिकार दिया। उन्होने 16 वर्ष से कम आयु की लड़कियो के विवाह बंद करने की बात कही। दयानन्द स्वामी ने स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार देने की बात कही और यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार स्त्रियों को दिया। उन्होंने 'शुद्धि आंदोलन' को जन्म दिया जिसमे गैर-हिन्दुओं, अछूतों, दलितों और ईसाई और मुसलमान बनाए गए हिन्दुओं को पुन हिन्दू धर्म में सम्मिलित कर लिया जाता था। आर्य समाज ने ही हिन्दू समाज में संगठन जागृत किया जिससे हिन्दुओ मे आतमसम्मान की भावना जागृत हुई।

4. राष्ट्रीय सुधार– आर्य समाज ने भारत के प्राचीन गौरव की चर्चा करते हुए स्वावलम्बन के विकास को प्रोत्साहित किया। इससे राष्ट्रीयता और स्वराष्ट्र प्रेम को बल मिला। वही प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने **'स्वराज्य'** शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने ही प्रथम बार विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करना और स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करना सिखाया। वही प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दी को राष्ट्र भाषा स्वीकार किया। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' में उन्होंने लिखा है कि अच्छे से अच्छा विदेशी राज्य स्वदेशी राज्य की तुलना नहीं कर सकता। वैदिक कालीन भारत को उन्होंने इसीलिए गौरवमय बताया क्योंकि उस समय भारत मे स्वराज्य था। बाल गगाधर तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले, लाला लाजपत राय जिन्होंने भारत के राष्ट्रीय आदोलन का नेतृत्व किया, आर्य समाज से प्रभावित थे। डी.आर.सी. मजूमदार ने लिखा है, "आर्य समाज आरम्भ से ही उग्रवादी सम्प्रदाय था।" वास्तव मे आर्य समाज ने कट्टर राष्ट्वादियो के निर्माण मे सहयोग दिया। 'नमस्ते' शब्द का प्रचलन आर्य समाज ने ही किया; जो आज विदेश तक मे अभिवादन के लिए सुविख्यात है।

साराशत दयानद सरस्वती ने सामाजिक-सांस्कृतिक व धार्मिक आदि क्षेत्रो मे अपना अपूर्व योगदान किया। वे भारतीय गौरव के पक्षधर थे। उन्होंने भारतीयो में स्वाभिमान और राष्ट्र प्रेम की अपूर्व लहर उत्पन्न की और धर्म, समाज और शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

रामकृष्ण मिशन

(RAMKRISHNA MISSION)

रामकृष्ण मिशन आदोलन के प्रवर्तक रामकृष्ण परमहस थे। यह मिशन प्राचीन भारतीय और आधुनिक पश्चिमी सस्कृति का संश्लेषण कहा जा सकता है। रामकृष्ण का जन्म 1836 मे बगाल मे हुगली जिले मे गरीब ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। इनके बचपन का नाम गदाधर चट्टोपाध्याय था। वे कलकत्ता के पास दक्षिणेश्वर के मदिर के पुजारी थे। काली माँ के प्रति उनके मन मे अगाध भक्ति एव श्रद्धा थी। उन्होंने राम, कृष्ण और काली माँ के साक्षात् दर्शन किए। रामकृष्ण सभी धर्मों में विश्वास रखते थे। उन्होंने न तो कोई सम्प्रदाय स्थापित किया न आश्रम की स्थापना की। वे भारत की परम्परागत सन्त पद्धति से उपदेश देते थे। उन्हे विद्वानों ने "धर्म का जीता जागता स्वरूप" कहा। वे– निराकार और साकार– ईश्वर के दोनो रूपों के समर्थक थे। मूर्ति-पूजा के विरोधी नहीं

थे। एकेश्वरवाद और अनेकेश्वरवाद मे भेद नही मानते थे। उनकी दृष्टि मे वेद, उपनिषद, पुराण, रामायण और महाभारत सभी पवित्र ग्रंथ थे। उन्हे आध्यात्मवाद, रहस्यवाद और उदारता का महान सन्त माना जाता है।

रामकृष्ण की शिक्षाएँ– रामकृष्ण ने वेदान्त के सत्यों की अति सुन्दर व्याख्या की है जिनका सार निम्नलिखित है–

(1) मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य ईश्वर से साक्षात्कार करना है। व्यक्ति उच्च आध्यात्मिक जीवन का विकास कर ईश्वर के दर्शन कर सकता है।

(2) गृहस्थ जीवन ईश्वर की प्राप्ति में बाधक नही है। विषय-वासनाओ को त्यागकर, कंचन-कामिनी से मन हटाकर गृहस्थ में रहते हुए भी आध्यात्मिक विकास किया जा सकता है।

(3) शरीर और आत्मा– दो भिन्न वस्तुएँ है। यदि कचन-कामिनी मे आसक्ति न रहे तो शरीर और आत्मा दोनों अलग-अलग दिखाई देने लगती हे।

(4) ईश्वर शास्त्रार्थ की शक्ति से परे है इसलिए तर्क करने से क्या फायदा ?

(5) मूर्ति-पूजा के वे समर्थक थे क्योंकि ईश्वर की प्रतिमा को देखते ही ईश्वर की स्मृति हो जाती है।

(6) उन्होंने अनुभूति को तर्क, वादविवाद, प्रवचन और भाषण से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना क्योंकि अनुभूति से ही परमतत्त्व का दर्शन सम्भव होता है।

(7) रामकृष्ण के अनुसार सभी मनुष्यो मे उस सच्चिदानद का निवास है अत मनुष्य-मनुष्य मे कोई भेद नहीं है।

(8) ईश्वर की उपासना के विषय में उनका मानना था कि जब तुम एक हाथ से काम करो तो दूसरे हाथ से भगवान के चरण पकड लो। जब काम समाप्त हो जाए तो दोनो हाथो से भगवान के चरण पकड लो।

(9) उनका मानना था कि विद्वत्ता के साथ-साथ अहकार की समाप्ति हो जाती है।

(10) रामकृष्ण सभी धर्मो की सत्यता मे विश्वास करते थे। क्योंकि उनके मत मे ईश्वर एक है लेकिन उसके रूप भिन्न-भिन्न हैं।

रामकृष्ण ने भारत के अनेक लोगो का मार्ग दर्शन किया। उनमे विवेकानन्द भी थे। विवेकानन्द का जन्म 12 जनवरी, 1863 मे कलकत्ता के एक कायस्थ परिवार में हुआ था। इनके बचपन का नाम नरेन्द्र नाथ दत्त था। 1881 मे नरेन्द्रनाथ ने रामकृष्ण का शिष्यत्व ग्रहण किया और सारे भारत में घूम-घूम कर धर्मोपदेश दिए। 1896 में रामकृष्ण की मृत्यु के अनन्तर विवेकानन्द ने कलकत्ता के पास बेलूर मे 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की। 1 जनवरी, 1899 को बेलूर में इस मिशन का कार्यालय स्थापित किया गया। वही रामकृष्ण मठ की स्थापना की गई। मिशन एक परामर्शवादी सस्था है जिसका उद्देश्य धार्मिक और सामाजिक सुधार करना है। इस मिशन को भारत की प्राचीन सस्कृति से प्रेरणा प्राप्त हुई। यह एक परोपकारी संस्था है। मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिकता का विकास करना इसका लक्ष्य है। भारत के विभिन्न स्थानों मे इसकी शाखाएँ है, जो परोपकारिता, देश-हितकारी और समाज सेवा की भावना से कार्यरत है। अस्पताल खोलकर रोगियों की सेवा करना; अनाथालयो, आश्रमो द्वारा दीन-दुखियों की सेवा करना, विद्यालयों और वाचनालयों द्वारा शिक्षा

का प्रचार-प्रसार करना इस मिशन के उद्देश्य हैं। इस प्रकार धार्मिक संस्था के साथ-साथ यह एक समाज-कल्याणकारी संस्था भी है। आज यह संस्था एक विश्वव्यापी संगठन बन चुका है। मिशन बाढ, अकाल, भूकम्प आदि प्राकृतिक आपदाओं से भी रक्षा करता है। इसने लाखों गूंगे पुरुष-स्त्रियों की सहायता की है।

मिशन के द्वारा अनेक पुस्तकें व पत्र-पत्रिकाएँ अंग्रेजी, हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाओं में प्रकाशित की जाती हैं। इनसे मिशन के उद्देश्यों का प्रचार भी होता है। 1961 मे मिशन की 138 से अधिक शाखाएँ थीं। भारत के अतिरिक्त अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, पाकिस्तान, सिंगापुर, श्रीलंका व बर्मा आदि अन्य देशो में भी इसकी अनेक शाखाएँ हैं। अनेक लडके-लडकियाँ इन मिशनो में शिक्षा ग्रहण करते हैं। सारांशत यह एक समाज सेवा संस्था है।

विवेकानन्द के नेतृत्व में स्थापित रामकृष्ण मिशन बिना किसी भेदभाव के आज भी समाज सेवा में संलग्न है। विवेकानन्द ने मानव-समाज की सेवा को महत्त्वपूर्ण माना। वे स्त्री पुनरुद्धार और आर्थिक प्रगति के भी पक्षधर थे। उन्होने निर्धनता, अशिक्षा, रूढिवादिता व अन्धविश्वास आदि की भर्त्सना की। उन्होने मानव-कल्याण मे सहायक धर्म के स्वरूप को प्रस्तुत किया। उन्होंने धार्मिक उदारता, समानता और सहयोग पर बल दिया। उनके उपदेशो के परिणामस्वरूप भारतीयो की शारीरिक एव मानसिक प्रगति हुई। वे नारी-शिक्षा के उन्नयन के प्रबल समर्थक थे। सारांशत उन्होने राष्ट्रीय, भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर बल दिया। उनके उपदेशों से भारतीयो में अपने उज्ज्वल भविष्य के प्रति आशा का सचार हुआ।

थियोसोफिकल सोसाइटी
(THEOSOPHICAL SOCIETY)

थियोसोफिकल सोसाइटी एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक आंदोलन था जिसने देश के धार्मिक और सामाजिक जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया। थियोसोफी शब्द 'थियो' (ईश्वर) और 'सोफिया' (ज्ञान) शब्दों से मिलकर बना है जिसका अर्थ है 'ब्रह्म-विद्या' अथवा 'ईश्वर का ज्ञान'। इस सस्था की स्थापना 1875 मे अमेरिका मे हुई थी और इसके सस्थापक कर्नल एच.एस. आलकाट (अमेरिकन) और एक महिला एच.पी. ब्लेवटास्की (रूसी) थे। सन् 1876 मे दोनों सगठनकर्त्ता भारत आए और मद्रास के निकट अडयार में इस सोसाइटी का मुख्य कार्यालय स्थापित किया। आयरिश महिला श्रीमती एनी बीसेण्ट 1893 में सोसाइटी की मुख्य सदस्या के रूप में भारत आईं और 1910 से 1933 तक इस सस्था की अध्यक्षा रहीं। भारत मे इस संस्था को सक्रिय बनाने का श्रेय श्रीमती एनी बीसेण्ट को ही प्राप्त है। वे हिन्दू रीति-रिवाजों और संस्कारों से प्रभावित थीं। हिन्दू धर्म के प्रति उनके मन में अपूर्व श्रद्धा और उत्साह था। उन्होने थियोसोफिकल समाज के माध्यम से भारतवासियो मे प्राचीन धर्मग्रन्थों के प्रति गौरव की भावना जागृत की। यह सस्था कोई साम्प्रदायिक आंदोलन नही है वरन् इसका उद्देश्य सभी धर्मों की मूलभूत एकता, आध्यात्मिक जीवन का महत्व और विश्व बन्धुत्व का प्रचार करना है।

थियोसोफिकल समाज की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—

(1) ब्रह्म की कल्पना, जिससे सभी व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है, और जो सभी मनुष्यों में निवास करता है।

(2) धर्म के विभिन्न रूप हैं, परन्तु सभी ब्रह्म के अंग है।

(3) सन्त, महात्मा आदि ब्रह्म की देखभाल मे संसार का मार्गदर्शन करते हैं।

(4) मनुष्य अपने कार्यों के अनुसार प्रयत्न करके 'निर्वाण' प्राप्त कर सकता है।

(5) प्रत्येक धर्म किसी न किसी रूप में मनुष्य को निर्वाण प्राप्ति का मार्ग बताता है अत सभी धर्म महत्वपूर्ण हैं।

(6) स्त्री और पुरुष समान हैं, क्योंकि आत्मा किसी के भी शरीर मे जन्म ले सकती है।

भारत मे इस सस्था ने संस्कृति की उत्कृष्टता और धार्मिक सहिष्णुता पर अधिक जोर दिया। समाज-सुधार के अनेक कार्य इसके द्वारा किए गए। इस संस्था द्वारा स्थापित किया गया बनारस का 'सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज' आगे चलकर 'बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी' में परिवर्तित हो गया। अछूतों के लिए पाठशालाएँ सर्वप्रथम इसी संस्था द्वारा खोली गई। इस संस्था ने भारतीयों मे आत्मगौरव की भावना सचारित की, प्राचीन आदर्शों और परम्पराओं को पुनर्जीवित किया और भारतीय सस्कृति के पुनर्जागरण मे महत्वपूर्ण योग दिया। एनी बीसेण्ट ने बाल-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध आदि कुरीतियों के विरोध में आवाज बुलन्द की। हिन्दूवाद और बौद्ध-धर्म को पुनर्जीवित करने में भी इस संस्था ने योगदान दिया। उन्होंने स्वराज्य आंदोलन का भी संचालन किया। इस प्रकार इस सोसाइटी द्वारा धर्म और समाज-सुधार आंदोलन के साथ-साथ राष्ट्रीय आंदोलन को भी नवीन दिशा मिली।

द सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी

(THE SERVANTS OF INDIA SOCIETY)

"द सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी" नामक सस्था के सस्थापक भारतीय-राष्ट्रीय-कांग्रेस के उदार नेता गोपाल कृष्ण गोखले थे। उन्होंने इस सस्था की स्थापना सन् 1905 में की। वे स्वय महान स्वतंत्रता सेनानी, सामाजिक-राजनैतिक विचारक थे अत इस सस्था का उद्देश्य भी प्रेम व राष्ट्रीय भावना युक्त साथ ही त्याग की भावना रखने वाले लोगों को प्रशिक्षित कर संवैधानिक साधनों द्वारा भारतीय जनता के हितो की रक्षा करना था। यह सोसाइटी देश सेवा के लिए तत्पर थी और इसके सदस्यो को धार्मिक भावना के रूप मे अपने जीवन को देश-सेवा के लिए समर्पित कर देने का सदेश दिया गया था। इस संस्था ने अनेक समाज-सुधार के कार्य किए जिनमे समाज-शिक्षा का प्रसार, दलित वर्गों के उत्थान करने का कार्य और स्वतन्त्रता सग्राम के सुदृढीकरण का कार्य महत्वपूर्ण है। गोखले की मृत्यु के अनन्तर 1915 में श्रीनिवास शास्त्री ने इस सस्था का अध्यक्ष पद सभाला। संस्था के कुछ सदस्य नि स्वार्थ राजनीति मे समर्पित हो गए और अन्य सदस्यो ने समाज सेवा मे स्वय को लगा दिया।

संस्था के ही एक सदस्य नारायण मलहार जोशी ने 'सामाजिक सेवा संघ' की स्थापना 1911 मे बम्बई मे की। सस्था का कार्य साधारण जनता के लिए श्रेयस्कर जीवन-सुविधाएँ उपलब्ध कराना था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस संस्था द्वारा अनेक रात्रि-पाठशालाएँ, पुस्तकालय और वाचनालय खोले गए, मुफ्त स्कूल व नर्सरी भी खोले गए। सस्था द्वारा सहकारी समितियाँ स्थापित की गईं। इस सस्था मे गरीबों को मुफ्त कानूनी सलाह देने, गन्दी बस्तियों मे रहने वाले लोगों के लिए मनोरजन, खेल-कूद, सफाई, स्वास्थ्य-सेवा, क्लब व स्काउट आदि की शिक्षा देने जैसे कार्य किए गए।

सन् 1920 मे इसके सस्थापक द्वारा 'अखिल भारतीय श्रमिक सघ कांग्रेस' की स्थापना की गई।

को संभाला गया। इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप कुछ सफलता भी प्राप्त हुई। कई संरचनात्मक परिवर्तन भी हुए। निम्न जातियाँ ऊँचा उठने का प्रयास करने लगी, पिछडी जातियों के बडे-बड़े संघ बनने लगे व शक्ति के वितरण मे परिवर्तन आया।

मुसलमानों में सुधार आंदोलन
(REFORM MOVEMENTS AMONG MUSLIMS)

हिन्दुओं के समान ही मुसलमानों ने भी अपनी सामाजिक स्थिति को सुधारने की दृष्टि से आंदोलन किए। इनमे चार आन्दोलन प्रमुख है– (1) अहमदिया आन्दोलन, (2) अलीगढ आंदोलन, (3) मुहम्मद इकबाल का आंदोलन, और (4) शेख अब्दुल हलील शरार का आंदोलन। इन आन्दोलनो का वर्णन इस प्रकार है–

1. अहमदिया आन्दोलन– मुस्लिम समाज में नवोत्थान का श्रेय सन् 1889 के अहमदिया आन्दोलन को दिया जा सकता है- उसके प्रवर्तक मिर्जा गुलाम अहमद थे। ये अरबी-फारसी के ज्ञाता थे। आर्य समाज को वे घृणा की दृष्टि से देखते थे। 1880 में उन्होंने 'बराहीमनी अहमदिया' नामक ग्रंथ प्रकाशित कराया। इस ग्रंथ के प्रकाशन के साथ ही मुस्लिम समाज ने उन्हें पैगम्बर' घोषित कर दिया। इससे कुछ मुसलमानो पर प्रतिकूल असर पडा और उनके अनुयायी जो संख्या में अत्यधिक थे, धीरे-धीरे घटने लगे क्योंकि वे मुहम्मद साहब के अलावा अन्य किसी को पैगम्बर मानने को तैयार ही नही थे। यह आंदोलन भी धीरे-धीरे शिथिल होने लगा। इस आंदोलन ने मुसलमानों के लिए स्कूल व कॉलेज खोले और अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित कीं। इसने मुसलमानो को सगठित करने का भी कार्य किया, साथ ही पश्चिम के प्रभाव का विरोध किया।

2. अलीगढ़ आंदोलन– इस आंदोलन के संस्थापक **'सर सैयद अहमद खाँ'** थे। मुसलमानों का यह एक प्रमुख सुधार आदोलन है जो सामाजिक और सास्कृतिक सुधार की दृष्टि से किया गया। सर सैयद अहमद खाँ भारत के मुसलमानो को इस्लामी शिक्षा के साथ-साथ अंग्रेजी व पाश्चात्य विज्ञान का ज्ञान कराना चाहते थे। अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होने 1875 मे अलीगढ मे **"मोहम्मडन ऐंग्लो-इण्डियन कॉलेज"** की स्थापना की। इसने 1890 में अलीगढ़ विश्वविद्यालय का रूप ले लिया। यह मुस्लिम सस्कृति और शिक्षा का महान केन्द्र बन गया। मुसलमानो मे शिक्षा का प्रसार हुआ। पुरुषों की शिक्षा के साथ-साथ स्त्रियों की शिक्षा पर यहाँ जोर दिया गया। सर सैयद अहमद खाँ ने मुसलमानो की शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं के निराकरण के लिए एक **"मुस्लिम शिक्षण समिति"** की भी स्थापना की। उन्होने पर्दा-प्रथा का विरोध किया और नारी-शिक्षा का समर्थन किया। इन्होने मुस्लिम समाज मे प्रचलित पद्धति का भी विरोध किया। उन्होंने पवित्र कुरान का उर्दू भाषा मे भाष्य भी लिखा जिसमे नवीन विचारो के आधार पर कुरान का *तात्पर्य सही रूप मे स्पष्ट किया गया।*

3. मुहम्मद इकबाल का आंदोलन– सर मुहम्मद इकबाल एक मशहूर शायर थे। उन्होने इस्लाम के मानवतावादी सिद्धातो को ग्रहण करने की प्रेरणा दी। अपनी कविताओ और शायरी के माध्यम से उन्होंने यूरोपीय सभ्यता का विरोध किया तथा उदारवादी आदोलन का समर्थन किया। *उनकी दृष्टि में इस्लाम एक व्यापक मानवतावादी धर्म था।*

4. शेख अब्दुल हलील शरार का आंदोलन– शेख अब्दुल हलील शरार ने संयुक्त प्रान्त में पर्दा-प्रथा के विरोध मे तीव्रता से संघर्ष किया। वे स्वयं एक पत्रकार एव लेखक थे।

इसके अतिरिक्त 'वहाबी आंदोलन' का सूत्रपात हुआ जिसका उद्देश्य इस्लाम को परिमार्जित और परिशुद्ध करना था। इस आदोलन के प्रवर्तक सैयद अहमद बरेलवी थे। उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता के विरोध में इस्लाम के सिद्धान्तों का प्रचार किया। इस आदोलन के प्रमुख सिद्धान्त ये थे— (1) विलासिता का जीवन इस्लामी शिक्षा के विरुद्ध है, (2) मुसलमानों को पश्चिमी सभ्यता से बचना चाहिए, (3) मुसलमान कुरान के सिद्धातों पर चलें, और (4) मुसलमानों को धर्मयुद्ध करने का औचित्य है।

इस प्रकार सभी मुस्लिम आदोलनों के उद्देश्य स्त्रियों की स्थिति को सुधारना, पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह और बहु-विवाह का निषेध व स्त्री-शिक्षा को बढ़ावा आदि थे।

सिखों एवं पारसियों में सुधार आन्दोलन

(REFORM MOVEMENTS AMONG SIKHS AND PARSIS)

सिक्खों ने अपने धार्मिक और सामाजिक जीवन को विशुद्ध बनाने के लिए "शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्ध समिति" की स्थापना की। अमृतसर में प्रख्यात 'खालसा कॉलेज' की स्थापना सिक्खों ने की। इसके अतिरिक्त "प्रधान खालसा दीवान" नामक एक केन्द्रीय संस्था का निर्माण भी किया गया। उसका उद्देश्य समानता व शिक्षा की दृष्टि से सिख समाज मे सुधार करना था।

सिखो में शिक्षा का प्रसार करने, गरीब सिखों की आर्थिक सहायता करने और उनमें राजनैतिक चेतना उत्पन्न करने और अपने अधिकारों के प्रति सचेत रहने की प्रेरणा देने का कार्य किया।

सिक्ख बाबा रामसिह ने "नामधारी आंदोलन" के द्वारा समाज मे प्रचलित कन्या-वध, बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, दहेज, जातीय-भेदभाव आदि समस्त बुराइयो को दूर करने का प्रयास किया।

पारसियों मे समाज-सुधार के लिए दादा भाई नौरोजी और एच जी बंगाली ने प्रमुख कार्य किया। इन्होंने पारसियों की सामाजिक दशा सुधारने के लिए तथा पारसी धर्म का पुनरुत्थान कर उसे पूर्ण पवित्रता की श्रेणी मे लाने हेतु 1851 मे 'रहनुमाई-मजदयसीनन सभा' की स्थापना की। सन् 1900 मे पारसियो मे धर्म सुधार हेतु एक सम्मेलन किया गया जिसमे सुधार आन्दोलनो द्वारा स्त्री-शिक्षा और उनकी सामाजिक स्थिति को उन्नत करने का निश्चय किया गया। पारसियों ने अपने सुधार के साथ-साथ देश के सामाजिक और राजनैतिक उत्थान मे भी योग दिया।

इन आंदोलनो के अतिरिक्त कुछ और आदोलन भी महत्त्वपूर्ण है, जैसे— पारसियो ने अपने धर्म और समाज सुधार के लिए 'धार्मिक सुधार समुदाय' की स्थापना की। महादेव गोविंद रानाडे ने सामाजिक सुधारों के साथ 1884 मे "डेक्कन एजूकेशन सोसाइटी" स्थापित कर शिक्षा के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

जनजातीय आन्दोलन

(TRIBAL MOVEMLNT)

जनजातियाँ ... [illegible] ...माजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक स्थिति के सुधार के लिए समय-समय पर ... [illegible] ... करती रही है। एक स्वतन्त्र राज्य की माँग व एक स्वतंत्र पहचान उनके आदोलन का कारण ... [illegible] ... पृथक्करण, शोषण व आर्थिक विस्थापन, आदि को लेकर छोटा नागपुर की अनेक जनजाति ... [illegible] ... सामाजिक-राजनैतिक आन्दोलन किए है। मुण्डा जाति मे बिरसा आदोलन, सन्थालो में खेरवार आदोलन, और उरांव जनजाति मे तानाभगत आदोलन वर्षों के

उपयोग और धार्मिक-सांस्कृतिक समस्याओं को लेकर किए गए हैं। बिहार, राजस्थान, गुजरात और मध्य प्रदेश मे भगत आंदोलन; बिहार, बंगाल, उडीसा और मध्य प्रदेश की अनेक जन-जातियों के संगठन से 1950 में 'झारखण्ड आन्दोलन' चलाए गए जो भूमि की बेदखली से रोकने, एवं उनके शोषण आदि के विरोध में थे। खासी, गारो, बोडो-कचारी और अहोम जनजातियों ने सांस्कृतिक और राजनैतिक आंदोलन किए हैं। बहुत से संगठन बनाए गए हैं, जैसे– गारो राष्ट्रीय कौंसिल, ऑल पार्टी हिल लीडर्स कॉन्फ्रेन्स और मिजो यूनियन आदि जिनका उद्देश्य स्वायत्तता की पुन प्राप्ति था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के अनन्तर इन जन-जातियो की स्थिति में अनेक परिवर्तन आए है और जन-जातियो ने स्वयं को राष्ट्र की मुख्य धारा से जुडने के लिए अथवा पृथक् राज्य की माँग के लिए पुनर्जागरण किए है। सारांशत जन-जातियाँ अपनी सामाजिक-राजनैतिक स्थिति के सुधार के लिए सदैव आंदोलन करती रही हैं।

गाँधीजी का सुधार आन्दोलन
(REFORM MOVEMENT OF GANDHIJI)

महात्मा गाँधी अपने युग के महान नेता थे। उन्होने भारतीय समाज मे व्याप्त बुराइयो को समाप्त करने के लिये समय-समय पर आन्दोलन किए। बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, विधवा-विवाह-निषेध, नशाखोरी, वेश्यावृत्ति, दहेज-प्रथा, अस्पृश्यता आदि समस्याओं के विरोध में आन्दोलन किए। उन्होने हरिजनों की स्थिति को सुधारने के लिए **'हरिजन स्वयं सेवक संघ'** की स्थापना की।

'सर्वोदय आन्दोलन' गाँधीजी के आदर्शों पर ही चला जिसमें सभी के कल्याण की बात कही गई है। 'सर्वोदय' के कर्मठ कार्यकर्त्ता विनोबा भावे और जय प्रकाश नारायण थे। इन्होने स्त्री-पुरुषो की समानता व गरीब-अमीर सभी के कल्याण की हिमायत की।

गाँधीजी ने हरिजन बस्तियो की सफाई करने पर जोर दिया और उनकी दशा सुधारने के लिए स्कूल, कॉलेज, चिकित्सालय आदि खोलने का कार्य किया।

भारत में समाज सुधार आन्दोलनों का जाति, परिवार, विवाह और महिलाओं पर प्रभाव
(IMPACT OF SOCIAL REFORMS ON CASTE, FAMILY, MARRIAGE AND WOMEN IN INDIA)

भारतवर्ष में जो धर्म-समाज आन्दोलन हुए है उन्होने भारतीय जीवन को धार्मिक, साहित्यिक, सामाजिक और राजनैतिक सभी क्षेत्रो मे प्रभावित किया। इन आन्दोलनो ने सती-प्रथा पर रोक लगाई। धार्मिक अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता व पाखण्ड आदि की समाप्ति हुई। जाति, परिवार, विवाह व महिलाओं को इन आन्दोलनो ने सभी क्षेत्रो मे प्रभावित किया।

जाति पर प्रभाव– भारत मे हुए सुधार आन्दोलनों ने जाति-प्रथा में अनेक सकारात्मक परिवर्तन किए। 19वीं शताब्दी के सभी सुधार आन्दोलनों ने जाति-प्रथा के भेदभाव पर कठोर तुषारापात किया, इससे जाति बन्धनों मे शिथिलता आई। दलित जातियों में भी नवीन चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। जो अछूत धर्म-प्रचारको द्वारा ईसाई बना दिए गए थे आर्य समाज ने 'शुद्धि-आन्दोलन' द्वारा उन्हे पुन हिन्दू समाज में शामिल कर लिया। दलित वर्गों की उन्नति के लिए अनेक संस्थाएँ स्थापित हुईं। सुधारात्मक प्रयासो के परिणामस्वरूप जातीय भेदभाव की समाप्ति के साथ-

साथ जातीय आधार पर सामाजिक दूरी के क्षेत्र में शिथिलता आई। खान-पान सम्बन्धी निषेध, अस्पृश्यता आदि में कमी आई। अब अन्तर्जातीय विवाह और खान-पान होने लगे। व्यक्ति को अब उसके गुणो और कार्यो के आधार पर मान्यता मिलने लगी। एक जाति के व्यवसाय को दूसरी जातियाँ स्वीकारने लगीं। सामाजिक स्तरीकरण अथवा सोपान में परिवर्तन हुआ अर्थात् निम्न व मध्यम जातियाँ अब ऊँचा उठने का प्रयास करने लगीं। परम्परागत जाति व्यवस्था के स्वरूप मे ब दलाव आया। उसमे नवीन प्रवृत्तियों का उदय हुआ। निम्न जातियों का शोषण कम हुआ और उनकी उन्नति के लिए अनेक समाज सेवी सगठन बने, सरकारी व गैर-सरकारी प्रयास होने लगे जिससे उनका उत्थान भी हुआ। सुधार आन्दोलन का एक प्रभाव यह हुआ कि अब ब्राह्मणों की सर्वोच्चता कम हुई। अब सभी जातियाँ अपने सामाजिक, धार्मिक आर्थिक एवं राजनैतिक अधिकारों के लिए सचेष्ट हो गई।

परिवार पर प्रभाव— धर्म-समाज-सुधार आन्दोलनो का परिवारो की संरचना पर भी व्यापक प्रभाव पडा। स्त्रियो को परिवार में सम्पत्ति का अधिकार दिया गया। अब लड़की-लड़के को समानता की दृष्टि मे देखा जाने लगा। स्त्रियाँ भी शिक्षा प्राप्त करने लगीं, इससे शिक्षित होकर वे नए-नए व्यवसायों मे कार्यरत होने लगी। घर के कार्यो के साथ-साथ वे बाहर के क्षेत्रों में आने-जाने लगी। इससे संयुक्त परिवारो का विघटन हुआ। घर के मुखिया की निरंकुशता में भी कमी आई। अब स्त्री केवल परिवार के सदस्यों की सेविका ही नहीं रह गई, बल्कि उसका भी अस्तित्व प्रकाश मे आया।

विवाह पर प्रभाव— धर्म-समाज-सुधार आन्दोलनो का वैवाहिक स्थिति पर भी सकारात्मक प्रभाव पडा। बाल-विवाह-निरोधक अधिनियम, विधवा-पुनर्विवाह अधिनियम, सती-प्रथा निरोधक नियम, हिन्दू विवाह अधिनियम आदि सवैधानिक अधिनियमो के फलस्वरूप यह प्रभाव पड़े कि अब बाल-विवाह पर रोक लगी, विधवा-पुनर्विवाह को मान्यता मिली, सती-प्रथा पर रोक लगादी गई और दहेज-प्रथा जैसी कुरीतियों के विरोध मे आवाज उठाई जाने लगी। बेमेल विवाहों की समाप्ति हुई। अंतर्जातीय विवाहों को मान्यता मिलने लगी—इस प्रकार आन्दोलनो का प्रभाव विवाह पर पडा।

महिलाओं पर प्रभाव—समाज-सुधार आन्दोलनो का महिलाओ की स्थिति पर सर्वाधिक प्रभाव पडा है। अब महिलाओं की स्थिति समाज में पुरुषों के समान मानी जाती है। स्त्री-शिक्षा की वृद्धि हुई है। पढ-लिखकर वे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हुई हैं। अब वे पुरुषों पर आर्थिक रूप से निर्भर नहीं है, वरन् स्वयं अपना जीवन निर्वाह करने लगी है। अब सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक क्षेत्रों मे उन्हे समान अधिकार प्राप्त होने लगे है। वे पुरुष की जीवन-सगिनी हैं। महिलाओ में पर्दा-प्रथा, सती-प्रथा, अवैध-व्यापार आदि पर रोक लगी है। अब मुस्लिम महिलाओ ने भी पर्दा-प्रथा का बहिष्कार कर दिया है।

साराशत यह कहा जा सकता है कि धर्म-समाज-सुधार आन्दोलनो का भारतीय समाज के सभी पक्षो पर व्यापक प्रभाव पडा है। 19वी सदी के इन आन्दोलनो ने भारत को नव-जागरण की दिशा दिखाई और एक ऐसे परिवर्तन के मार्ग पर अग्रसर किया जिस पर चलकर उसने अनवरत प्रगति की और अपनी राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त की।

प्रश्न

1. भारतीय समाज-सुधार आन्दोलनों के कारणों पर प्रकाश डालिए।
2. समाज-सुधार आन्दोलनो के प्रभावों का उल्लेख कीजिए।
3. ब्रह्म समाज आन्दोलन द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में किए गए सुधारों पर प्रकाश डालिए।
4. आर्य समाज का भारतीय समाज मे क्या योगदान है ?
5. समाज-सुधार आन्दोलनों का समाज के विभिन्न वर्गों पर क्या प्रभाव पडा ?
6. मुसलमानो के सुधार आन्दोलनों का वर्णन कीजिए।
7. रामकृष्ण मिशन की शिक्षाओं पर प्रकाश डालिए।
8. थियोसोफिकल सोसाइटी पर प्रकाश डालिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक शब्द में दीजिए—
   (i) राजा राममोहन राय ने किस आन्दोलन को जन्म दिया?
   (ii) प्रार्थना समाज की स्थापना किसने की ?
   (iii) आर्य समाज के सस्थापक कौन थे ?
   (iv) गोपाल कृष्ण गोखले का नाम किस संस्था के साथ जुडा हुआ है ?
   (v) 'सत्यशोधक समाज' नामक संस्था की स्थापना किस सन् मे हुई ?
   (vi) 'नारायण धर्म परिपालन योगम्' कार्यक्रम किसने बनाया ?
   (vii) 'झारखण्ड आन्दोलन' का सम्बन्ध किससे है ?
   (viii) 'प्रधान खालसा दीवान' किस आन्दोलन से सम्बन्धित है ?
   (ix) 'डकन एजूकेशन सोसाइटी' की स्थापना कब हुई ?
   (x) 'वहाबी आन्दोलन' के प्रवर्तक का नाम बताइए।

   [उत्तर-(i) ब्रह्म समाज, (ii) महादेव गोविन्द रानाडे, (iii) दयानन्द सरस्वती, (iv) द सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी, (v) 1873 ई., (vi) श्री नारायण गुरुस्वामी, (vii) जनजाति आदोलन, (viii) सिक्ख आन्दोलन, (ix) 1884 ई. (x) सैयद अहमद बरेलवी]

2. कोष्ठक में दिए गए विकल्पों में से निम्न प्रश्नों के सही विकल्प चुनिए—
   (i) 'प्रार्थना समाज' आदोलन के सस्थापक कौन हैं ?
   (नारायण गुरुवामी/राजा राममोहन राय/महादेव गोविन्द रानाडे/दयानन्द सरस्वती)
   (ii) दयानद सरस्वती के बचपन का नाम क्या था ?
   (गगाधर चट्टोपाध्याय/ मूलशकर/ज्योतिबा/श्री नारायण गुरुस्वामी)
   (iii) 'लोक हितवादी' किस संस्था से जुडे हैं ?
   (सत्यशोधक समाज/स्वदेशी आन्दोलन/जनजातीय आन्दोलन/रामकृष्ण मिशन)
   (iv) भारत मे थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना किसने की?
   (ज्योतिबा फुले/श्रीमती एनी बीसण्ट/लोकहितवादी/मिर्जा गुलाम अहमद)
   (v) अहमदिया आन्दोलन किसने चलाया।
   (सर सैयद अहमदखाँ/मिर्जा गुलाम अहमद/सैयद अहमद बरेलवी/सर मुहम्मद इकबाल)

(vi) रामकृष्ण मिशन का सम्बन्ध किससे है ?

(दयानन्द सरस्वती/रामकृष्ण परमहंस/लोक हितवादी/स्वामी विवेकानंद)

(vii) 'नामधारी आन्दोलन' का सम्बन्ध किससे है ?

(महादेव गोविन्द रानाडे/गोपाल कृष्ण गोखले/बाबा रामसिंह/कर्नल आल्काट)

(viii) ब्रह्म समाज की स्थापना किस वर्ष मे हुई ?

(1875/1864/1870/1828)

(ix) 'डंकन एजूकेशन सोसाइटी' किससे सम्बन्धित है ?

(महादेव गोविन्द रानाडे/विवेकानद/एच.पी. ब्लेवटास्की)

(x) आर्य समाज की स्थापना का वर्ष बताइए।

(1864/1828/1841/1875)

[उत्तर-(i) महादेव गोविन्द रानाडे, (ii) मूलशंकर, (iii) स्वदेशी आन्दोलन, (iv) श्रीमती एनी बीसेण्ट, (v) मिर्जा गुलाम अहमद, (vi) रामकृष्ण परमहंस, (vii) बाबा राम सिंह, (viii) 1828, (ix) महादेव गोविन्द रानाडे, (x) 1875]

3. निम्न वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कोष्ठक में दिए शब्दों में से सही शब्द का चयन करके कीजिए—

(i) राजा राममोहन राय ने .. .. की स्थापना की।

(रामकृष्ण मिशन/स्वदेशी आन्दोलन/ब्रह्म समाज)

(ii) रामकृष्ण परमहस के बचपन का नाम...... .. था।

(मूलशकर/गदाधर चट्टोपाध्याय/एच.एस. आल्काट)

(iii) रामकृष्ण मिशन की स्थापना ... . . ने की।

(गोपाल कृष्ण गोखले/महादेव गोविन्द रानाडे/स्वामी विवेकानन्द)

(iv) विवेकानन्द का बचपन का नाम . ... . था।

(नरेन्द्र नाथ दत्त/आत्माराम/मुहम्मद इकबाल)

(v) 'द सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी' की स्थापना सन् . मे हुई।

(1875/1870/1905)

(vi) अखिल भारतीय श्रमिक सघ काग्रेस की स्थापना सन् . . मे हुई।

(1905/1920/1864)

[उत्तर-(i) ब्रह्म समाज, (ii) गदाधर चट्टोपाध्याय, (iii) विवेकानन्द (iv) नरेन्द्र नाथ दत्त, (v) 1905, (vi) 1920]

4. निम्नलिखित के सही जोड़े बनाइए—

1. थियोसोफिकल सोसाइटी	(A) श्री नारायण गुरुस्वामी
2. द सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी	(B) लोक हितवादी
3 स्वदेशी आन्दोलन	(C) ज्योतिबा फुले
4 सत्यशोधक समाज	(D) गोपाल कृष्ण गोखले
5 श्री नारायण धर्म परिपालन योगम्	(E) महात्मा गांधी
6. हरिजन स्वय सेवक सघ	(F) ब्लावटास्की व कर्नल आल्काट

[उत्तर- 1 (F), 2 (D), 3 (B), 4 (C), 5 (A), 6 (E)]

अतिलघु-उत्तरीय प्रश्न

1. 19वीं सदी के धर्म-समाज-सुधार आन्दोलन के चरणों पर प्रकाश डालिए।
2. 19वीं सदी में हुए आन्दोलनो की क्या विशेषताएँ थी ?
3. 'ब्रह्म समाज' आन्दोलन के किन्हीं दो सुधारों को बताइए।
4. प्रार्थना समाज के प्रमुख सिद्धान्त क्या है ?
5. आर्य समाज के पाँच सिद्धान्तों को गिनाइये।
6. रामकृष्ण मिशन की पाँच शिक्षाएँ बताइए।
7. थियोसोफिकल सोसाइटी की मुख्य बातें क्या हैं ?
8. स्वदेशी आन्दोलन पर प्रकाश डालिए।
9. अलीगढ आन्दोलन पर प्रकाश डालिए।
10. सुधार आन्दोलन के महिलाओ की स्थिति पर क्या प्रभाव पडे?
11. श्री नारायण धर्म परिपालन आन्दोलन का वर्णन कीजिए।
12. 'अहमदिया आन्दोलन' को समझाइए।
13. गाँधी जी के सुधार आन्दोलन को स्पष्ट कीजिए।
14. 'पारसी आन्दोलन' पर प्रकाश डालिए।
15. सुधार आन्दोलन का जाति-प्रथा पर क्या प्रभाव पड़ा ?

लघु-उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए–

1. स्वदेशी आन्दोलन।
2. नामधारी आन्दोलन।
3. महात्मा ज्योतिबा फुले।
4. सती प्रथा।
5. सत्यशोधक समाज।
6. बाल-विवाह।
7. रामकृष्ण मिशन।
8. थियोसोफिकल सोसाइटी।
9. अलीगढ़ आन्दोलन।
10. वहाबी आन्दोलन।
11. झारखण्ड आन्दोलन।
12. स्वदेशी आन्दोलन के पाँच सुझाव।
13. धर्म व समाज सुधार आन्दोलनो के कारण।
14. आर्य समाज के सिद्धान्त।

□□□

अध्याय - 15

राष्ट्रीय आंदोलन : समाजशास्त्रीय आशय

(National Movement : Sociological Implications)

राष्ट्रीय आदोलन एक प्रकार से स्वतंत्रता आंदोलन है, जिसका उद्देश्य देश को पातंत्रता से मुक्ति दिलाकर स्वतंत्रता प्राप्त कराना और उसकी रक्षा करना होता है। भारत में राष्ट्रीय आंदोलनों का प्रारम्भ विदेशी शासन से भारतीयों को मुक्ति दिलाने के लिए किया गया था। मूलत राष्ट्रीय आंदोलन ब्रिटिशों की देन है। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से उन्नीसवीं सदी के मध्य तक संपूर्ण विश्व फ्रांस की राज्य क्रान्ति से प्रभावित रहा था। इस राज्य क्रान्ति ने स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के आदर्शों का सूत्रपात किया, और यही इतिहास भविष्य में होने वाले सभी आंदोलनों का मूलमंत्र साबित हुआ।

इसके अनन्तर यूरोप के औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप वहाँ कच्चे माल के लिए और तैयार माल के लिए कई देशों की खोज की गई जो उनके इस कार्य को कर सकें। बाद में जब यूरोप वालों ने अन्य देशों में अपने उपनिवेश स्थापित कर लिए और उन देशों को अपने अधिकार में कर लिया तो उन लोगों में सामाजिक जागृति आई और उन्होंने विदेशी शासन से स्वयं को स्वतंत्र कराने के लिए आन्दोलन किए। इन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन की संज्ञा दी गई। वास्तव में राष्ट्रीय आन्दोलन राष्ट्र को स्वतंत्रता प्राप्त कराने के लिए ही किए जाते हैं।

भारत में राष्ट्रीय आदोलन का सूत्रपात अंग्रेजो से हुआ। अंग्रेजो के भारत-आगमन के समय सम्पूर्ण राष्ट्र धर्म, भाषा, जाति, जनजाति आदि के आधार पर अनेक खण्डों में विभाजित था। अंग्रेजों ने इस विभाजन को बनाए रखा, क्योंकि इसमें उनका यह हित निहित था कि इस स्थिति में भारतीय अपने झगड़ों में ही उलझे रहेंगे और वे संगठित होकर अंग्रेजी शासन के विरोध में अपनी आवाज बुलन्द नहीं कर सकेंगे। इसके लिए अंग्रेजो ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाई। अंग्रेजो ने विभिन्न जातियों, पदों और संगठनों आदि को बनाए रखने की छूट दी। विभिन्न संगठनों, संस्थाओं और सैन्य दलों के नाम समुदायों और जातियों के आधार पर रखे गए। उन्होंने मुसलमानों को और हिन्दुओं को परस्पर लड़ाने का भी कार्य किया। कभी मुसलमान पृथक निर्वाचन क्षेत्र की माँग करने लगे तो कभी पाकिस्तान के निर्माण के लिए प्रोत्साहित होने लगे और उससे मुस्लिम सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई।

अंग्रेजो ने भारतीयों को प्रत्येक क्षेत्र में प्रभावित किया। उन्होंने आधुनिक शिक्षा पद्धति प्रारम्भ की, आवागमन के नवीन साधन विकसित किए केन्द्रीय राज व्यवस्था प्रचलित की व अनेक

संस्थाओ की स्थापना की— इससे अनेक सामाजिक वर्गों का निर्माण हुआ। ये सामाजिक तत्त्व ही बाद में अंग्रेजों के विरोध में संघर्ष करने लगे, भारतीय राष्ट्रवाद का प्रादुर्भाव हुआ और देश में राजनैतिक चेतना जागृत हुई जो राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि बनी।

प्रस्तुत अध्याय में राष्ट्रीय आन्दोलन के विभिन्न चरणों पर प्रकाश डाला जाएगा और राजनैतिक चेतना, शिक्षा और जाति आदि पर इसके समाजशास्त्रीय निहितार्थों (आशयों) को देखा जाएगा।

अंग्रेजों के भारत आगमन के समय की सामाजिक-आर्थिक अवस्थाएँ

अंग्रेजों के भारत आगमन के समय देश धर्म, भाषा और जाति के आधार पर विभिन्न श्रेणियो मे विभाजित था। ब्रिटिश लोग भी इसमें कोई बदलाव लाना नहीं चाहते थे इसलिए उन्होंने विभाजनकारी नीतियाँ अपनाकर भारतीयों में एकता न लाने के प्रयास किए।

भारत में उस समय जाति-प्रथा का वर्चस्व था। व्यवसाय का चयन, विवाह-सम्बन्ध व आन्तरिक झगडो आदि का निपटारा सभी जाति द्वारा होता था और ये जाति-बन्धन बडे कठोर थे— इनको तोडने का दुस्साहस जातियाँ नहीं कर सकती थीं। मुसलमानो में भी जाति व सम्प्रदाय आदि के आधार पर ही विभाजन प्रचलित था। हिन्दू-मुसलमानो में पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह का प्रचलन था।

उस समय भी अर्थ-व्यवस्था कृषि पर आधारित थी। गाँव आत्मनिर्भर थे। जरूरत के सभी सामान उन्हें वहीं प्राप्त हो जाते थे। खेती हल-बैलों की सहायता से होती थी। सभी के पास जमीन थी पैदावार का कुछ अंश कर के रूप में राजा के पास जाता था। व्यवसाय भी गाँव के स्तर पर ही होते थे— नाई, धोबी, बढई, आदि छोटे स्तर पर अपना व्यवसाय चलाते थे। कारीगरों को कच्चा माल भी गाँव से ही प्राप्त हो जाता और इस प्रकार एक संगठित इकाई के रूप में रहन-सहन होता था। शोषण का नामोनिशान न था। लोगो में राष्ट्रीयता जैसी भावना भी विकसित नहीं थी क्योंकि समाज उस समय आर्थिक दृष्टि से उन्नत न था। कुछ नगर भी थे जिनमे राजनैतिक-आर्थिक व्यापार होता था। ये संगीत, कला और उद्योगों के केन्द्र थे। ब्रिटिशों के आगमन से भारत की सामाजिक-आर्थिक स्थिति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा और उससे राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ।

राष्ट्रवाद की प्रारम्भिक अवस्था : राजनैतिक जागरूकता

अंग्रेजों ने भारत पर लगभग 150 वर्ष शासन किया और उस काल में उन्होने भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक, शैक्षिक, धार्मिक और राजनैतिक स्थितियों में अनेक परिवर्तन किए। इनके फलस्वरूप राजनैतिक जागृति का प्रादुर्भाव हुआ और भारत में राष्ट्रवाद का उदय हुआ। अंग्रेजों ने भारतीयो का आर्थिक शोषण किया; उन्होंने राज्यों को अपने अधिकार मे ले लिया। न्यायिक व्यवस्था मे परिवर्तन किए, सचार और यातायात के साधनों मे बड़ी क्रान्ति की। ब्रिटिश शिक्षा नीति का प्रचार-प्रसार किया। उनके द्वारा किए गए अनेक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप भारत में स्वतंत्रता आदोलन का जन्म हुआ और सन् 1857 मे प्रथम स्वतंत्रता सग्राम हुआ, जिसमे हिन्दू और मुसलमान सगठित होकर अंग्रेजी शासन को समाप्त करने की चेष्टा करने लगे। भारत मे राष्ट्रवाद की उत्पत्ति मे अग्रलिखित कारक मुख्यतया उत्तरदायी रहे—

1. 1857 का स्वतंत्रता संग्राम– 1857 का स्वतंत्रता संग्राम भारत में अंग्रेजों के शासन के प्रति विरोधात्मक अभिव्यक्ति का प्रथम प्रयास था। भारतीय विदेशी शासन से छुटकारा पाकर अपनी पूर्व व्यवस्था को पुन. स्थापित करना चाहते थे किन्तु यह सग्राम सफल न हो सका क्योंकि भारतीयों के पास सैन्यबल का अभाव था, सुयोग्य नेता न था, अनुशासन का भी अभाव था अत इस सग्राम मे अंग्रजों ने भारतीयों की अपूरणीय क्षति की। निर्दोष लोगों का कत्ले आम किया गया, गाँवों को जला दिया गया। उनकी इस अमानुषिक कार्यवाही के परिणामस्वरूप भारतीयों में राष्ट्रवाद की भावना प्रबल हुई और वे अंग्रेजों को समूल उखाड फेंकने के लिए कटिबद्ध हो गए।

2. राजनैतिक एकता की स्थापना– अंग्रेजों के भारत आगमन से पूर्व भारत में राजनैतिक एकता का अभाव था। अंग्रेजो ने सम्पूर्ण देश में एक समान शासन व्यवस्था स्थापित की। इससे पूर्व राजा- महाराजाओं के समय मे शासन व्यवस्था विकेन्द्रीकृत थी। यातायात के साधन भी विकसित न थे इस कारण राजनैतिक एकता भी न थी। अग्रेजो ने प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से संचार और यातायात के साधनों का विकास किया इससे समस्त राष्ट्र एक इकाई के रूप में संगठित हो गया। भारतीयो ने राजनैतिक अधिकारों के लिए संगठित प्रयास किया। सन् 1885 मे 'भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस' की स्थापना की गई। इस तरह धीरे-धीरे जन-साधारण मे राष्ट्रीय चेतना विकसित होने लगी।

3 भारतीय समाचार-पत्र-पत्रिका– भारत में मुद्रणालयो की स्थापना से भारतीयों को अपनी महत्त्वाकांक्षाएँ व्यक्त करने का अवसर मिला। राष्ट्रीय आंदोलन मे भारतीय समाचार-पत्र-पत्रिकाओं ने सकारात्मक भूमिका निबाही है। समाचार-पत्रों के माध्यम से देश की गिरती स्थिति को जन-साधारण तक पहुँचाया गया। विदेशी शासन की दोष पूर्ण नीति को जन-सामान्य ने जाना। लॉर्ड लिटन के शासन के समय में समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता को सीमित कर दिया गया था। किन्तु इसका भी विपरीत प्रभाव पड़ा। समाचार-पत्रो के अतिरिक्त बंगाली-साहित्य ने भी राष्ट्रीयता जागृत करने मे अपना अपूर्व सहयोग दिया।

4. धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलन– राष्ट्रीयता जागृत करने में धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलनो का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। 19वी सदी मे अनेक धार्मिक सामाजिक आन्दोलन हुए जिनकी राजनैतिक पृष्ठभूमि थी। ब्रह्मसमाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसाइटी और प्रार्थना समाज जैसे आदोलनो ने भारतीयो मे ऐसी जागृति उत्पन्न की कि देश मे आशातीत परिवर्तन आए। सामाजिक कुरीतियों की समाप्ति, रूढ़िवादिता, अशिक्षा, पर्दाप्रथा, बाल विवाह, अस्पृश्यता, निरक्षरता और देवदासी जैसी रूढ़िगत प्रथाओं पर अंकुश लगा। स्वामी दयानद, विवेकानंद, राजा राममोहन राय, एनी बीसेण्ट जैसे धर्म-समाज सुधारकों के प्रयासो से भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति की ओर प्रेरित हुए।

5. आर्थिक कारक– पाश्चात्य प्रभाव की प्रतिक्रिया आर्थिक क्षेत्र मे भी हुई। अंग्रेज भारत मे व्यापार के उद्देश्य से आए थे। धीरे-धीरे उन्होंने यहाँ शासन करना प्रारम्भ कर दिया। लॉर्ड लिटन के शासन काल मे 'आयात कर' को पूर्णतया समाप्त कर दिया गया जिसके परिणामस्वरूप 'मुक्त व्यापार की नीति' प्रचलित हो गई। ब्रिटिश शासन की इस आर्थिक नीति से भारत के परम्परागत उद्योग-धन्धे बंद हो गए। शिल्पकार बेकार हो गए और देश को मुख्यतया कृषि पर निर्भर रहने को मजबूर होना पड़ा। इससे देश में आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया। बेकारी बढ़ती गई और उसने तीव्र आर्थिक असतोष को जन्म दिया। लोगो मे यह भावना उत्पन्न हो गई कि ब्रिटिश शासन की समाप्ति से ही आर्थिक उन्नति हो सकती है।

6. पाश्चात्य शिक्षा— अंग्रेजी शासन से पूर्व भारत में प्राचीन शिक्षा पद्धति प्रचलित थी। पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के प्रभाव ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा पद्धति की नींव डाली, अनेक भारतीय इस प्रकार की शिक्षा से शिक्षित हुएऔर पाश्चात्य विचारधारा के सम्पर्क में आए। मैकाले की नीति के अन्तर्गत देश में अनेक महाविद्यालय और विश्वविद्यालय खोले गए और मैकाले की नीति के विरुद्ध इस भाषा के अध्ययन से भारतीय लोगों को पश्चिमी ज्ञान की प्राप्ति हुई और इस वर्ग ने डाक-तार, प्रेस आदि की सहायता से राष्ट्रीय भावनाओं व विचारों को सम्पूर्ण भारत में फैलाया। इस प्रकार जो ज्ञान भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को सबल बनाने के लिये दिया जा रहा था, उसका ब ड़ा लाभ राष्ट्रीय एकता की स्थापना के रूप में मिला। देखा जाए तो ब्रिटिश शिक्षा नीति द्वारा ही राष्ट्रीय जागरण में अधिकाधिक वृद्धि हुई है।

7. सरकार की रंगभेद की नीति— प्रारम्भ में अंग्रेज भारतीयों के प्रति सहिष्णु थे, सद्व्यवहार करते थे किन्तु 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के अनन्तर भारतीयों के प्रति उनका व्यवहार कटुतापूर्ण हो गया। वे भारतीयों के लिए हब्शी और वनमानुष जैसे विशेषणों का प्रयोग करने लगे। उनका उद्देश्य अपने हितों की पूर्ति करना और भारतीयों को भय दिखाकर उन पर शासन करना हो गया। ब्रिटिशो की इस दमनकारी नीति के परिणामस्वरूप भारतीयों को अवमानना सहन करनी पड़ी, अनेक अत्याचार अंग्रेजो द्वारा भारतीयों पर किए गए। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीयों के हृदय में अंग्रेजो के विरुद्ध छुपा ज्वालामुखी भड़क उठा। राष्ट्रीयता के उदय में यह एक बहुत बड़ा कारक है।

8. लॉर्ड लिंटन का दमनपूर्ण शासन— लॉर्ड लिंटन ने अपने शासन के दौरान अनेक ऐसे दमनात्मक व्यवहार किए जिनसे भारतीयों के मन मे अंग्रेजों के प्रति विरोध भडक उठा। उसने अपने शासन के दौरान 'भारतीय शस्त्र विधेयक' लागू किया जिसका अर्थ था कि प्रत्येक भारतीय के लिए शस्त्र रखने के लिए लाइसेस रखना आवश्यक था, जबकि अंग्रेजों पर यह कानून लागू नहीं होता था। उसके द्वारा 'वर्नाक्यूलर प्रेस अधिनियम' लागू कर भारतीय भाषाओं के समाचार-पत्रो पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए। उसने मेनचेस्टर व लंकाशायर के वस्त्रों को भारत में खपाने का कार्य किया और विदेशों से आने वाले वस्त्रों पर आयात-कर हटा दिया। इसी तरह के अनेक कार्यों का परिणाम यह हुआ कि भारतीयो के मन मे अंग्रेजों के प्रति कटुता और वैमनस्य भर गया और इस तरह भारतीय राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि तैयार की गई।

9. शिक्षित भारतीयों में असन्तोष— सन् 1858 में एक ब्रिटिश घोषणा-पत्र प्रकाशित किया गया जिसका तात्पर्य था कि भारतीयों को भी योग्यतानुसार उच्च पद प्रदान किए जायेंगे। लेकिन यह आश्वासन कभी पूर्णता प्राप्त न कर सका। इसी प्रकार भारतीय नागरिक सेवा (आई.सी.एस.) की परीक्षा उस समय इग्लैण्ड मे आयोजित की जाती थी। अत शिक्षित भारतीयो के लिए इस उच्च पद को प्राप्त करना सम्भव न था। साथ ही इस परीक्षा में प्रवेश की आयु भी 21 वर्ष से घटाकर 19 वर्ष कर दी गई, जिससे भारतीय उस परीक्षा में बैठ भी नहीं पाते थे। सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने इस पर देशव्यापी आन्दोलन किया और ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध जनमत तैयार किया।

10. इल्बर्ट विधेयक सम्बन्धी विवाद— सन् 1883 मे एक विधेयक पास किया गया जिसके आधार पर भारतीय जजो को अंग्रेजो के विरुद्ध मुकदमा सुनने का अधिकार दिया गया। यह विधेयक मि. इल्बर्ट ने जो उस समय विधि सदस्य थे, व्यवस्थापिका परिषद मे रखा। किन्तु अंग्रेजों ने इस विधेयक का विरोध किया और विधेयक के विरोध मे आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। कई माह के

उपरांत कुछ शर्तों के साथ भारतीयों को मुकदमे सुनने का अधिकार दिया गया। इससे भारतीयों मे यह भावना दृढ हो गई कि बिना आंदोलन के उनकी माँगों की पूर्ति नहीं हो सकती, साथ ही भारतीयों ने आंदोलन करना भी सीख लिया।

इन सब कारको का परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश शासन के विरोध में उनमें राष्ट्रीय चेतना दृढ हो गई और इस चेतना के ही फलस्वरूप सन् 1885 मे **'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस'** की स्थापना हुई।

कॉंग्रेस की स्थापना

1875 के पश्चात् लॉर्ड लिंटन के पक्षपातपूर्ण व्यवहार से भारतीयों में राजनैतिक चेतना का उदय हो गया था। बुद्धिजीवी वर्ग अब अंग्रेजों का विरोध करने लगा था क्योंकि उनके साथ अपमानजनक व्यवहार, क्रूर हमले और भेदभावपूर्ण व्यवहार किया जाता था। भारतीय सेवाओं मे भर्ती के लिए भी भेदभाव पूर्ण नीति और अनेक अत्याचारों के कारण शिक्षित भारतीयो ने **'ब्रिटिश भारतीय संघ'** की स्थापना की। राजनैतिक चेतना के इस चरण मे दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी व डब्ल्यू.सी. बैनर्जी आदि नेता प्रमुख थे। 1874 मे क्रिस्तोदास पाल ने भारत के लिए **'होमरूल'** की माँग की।

इन परिस्थितियों के परिणामस्वरूप एक अवकाश प्राप्त अधिकारी **'एलेन ऑक्टेवियन ह्यूम'** ने 1885 मे *'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना की। ह्यूम एक ऐसे संगठन का निर्माण करना चाहते* थे, जो सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में कार्य करते हुए भारतीय स्थिति में सुधार लाए। जब यह योजना नए गवर्नर-जनरल **'डफरिन'** के सामने रखी गई तो उन्होंने इस संगठन द्वारा राजनैतिक क्षेत्र में कार्य करने की सलाह दी। सन् 1885 में **'राष्ट्रीय कांग्रेस'** का प्रथम अधिवेशन पूना में 25 से 27 दिसम्बर को होना *निश्चित हुआ किन्तु बाद में इस अधिवेशन को बम्बई में किया गया।* **'गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कॉलेज'** बम्बई मे यह अधिवेशन कलकत्ता के प्रसिद्ध बैरिस्टर **'वोमेशचन्द्र बनर्जी'** की अध्यक्षता में किया गया। इस अधिवेशन में दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, नारायण गणेश चन्द्रावरकर, एन. सुब्रह्मण्यम् व महादेव रानाडे जैसे महानुभाव उपस्थित थे।

कांग्रेस के उद्देश्य*— *वोमेशचन्द्र बैनर्जी ने कॉंग्रेस के उद्देश्यो और महत्व को इस अधिवेशन मे स्पष्ट किया। ये उद्देश्य निम्नलिखित थे—

(1) देश के विभिन्न भागो में देश हित के उद्देश्य को ध्यान मे रखकर लगन से कार्य करने वाले व्यक्तियों के साथ घनिष्ठता व मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाना।

(2) सभी देशवासियो में धर्म, प्रान्त और वश से सम्बन्धित दूषित सस्कारो को मिटाकर राष्ट्रीय एकता की भावनाओ को पोषित एवं विकसित करना।

(3) भारत के राजनीतिज्ञों के लिए देशहित के लिए कार्य करने वाले तरीको और दिशाओं का *निर्णय करना।*

(4) भारत के शिक्षित वर्ग द्वारा महत्वपूर्ण सामाजिक प्रश्नो पर चर्चा होने के उपरान्त उनके विचारो का सग्रह करना।

'एक राष्ट्रीय संगठन'— इस प्रकार सन् 1885 में स्थापित 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस'-अखिल भारतीय स्वरूप का एक शक्तिशाली 'राष्ट्रीय सगठन' था जो जाति, वर्ग या धर्म आदि के भेदभाव

से रहित होकर समस्त भारतीयों का प्रतिनिधित्व कर रहा था। इसने अंग्रेजी शिक्षित भारतीयों के राजनैतिक विचारों को दृढता प्रदान की और उन्हें एक नवीन स्वरूप प्रदान किया। कांग्रेस के नेताओं ने भी उदारवाद और न्याय की भावना को ही अपना आदर्श माना। कुछ लोगों ने कांग्रेस की नीतियो की आलोचना भी की।

राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास के तीन चरण

1885 से 1947 तक की अवधि में भारतीय स्वतंत्रता को प्राप्त करने के लिए कांग्रेस द्वारा जो कार्य किए गए उन्हें तीन चरणो में विभक्त किया जा सकता है–

(1) उदार राष्ट्रीयता का चरण (1885-1905)

(2) उग्र राष्ट्रीयता का चरण (1906-1919)

(3) राष्ट्रीयता के गाँधी युग का चरण (1920-1947)

I. उदार राष्ट्रीयता का चरण (1885-1905)–

कांग्रेस ने सन् 1855 से भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए विभिन्न रूपों में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था। कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में बहुत कम (कुल 72) प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इसके द्वितीय और तृतीय अधिवेशन में 446 और 607 प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। चौथे अधिवेशन में इसके प्रतिनिधियों की संख्या 1,248 तक पहुँच गई। इस प्रकार इन प्रतिनिधियों की निरंतर बढ़ती संख्या ने यह सिद्ध किया कि कांग्रेस के इतिहास के प्रथम चरण में उदार राष्ट्रीयता की प्रधानता रही।

उदार राष्ट्रवादियों की कार्य पद्धति–

राष्ट्रीय आदोलन का प्रथम चरण उदार राष्ट्रवादियों का था जिनकी कार्य पद्धति की मुख्य विशेषताएँ यह रहीं कि लोग हिंसा और संघर्ष के पूर्णतया विरोधी थे। अपने सुधार के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वे 'प्रार्थना-पत्रों', 'स्मृति-पत्रों', व प्रतिनिधि मण्डलों का मार्ग चुनते थे। इस कारण इनकी आलोचना भी की जाती थी। आलोचको ने 'राजनैतिक भिक्षावृत्ति' जैसे नाम इन्हे दिए। वास्तव मे उदारवादियो का दृष्टिकोण निवेदनवादी था।

उदारवादियों की विचारधारा–

प्रारम्भिक चरणों में कांग्रेस पूर्णतया उदारवादी थी। इसकी विचारधारा की विशेषताएँ इस प्रकार थीं–

1. अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास– उदारवादी अंग्रेजों की न्यायप्रियता में अटूट विश्वास रखते थे इसलिए उनमे अंग्रेजों के प्रति राजभक्ति की भावना भरी हुई थी।

2. ब्रिटिश शासन के प्रति राजभक्ति– प्रारम्भिक उदारवादी यद्यपि उच्च श्रेणी के देशभक्त थे किन्तु वे ब्रिटिश सरकार के भी प्रशसक थे। अंग्रेजी सरकार के प्रति वे कृतज्ञता के भाव रखते थे और अँग्रेजी राज्य के प्रति राजभक्ति की भावना उनमें भरी हुई थी।

3. ब्रिटेन के साथ भारत के हित पूर्ण सम्बन्ध– इन उदारवादी नेताओं की यह धारणा रही कि ब्रिटिश-साहित्य, शिक्षा पद्धति, संचार व्यवस्था एव स्थानीय स्वायत्तशासन आदि प्रगतिशील सभ्यता के परिचायक हैं और यह शासन ही बाह्य आक्रमणों से भारत को सुरक्षित रख सकता है।

से रहित होकर समस्त भारतीयों का प्रतिनिधित्व कर रहा था। इसने अंग्रेजी शिक्षित भारतीयों के राजनैतिक विचारों को दृढता प्रदान की और उन्हे एक नवीन स्वरूप प्रदान किया। कांग्रेस के नेताओ ने भी उदारवाद और न्याय की भावना को ही अपना आदर्श माना। कुछ लोगों ने कांग्रेस की नीतियो की आलोचना भी की।

राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास के तीन चरण

1885 से 1947 तक की अवधि में भारतीय स्वतंत्रता को प्राप्त करने के लिए कांग्रेस द्वारा जो कार्य किए गए उन्हे तीन चरणो में विभक्त किया जा सकता है—

(1) उदार राष्ट्रीयता का चरण (1885-1905)

(2) उग्र राष्ट्रीयता का चरण (1906-1919)

(3) राष्ट्रीयता के गाँधी युग का चरण (1920-1947)

I. उदार राष्ट्रीयता का चरण (1885-1905)—

कांग्रेस ने सन् 1855 से भारत की स्वतत्रता प्राप्ति के लिए विभिन्न रूपों में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था। कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में बहुत कम (कुल 72) प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इसके द्वितीय और तृतीय अधिवेशन में 446 और 607 प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। चौथे अधिवेशन में इसके प्रतिनिधियों की संख्या 1,248 तक पहुँच गई। इस प्रकार इन प्रतिनिधियों की निरंतर बढ़ती संख्या ने यह सिद्ध किया कि कांग्रेस के इतिहास के प्रथम चरण में उदार राष्ट्रीयता की प्रधानता रही।

उदार राष्ट्रवादियों की कार्य पद्धति—

राष्ट्रीय आदोलन का प्रथम चरण उदार राष्ट्रवादियों का था जिनकी कार्य पद्धति की मुख्य विशेषताएँ यह रहीं कि लोग हिसा और संघर्ष के पूर्णतया विरोधी थे। अपने सुधार के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वे 'प्रार्थना-पत्रों', 'स्मृति-पत्रों', व प्रतिनिधि मण्डलो का मार्ग चुनते थे। इस कारण इनकी आलोचना भी की जाती थी। आलोचको ने 'राजनैतिक भिक्षावृत्ति' जैसे नाम इन्हे दिए। वास्तव मे उदारवादियों का दृष्टिकोण निवेदनवादी था।

उदारवादियों की विचारधारा—

प्रारम्भिक चरणों में कांग्रेस पूर्णतया उदारवादी थी। इसकी विचारधारा की विशेषताएँ इस प्रकार थीं—

1. अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास— उदारवादी अंग्रेजों की न्यायप्रियता में अटूट विश्वास रखते थे इसलिए उनमे अंग्रेजो के प्रति राजभक्ति की भावना भरी हुई थी।

2. ब्रिटिश शासन के प्रति राजभक्ति— प्रारम्भिक उदारवादी यद्यपि उच्च श्रेणी के देशभक्त थे किन्तु वे ब्रिटिश सरकार के भी प्रशसक थे। अंग्रेजी सरकार के प्रति वे कृतज्ञता के भाव रखते थे और अँग्रेजी राज्य के प्रति राजभक्ति की भावना उनमे भरी हुई थी।

3. ब्रिटेन के साथ भारत के हित पूर्ण सम्बन्ध— इन उदारवादी नेताओं की यह धारणा रही कि ब्रिटिश-साहित्य, शिक्षा पद्धति, सचार व्यवस्था एव स्थानीय स्वायत्तशासन आदि प्रगतिशील सभ्यता के परिचायक है और यह शासन ही बाह्य आक्रमणों से भारत को सुरक्षित रख सकता है।

4. राजनैतिक माँगें— उदारवादी उस समय के प्रशासनिक सुधारों, सेवाओं, तथा सेवाओं और न्याय व्यवस्था आदि से सतुष्ट थे। वे इस बात मे भिज्ञ थे कि लक्ष्य को एक दम प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस लिए क्रमबद्धता की आवश्यकता है।

II. उग्र राष्ट्रीयता का चरण (1906-1919)—

उदारवादी अथवा नरम दल के नेताओं का अंग्रेजी शासकों की न्यायप्रियता में विश्वास था और प्रार्थना-पत्रों के रूप में अपनी माँगें सरकार के सामने रखते रहे किन्तु जब 20 वर्षों के उपरान्त भी कोई सन्तोषजनक परिणाम नहीं मिले, बल्कि अंग्रेज शासक अपनी मनमानी ही करते रहे तो इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप भारत में यह भावना उपजी कि स्वराज्य माँगने से नहीं, बल्कि संघर्ष से प्राप्त होगा। संघर्ष द्वारा स्वराज्य प्राप्त करने की भावना को प्रोत्साहित करने वालों में लोकमान्य तिलक प्रमुख व्यक्ति थे। बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय और विपिन चन्द्र पाल के नेतृत्व में एक और उग्र दल का निर्माण हो गया। इससे नरम-दल और गरम-दल के नेताओं में फूट पड़ गई। अब आन्दोलन का मार्ग अपनाया जाने लगा। इस उग्र राष्ट्रीयतावाद के प्रमुख निम्नलिखित कारण थे—

1. सन् 1892 के सुधार कानून— राष्ट्रीय कांग्रेस के 7 वर्षों के प्रयत्नों के फलस्वरूप 1892 में सवैधानिक सुधार की दृष्टि से 'भारतीय परिषद अधिनियम' बनाया गया किन्तु अधिनियम में कुछ त्रुटियाँ थीं, इस कारण प्रार्थना के स्थान पर आदोलन का मार्ग अपनाने पर जोर दिया गया।

2. धार्मिक एवं सांस्कृतिक नवजागरण— तिलक, अरविंद घोष व विवेकानन्द आदि नेताओं ने धार्मिक पुनरुत्थान को जन्म दिया। विवेकानन्द ने 1893 में 'शिकागो सर्वधर्म सम्मेलन' में हिन्दू धर्म की महत्ता बताई। तिलक ने भारतीय स्वाधीनता के लिए हिन्दू उत्सवों पर बल दिया। अरविंद घोष ने कहा कि स्वाधीनता हमारा लक्ष्य है और हिन्दुत्व ही हमारी आकांक्षाओं की पूर्ति कर सकता है। तिलक जिन्हें 'भारतीय असंतोष का जनक' कहा जाता है, ने सन् 1893 ई. में गणपति महोत्सव और 1895 में 'शिवाजी महोत्सव' मनाना प्रारम्भ किया जिसमें जनता में देशभक्ति की भावना जागृत हुई। उग्रवादी नेता सांस्कृतिक और धार्मिक नवजागरण को स्वतंत्रता प्राप्ति का मार्ग मानते थे।

3. प्राकृतिक प्रकोप— जब महाराष्ट्र में तिलक गणपति एवं शिवाजी उत्सव को संगठित कर रहे थे उस समय 1896-97 में दक्षिण भारत में भीषण अकाल पड़ा। सरकार ने इस संकट के समय कोई सहायता नहीं की। हजारों व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त हुए। तिलक ने अपने समाचार-पत्र 'मराठा' और 'केसरी' के द्वारा सरकार की तीव्र आलोचना की। इस अकाल ने 7 करोड़ आबादी और 70 हजार वर्ग मील क्षेत्र को प्रभावित किया। जनता भूखों मरने लगी और उधर सरकार रानी विक्टोरिया का जयन्ती उत्सव मनाने में पानी के समान धन लुटा रही थी। इससे नेताओं में भारी असन्तोष हुआ।

4. आर्थिक असंतोष— असंतोष का एक और कारण यह था कि सन् 1894 में शासन ने विदेशी माल पर 'आयात कर' समाप्त कर दिया। परिणामस्वरूप देशी समान महँगा हो गया और विदेशी माल सस्ते दामों में बिकने लगा। इसी नीति के परिणामस्वरूप 'स्वदेशी आन्दोलन' चला, जिसमें स्त्रियों, प्रमुख मुसलमानों और विद्यार्थियों ने बड़े उत्साह से भाग लिया।

5. बाल, लाल और पाल का नेतृत्व— उग्र राष्ट्रीयता के निर्माण में तीन प्रमुख नेताओं— बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय और विपिन चन्द्र पाल का विशेष योगदान रहा था। तिलक को प्रार्थी भाव बिल्कुल पसंद न था। उन्होंने कहा "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे

4. राजनैतिक माँगें— उदारवादी उस समय के प्रशासनिक सुधारों, सेवाओं, रक्षा सेवाओं और न्याय व्यवस्था आदि से संतुष्ट थे। वे इस बात मे भिन्न थे कि लक्ष्य को एक दम प्राप्त नही किया जा सकता। इस लिए क्रमबद्धता की आवश्यकता है।

II. उग्र राष्ट्रीयता का चरण (1906-1919)—

उदारवादी अथवा नरम दल के नेताओ का अंग्रेजी शासको की न्यायप्रियता मे विश्वास था और प्रार्थना-पत्रो के रूप में अपनी माँगें सरकार के सामने रखते रहे किन्तु जब 20 वर्षों के उपरान्त भी कोई सन्तोषजनक परिणाम नहीं मिले, बल्कि अंग्रेज शासक अपनी मनमानी ही करते रहे तो इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप भारत में यह भावना उपजी कि स्वराज्य माँगने मे नहीं, बल्कि संघर्ष मे प्राप्त होगा। संघर्ष द्वारा स्वराज्य प्राप्त करने की भावना को प्रोत्साहित करने वालो मे लोकमान्य तिलक प्रमुख व्यक्ति थे। बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय और विपिन चन्द्र पाल के नेतृत्व मे एक और उग्र दल का निर्माण हो गया। इससे नरम-दल और गरम-दल के नेताओं में फूट पड़ गई। अब आन्दोलन का मार्ग अपनाया जाने लगा। इस उग्र राष्ट्रीयतावाद के प्रमुख निम्नलिखित कारण थे—

1. सन् 1892 के सुधार कानून— राष्ट्रीय कांग्रेस के 7 वर्षों के प्रयत्नो के फलस्वरूप 1892 मे संवैधानिक सुधार की दृष्टि से 'भारतीय परिषद अधिनियम' बनाया गया किन्तु अधिनियम में कुछ त्रुटियाँ थीं, इस कारण प्रार्थना के स्थान पर आंदोलन का मार्ग अपनाने पर जोर दिया गया।

2. धार्मिक एवं सांस्कृतिक नवजागरण— तिलक, अरविंद घोष व विवेकानन्द आदि नेताओ ने धार्मिक पुनरुत्थान को जन्म दिया। विवेकानन्द ने 1893 मे 'शिकागो सर्वधर्म सम्मेलन' मे हिन्दू धर्म की महत्ता बताई। तिलक ने भारतीय स्वाधीनता के लिए हिन्दू उत्सवो पर बल दिया। अरविंद घोष ने कहा कि स्वाधीनता हमारा लक्ष्य है और हिन्दुत्व ही हमारी आकांक्षाओ की पूर्ति कर सकता है। तिलक जिन्हे 'भारतीय असंतोष का जनक' कहा जाता है, ने सन् 1893 ई. मे गणपति महोत्सव और 1895 में 'शिवाजी महोत्सव' मनाना प्रारम्भ किया जिससे जनता मे देशभक्ति की भावना जागृत हुई। उग्रवादी नेता सांस्कृतिक और धार्मिक नवजागरण को स्वतन्त्रता प्राप्ति का मार्ग मानते थे।

3. प्राकृतिक प्रकोप— जब महाराष्ट्र में तिलक गणपति एवं शिवाजी उत्सव को संगठित कर रहे थे उस समय 1896-97 में दक्षिण भारत में भीषण अकाल पड़ा। सरकार ने इस संकट के समय कोई सहायता नहीं की। हजारों व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त हुए। तिलक ने अपने समाचार-पत्र 'मराठा' और 'केसरी' के द्वारा सरकार की तीव्र आलोचना की। इस अकाल ने 7 करोड़ आबादी और 70 हजार वर्ग मील क्षेत्र को प्रभावित किया। जनता भूखो मरने लगी और उधर सरकार रानी विक्टोरिया का जयन्ती उत्सव मनाने मे पानी के समान धन लुटा रही थी। इससे नेताओ मे भारी असन्तोष हुआ।

4. आर्थिक असंतोष— असंतोष का एक और कारण यह था कि सन् 1894 में शासन ने विदेशी माल पर 'आयात कर' समाप्त कर दिया। परिणामस्वरूप देशी समान महँगा हो गया और विदेशी माल सस्ते दामों में बिकने लगा। इसी नीति के परिणामस्वरूप 'स्वदेशी आन्दोलन' चला, जिसमे स्त्रियो, प्रमुख मुसलमानों और विद्यार्थियो ने बढ़े उत्साह से भाग लिया।

5. बाल, लाल और पाल का नेतृत्व— उग्र राष्ट्रीयता के निर्माण मे तीन प्रमुख नेताओ— बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय और विपिन चन्द्र पाल का विशेष योगदान रहा था। तिलक को प्रार्थी भाव बिल्कुल पसंद न था। उन्होंने कहा "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मै इसे

लेकर रहूँगा।" लाला लाजपत राय को भी भिक्षावृत्ति का मार्ग पसंद नहीं था। ये तीनों ही नेता आंदोलन के मार्ग को स्वराज्य प्राप्ति के लिए आवश्यक मानते थे और इन्होंने पंजाब, बंगाल और महाराष्ट्र में अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न की।

6. लॉर्ड कर्जन का शासन– लॉर्ड कर्जन, 1898 से 1905 तक भारत के गवर्नर बने। ये बड़े क्रूर शासक रहे। 1899 में 'कलकत्ता कार्पोरेशन अधिनियम' पास कर उसमें भारतीयों की सदस्य संख्या घटाकर आधी कर दी। 1904 में **'भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम'** पास कर इन्होंने सीनेट और सिण्डीकेट मे भारतीयों का प्रतिनिधित्व कम कर दिया। 1904 में समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता सीमित करने के उद्देश्य से उन्होंने 'प्रशासकीय गुप्तता अधिनियम' पास कराया। इस प्रकार उन्होंने भारतीयों के साथ अनेक दुर्व्यवहार किए। निर्धन जनता पर उन्होंने अधिकाधिक कर लगाए। इससे भारतीयो में विद्रोह फैला।

7. बंगाल विभाजन– 20 जुलाई, 1905 में बंगाल का विभाजन किया गया। लॉर्ड कर्जन ने बंगाल को दो हिस्सों– (1) 'पूर्वी बंगाल और असम' और (2) 'बंगाल' में बाँटा। इससे उनकी बहुत भर्त्सना की गई। बंगालियों ने इस विभाजन का विरोध किया। अंग्रेजी सामान का बहिष्कार किया गया और स्वदेशी वस्तुओं को स्वीकार किया गया। कर्जन का उद्देश्य बढ़ती हुई राष्ट्रीयता की भावना को समाप्त कर देना था। इन सभी कारणों से उग्र राष्ट्रीयता का जन्म हुआ।

उग्र राष्ट्रवादियों की विचारधारा और साधन–

उग्र राष्ट्रवादियों की विचारधारा उदारवादी राष्ट्रवादियों से बिल्कुल विपरीत थी। उग्रवादी जानते थे कि ब्रिटिश और भारतीय हित परस्पर विरोधी हैं अत सहयोग के सिद्धान्तों पर चलकर स्वतंत्रता नहीं प्राप्त की जा सकती जबकि उदारवादियों का मत इसके विपरीत था– वे मानते थे कि ब्रिटिश शासन मे सुधार किया जा सकता है। उदारवादी नेता गोपाल कृष्ण गोखले व दादा भाई नौरोजी आदि से तिलक, लाजपतराय आदि का मत वैभिन्य इस बात में भी था कि तिलक उदारवादियों के प्रार्थनापत्र, स्मृतिपत्र आदि साधनो को व्यर्थ मानते थे और स्वदेशी माल का ग्रहण, विदेशी माल का बहिष्कार व शिक्षा के प्रचार-प्रसार को महत्त्वपूर्ण मानते थे। स्वराज्य प्राप्ति के लिए तिलक ने कांग्रेस के समक्ष चार सूत्री कार्यक्रम रखा– (1) स्वदेशी वस्तुओ का प्रयोग (2) विदेशी माल, सरकारी नौकरी और प्रतिष्ठा की उपाधियों का बहिष्कार, (3) राष्ट्रीय शिक्षा, और (4) निष्क्रिय प्रतिरोध। इसी आधार पर ही दो दल– उदारवादी या नरम-दल और उग्रवादी या गरम-दल बने। तिलक की तो यह दृढ़ मान्यता थी कि **'स्वराज्य अपने आप नहीं आएगा वरन् अंग्रेजों से छीनना पड़ेगा।'**

होम-रूल-लीग की स्थापना–

ब्रिटिश सरकार ने उग्रवादी आंदोलन को समाप्त करने की योजना बनाई। 1908 मे तिलक को 6 वर्ष का कारावास दिया गया। 1914 मे तिलक जेल से छूट कर वापिस आ गए और उन्होंने पुन राष्ट्रीय जीवन मे सक्रिय भाग लेने का निश्चय किया। उन्होंने महाराष्ट्र में **'होम- रूल-लीग'** की स्थापना की। श्रीमती एनी बीसेण्ट ने भी मद्रास में **'होम-रूल-लीग'** की स्थापना की। बाद मे ये दोनों संस्थाएँ एक कर दी गईं। इस लीग का उद्देश्य आयरलैण्ड की भाँति भारत मे स्वशासन प्राप्त करना था। 1916 में श्रीमती एनी बीसेण्ट ने गरम-दल और नरम-दल को मिलाने का प्रयत्न किया और सफलता भी प्राप्त की। उन्होंने **'अखिल भारतीय होम-रूल-लीग'** स्थापित की। 1916 के 'लखनऊ

कांग्रेस अधिवेशन' में दोनो दलो ने मिलकर भारत के लिए स्वायत शासन की माँग की। तिलक ने इस अधिवेशन में भाग लिया और उस समय से कांग्रेस में गरम-दल वालों का प्रभाव बढ़ता गया।

III. भारतीय राष्ट्रीयता का गाँधीयुग (1920-1947)—

1920 से 1947 तक का युग गाँधी युग के नाम से जाना जाता है— वैसे तो 1918 से ही गाँधी जी ने राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करना प्रारम्भ कर दिया था। भारत को स्वाधीन कराने में उन्होंने तीन प्रमुख अहिंसावादी संघर्ष किए- (1) असहयोग आदोलन, (2) सविनय अवज्ञा आंदोलन, और (3) भारत छोड़ो आन्दोलन।

गाँधीजी का राजनीति में प्रवेश— महात्मा गांधी का जन्म 2 अक्टूबर, 1869 मे एक धार्मिक परिवार में हुआ था। 19 वर्ष की अवस्था मे मैट्रिक पास करके कानून की शिक्षा प्राप्त करने इंग्लैण्ड गए। सन् 1891 में बैरिस्टर बनकर भारत लौटे और 1893 मे दक्षिणी अफ्रीका गए। वहाँ पर रंगभेद के पक्षपात के कारण हुए अत्याचारो को दूर करने के लिए उन्होंने सत्याग्रह रूपी शस्त्र का प्रयोग किया। दक्षिणी अफ्रीका के सत्याग्रह मे उन्हें सफलता मिली। 1915 मे गाँधीजी ने भारत आकर साबरमती में एक आश्रम खोला और उन्होंने अग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध एक अहिंसात्मक आन्दोलन छेड़ दिया। भारतीय जनता उनसे प्रभावित थी। तिलक की अस्वस्थता व गोखले व फिरोजशाह के देहावसान के कारण सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी व विपिनचन्द्र पाल आदि नेताओं का उत्साह मद हो गया था। गाँधीजी ने भारतीय राजनीति का नेतृत्व किया और चम्पारन, खेडा और अहमदाबाद मे सफलतापूर्वक सत्याग्रह किया।

गाँधी जी का नेतृत्व और असहयोग आन्दोलन (1920)—

महात्मा गाँधी ने 1919 से राजनीति मे सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ किया। जनरल डायर के क्रूर और नृशंस कारनामो तथा ब्रिटिश सरकार की दमनपूर्ण नीति से भारतीय जनता को स्वराज्य की कोई दिशा नजर नहीं आ रही थी। भारतीय विरोध के उपरान्त भी 21 मार्च, 1919 को 'रौलेट एक्ट' लागू किया जिसके अनुसार किसी भी व्यक्ति को शासन द्वारा गिरफ्तार किया जा सकता था और कानूनी कार्यवाही किए बिना चाहे जितने समय तक नजरबद किया जा सकता था। महात्मा गाँधी ने इस "रौलेक्ट एक्ट" का विरोध किया और सम्पूर्ण देश मे हड़ताल रखने का निश्चय किया गया— सभी स्थानो पर शांतिपूर्ण हड़ताल 6 अप्रैल, 1919 को रखी गई और 7 अप्रैल को ही महात्मा गाँधी को गिरफ्तार कर लिया गया। इधर पजाब मे जनरल माइकेल ओ' डायर ने बिना किसी कारण के दो नेताओ— सत्यपाल और डॉ. किचलू को नजरबन्द कर निष्कासन के आदेश दे दिए। जनता ने इसका विरोध किया और 13 अप्रैल, 1919 को अमृतसर के जलियाँवाला बाग मे एक सार्वजनिक सभा की जिसमे जनरल डायर ने गोलियो की वर्षा करके 800 व्यक्तियो को मौत के घाट उतार दिया। 2,000 व्यक्ति घायल हुए और सम्पूर्ण पजाब मे सैनिक शासन ने अमानवीय अत्याचार किए। इससे भारतीय जन-मानस क्षुब्ध हो उठा। इसे भारतीय इतिहास मे जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड कहा जाता है।

जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड की जाँच के लिए हण्टर कमेटी गठित की गई किन्तु इसमे जनरल डायर का समर्थन ही किया गया और उसे 'ब्रिटिश साम्राज्य का शेर' व 'ब्रिटिश राज्य का रक्षक' कहा गया। इन सबसे भारतीयो को निराशा हुई।

असहयोग आन्दोलन– ब्रिटिश सरकार की दमनात्मक नीतियों से क्षुब्ध होकर महात्मा गाँधी ने अंग्रेजी सरकार से पूर्ण असहयोग करने का निश्चय किया। गाँधीजी के नेतृत्त्व में प्रथम कलकत्ता तथा द्वितीय नागपुर अधिवेशन में असहयोग का भारी बहुमत से स्वागत हुआ। 20 अगस्त, 1920 से यह आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जिसमें निम्नलिखित बातों पर बल दिया गया–

(1) विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग, (2) सरकारी उपाधियों और पदों का त्याग, (3) सरकारी सहायता प्राप्त शिक्षण संस्थाओं का बहिष्कार, (4) सरकारी अदालतों का बहिष्कार (5) सरकार की नई धारा-सभाओ का बहिष्कार, (6) सरकारी नौकरियों का बहिष्कार और (7) सरकारी दरबारों, स्वागत-समारोहों तथा उत्सवों का बहिष्कार।

इन बहिष्कारो के साथ-साथ काग्रेस ने कुछ रचनात्मक कार्यक्रम अपनाए, जैसे–(1) बच्चों की शिक्षा के लिए राष्ट्रीय शिक्षण सस्थाएँ खोलना, (2) विवादों को निपटाने के लिए अपनी पंचायत अदालतें स्थापित करना, (3) छुआछूत को दूर करना, (4) स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग तथा खादी बुनने के लिए घर-घर सूत कातना, तथा (5) हिन्दू-मुस्लिम एकता को बढ़ावा देना।

यह आन्दोलन बड़ी तेजी से चला। मोतीलाल नेहरू और विट्ठल भाई पटेल जैसे प्रसिद्ध वकीलो ने वकालत छोड़ दी। सैकड़ों राज्य कर्मचारी नौकरी छोड़ बैठे। मजिस्ट्रेटों ने त्याग-पत्र दे दिए। छात्र भी शिक्षण सस्थाएँ छोड़ने मे पीछे नही रहे। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया और स्वदेशी वस्तुओ को अपनाया जाने लगा।

चौरी-चौरा काण्ड और आन्दोलन का अन्त– जब आंदोलन तेजी पर था और सफलता के साथ चल रहा था, तभी 5 फरवरी, 1922 को उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले मे 'चौरी चौरा' नामक स्थान पर एक उत्तेजित भीड़ ने एक पुलिस चौकी मे आग लगा दी जिमके परिणामस्वरूप थानेदार और 21 सिपाही जल कर राख हो गए। गाँधीजी इसके पक्ष मे नहीं थे अत उन्होने तुरंत आन्दोलन को स्थगित करने की घोषणा कर दी। इससे सभी नेताओ ने गाँधीजी की तीव्र आलोचना की। 10 मार्च, 1992 को गाँधीजी को गिरफ्तार कर लिया गया और राजद्रोह फैलाने के अपराध में उन्हें 6 साल की कैद की सजा दी गई; किन्तु 3 फरवरी, 1924 को बीमारी के कारण उन्हें छोड़ दिया गया। इस प्रकार चौरीचौरा काण्ड के साथ आन्दोलन का अंत हुआ।

आन्दोलन का महत्त्व– यद्यपि असहयोग आंदोलन असफल रहा फिर भी भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन मे इसका महत्त्व है, यथा–

(1) इस आन्दोलन ने राष्ट्रीय आन्दोलन को नया मोड दिया। लोगो मे राजनैतिक जागरूकता उत्पन्न हुई।

(2) पहले काग्रेस आदोलन केवल शिक्षित वर्ग तक सीमित था अब यह आम जनता में आ गया।

(3) पहले सरकार की आलोचना करते हुए लोग डरते थे।अब 'स्वराज्य' शब्द बच्चो की जुबान पर भी आ गया।

(4) अहिंसात्मक सत्याग्रह के हथियार ने सरकार के दमन-चक्र को कुण्ठित कर दिया। भविष्य मे होने वाले आदोलनो के लिए यह महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

(5) आन्दोलनों के दौरान देश ने रचनात्मक कार्य किए। चर्खा, खादी, आदि के कार्यों से हजारों लोगों को काम मिला।

साइमन कमीशन–

1919 की सुधार योजना पर रिपोर्ट देने के लिए सन् 1927 में 7 अंग्रेज सदस्यो का एक कमीशन 'साइमन कमीशन' नियुक्त किया गया। वैसे तो दस वर्ष बाद भारत में एक आयोग नियुक्त करने की व्यवस्था थी, किन्तु अचानक 8 नवम्बर, 1927 को जब ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने कमीशन की नियुक्ति की घोषणा की तो सभी राजनैतिक दलों ने इसका बहिष्कार किया। जब 3 फरवरी, 1928 को कमीशन बम्बई पहुँचा तो उसके विरुद्ध अनेक प्रदर्शन किए गए। जहाँ भी साइमन कमीशन गया वहाँ काले झण्डे, प्रदर्शन और 'साइमन कमीशन वापिस जाओ' के नारों से उसका बहिष्कार किया गया। इस प्रकार सभी दलो ने इसे नकार दिया।

सर्वदलीय सम्मेलन और नेहरू रिपोर्ट– जब सभी दल साइमन कमीशन का बहिष्कार कर रहे थे तो सभी भारतीय नेताओं को यह चुनौती दी गई थी कि यदि वे विभिन्न सम्प्रदायों की सहमति से एक संविधान तैयार कर सकें तो इंग्लैण्ड की सरकार उस पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने को तैयार रहेगी। कांग्रेस ने इस चुनौती को स्वीकार किया और 28 फरवरी, 1928 को दिल्ली में एक **'सर्वदलीय सम्मेलन'** बुलाया गया। सम्मेलन में पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में संविधान निर्माण के लिए एक समिति गठित की गई जो **'नेहरू रिपोर्ट'** के नाम से जानी जाती है। रिपोर्ट की प्रमुख बातें निम्नलिखित थीं–

1. भारत को शीघ्र ही 'औपनिवेशिक स्वशासन' प्रदान किया जाए।

2. भारत में संघीय व्यवस्था लागू की जाए और संघीय आधार पर शक्तियो का बँटवारा किया जाए।

3. साम्प्रदायिक मताधिकार का अन्त कर दिया जाए और इसके स्थान पर अल्पमतों को सांस्कृतिक स्वायत्तता, रक्षा आदि प्रदान की जाए।

4. सिन्ध को बम्बई से अलग किया जाए और उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त को दूसरे प्रान्तों के समान दर्जा दिया जाए।

5. प्रान्तो के समान ही केन्द्र में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना हो जिसमें गवर्नर-जनरल एक वैधानिक प्रधान हो।

6. नागरिकों को मौलिक अधिकार प्राप्त होने चाहिए। इसमे 19 अधिकारों का उल्लेख किया गया।

7 भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य होना चाहिए।

पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव–

नेहरू रिपोर्ट काफ़ी अच्छी थी किन्तु अंग्रेजी सरकार ने इसे 1929 तक स्वीकार नही किया। इससे 1929 के कांग्रेस अधिवेशन में जो जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता मे रावी नदी पर लाहौर में हुआ था, 31 दिसम्बर, 1929 को रात्रि के 12 बजे **'स्वाधीनता प्रस्ताव'** स्वीकृत किया गया और कमेटी को यह अधिकार दिया गया कि उपयुक्त समय में वह **'सविनय अवज्ञा आन्दोलन'** शुरू कर

दे। यह भी निश्चित किया गया कि 26 जनवरी का दिन 'स्वाधीनता दिवस' के रूप में मनाया जाए। इसीलिए 26 जनवरी का दिन भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण है।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1930)

फरवरी 1930 में काग्रेस कार्य समिति ने पूर्ण स्वराज्य प्राप्ति के लिए **'सविनय अवज्ञा आंदोलन'** प्रारम्भ करने का अधिकार गाँधीजी को दे दिया। इससे पूर्व 1928 में सरदार पटेल के नेतृत्व में किसानों ने बारडोली (सूरत जिला) में एक सफल सत्याग्रह किया और सरकार को भूमि-कर देने से इन्कार कर दिया। आन्दोलन प्रारम्भ करने से पूर्व गांधी जी ने एक बार फिर समझौते का प्रयास किया और लॉर्ड इरविन को 2 मार्च, 1930 को एक पत्र लिखकर अपनी 11 माँगों का उल्लेख किया जिन्हें 1930 में सरकार के समक्ष पेश किया गया था, उन्होंने कहा कि यदि सरकार उन माँगों को पूरा नही करेगी तो 12 मार्च, 1930 को वे नमक कानून का उल्लंघन करेंगे। गाँधीजी को इसका कोई स्पष्ट उत्तर नही मिला।अत 12 मार्च, 1930 को गाँधी जी ने अपने 79 कार्यकर्त्ताओं के साथ साबरमती आश्रम से समुद्र तट पर स्थित दाण्डी की ओर दाण्डी कूच किया। 24 दिनों में इस 200 मील की यात्रा को पूरा किया और 6 अप्रैल, 1930 को समुद्र तट पर नमक बनाकर **'नमक कानून'** को भंग किया। यह सविनय अवज्ञा के प्रारम्भ का सकेत था। इस समय विदेशी वस्त्र जलाना, सरकारी पदो का त्याग, विदेशी माल की दुकानों पर धरना देना आदि कार्य किए गए। इससे काफी नुकसान हुआ, विदेशी वस्त्रो का आयात एक-चौथाई रह गया। 14 मई को गाँधीजी की गिरफ्तारी के बाद **'कर-बन्दी'** को आन्दोलन मे सम्मिलित किया गया।

गोलमेज सम्मेलन— जब सविनय अवज्ञा आन्दोलन जोरों पर था तो साइमन कमीशन द्वारा भारतीयों की समस्याओं को सुलझाने के लिए **गोलमेज सम्मेलन** हुआ। **प्रथम गोलमेज सम्मेलन** 12 नवम्बर, 1930 को जॉर्ज पचम ने अद्घाटित किया। इग्लैण्ड के प्रधानमत्री मैक्डोनल्ड ने इसकी अध्यक्षता की। **दूसरा गोलमेज सम्मेलन** 7 सितम्बर, 1931 को तथा **तीसरा गोलमेल सम्मेलन** 17 नवम्बर से 24 दिसम्बर, 1932 तक चला। इनमे भी महात्मा गाँधी के सभी प्रयत्न निष्फल हुए।

साम्प्रदायिक पंचाट— गोलमेज सम्मेलन का कोई महत्त्वपूर्ण हल न निकल सका; तब 18 अगस्त, 1932 को मैक्डोनल्ड ने अपने निर्णय की घोषणा की, इसे 'साम्प्रदायिक पचाट' कहा जाता है। इस पचाट मे मुसलमानो, सिक्खो, ईसाइयो, एँग्लो-इण्डियनों, व्यापारिक और औद्योगिक वर्ग, जमींदारों और विश्वविद्यालयो के लिए अलग-अलग चुनाव क्षेत्रों की व्यवस्था की गई, हरिजन और अल्पमत को अलग वर्ग मे लिया गया। यह पंचाट घातक सिद्ध हुआ क्योंकि इसमे हरिजनो को हिन्दुओ से अलग करने की कोशिश की गई।

पुन. सविनय अवज्ञा आन्दोलन— लॉर्ड इरविन के बाद लॉर्ड विलिंगडन जब भारत के गवर्नर-जनरल बने तो गाँधी-इरविन समझौते को भग करना प्रारम्भ कर दिया। बाद मे उनका व्यवहार बड़ा कटु हो गया और हठात् गाँधीजी को पुन सविनय अवज्ञा आदोलन अपनाना पड़ा। इधर शासन इतना कठोर हो रहा था कि गाँधीजी को भी पुन बदी बना लिया गया। समाचार-पत्रों पर कड़े प्रतिबन्ध लगा दिए गए। करीब 1 लाख 29 हजार लोग राजनैतिक बन्दी बन चुके थे। अगस्त 1933 मे पुन आन्दोलन चलाया गया। बाद मे सरकार ने काग्रेस पर से प्रतिबन्ध हटा लिया।

श्वेतपत्र— मार्च 1933 मे ब्रिटिश सरकार ने एक 'श्वेत पत्र' प्रकाशित किया, जिसमें उसने उन बिंदुओं का संकेत दिया जिनके आधार पर 1935 का एक्ट बनने वाला था। भारत मे इसे नापसंद किया गया। तब ब्रिटिश ससद द्वारा "भारतीय शासन अधिनियम" स्थापित किया गया।

1935 का भारतीय शासन अधिनियम

1935 के इस अधिनियम द्वारा 'अखिल भारतीय संघ' की स्थापना की गई। गवर्नर-जनरल ने कुछ विशेष अधिकार देकर संघीय व्यवस्थापिका को शक्तिहीन बना दिया। मुस्लिम लीग ने प्रान्तीय स्वायत्तता की माँग की अतः इस अधिनियम मे प्रान्तों को पूर्ण स्वायत्तता प्रदान की गई। कांग्रेस और अन्य दल इस अधिनियम से संतुष्ट नहीं हुए। अत इसका सघीय भाग लागू नहीं हो सका। 1 अप्रैल, 1937 से इस अधिनियम को प्रान्तीय क्षेत्रों में लागू कर दिया गया। प्रान्तो में चुनाव करवाए गए और 8 प्रान्तों मे कांग्रेस को बहुमत मिला परन्तु 1939 में द्वितीय महायुद्ध के छिड़ने से बिना नेताओं की राय के भारत को मित्र-राष्ट्रों की ओर से युद्ध में लगा दिया गया। इससे रुष्ट होकर सभी काग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने अपने त्याग-पत्र दे दिए। गाँधीजी को काग्रेस की बागडोर पुन सम्भालनी पड़ी और स्वाधीनता संग्राम ने नया मोड़ ले लिया।

क्रिप्स प्रस्ताव और उसकी असफलता

अंग्रेजो द्वारा काग्रेस की माँगों को पूरा न करने के कारण, और ब्रिटिश सरकार को युद्ध में सहायता न देने के लिए गाँधीजी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह चलाया। 1941 मे युद्ध मे जापानी सेनाएँ बर्मा मे भारत की सीमा तक आ गईं तो ऐसी स्थिति मे ब्रिटिश सरकार ने भारत की रक्षा का कार्य राजनैतिक शक्तियो के सहयोग से कराने के लिए क्रिप्स को भारत भेजा। क्रिप्स ने राजनैतिक गतिरोध को दूर करने के लिए अपनी योजना प्रस्तुत की, जिसके दो भाग थे—(1) अन्तरिम योजना और (2) दीर्घ कालीन योजना। योजना मे युद्ध की समाप्ति पर भारत को स्वतत्रता देने की बात कही गई किन्तु युद्ध के होते रहने तक सुरक्षा विभाग ब्रिटिश शासन के अधीन रहने के लिए कहा गया। भारत के प्रमुख राजनैतिक नेताओ ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

भारत छोड़ो आन्दोलन (1942)

क्रिप्स प्रस्ताव की अस्वीकृति के बाद **'अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी'** ने 8 अगस्त, 1942 को **'भारत छोड़ो आन्दोलन'** का प्रस्ताव पारित किया। इस प्रस्ताव मे कहा गया, **"भारत में ब्रिटिश शासन का तुरन्त अन्त होना चाहिए। पराधीन भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद का चिन्ह बना हुआ है, किन्तु स्वतंत्रता की प्राप्ति युद्ध के रूप को बदल सकती है अत कांग्रेस भारत से ब्रिटिश सत्ता के हट जाने की माँग दोहराती है। यह माँग न मानी जाने पर यह समिति गाँधी जी के नेतृत्व में अहिंसात्मक संघर्ष चलाने की अनुमति प्रदान करती है तथा भारतीयो से अपील करती है कि इसका आधार अहिंसा हो।"**

इस प्रकार गाँधीजी ने **'करो या मरो'** का सदेश देकर काग्रेस द्वारा प्रस्ताव पास कराया तभी शासनात्मक दमन चक्र मे गाँधीजी को व सदस्यो को गिरफ्तार कर लिया गया और उन्हे जेल मे डाल दिया गया। तब जनता ने जन-विद्रोह किया, शातिपूर्ण जुलूस, सभाएँ, हड़ताले हुईं, बदले मे शासन ने उन पर लाठी चार्ज, गोली का व्यवहार किया तब शान्तिपूर्ण विरोध ने हिंसात्मक रूप धारण कर लिया। इस आदोलन मे सभी देशभक्तो और राजनैतिक दलो ने भाग लिया किन्तु साम्यवादी दल और मुस्लिम लीग ने इस आदोलन का विरोध किया और सरकार का सहयोग किया।

आन्दोलन का स्वरूप— 1942 के आंदोलन की न तो कोई रूपरेखा थी न ही कोई तैयारी थी। यह स्वाभाविक जन-आंदोलन था, जो मुख्यतः विद्यार्थियों, किसानों और निम्न मध्यम वर्ग तक सीमित रहा। 'भारत छोड़ो आंदोलन' चार अवस्थाओं से गुजरा था—

(1) प्रथम अवस्था—प्रथम अवस्था 9 अगस्त, 1942 से लेकर तीन-चार दिन चली। जब हड़तालें, प्रदर्शन व जुलूस आदि निकाले गए। इस शान्तिपूर्ण आंदोलन को कुचलने के लिए 11 अगस्त, 1942 को दिन के ढाई बजे पुलिस ने बम्बई में 13 बार गोलियाँ चलाई। कई लोग इसमें मारे गए व जख्मी हुए। इससे सरकार के विरोध में आग भडक उठी।

(2) द्वितीय अवस्था— आंदोलन की दूसरी अवस्था में लोगों ने भवनों, सरकारी इमारतों तथा सम्पत्ति पर आक्रमण किए; रेल्वे स्टेशन, पुलिस स्टेशनों में आग लगा दी, रेल की पटरियाँ उखाड़ दीं।

(3) तृतीय अवस्था— आंदोलन की तीसरी अवस्था में लोगों ने पुलिस व सेना के अत्याचारों से क्षुब्ध होकर सरकारी सम्पत्ति, अधिकारी और सचार साधनों पर हथियारों से आक्रमण किए। कुछ स्थानो पर जनता द्वारा बम फेंके गए। यह स्थिति सितम्बर 1942 से फरवरी 1943 तक चलती रही। इसके बाद आंदोलन धीमा पडा।

(4) चतुर्थ अवस्था—इस अवस्था में आदोलन की गति बहुत धीमी रही और यह 9 मई, 1944 तक चला। इसमे गाँधीजी को छोड दिया गया। जय प्रकाश नारायण, अरुणा आसफअली आदि ने इसमें सराहनीय कार्य किए।

आन्दोलन का महत्त्व—यह आन्दोलन बहुत महत्त्वपूर्ण था क्योंकि यह जनता द्वारा स्वप्रेरणा से चलाया गया था और भारतीयों ने अपनी सहनशीलता और साहस का परिचय दिया। अंग्रेजों ने हिंसा भड़काने की सारी जिम्मेदारी गाँधीजी पर डाल दी। इसका विरोध करने के लिए 10 फरवरी, 1943 से 21 दिन का उपवास गाँधीजी द्वारा रखा गया। इस आदोलन में लगभग 7000 से अधिक व्यक्ति मारे गए, 60 हजार से अधिक व्यक्तियो को जेल में डाल दिया गया। यद्यपि यह आंदोलन स्वतत्रता प्राप्ति के उद्देश्य से असफल रहा, किन्तु लोगों में मुकाबला करने की भावना प्रबल हुई। इसने स्वतत्रता के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर दी। इस आदोलन का विदेशो पर भी प्रभाव पड़ा। वहाँ भी जनमत प्रबल हुआ।

भारत स्वतंत्रता की ओर अग्रसर— 1945 मे ब्रिटेन मे जो आम चुनाव हुए उनके परिणामस्वरूप एटली के नेतृत्व मे मजदूर दल की सरकार बनी। उसी समय भारत मे भी आम चुनाव हुए और उनमें काग्रेस को भारी लोकप्रियता हासिल हुई। किन्तु हिन्दू-मुस्लिम विद्रोह बढ़ता गया। 1946 में सुभाष चन्द्र बोस ने 'आजाद हिन्द फौज' का गठन किया। उन्होने प्रेरणादायक संदेश देकर जनता को जागरूक किया। 23 मार्च, 1947 मे लॉर्ड माउण्टबेटन भारत के गवर्नर-जनरल बने। उन्होने भारतीयो से बातचीत की और पाकिस्तान का प्रस्ताव दिया। काग्रेस ने भी इसे स्वीकार कर लिया और 3 जून, 1947 को माउण्टबेटन ने अपनी योजना 'माउण्टबेटन योजना' प्रस्तावित की। इस योजना की दो बाते मुख्य थीं— (1) 1947 में ही भारत को सत्ता का हस्तांतरण और (2) हिन्दुस्तान और पाकिस्तान— दो राज्यो मे विभाजित।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947—भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 के अनुसार भारतीय महाद्वीप पर ब्रिटिश शासन का अंत हुआ और भारत और पाकिस्तान— दो स्वतंत्र राज्य अस्तित्व मे आए तथा 15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ।

भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में शिक्षा का योगदान

1. भारत में आधुनिक शिक्षा के साधनों में विदेशी ईसाई धर्म प्रचारकों का प्रमुख हाथ है। ईसाई मिशनरियों ने भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करने के उद्देश्य से आधुनिक शिक्षा-प्रचार का कार्य आरम्भ किया। उन्होंने भारत में व्याप्त बहुदेववाद और जातिवाद जैसी असमानताओं की तीखी आलोचना की और लोगों को ईसाई धर्म की ओर आकृष्ट किया। उन्होंने कई मिशनरी स्कूल खोले जिनमें आधुनिक धर्म निरपेक्षता की शिक्षा प्रदान की। इससे कुछ लोग ईसाई धर्म की ओर भी आकृष्ट हुए।

2. भारत में ब्रिटिश सरकार ने विश्वविद्यालय, महाविद्यालय और विद्यालय खोले और उनके द्वारा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दी गई। शिक्षा में सुधार लाने हेतु ब्रिटिश सरकार ने 190 में विश्वविद्यालय स्तर पर एक शिक्षा आयोग का गठन किया। उन्होंने अनेक अच्छे, सामान्य श्रे के व राजनैतिक प्रशासनिक कर्मचारी शिक्षित किए। वास्तव में 'लॉर्ड मैकाले की शिक्षानीति' य थी कि अंग्रेजी के माध्यम से सारे भारत में ऐसे वर्ग का निर्माण किया जाए जो रंग-खून में भारती और रुचि, विचार व नैतिकता में अंग्रेज हो। अंग्रेजों ने अपनी राजनैतिक, आर्थिक और प्रशासनि आवश्यकताओं के अनुरूप ही आधुनिक शिक्षा प्रदान की। लॉर्ड डलहौजी ने भारत में बड़े स्तर प शिक्षा का विकास कर बड़े-बड़े वकील, डॉक्टर, इंजिनियर, शिक्षक और तकनीकी विशेषज्ञ तैया कराए, किन्तु समय आने पर ये शिक्षित लोग ही ब्रिटिश राज्य के विरोधी बन गए। उन्होंने स्कूल कॉलेजों का बहिष्कार किया, नौकरियों से त्याग-पत्र दिए और राष्ट्रीय आंदोलन का समर्थन किय और स्वदेशी आंदोलन को स्वीकार किया।

3. भारत में वैदिक संस्कृति के रक्षार्थ पूरे देश मे अनेक विद्यालय, विश्वविद्यालय, खोले गए। इन विद्वानों का उद्देश्य समाज में लोगों का एक ऐसा समूह तैयार करना था जो शैक्षणिक सुधार, और देश के उत्थान के लिए राष्ट्रहित के कार्य कर सके, उन्होंने वेदो पर बल दिया। गुजरात, उत्तर प्रदेश और आगरकर आदि स्थानों पर विद्यापीठ खोले गए। शांति निकेतन में विश्वभारती, जामिया मिलिया और बम्बई में एस.एन.डी.टी. महिला विश्वविद्यालय इसी उद्देश्य से खोले गए।

4. प्रगतिशील भारतीयों ने भी शिक्षा प्रसार के लिए अनेक संगठन एवं विश्वविद्यालयों की स्थापना की— ब्रह्मसमाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, महादेव गोविंद रानाडे, सैयद अहमद खाँ और मदन मोहन मालवीय ने की। तिलक, गोखले, देशमुख व महात्मा गाँधी आदि द्वारा भी शिक्षा के प्रसार के लिए अनेक संगठन व संस्थाएँ स्थापित की गई।

आधुनिक शिक्षा और प्रगतिशील भारतीय शिक्षा का परिणाम यह हुआ कि पढ़कर उन्हे स्थिति की सही-सही जानकारी हुई। उनमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता की भावना जगी, विदेशी सत्ता के प्रति विरोधी भाव जगे, अन्धविश्वास और परम्परागत रूढ़िवादिता से मुक्ति मिली, और वैज्ञानिक व तार्किक ज्ञान को अपनाया जाने लगा।

अंग्रेजी शिक्षा प्रचार का भी परिणाम विपरीत ही निकला। लोगों ने राष्ट्रीय आदोलन मे भाग लिया, अंग्रजों द्वारा दी गई उपाधियों को लौटा दिया गया। शिक्षा से चुनाव, मताधिकार, भाषण, समाचार-पत्र आदि के प्रति जागरूकता पैदा हुई— अपनी माँगो को अंग्रेजी सरकार से मनवाने के लिए सभी उपायों को अपनाने लगे। इस प्रकार अंग्रेजी भाषा ने विभिन्न प्रान्तों एवं अन्य भाषाओं के

मध्य सम्पर्क सूत्र का कार्य किया। ब्रिटिश नेताओं का यह दावा निराधार नहीं था कि भारतीय राष्ट्रवाद अंग्रेजों द्वारा लाई गई आधुनिक शिक्षा का परिणाम है।

आधुनिक शिक्षा के फलस्वरूप ही भारतीयों में उदारवादी दृष्टिकोण पनपा, उनमें प्रजातांत्रिक विचारधारा जागृत हुई, धर्मनिरपेक्षता के भाव जगे। जिससे उन्होंने सामाजिक-धार्मिक सुधार किए— सती प्रथा निरोध, बाल-विवाह आदि कुरीतियों का विरोध हुआ। वैदिक संस्कृति को प्रोत्साहन मिला, किन्तु यह शिक्षा भारतीय समाज की वास्तविकताओं से अनभिज्ञ रही। इसने भारतीय संस्कृति, कला, अर्थव्यवस्था, चित्रकला व राजनैतिक व्यवस्था आदि पर जोर नहीं दिया। इसके विपरीत इसने आत्मसम्मान को क्षीण ही किया है, भारतीय समस्याओं का हल करने में भी यह अक्षम रही है। इसी कारण यह जन-शिक्षा नहीं बन पाई। इसने शिक्षितों और अशिक्षितों के बीच की दूरी को बढ़ावा दिया है। सारांश में यह लोगों को अंग्रेजी भाषा में शिक्षित करने का साधन मात्र रही है।

मुस्लिम लीग अथवा साम्प्रदायिकता— ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत जो भारतीय सामाजिक अर्थ-व्यवस्था विकसित हुई एवं सांस्कृतिक विकास हुआ उसके मूल में साम्प्रदायिकता थी। एक ओर राष्ट्रीय आंदोलनकारी नेता ब्रिटिश राज्य के विरोध में लड़ रहे थे तो दूसरी ओर कुछ हिन्दू और मुसलमान अपने-अपने समुदायों में सांप्रदायिक आग भड़का रहे थे। 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना की गई। लीग साम्प्रदायिक थी और उच्च मुस्लिम वर्ग उसका नेतृत्व कर रहा था—इसने मुसलमानों के लिए पृथक् प्रतिनिधित्व की माँग की। लीग ने अंग्रेज-सरकार के प्रति वफादारी प्रकट की। 1908 मे लीग ने अमृतसर अधिवेशन मे मुसलमानों के लिए विधान सभा में अधिक स्थान दिए जाने की माँग की, प्रिवी कौंसिल में प्रतिनिधित्व और सरकारी नौकरियो में एक निश्चित प्रतिशत रखने की माँग की। 1909 में मार्ले मिण्टो-सुधारों में ब्रिटिश सरकार ने पृथक् निर्वाचन के सिद्धान्त को स्वीकार किया जिसका आधार साम्प्रदायिकता था। 1919 में दिल्ली अधिवेशन में लीग ने भारत के लिए आत्मनिर्धारण के सिद्धान्त की माँग की किंतु 1919 में ही भारत सरकार अधिनियम द्वारा अंग्रेजों ने साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति का विस्तार कर दिया। 1920-22 के असहयोग आंदोलन के दौरान हिन्दू-मुसलमानों में पूर्ण सहयोग था। इसके तुरन्त बाद 1922 से 1927 तक हिन्दू-मुस्लिम उपद्रव हुए और दोनो अलग-अलग हो गए। 31 दिसम्बर, 1928 में दिल्ली में 'सर्वदल मुस्लिम सम्मेलन' का आयोजन किया गया। उसमें जिन्ना ने अपना चौदह सूत्रीय कार्यक्रम प्रस्तुत किया। उस समय कई राष्ट्रवादी मुस्लिम नेता भी इस ओर आकृष्ट हो गए। 1932 मे ब्रिटेन के प्रधानमंत्री रैम्जे मैक्डोनाल्ड ने साम्प्रदायिक पंचाट की स्वीकृति दे दी और जिन्ना मुसलमानो के प्रवक्ता माने गए। 1935 के अधिनियम में अनेक समुदायो के लिए पृथक् निर्वाचन क्षेत्र स्वीकृत किया गया। 1937 मे हुए चुनावों के परिणामो के बारे में जिन्ना ने असन्तोष प्रकट किया और 1938 में मुस्लिम लीग की कार्यकारिणी द्वारा यह प्रस्ताव पारित किया गया कि कांग्रेस मुसलमानों के साथ अन्याय और अत्याचार कर रही है, कांग्रेस एक हिन्दू संस्था है और मुस्लिम लीग मुसलमानों की संस्था है। इस प्रकार जिन्ना ने साम्प्रदायिक्ता की आग भड़काई और अंग्रेज सरकार ने इसमें घी का काम किया। उसने भारतीयो को विभिन्न समुदायो, हितो और वर्गों में बाँट दिया।

1938 मे हिन्दू और मुसलमानों को अलग-अलग राष्ट्र बता दिया गया, जिसके आधार पर लीग ने पाकिस्तान की माँग की। 1940 के 'लाहौर अधिवेशन' में पाकिस्तान का प्रस्ताव पारित किया गया और भारत के मुसलमानों की आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए एक अलग पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न मुस्लिम राज्य स्थापित करने की माँग रखी गई। जिन्ना ने मुसलमानो को पृथक् राष्ट्र का बताकर

उनकी संस्कृति और सभ्यता को भिन्न बताया और अन्ततोगत्वा भारत का विभाजन कर पृथक् पाकिस्तान की स्थापना की गई। यद्यपि गाँधी जी इस साम्प्रदायिकता के विरुद्ध थे किंतु अनेक राजनैतिक, आर्थिक और संरचनात्मक कारण साम्प्रदायिकता का जहर उगलने में सहायक रहे।

जाति– जाति ने भी राष्ट्रीय आंदोलन में बाधक कार्य किया क्योंकि जाति व्यवस्था हिन्दुओ की ऐसी व्यवस्था रही है जो जन्म पर आधारित थी। यह सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक असमानताओं पर आधारित थी। उसमे उच्चता और निम्नता के आधार पर श्रेणी-विभाजन था। विभिन्न जातियो व समूहों के सदस्यो के मध्य खान-पान, रहन-सहन व वैवाहिक-सम्बन्ध आदि वर्जित था। व्यवसाय आदि में भी अपनी जाति को महत्त्व दिया जाता था। जाति पर आधारित पूर्वाग्रह इतना कठोर था कि सेना में भी ब्राह्मणो और राजपूतो को अपनी जाति के नियमो का पालन करने की स्वतंत्रता दी जाती थी। जाति पंचायतों द्वारा ही जाति के सदस्यो के व्यवसाय चुने जाते थे। इन सब कारणों से राष्ट्रीय आंदोलन प्रभावित हुआ और जब तक जाति-प्रथा का प्रभुत्व स्थापित रहा, तब तक आदोलन को व्यापकता नहीं मिल सकी।

अंग्रेजी शिक्षा ने बुद्धिवाद, वैचारिक स्वतंत्रता और समानता के भाव लोगो मे जागृत किए किंतु यह आधुनिक शिक्षा प्रबुद्ध वर्ग तक ही सीमित रही, समाज के निम्न वर्ग तक इसकी पहुँच नहीं हो सकी। इसके अतिरिक्त अंग्रेजो की नीति भी हिन्दुओ को विभाजित करने, उनमे जातिगत भेदभावो को बढ़ाने की व साम्प्रदायिकता की भावना फैलाने की रही। अतः उन्होने जातिगत भेदभावो को प्रोत्साहन ही दिया। उन्होने तो प्रत्येक जाति के विषय मे विस्तार से सूचना सकलित की और जनगणना मे इनका पूरा रिकॉर्ड रखा क्योंकि उनका उद्देश्य मात्र अंग्रेजों के विरुद्ध राष्ट्रीय जागरण के प्रभाव को नियंत्रित करना था।

सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन (ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन व प्रार्थना समाज) ने जाति-व्यवस्था पर करारा प्रहार किया। पवित्रता-अपवित्रता, कर्म का सिद्धात, अस्पृश्यता, जन्माधारित प्रस्थिति निर्धारण और वंशानुगत व्यवसाय आदि पर इन आदोलनो का सीधा व तीखा प्रहार हुआ और परम्परागत परिस्थितियो मे बदलाव भी आया, किंतु कतिपय सुधार-आंदोलनो ने जाति-व्यवस्था का समर्थन किया। स्वतंत्रता संग्राम के समय 1932 मे साम्प्रदायिक-पंचाट की स्वीकृति ने मुसलमानों, सिक्खो और अन्य समूहो के लिए पृथक् निर्वाचन क्षेत्र खोल दिए– इससे जातिगत साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिला। इन आदोलनो से जाति व्यवस्था दृढ़ हुई।

इसके अतिरिक्त संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप निम्न जातियों ने उच्च जाति के स्तर को प्राप्त करने का प्रयास किया, जिसका उच्च जातियो ने विरोध किया, किंतु ब्रिटानिया सरकार ने निम्न जातियो के इस संस्कृतिकरण को प्रोत्साहित किया। इससे जातियो मे परस्पर संघर्ष बढ़ा, जो कि राष्ट्रीयता के लिए नकारात्मक रहा। इस तरह संस्कृतिकरण ने ब्रिटिश सरकार के उद्देश्य को ही सार्थक किया और राष्ट्रीय आंदोलन को हानि पहुँचाई।

महात्मा गाँधी ने जाति-प्रथा के विरोध मे संघर्ष किया–'अस्पृश्य' या 'अछूत' जातियों के लिए उन्होंने 'हरिजन' शब्द का प्रयोग किया और 1932 मे उनके कल्याणार्थ 'अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की। गाँधीजी का उद्देश्य हरिजनो को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़कर उनका उत्थान करना था। समाज सुधारको ने भी इसके लिए प्रयास किया और 1955 के 'अस्पृश्यता

अधिनियम' में इसे अपराध घोषित किया गया। इनमें बी.आर. अम्बेडकर का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने हरिजनों के विरुद्ध जुल्म और अत्याचार करने वालों के विरुद्ध संघर्ष किया।

सारांशत यह कहा जा सकता है कि ब्रितानिया राज ने भारत में साम्प्रदायिकता, जातिवाद, क्षेत्रीयता एवं धार्मिक शक्तियों को समर्थन दिया जिससे ये लोग पारस्परिक संघर्ष में लगे रहे और अंग्रेजी राज का विरोध न कर सकें, किंतु इन बाधाओं के उपरांत भी राष्ट्रवादी शक्तियों ने भारतीय समाज की उन सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध संघर्ष किया, जिन्होंने स्वतंत्रता संग्राम में बाधा पहुँचाई। वास्तव में इस स्वतंत्रता संग्राम को साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयता, जातीयता और निम्न जातियों के शोषण के विरुद्ध एक पुनर्जागरण कहा जा सकता है।

प्रश्न

1. अंग्रेजों के भारत-आगमन के समय की सामाजिक-आर्थिक अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।
2. भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
3. भारत में राष्ट्रवाद की उत्पत्ति के कारकों की व्याख्या कीजिए।
4. भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में शिक्षा की भूमिका का उल्लेख कीजिए।
5. भारत के स्वतंत्रता संग्राम में भारतीय कांग्रेस के योगदान की विवेचना कीजिए।
6. भारतीय राष्ट्रीय आदोलन में नरम-दल और गरम-दल की भूमिका बताइए।
7. भारतीय राष्ट्रीयता के गाँधी-युग पर प्रकाश डालिए।
8. भारतीय राष्ट्रीय आदोलन मे जाति प्रथा ने क्या भूमिका अदा की ?
9. "भारतीय राष्ट्रीय आदोलन मे साम्प्रदायिकता" पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।
10. भारत के राष्ट्रीय आंदोलन मे महात्मा गाँधी के योगदान की चर्चा कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नलिखित वाक्यों के उत्तर एक शब्द में दीजिए —
   (i) महाराष्ट्र में 'होमरूल-लीग' की स्थापना किसने की ?
   (ii) जलियाँवाला बाग हत्याकांड की जाँच के लिए कौनसी कमेटी गठित की गई ?
   (iii) 1919 की सुधार योजना पर रिपोर्ट देने के लिए 1927 में कौनसा कमीशन नियुक्त किया गया ?
   (iv) 1928 में दिल्ली में होने वाले सम्मेलन का नाम बताइए।
   (v) 1930 में पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्ति के लिए कौनसा आंदोलन प्रारम्भ किया गया ?
   (vi) 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना कौनसे सन् में हुई ?
   (vii) राष्ट्रीय आदोलन के इतिहास को कितने चरणों मे विभाजित किया जा सकता है ?
   (viii) जलियाँवाला बाग मे सार्वजनिक सभा का आयोजन कब किया गया ?
   (ix) प्रथम गोलमेज सम्मेलन कब आयोजित किया गया ?

(x) साम्प्रदायिक-पंचाट की घोषणा किसने की ?

[उत्तर-(i) बालगंगाधर तिलक, (ii) हण्टर कमेटी, (iii) साइमन कमीशन, (iv) सर्वदलीय सम्मेलन, (v) सविनय अवज्ञा आंदोलन, (vi) 1885, (vii) 3, (viii) 13 अप्रैल, 1919, (ix) 22 नवम्बर, 1930, (x) मैक्डोनल्ड]

2. नीचे कोष्टक में कुछ विकल्प दिए गए हैं उनमें से सही विकल्प का चयन कीजिए—

(i) 1947 में भारत के गवर्नर-जनरल कौन थे ?

(माउण्ट बेटन/लॉर्ड इरविन/लॉर्ड मैक्डोनल्ड/लॉर्ड विलिंगडन)

(ii) आजाद हिन्द फौज की स्थापना किसने की ?

(बाल गंगाधर तिलक/मोतीलाल नेहरू/सुभाष चन्द्र बोस/एनी बीसेण्ट)

(iii) 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना किसने की ?

(मोती लाल नेहरू/ए.ओ. ह्यूम/लॉर्ड मैकाले/चित्तरंजनदास)

(iv) भारत में प्रथम स्वतंत्रता संग्राम कब हुआ ?

(1885/1857/1934/1928)

(v) बंगाल-विभाजन कब हुआ?

(1905/1933/1928/1930)

(vi) अखिल भारतीय होम-रूल-लीग की स्थापना किसने की ?

(बाल गंगाधर तिलक/सुभाषचंद्र बोस/श्रीमती एनी बीसेण्ट/ए.ओ. ह्यूम)

(vii) 'रोलेट एक्ट' कब बनाया गया ?

(1919/1935/1885/1930)

(viii) 'दाण्डी कूच' किस सन् में किया गया ?

(1905/1930/1929/1825)

(ix) 'भारत छोडो आन्दोलन' का प्रस्ताव कब स्वीकार हुआ ?

(1905/1935/1942/1900)

(x) 'माउण्ट बेटन-योजना' कब प्रस्तावित हुई ?

(1905/1935/1942/1947)

[उत्तर-(i) माउण्ट बेटन, (ii) सुभाष चंद्र बोस, (iii) ए ओ. ह्यूम, (iv) 1857, (v) 1905, (vi) श्रीमती एनी बीसेण्ट (vii) 1919, (viii) 1930, (ix) 1942, (x) 1947]

3. निम्नलिखित के सही जोड़े बनाइए—

1. इल्बर्ट विधेयक	(A) 1922
2 वर्नाक्यूलर प्रेस अधिनियम	(B) 1927
3. लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन	(C) 31 दिसम्बर, 1929
4. चौरी चौरा काण्ड	(D) मार्च 1933
5. साइमन कमीशन	(E) 1833
6. स्वाधीनता प्रस्ताव	(F) 1916
7. श्वेत-पत्र	(G) लॉर्ड लिटन

[उत्तर- 1 (E), 2 (G), 3 (F), 4 (A), 5 (B), 6 (C), 7 (D)]

4. निम्नलिखित में से सत्य और असत्य कथन छाँटिए—

(i) लॉर्ड लिटन ने 'भारतीय शस्त्र विधेयक' लागू किया।

(ii) भारत के लिए 'होमरूल' की माँग क्रिस्तोदास पाल ने की।
(iii) उग्र राष्ट्रीयता का उदय 'बाल, लाल, पाल' ने किया।
(iv) उदार राष्ट्रीयता के समर्थक संघर्ष द्वारा स्वराज्य प्राप्त करना चाहते थे।
(v) 'प्रशासकीय गुप्तता अधिनियम' लॉर्ड लिंटन ने लागू किया।
(vi) बंगाल का विभाजन लॉर्ड कर्जन ने किया।
(vii) गाँधीजी 1891 में दक्षिणी अफ्रीका गए।
[उत्तर- 1 (√), 2 (√), 3 (√), 4 (x), 5 (x), 6 (√), 7 (x)]

अतिलघु-उत्तरीय प्रश्न

1. 'क्रिप्स प्रस्ताव' और उसकी असफलता पर प्रकाश डालिए।
2. 'भारत छोडो आंदोलन' पर टिप्पणी लिखिए।
3. 'साम्प्रदायिक-पंचाट' से आप क्या समझते है ?
4. 'गोलमेज सम्मेलन' को स्पष्ट कीजिए।
5. 'सविनय अवज्ञा आंदोलन' को 50 शब्दों में स्पष्ट कीजिए।
6. 'दाण्डी कूच' पर 30 शब्द लीखिए।
7. नेहरू रिपोर्ट से सम्बन्धित दो बातें बताइए।
8. साइमन कमीशन पर टिप्पणी लिखिए।
9. 'जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड' पर टिप्पणी लिखिए।
10. उग्रदल और उदारदल में प्रमुख अंतर क्या थे ?
11. 'होमरूल-लीग' पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।
12. बगाल-विभाजन कब और किसके द्वारा किया गया ?
13. 'बाल, लाल और पाल' से क्या आशय है ?
14. 'उदार राष्ट्रवादियों की कार्य पद्धति' पर 30 शब्द लिखिए।

लघु-उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—

1. असहयोग आदोलन, 1920
2. उदार राष्ट्रवादियों की विचारधारा।
3. राष्ट्रवाद में सामाजिक-धर्मिक सुधार आंदोलनों की भूमिका।
4. मुस्लिम लीग की राष्ट्रीय आंदोलन में भूमिका।
5. माउण्टबेटन योजना, 1947।
6. 'भारतीय शासन अधिनियम, 1935'।
7. राष्ट्रवाद के उदय में विभिन्न कारकों की भूमिका। (उत्तर एक पृष्ठ मे)

□□□

अध्याय - 16

ग्रामीण भारत में परिवर्तन और विकास

(Change and Development in Rural India)

भारतवर्ष एक कृषि प्रधान देश है और भारत की अधिकांश जनसंख्या ग्रामों में निवास करती है। ग्रामों का जीवन अति सादगीमय, सरल, सुगम और प्राकृतिक वातावरण के अतिनिकट है। यहाँ किसी प्रकार की कृत्रिमता अथवा जटिलता नहीं है। ग्रामों को समझने के लिए उसके सापेक्ष शब्द शहर से इनकी तुलना करें तो गाँवों की प्रकृति, जीवन, और वहाँ के वातावरण को ज्यादा अच्छी तरह से समझा जा सकता है। शहर ग्रामों की तुलना में बाद में बने हैं। उनमें जीवन प्रकृति से परे, कृत्रिमतापूर्ण, औद्योगिकीकरण से परिपूर्ण और जटिल है। शहरों की सभ्यता और संस्कृति भी ग्रामों की तुलना में परिष्कृत, परिमार्जित और संशोधित है। ग्रामीण जीवन का इतिहास अति प्राचीन है। जब लोग आजीविका प्राप्त करने हेतु एक स्थान पर रहकर कृषि करने लगे और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति और सुविधाएँ वहाँ रहकर जुटाने लगे तो वे स्थान 'गाँव' बन गए। वास्तव में मानव की सभ्यता और संस्कृति से पहचान कराने वाले 'गाँव' ही है, इसीलिए ग्रामीण संस्कृति ही वास्तविक मानव संस्कृति है। शहरों में तो संस्कृति भी कृत्रिमता से परिपूर्ण है।

ग्रामीण भारत में परिवर्तन और विकास को जानने से पूर्व ग्रामीण भारत की विशेषताओं को जानना अत्यावश्यक है तभी हम उनमें होने वाले विकास को समझ सकेंगे।

ग्रामीण– 'ग्रामीण' शब्द को जानने के लिए 'नगरीय' शब्द को भी जानना आवश्यक है। प्राय 'ग्रामीण' को 'नगरीय' का विपरीतार्थ माना जाता है अर्थात् जहाँ कृत्रिमता, जटिलता, आडम्बर युक्त जीवन हो, जनसंख्या की अधिकता हो और आधुनिकता हो वह नगरीय वातावरण है और जहाँ सरलता, आडम्बर विहीन जीवन और जनसंख्या की न्यूनता हो वह 'ग्रामीण' जीवन होता है। अनेक विद्वानों ने ग्रामीण क्षेत्र उसे कहा है जो सामाजिक दृष्टि से पिछड़ा है, जहाँ कृषि को प्रमुखता दी गई है, जनसंख्या न्यून है। वास्तव में ये सभी विशेषताएँ ग्रामीण जीवन की है फिर भी एक सर्वमान्य परिभाषा इन विशेषताओं के आधार पर नहीं निर्मित की जा सकती है क्योंकि इनमे कुछ अपवाद भी है, जैसे– सभी का जीवन कृषि आधारित न होकर अन्य व्यवसायों को वहाँ भी अपनाया जाता है, जनसंख्या की दृष्टि से भी एकरूपता नहीं मानी जा सकती और पिछड़ापन शहरों में भी पाया जाता है। इस संदर्भ में दो आधारों को प्रमुखता दी जा सकती है, जिन्हें बरट्राण्ड ने निर्धारित किया है–(1) कृषि द्वारा आय अथवा जीवनयापन, (2) कम घनत्व वाला जनसंख्या-क्षेत्र।

लैण्डिस ने अपनी कृति 'रूरल लाइफ इन प्रोसेस' में 'ग्रामीण' शब्द की व्याख्या तीन आधारों पर की है– (1) प्रकृति पर प्रत्यक्ष निर्भरता, (2) सीमित आकार, और (3) घनिष्ठ और प्राथमिक सम्बन्ध।

श्रीनिवास ने ग्रामीण जीवन की व्याख्या इस प्रकार की है– "एक ग्रामीण क्षेत्र वह है, जहाँ लोग किसी प्राथमिक उद्योग में लगे हों, अर्थात् प्रकृति के सहयोग से वे वस्तुओं का प्रथम बार उत्पादन करते हो।"

इन उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर 'ग्रामीण' क्षेत्र उसे कहा जा सकता है जहाँ मानव जीवन प्रत्यक्ष रूपेण प्रकृति पर निर्भर रहता हो, अर्थात् ग्रामीण लोग कृषि द्वारा पैदावार करके अन्न उपजाते हैं और इस प्रकार प्रकृति के साथ उनकी प्राथमिक स्तर पर अन्त क्रिया होती है। इसके साथ ही, अर्थात् कृषि पर जीवनयापन के साथ ग्रामीण जीवन मे सम्बन्धों में घनिष्ठता होती है, ग्रामीण क्षेत्र सीमित आकार वाला और कम घनत्व वाला भी होता है।

सारांशत एक ग्रामीण क्षेत्र प्राथमिक सम्बन्धों की प्रधानता वाला, सीमित क्षेत्र वाला और कृषि पर आधारित होने के कारण प्रकृति पर प्रत्यक्ष रूप से निर्भरता वाला होता है।

ग्रामीण भारत में परिवर्तन

मानव समाज एक जटिल व्यवस्था है। यह निरंतर परिवर्तित होती रहती है। ग्रामीण समाज भी इस परिवर्तन के प्रभाव से अछूते नहीं रहे। ग्रामीण समाज की संरचना एव इसके प्रकार्यों मे भी निरंतर परिवर्तन हो रहा है। यद्यपि इस परिवर्तन की गति शहरों की तुलना में धीमी कही जा सकती है। भारतीय ग्रामो में परिवर्तन किस गति से , किस क्रम से और किस ओर हो रहे हैं, इन्हें जानने के लिए भारतीय ग्रामो के इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक है।

प्राचीन भारतीय ग्राम सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से लघु समुदाय थे। सभी जातियाँ परस्पर एक दूसरे के हितों का ध्यान रखती थीं। उनके आर्थिक हित भी एक-दूसरे के सहयोग से पूरे होते थे। राजनैतिक दृष्टि से ग्राम पचायतें बनी हुई थीं जो ग्रामीण-विवादो का निपटारा करती थी। उनकी अपनी ग्रामीण संस्कृति थी। सभी ग्रामवासी परस्पर प्रेम-सौहार्द्र की भावना से रहते थे। उनकी अनेक प्रतिदिन की आवश्यकताओं की पूर्ति भी ग्रामीण-स्तर पर ही हो जाती थी। ये समुदाय परम्परावादी रहे हैं। इन ग्रामीण समाजों में रूढियो की प्रधानता रहती थी। ये परिवर्तन को आसानी से स्वीकार नहीं करते थे। जाति-प्रथा का प्रभुत्व था। जजमानी प्रथा के द्वारा श्रम-विभाजन की व्यवस्था का संचालन होता था। व्यवसाय वंशानुगत ही अपनाए जाते थे। नवाचार अथवा परिवर्तन कठिनाई से ही कभी हो पाता था। इस तरह ग्रामीण भारत मे परिवर्तन की गति अतिमद थी, किंतु उनमें संगठन था।

19वी सदी में अंग्रेज भारत में आए और ब्रिटिश राज की स्थापना हुई। इसके बाद ग्रामों में अनेक परिवर्तनों की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। उनकी लघु सामुदायिकता विखडित होने लगी। ब्रिटिश शासन काल मे ग्रामों की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्थिति में परिवर्तन होने लगे। भूमि पर अब जमींदारों का अधिकार हो गया। वे भूमिपति होकर मजदूरों से कृषि कराने लगे। इससे जमींदारी प्रथा का प्रारम्भ हुआ। प्रशासनिक कार्य जो पहले ग्राम पंचायतों के हाथ मे था अब अंग्रेजों के पास आ गया। न्यायालयों में न्यायाधीशों द्वारा न्याय होने लगा। औद्योगीकरण का विकास

हुआ, इससे ग्रामीण उद्योग-धंधे नष्ट होने लगे। कृषि-व्यवस्था भी अंग्रेजों के हाथ में चली गई। इन सबके परिणामस्वरूप ग्रामों की एकता अब विखण्डित हो गई। इस प्रकार अंग्रेज़ों के प्रभाव ने ग्रामो को उनकी संस्कृति से भी दूर कर दिया— अंग्रेजो ने जाति-पंचायत, जजमानी प्रथा, ग्राम पचायत, संयुक्त परिवार, कृषि-व्यवसाय, और जनमत जैसी ग्रामीण-विशेषताओ को समाप्त कर दिया। उनमें अशिक्षा, अज्ञान, निर्धनता और बेरोजगारी की वृद्धि की। स्वतंत्रता के पूर्व किसानों का खूब शोषण हुआ। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप बेकारी और निर्धनता का आधिक्य हुआ जिससे वह कर्जे में डूबते गये। धीरे-धीरे ग्रामों में अनेक समस्याएँ बढ़ी। रूढ़िवादिता, भिक्षावृत्ति, वेश्यावृत्ति, शोषण, मारपीट, जनाधिक्य, बेकारी, अस्वास्थ्यकर आवास और पर्दाप्रथा जैसी समस्याओं से ग्राम ग्रसित होने लगे। लोग गाँव छोड़कर व्यवसाय की तलाश में शहरों की ओर पलायन करने लगे। इससे शहरीकरण की प्रवृत्ति बढ़ी। अंग्रेजी सभ्यता ने ग्रामों में भी स्वच्छंदता को बढ़ावा दिया। बुजुर्गों का सम्मान घटने लगा, भारतीय संस्कृति के बंधन शिथिल होने लगे। लोग स्वयं को ग्रामीण कहलाने में लज्जा का अनुभव करने लगे।

स्वतत्रता प्राप्ति के अनन्तर सरकार का ध्यान ग्रामों के उत्थान की ओर गया। महात्मा गाँधी का कथन था कि असली भारत ग्रामों में ही निवास करता है, अत ग्रामीण व्यवस्था को समुन्नत करने के प्रयास प्रारम्भ किए गए हैं। अनेक विकासशील योजनाएँ बनाई गई है। पचवर्षीय योजनाएँ,सामुदायिक विकास योजनाएँ, पंचायती राज व्यवस्था, अन्त्योदय योजना, और समन्वित ग्रामीण विकास योजनाएँ आदि ग्रामों को उन्नत बनाने के लिए आयोजित की गई हैं। सरकार द्वारा पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए भी अनेक योजनाएँ बनाई गई हैं। इन सब प्रयासो के फलस्वरूप ग्रामो में परिवर्तन आए हैं।

पंचायती राज व्यवस्था में ग्रामीणो को पर्याप्त अधिकार प्रदान किए गए हैं इससे ग्राम्य व्यवस्था मे सुधार हुआ है। अब वहाँ नल, बिजली, आवास व भौतिक सुख-सुविधा के उपकरण आदि विकसित हो रहे हैं। सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से भी ग्रामों मे परिवर्तन आया है। अब ग्रामीण अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हुए है, उनमें नेतृत्व जागृत हुआ है, वे अपनी समस्याओ के प्रति सजग हुए हैं। उनमे आधुनिकता की प्रवृत्ति अब बढने लगी है। अब गाँवो में रेडियो, टेलिविजन, सिनेमा, आधुनिक खेल-कूद आदि के साधन विकसित हो गए है। इस प्रकार गाँवो मे परिवर्तन की प्रक्रिया चल रही है— जिसने अनेक समस्याओ को भी जन्म दिया है। ग्रामो मे हो रहे परिवर्तनो को विस्तार से इस निम्नलिखित क्रम में देखा जा सकता है—

(1) ग्रामीण जाति व्यवस्था में परिवर्तन— जाति व्यवस्था भारतीय ग्रामो की मुख्य विशेषता रही है। जाति के आधार पर ही गाँवो मे सामाजिक स्तरीकरण जीवित था। जाति की सदस्यता जन्म पर आधारित थी। प्रत्येक जाति का एक निश्चित व्यवसाय था, जाति की पचायत थी, विवाह अपनी ही जाति में होता था, खान-पान के नियम निश्चित थे, जाति में ब्राह्मण सर्वोच्च स्थान पर थे, अछूतो का स्थान निम्नतम था। जाति के नियमों मे किसी प्रकार की अवहेलना होने पर जाति उसे बहिष्कृत कर देती थी अथवा दण्ड देती थी। स्वतत्रता-प्राप्ति के अनन्तर जाति की इन विशेषताओ मे ग्रामो मे काफी बदलाव आया है। शहरों के साथ सम्पर्क होने के कारण अब जाति मे संस्तरण कम हुआ है अब जातीय-सदस्यता जन्माधारित न रहकर कर्म पर आधारित हो गई है। अब जाति का परम्परागत व्यवसाय भी निश्चित नही रहा है। कोई व्यक्ति किसी भी व्यवसाय को ग्रहण कर सकता है। जाति-पंचायत का अधिकार स्वतंत्र भारत मे अब न्यायालयो ने ले लिया है। अब नवीन

संविधानों का निर्माण हो गया है जिसके परिणामस्वरूप अछूत जाति भी धार्मिक स्थानों पर जाने लगी है। तालाबों, कुओं, सार्वजनिक स्थानों, बगीचों आदि का बखूबी उपयोग करने लगी है। जाति के नियमों की अवहेलना करने पर उसे जातिच्युत नहीं किया जा सकता।

अब अन्तर्जातीय विवाहों को भी मान्यता मिल गई है। ग्रामों में अब खान-पान, सहवास आदि में भी शिथिलता आई है। अब लोग होटल में, ऑफिस आदि में अन्य जाति के लोगों के साथ खान-पान व सामाजिक सहवास स्थापित करते हैं। अनेक संवैधानिक अधिनियमों के कारण अस्पृश्यता में कमी आई है जिसके कारण अब निम्न-जातियाँ सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक भेदभाव की स्थिति से ऊपर उठी हैं। वे कोई भी व्यवसाय कर सकती हैं। अब राजनीति में भी इनका वर्चस्व हो गया है। इनके लिए अलग से आरक्षण की व्यवस्था है, वे अपने अधिकारो के प्रति सजग हो चली हैं, उनमें शिक्षा का प्रसार हो गया है, और यहाँ तक कि संस्कृतिकरण की प्रक्रिया द्वारा अब वे उच्चता को प्राप्त करने के प्रयास भी कर रही हैं।

इन सबका परिणाम यह भी हुआ है कि अन्तर्जातीय सम्बन्धों के विशृंखलित होने के कारण अब ग्रामो में तनाव संघर्ष, गुटबाजी और दलगत राजनीति का प्रारम्भ हो गया है। जिससे भाईचारे की भावना समाप्त हो गई है।

(2) ग्रामीण जजमानी व्यवस्था में परिवर्तन— जजमानी-व्यवस्था जाति-प्रथा की विशेषता रही है जिसमे श्रम-विभाजन निश्चित था। सभी जातियाँ परस्पर सेवा करती थीं— ब्राह्मणों का कार्य विवाह अनुष्ठान आदि करवाना था। धोबी कपडे धोने, नाई बाल काटने, चमार जूता बनाने और जुलाहा कपडे बुनने का कार्य करता था, बदले में सभी को उनकी सेवा का भुगतान कुछ नकद, भोजन, वस्त्र अथवा अनाज आदि देकर कर दिया जाता था। इस प्रकार जजमानी प्रथा में उस समय दो जातियाँ थीं— (1) जजमान, और (2) कमीन।

कमीन सेवा प्रदान करने वाली जाति थी और जजमान सेवा प्राप्त करने वाली जाति थी। जजमान लोग विवाह, मृत्यु एव भोज आदि पर कमीनों की सेवाएँ प्राप्त कर उन्हें बदले में अनाज, वस्त्र आदि देते थे। इस प्रकार परस्पर सभी जातियाँ एक-दूसरे से जुड़ी थीं।

वर्तमान ग्रामो मे इस जजमानी व्यवस्था को समाप्त-सा कर दिया गया है। नगरीकरण और *यातायात की सुविधाओं ने ग्राम के सामाजिक, आर्थिक सम्बन्धों को क्षीणतर कर दिया है।* अब लोग शहर में जाकर व्यवसाय करने लगे है। जो लोग अभी भी ग्रामों मे व्यवसाय कर रहे है वे भी अब जजमान और कमीन का सम्बन्ध न रखकर अपना अलग अस्तित्व समझने लगे है। धोबी, नाई, चमार आदि जातियाँ भी अपनी दुकाने चलाती है और रुपए के बदले कार्य करती है। उच्च जाति की सेवा का भाव उनमे नही रह गया है। जजमानी व्यवस्था को कमजोर करने में कृषि के क्षेत्र में प्राप्त आधुनिक तकनीकी साधनो का भी प्रमुख हाथ रहा है। अब मशीनीकरण से औजार तुरत और श्रेष्ठ बनने से लुहार आदि की महत्ता कम हुई हे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वर्तमान में औद्योगीकरण, नगरीकरण और यातायात आदि के परिणामस्वरूप ग्रामीण-जजमानी व्यवस्था जो सामाजिक और आर्थिक सम्बन्धो का आधार थी, कमजोर पड़ गई है।

(3) ग्रामीण अर्थव्यवस्था में परिवर्तन—ग्रामों में मुख्य व्यवसाय कृषि है। 70 प्रतिशत से अधिक लोग कृषि पर आधारित हैं। इसके अतिरिक्त ग्रामीण स्तर पर छोटे-छोटे उद्योग भी प्रचलित है, जैसे— मिट्टी के बर्तन बनाना, वस्त्र बनाना, चटाई, रस्सी आदि बनाना और धातु के बर्तन बनाने

आदि के कार्य भी होते हैं। इनसे ग्रामीण-अर्थव्यवस्था चलती है। वर्तमान समय में इस अर्थ-व्यवस्था में काफी बदलाव आया है– जो कृषि हल-बैल की सहायता से प्राचीन समय में की जाती थी अब औद्योगिक युग में ट्रैक्टर की सहायता से होती है। पूर्व की तुलना में उन्नत बीज, उत्तम रासायनिक खाद, सिंचाई के अत्याधुनिक साधन आदि के परिणामस्वरूप पूर्व की तुलना में अब उत्पादन में वृद्धि हुई है। अब प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ने से ग्रामीणों की आर्थिक स्थिति भी पूर्व की तुलना में समृद्धतर हुई है। यातायात की सुविधाओं में विस्तार होने से गाँवों की निर्भरता बढ़ी है। अब उत्पादन, व्यापार के लिए ग्रामीण अन्य नगरों में जाते है, यहाँ तक कि वे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था से भी जुड़ गए हैं।

मशीनों से उत्पादन का कार्य होने के परिणामस्वरूप अब ग्रामीण उद्योग-धंधे समाप्त हो रहे हैं। अब सभी कार्य शीघ्रता से व उत्तम गुणवत्ता लिए हुए होते हैं। ग्रामीण लोग अब शहर जाकर व्यवसाय करने लगे है। पहले जो वस्तु-विनिमय का प्रचलन था अब उसका स्थान मुद्रा-विनिमय ने ले लिया है– मुद्रा की अधिकता होने से लोग आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो गए है और शहरीकरण के प्रभाव ने उनमें अनेक दुर्व्यसनों को भी बढ़ावा दिया है। अब ये लोग शहर जाकर मद्य-पान, वेश्यावृत्ति और जुआ आदि प्रवृत्तियों को अपनाने लगे हैं– अधिक धन होने से अब ग्रामीणों में पूँजीवादी प्रवृत्ति भी बढ़ रही है, वे गरीबों को ऋण देते है और कृषि पर मजदूरी कराते है, गरीबों का शोषण करते हैं। महाजनी-प्रथा का प्रचलन बढ़ा है। जमींदार किसानों को ऋण देकर उनकी भूमि को अधिकृत कर लेते हैं, यद्यपि अब इस स्थिति में सुधार हुआ है। इस तरह ग्रामीण अर्थव्यवस्था जहाँ एक ओर उन्नतावस्था में है, वहीं दूसरी ओर इनमें अनेक बुराइयाँ भी उपजी हैं। इसका श्रेष्ठ पक्ष यह है कि आधुनिक तकनीकी के कारण कृषि उन्नत हुई है, साहूकारी- प्रथा भी अब समाप्त हो चली है, क्योंकि बैंक, सहकारी समितियों की स्थापना अब ग्राम स्तर पर हो गई है, कृषि-श्रमिकों का पारिश्रमिक बढ़ा है। हरित-क्रांति के परिणामस्वरूप बीज, खाद आदि में विकास हुआ है– इससे भारतीय ग्राम अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से जुड़ गया है किन्तु इसका दुर्बल पक्ष यह है कि ग्रामीण उद्योगों की समाप्ति ने अनेक कृषकों को बेकार कर दिया, उनमें शोषण, गरीबी व बेकारी में वृद्धि हुई और वह शहरों की ओर पलायन करने लगा। सुविधासम्पन्न कृषक अनेक दुर्व्यसनों का शिकार हो गया।

(4) ग्रामीण राजनैतिक व्यवस्था में परिवर्तन– प्राचीन ग्रामीण राजनैतिक-व्यवस्था का आधार ग्राम पंचायतें थीं। गाँव का सर्वोच्च प्रतिष्ठित बुजुर्ग इनका मुखिया होता था। इसका कार्य गाँव की भूमि को परिवारों में वितरित करना, ग्रामीण-समस्याओं का निराकरण करना, सफाई, विकास-कार्य करना और श्रेष्ठ न्याय करना होता था। ब्रिटिश शासन से पूर्व ग्राम राजनैतिक दृष्टि से काफी स्वतंत्र थे, उनके आन्तरिक कार्यों में भी किसी को दखल करने का अधिकार नहीं था। ग्राम-पंचायतों के साथ-साथ उस समय ग्रामों में जाति-पंचायत भी जातीय-विवादों के निपटारे के लिए होती थी जो जाति पर नियंत्रण रखने का भी कार्य करती थी। ब्रितानिया सरकार ने ग्रामों की राजनैतिक व्यवस्था को छीनकर उनके प्रशासनिक-अधिकारों को अपने अधीन कर लिया, जिससे ग्रामीणों में पर्याप्त आक्रोश और हीन-भावना आई। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में पुन. पंचायतों के महत्त्व को स्वीकारा गया और ग्रामीण स्तर पर 'त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था' शुरू की गई। अब सरकार ने ग्रामों के विकास की आवश्यकता को सर्वोपरि मान कर विकास पंचायतों का गठन किया है जो गाँवों में बिजली, पानी, आवास, स्वच्छता, स्वास्थ्य और शिक्षा सम्बन्धी कार्य करती हैं। ग्रामीण स्तर पर ही विवादों के निवारणार्थ न्याय-पंचायतों का भी गठन किया गया है। इन पंचायतों

में पंच-सरपंच आदि के चयन में प्रजातांत्रिक आधार को अपनाया गया है। अब ग्रामीण नेतृत्व में ग्रामीण बुजुर्गों के स्थान पर युवा पीढी का अधिकार हो रहा है । व्यक्ति के गुणों को महत्त्व दिया जा रहा है, प्राचीन ग्रामों मे अस्पृश्य समझी जाने वाली जातियाँ भी राजनैतिक व्यवस्था में भागीदार हो रही हैं। अब गाँव का प्रशासनिक कार्य इस पंचायती राज व्यवस्था द्वारा नियंत्रित, संचालित और व्यवस्थित किया जाता है । इससे सबसे बडा लाभ यह हुआ है कि गाँवों का विकास हुआ है, अस्पृश्यों को मान्यता मिली है और पिछडे, निम्न और हीन समझे जाने वाले वर्ग भी गाँव की उच्च समझी जाने वाली जातियो के समीप आए हैं। युवा पीढ़ी का राजनीति के क्षेत्र में वर्चस्व बढ़ा है। ग्रामीणो में राजनैतिक जागरूकता बढी है। महिलाओं की भागीदारी भी राजनीति में मानी जाने लगी है। बडे-बडे न्याय के लिए ग्रामीण लोग पचायतो के अतिरिक्त जिला-न्यायालय, उच्च-न्यायालय और सर्वोच्च-न्यायालय तक का द्वार खटखटाने लगे है। इस प्रकार ग्रामीण राजनैतिक व्यवस्था में पंचायती राज व्यवस्था ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाही है।

(5) ग्रामीण धार्मिक जीवन में परिवर्तन— भारतीय ग्रामीण-जन धार्मिक मान्यताओं में अत्यधिक विश्वास रखते हैं। धर्म उनके जीवन का आधार है। नए व्यवसाय के प्रारम्भ करने में, शादी-विवाह में, जन्म के समय, और यहाँ तक कि फसल बोने-काटने आदि में वे धार्मिक-क्रियाओं का सहारा लेते हैं। धर्म में उनकी अटूट श्रद्धा होती है। धर्म के अतिरिक्त प्राचीन मान्यताएँ, प्रथाएँ, रूढ़ियाँ आदि जितनी ग्रामों में निबाही जाती है उतनी शहर में नहीं। इसका कारण बहुत कुछ अशिक्षाऔर वैज्ञानिकता का अभाव है। वर्षा न होने पर प्राचीन समय में तो बलि तक चढ़ाई जाती थी, अब यह प्रथा समाप्त हो गई फिर भी प्राकृतिक-प्रकोप (आंधी, बाढ़, सूखा व अकाल आदि) के समय धार्मिक अनुष्ठान— पूजा-पाठ-हवन आदि किया जाना उनकी धार्मिक प्रवृत्ति को ही इंगित करता है।

वर्तमान समय में ग्रामों मे शिक्षा का प्रसार-प्रभाव बढ़ा है इससे युवा वर्ग में वैज्ञानिकता और तार्किकता बढी है। वे हर कार्य के पीछे उसके मन्तव्य-उद्देश्य को जानना चाहते हैं। अब गाँव में धार्मिक पूजा-पाठ, मदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे जाना और आध्यात्मिक अनुष्ठान आदि का प्रचलन कम हुआ है। नवरात्रो में रात्रि-जागरण, शादी-विवाह के अवसर पर की जाने वाली क्रियाओं आदि मे भी अब शिथिलता आई है। युवावर्ग इन धार्मिक क्रियाओं में कम विश्वास करता है। इस प्रकार वर्तमान समय मे ग्रामों के धार्मिक-जीवन में बदलाव आया है। यह पूरी तरह समाप्त तो नहीं हुआ किन्तु शिथिलता अवश्य आई है।

(6) ग्रामीण परिवारों में परिवर्तन— प्राचीन ग्रामीण-परिवार संयुक्त-परिवार थे जिनमें दो-तीन या उससे भी अधिक पीढियों के सदस्य एक स्थान पर रहते थे। इनकी सम्पत्ति, भोजन, आवास और धार्मिक कार्य सामूहिक होते थे। परिवार का संचालन परिवार के वयोवृद्ध द्वारा किया जाता था। अन्य सदस्य उसकी आज्ञा का पालन करते थे, उसका सम्मान करते थे।

वर्तमान समय में संयुक्त-परिवार-परम्परा विच्छिन्न हो रही है। अब परिवार की संरचना और कार्यों मे काफी बदलाव आया है—सयुक्त परिवारों का विघटन होकर एकाकी परिवार बनने लगे हैं। वयोवृद्धो का नियन्त्रण कम हो रहा है। महत्त्वपूर्ण निर्णयों में जहाँ पहिले युवा वर्ग की कोई भूमिका नहीं होती थी, अब महत्त्वपूर्ण कार्य उसकी सलाह से किये जाते हैं। अब हर व्यक्ति अपने हितों के प्रति सजग है। इससे कभी-कभी दो पीढ़ियों के मध्य संघर्ष की स्थिति भी आ जाती है। अब ग्रामों के स्तर पर भी अनेक कार्य अन्य संस्थाएँ करने लगी हैं, जैसे— आटा पीसने का कार्य जो पहिले घरों

में ही महिलाएँ करती थीं अब बाहर चक्कियों पर किया जाता है। अब परिवार की लड़कियाँ शिक्षा प्राप्त करने शिक्षण संस्थाओं में जाने लगी है। इस प्रकार ग्रामीण परिवारों में अब पूर्व की तुलना में काफी बदलाव आ रहा है।

(7) ग्रामीण विवाह संस्था में परिवर्तन— परम्परागत भारतीय ग्रामीण विवाह संस्था मे जाति का महत्वपूर्ण स्थान था। व्यक्ति अपनी ही जाति में विवाह करता था और यह विवाह भी उसकी अपनी मर्जी से नहीं वरन् माता-पिता अथवा अभिभावक द्वारा तय किया जाता था। प्राचीन ग्रामों मे बाल-विवाह का प्रचलन था, विधवा को पुन विवाह करने की स्वीकृति नहीं थी। विवाह को एक धार्मिक कृत्य माना जाता था। पत्नी के लिए पति का स्थान सर्वोपरि था। उसकी आज्ञा का पालन करना उसका परम दायित्व था। दहेज-प्रथा का प्रचलन भी उस समय न था। शादी-विवाह के अवसर पर अनावश्यक खर्चा भी नहीं किया जाता था। इस प्रकार प्राचीन ग्रामीण व्यवस्था में विवाह संस्कार एक धार्मिक कृत्य था, जिसे विधि-विधान से सम्पन्न कराया जाता था।

वर्तमान समय में ग्रामों में इस विवाह की परम्परा में भी पर्याप्त तब्दीली आई है। अब विवाह धार्मिक कृत्य न रहकर एक प्रकार का समझौता माना जाने लगा है, जिसे युवक-युवती स्वयं अपनी स्वेच्छा से कर सकते हैं। विवाह बड़ी उम्र में होते हैं। विधवा पुनर्विवाह भी अब स्वीकार्य हो गया है। सामाजिक अधिनियमो, औद्योगीकरण, नगरीकरण, शिक्षा और पाश्चात्य सभ्यता के प्रादुर्भाव के कारण विवाह की मान्यताओ मे परिवर्तन आया है, अब विवाह मे दहेज-प्रथा का आधिक्य हो रहा है। विवाह के अवसर पर सजावट, रोशनी और भोज पर अत्यधिक व्यय हो रहा है। उच्च जातियों में तो यह एक प्रकार का प्रतिष्ठा का प्रतीक माना जाने लगा है। पति-पत्नी के सम्बन्धो मे भी परिवर्तन आया है, अब पत्नि के लिए पति-परमेश्वर की कल्पना व्यर्थ सिद्ध हो चुकी है। अब वह उसकी साथी, सहधर्मिणी, सहचर और अभिन्न मित्र है, और वैवाहिक स्थिति में तनाव आने पर अब वह तलाक भी ले सकती है। इस प्रकार आधुनिक ग्रामों मे विवाह जैसी संस्था मे भी अनेक परिवर्तन आए हैं।

(8) ग्रामीण मूल्यों और मान्यताओं मे परिवर्तन— प्राचीन ग्रामीण जीवन भाग्यवादी, परम्पराओं का निर्वाह करने वाला, आध्यात्मिकता से परिपूर्ण, अन्धविश्वासी और प्राचीन रूढ़ियों को मानने वाला था। कष्ट सहकर भी ग्रामीण उन प्राचीन परम्पराओ का निर्वाह करते थे, धार्मिक दृष्टि से भी वे भीरु होते थे अत कोई भी अनैतिक अथवा समाज-विरोधी कार्य करते हुए भी डरते थे। यहाँ तक कि अपनी निम्न स्थिति के लिए भी वे भाग्य को दोषी ठहराते, और सुधार के लिए कोई अनैतिक कदम उठाना पसद नहीं करते थे। किंतु अब इन सभी मूल्यों मे पर्याप्त परिवर्तन हुआ है। शिक्षा, आधुनिकीकरण और पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के परिणामस्वरूप ग्रामो मे भी भौतिकवादिता विकसित हुई है। लोग अब अपनी स्थिति को भाग्य के भरोसे न छोड़कर उसे उच्च बनाने के लिए प्रयत्न करते है। श्रम का महत्व बढ़ा है। धार्मिकता, अन्धविश्वास और प्राचीन रूढ़ियो का स्थान अब वैज्ञानिकता व तार्किकता ने ले लिया है। प्रयत्न करके व्यक्ति अब अपनी सामाजिक प्रस्थिति को बदल सकता है। कहने का आशय यह है कि ग्रामीणों ने अब भाग्यवादिता आदि के मूल्यों को छोड़कर श्रम के महत्व को स्वीकार कर लिया है। उनमे प्रजातांत्रिक मूल्य पनपे है।

(9) ग्रामीण खान-पान, वेश-भूषा और आवास में परिवर्तन— प्राचीनकाल मे ग्रामीणो का जीवन सरल, सादगीपूर्ण, और आडम्बर से रहित था। यह सादगी खान-पान, वेशभूषा और आवास के स्तर पर भी विद्यमान थी। ग्रामीण लोग चूल्हे का बना सादा भोजन खाते थे— दाल, सब्जी,

अनाज सब उन्हे अपने खेतों से प्राप्त होता था। खाना बनाने के लिए बर्तन भी पीतल अथवा मिट्टी के बने होते थे। उनकी वेशभूषा सामान्य और अपनी संस्कृति को इंगित करने वाली होती थी। स्त्रियाँ साडी-ब्लाउज और पुरुष धोती-कुर्ता अथवा कमीज पहिनते थे। उनके मकान कच्चे व मिट्टी के बने होते थे। गाँव में बिजली न होने के कारण मिट्टी के तेल के लेम्प जलाए जाते थे। स्त्रियाँ कुओ से पानी भरकर लाती थीं। इस तरह ग्रामीण जीवन सादगीपूर्ण और कृत्रिमता से रहित था।

वर्तमान समय में ग्रामो मे इन सभी में पर्याप्त परिवर्तन आया है। भोजन में अब सब्जी, घी, गेहूँ मसालों आदि का प्रयोग बढा है, अब ग्रामीण चाय का सेवन करने लगे है। बच्चे बिस्कुट ब्रेड आदि का प्रयोग करने लगे हैं। चूल्हों का स्थान निर्धूम चूल्हों, स्टोव ने ले लिया है; पीतल के स्थान पर स्टील, प्लास्टिक के बर्तनों का प्रचलन बढा है। वस्त्र भी अब अच्छी क्वालिटी के प्रयोग में आने लगे है। लडकियाँ सलवार-कुर्ता, स्कर्ट-ब्लाउज आदि पहिनती हैं; पुरुष वर्ग पेण्ट-बुशर्ट आदि पहिनता है। अच्छे जूते-मौजे का प्रचलन बढा है। मकानों की स्थिति भी सुधरी है। अब पक्के मकान बनने लगे है जिनमें स्नान-गृह और शौचालय भी होता है। ग्रामो में बिजली-पानी की सुविधाएँ उपलब्ध हो गई हैं। पंचायती राज ने पक्की सड़कें आदि सुविधाएँ जुटाकर उन्हें शहरों से जोड दिया है। मनोरंजन के साधन उपलब्ध हो गए है। घरों में बिजली के पंखे, रेडियो, टेलिविजन व मोटर साइकिल आदि सभी आधुनिक सुख-सुविधाएँ उपलब्ध हो गई हैं। इस प्रकार गाँव का जीवन अब बहुत कष्टमय नहीं रह गया।

इन सबके अतिरिक्त ग्रामों में स्वास्थ्य की दृष्टि से भी परिवर्तन आए है। अब वहाँ चिकित्सालय खुल गए हैं। शिक्षण सस्थाएँ खुल गई हैं जहाँ बालक-बालिकाएँ शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। मनोरंजन के साधन विकसित हुए है। सफाई का पूरा ध्यान रखा जाता है। रोगो से मुक्त होने के लिए समय-समय पर विशेष अभियान चलाए जाते है, शिविर लगाए जाते है जहाँ लोग अपनी बीमारी की रोकथाम करते है।

साराशत यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण वातावरण में अनेक परिवर्तन हो रहे हैं जिनका प्रभाव ऊर्ध्वगामी है किंतु कुछ प्रभाव जो आधुनिकता का परिणाम हैं उन्होने ग्रामीण वातावरण को क्षति भी पहुँचाई है। फिर भी पूर्व की तुलना मे परिवर्तन विकासात्मक ही अधिक हैं।

ग्रामीण भारत में विकास

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में विकास की प्रक्रिया ग्रामो से प्रारम्भ की गई। ग्रामीणो की सामाजिक-आर्थिक स्थिति को सुधारने के उद्देश्य से अनेक योजनाएँ सरकार द्वारा प्रारम्भ की गईं, जिससे ग्रामीणों की आर्थिक स्थिति में सुधार हो सके। विकास से सम्बन्धित प्रमुख कार्य जो ग्रामीणों के विकास के लिए किए गए है, निम्नलिखित हैं। ये विकास योजनाएँ भारत मे नियोजित परिवर्तन लाने के लिए भी उत्तरदायी है।

1. सामुदायिक विकास योजनाएँ— भारतीय ग्राम अनेक समस्याओं से ग्रसित रहे हैं। ग्रामों में जनसंख्या की तेजी से वृद्धि हो रही है और उत्पादन उसकी तुलना में काफी कम है। निरक्षरता का प्राधान्य है, स्वास्थ्य और सफाई की ओर लोगों का रूझान कम है, कुपोषण के कारण बच्चों का स्वास्थ्य खराब हो रहा है, ग्रामीण जीवन की इन समस्याओं के समाधान हेतु और ग्रामीण पुनर्निर्माण एव विकास करने के उद्देश्य से सरकार द्वारा सामुदायिक विकास योजनाओं का विकास किया गया है। एक और कार्यक्रम जिसे **'राष्ट्रीय विस्तार सेवा योजना'** नाम दिया गया है, ग्रामीण-विकास की

दृष्टि से ही प्रारम्भ किया गया है, जिसका उद्देश्य भी अशिक्षा, निर्धनता, कुपोषण और कृषि के पिछड़ेपन को दूर करना रहा है। इन दोनों ही प्रकार की योजनाओं के अन्तर्गत निम्नलिखित कार्य किए जाते हैं—

(1) बंजर पड़ी भूमि को कृषि योग्य बनाना, सिंचाई के साधनों की व्यवस्था करना एवं पशुओं की नस्ल सुधारने का कार्य करना।

(2) ग्रामों में स्वास्थ्य केन्द्रों की स्थापना करना, पीने के पानी की व्यवस्था करना और संक्रामक बीमारियों की रोकथाम करना।

(3) बालकों के लिए अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था करना।

(4) ग्रामीणों के लिए रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने के उद्देश्य से छोटे-छोटे उद्योग-धंधों की स्थापना करना।

(5) यातायात परिवहन सेवाओं का विकास करना साथ ही सन्देश वाहन के साधनों का विकास करना।

(6) विभिन्न प्रकार के उद्योगों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से रोजगार प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना करना।

(7) ग्रामीण लोगों को मकान की सुविधा उपलब्ध कराने के उद्देश्य से ऋण उपलब्ध कराने की व्यवस्था करना।

(8) सामुदायिक मनोरंजन केन्द्रों की स्थापना करना।

इस सामुदायिक विकास योजना कार्यक्रम मे उपर्युक्त कार्य सम्पन्न किए जाते है इसमे ग्रामो की सामाजिक-आर्थिक स्थिति मे काफी सुधारात्मक परिवर्तन आया है। ग्रामीणो मे अपने विकास के प्रति सजगता हुई है।

2. पंचायती राज व्यवस्था— भारतीय ग्रामीण जीवन में परिवर्तन लाने में पंचायती राज व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के अनन्तर लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के उद्देश्य से सरकार ने पंचायती राज व्यवस्था लागू की है जिसे 'त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था' कहा जाता है। इससे ग्राम- स्तर, खण्ड-स्तर और जिला-स्तर पर विशिष्ट कार्यों को सम्पन्न करने की अपेक्षा की गई है जिसके माध्यम से अधिकाधिक जन-सहयोग प्राप्त कर विकास कार्यों को गति प्रदान की जा सके। पंचायती राज व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण नेतृत्व को विकसित करना है जिससे वे ग्रामीण स्तर पर विकास कार्यों को गति प्रदान कर उसे आधुनिकीकरण की दिशा में आगे बढ़ाने मे सक्रिय योगदान दे सकें। इस व्यवस्था में पंचायतो में उम्मीदवार खड़े करने और मत देने का अधिकार सभी लोगों को समान रूप से दिया गया है। निम्न वर्गों एवं स्त्रियों के लिए अलग से स्थान सुरक्षित रखे गए है, और जन-प्रतिनिधियों के माध्यम से अपने क्षेत्र का शासन और विकास कार्यों का संचालन संभालने का अवसर दिया गया है। इस व्यवस्था ने युवा वर्ग को भी नेतृत्व सभालने का अवसर दिया है। उनमे राजनैतिक चेतना जागृत की है, इससे सभी वर्ग राजनैतिक तंत्र और प्रशासन की कड़ी से जुड़ गए है। पंचायती राज व्यवस्था ने ग्रामीणो को उनके अधिकारो से अवगत कराया है। उन्हे जन-सहयोग के लिए प्रेरित किया है। अब वे यह अनुभव करने लगे है कि प्रजातंत्र के ऐसे साधनो का विकास करना है जिससे लोगों मे राष्ट्रीय स्तर पर उत्साह उत्पन्न किया जा सके। इस पंचायती राज व्यवस्था का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ है कि प्रजातंत्र को साधारण जनता तक पहुँचाया गया है।

3. शिक्षा— ग्रामीण जीवन में परिवर्तन लाने और इसे विकसित करने में शिक्षा की भूमिका प्रबलतम है। ग्रामीण-जन शिक्षा के अभाव में अपने हितों के प्रति सजग नहीं होते है, अपने अस्तित्व को भी नहीं समझ पाते। आधुनिक शिक्षा उन्हें उनके अधिकारों से अवगत कराके, उनके सामाजिक-आर्थिक और राजनैतिक जीवन को उन्नत करती है, जिससे वे स्वयं विकसित होकर राष्ट्रीय विकास में अपना योगदान दे सकें। शिक्षा ही उन्हें उनमें व्याप्त अन्धविश्वासों, रूढ़िवादिता, भाग्यवादिता और मानसिक संकीर्णताओं से मुक्त कराकर उन्हे वैज्ञानिकता, तार्किकता और आधुनिकता के प्रति सजग करती है। शिक्षा ने ग्रामीण परिवर्तन में सराहनीय कार्य किया है। अभी इसमे प्रगति की आवश्यकता है। सरकार इस ओर अत्यधिक प्रयासरत भी है क्योंकि जब तक प्रत्येक ग्रामीण साक्षर नहीं होगा तब तक ग्रामों में परिवर्तन की गति मंद रहेगी अत सभी का शिक्षित होना आवश्यक है।

4. यातायात और संचार के आधुनिकतम साधन— यातायात और संचार के नवीन साधनों के परिणामस्वरूप लोगों मे गतिशीलता उत्पन्न हुई है। गाँव के स्तर पर पक्की सड़कें बनना, रेल, बस, मोटर साइकिल और हवाई जहाज आदि साधनो ने ग्रामों को शहरों से जोड़ दिया है। अब यात्रा करना पूर्व की तुलना में अति सुगम हो गया है और ग्रामीणों का सम्पर्क अब बाह्य जगत से हो गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि उनके विचारों, मूल्यों, अभिवृत्तियों और व्यवहारों में प्रगतिशीलता आई है। संकुचित और परम्परागत दृष्टिकोण अब विकसित हो गया है। अब वे परिवर्तन को स्वीकारने लगे हैं, स्वयं को विकसित करने लगे हैं। संचार के नवीन साधनो ने भी उनके दृष्टिकोण को दूरगामी बनाया है। डाक,तार, टेलिफोन, रेडियो, टेलिविजन, पत्र-पत्रिकाएँ, अखबार आदि आधुनिक साधनों ने ग्रामीणों को समस्त विश्व से जोड़ दिया है। विश्व के किसी भी कोने में होने वाली घटना की जानकारी इन साधनो से तुरंत हो जाती है। दूर देश में संदेश तुरंत पहुँच जाता है। इन सबसे ग्रामीणो की अज्ञानता घटी है और वैचारिक दृष्टिकोण विस्तृत हुआ है। इस प्रकार भारतीय ग्रामों में परिवर्तन लाने में यातायात और संचार के आधुनिक साधनों का महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा है।

5. औद्योगीकरण और नगरीकरण— स्वतत्रता प्राप्ति के अनन्तर अधिकांश उत्पादन मशीनो द्वारा होने लगा है। परिणामस्वरूप ग्रामीण कुटीर उद्योगों का ह्रास हुआ। जो किसान इन व्यवसायों द्वारा जीवन-यापन करते थे, वे बेरोजगार हो गए और व्यवसाय की तलाश में नगरों की ओर पलायन करने लगे। औद्योगीकरण का परिणाम नगरीकरण है। नगरों में जब ग्रामीणों को व्यवसाय मिला तो वे वहाँ रहने लगे और धीरे-धीरे वहाँ की संस्कृति से प्रभावित हो गए। जब वे व्यक्ति पुन गाँव में आते हैं तो शहरी संस्कृति को गाँवो में फैलाते हैं। ग्रामीण लोग उन्हे महत्त्वपूर्ण मानकर उनका अनुकरण करते हैं। धीरे-धीरे शहरी जीवन, मूल्य और संस्कृति ग्रामों में विकसित हो जाती है। इस तरह औद्योगीकरण और नगरीकरण की प्रक्रिया ने ग्रामीण जीवन में परिवर्तन किए हैं।

6. नवीन सामाजिक विधान— भारत में ग्रामीण व कमजोर वर्गों की स्थिति सदैव ही दयनीय रही है। उन्हें इस स्थिति से उबारने के लिए स्वतत्रता से पूर्व और पश्चात् समाज सुधारकों ने अनेक प्रावधान किए, अनेक नियम बनाए। सरकार ने इसमे सहयोग दिया और स्त्री-स्थिति, विवाह, जाति और सम्पत्ति सम्बन्धी विधान बनाए। इनमें कुछ प्रमुख विधान ये हैं— सती प्रथा निरोधक अधिनियम, 1829; हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955; हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856; बाल-विवाह निरोधक (संशोधित) अधिनियम 1978; हिन्दू स्त्री-सम्पत्ति-अधिकार अधिनियम, 1937;

अस्पृश्यता अधिनियम, 1955; नागरिक अधिकार सुरक्षा अधिनियम, 1976, हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956; दहेज निरोधक अधिनियम, 1961 और हिन्दू नाबालिग तथा संरक्षकता अधिनियम, 1956 आदि। इन अधिनियमों का प्रभाव ग्रामवासियों पर पड़ा है। अब बाल-विवाह कम हो गए है यद्यपि इसमे अधिक सुधार नहीं हुआ किंतु विधवा-पुनर्विवाह को अब बुरी नजर से नहीं देखा जाता। सबसे अधिक प्रभाव अस्पृश्यता पर पड़ा है— अब निम्न जातियों की स्थिति सुदृढ़ हुई है। अत यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण जीवन को बदलने मे और उसे विकास की ओर ले जाने मे विधानो का योगदान है।

7. प्रजातांत्रिक प्रणाली— भारतीय ग्रामो में होने वाले परिवर्तनों के लिए प्रजातांत्रिक प्रणाली भी उत्तरदायी है। 15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ और भारत ने प्रजातांत्रिक प्रणाली को स्वीकारा। इस प्रणाली ने ग्रामीण व्यवस्था में अनेक परिवर्तन किए है, ग्रामीणो को अनेक अधिकार दिए गए हैं। अब समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व की भावना के आधार पर प्रशासन मे उनकी भागीदारी बढ़ी है, गाँवो मे नेतृत्व को नई दिशा मिली है, ग्रामीणो मे राजनैतिक जागृति बढ़ी है, उन्हे मत देने का अधिकार मिला है, उम्मीदवार के रूप मे स्वय खड़े होने का अधिकार मिला है। सविधान मे प्रजाति, रंग एवं लिंग के आधार पर होने वाले भेदभाव को समाप्त कर दिया गया है। इस प्रकार प्रजातांत्रिक प्रणाली के परिणामस्वरूप अब गाँव राष्ट्रीय शासन से सम्बद्ध हो गए है और गाँवो मे अनेक विकासात्मक कार्य हो रहे है।

8. भूमि सुधार के प्रयास— स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद एक महत्वपूर्ण कार्य यह किया गया कि जमींदारी प्रथा की समाप्ति कर नई पंचायत व्यवस्था लागू की गई। जमींदारी-उन्मूलन का प्रभाव यह हुआ कि भूमिहीनों में भूमि का वितरण किया गया और जमींदारों द्वारा कृषि-श्रमिको पर होने वाले शोषण को रोक दिया गया। जमींदारी-उन्मूलन के कानून से प्रजातंत्र की भावना को सम्बल मिला। ग्रामीणों के पास भूमि आने से उनके आर्थिक स्तर में सुधार हुआ और ग्रामों में नई शक्ति का सचार हुआ। इस प्रकार भूमि-सुधारो के प्रयासों से प्राचीन ग्रामीण अर्थव्यवस्था मे विकासात्मक परिवर्तन हुए।

9. कृषि की आधुनिक प्रवृत्तियाँ— प्राचीन समय मे कृषि के साधन अविकसितावस्था मे थे— बैल, हल, रहट और चरस आदि से खेती की जाती थी, बीज और खाद भी उन्नत किस्म की न थी। वर्षा के आधार पर किसान का भविष्य निर्भर था। इसके कारण उत्पादन कम होता था। औद्योगीकरण के युग ने कृषि के अत्याधुनिक यंत्रो से ग्रामीणो को परिचित कराया। अब खेती के लिए ट्रेक्टर, उन्नत बीज, खाद, ट्यूबवैल आदि साधनो का प्रयोग किया जाता है। इससे उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि हुई है। कृषकों की आर्थिक स्थिति उन्नत हुई है। उनकी मानसिकता विकसित हुई है, अब उनका सम्बन्ध बाह्य जगत से बढ़ा है। इस प्रकार कृषि की उन्नति के परिणामस्वरूप ग्रामीणो के जीवन में अनेक परिवर्तन हुए है।

10. विकासकारी योजनाएँ— ग्रामीण-विकास में उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त अनेक विकासकारी योजनाओ की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। इन योजनाओ मे सर्वोदय कार्यक्रम, समन्वित ग्रामीण विकास योजना, अन्त्योदय योजना, ट्राइसेम योजना, सहकारिता, परिवार नियोजन कार्यक्रम और ड्वाकरा जैसी 20 से अधिक योजनाएँ आज सरकार द्वारा लागू की गई हैं जिन्होंने ग्रामवासियो की सामाजिक-आर्थिक दशा को सुधारने मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इन योजनाओ के अतिरिक्त पचवर्षीय योजनाएँ, संस्कृतिकरण, आधुनिकीकरण और पश्चिमीकरण का प्रभाव भी ग्रामीणजन पर पड़ा है।

अत यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण भारत में परिवर्तन और विकास लाने में अनेक कारक उत्तरदायी हैं।

प्रश्न

1. 'ग्रामीण भारत में परिवर्तन' पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।
2. स्वतंत्रता के पश्चात् ग्रामीण भारत में घटित सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तन पर एक सोदाहरण निबन्ध लिखिए। (चार पृष्ठों में) (मा.शि.बो., अजमेर, 1994)
3. 'ग्रामीण भारत में विकास' पर निबन्ध लिखिए।
4. ग्रामीण 'जाति व्यवस्था' एवं 'जजमानी-व्यवस्था' में आए परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए।
5. ग्रामीण भारत में होने वाले सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर 'हाँ' अथवा 'नहीं' में दीजिए—
   (i) संयुक्त परिवार में दो या तीन पीढ़ियाँ साथ-साथ रहती हैं। (हाँ/नहीं)
   (ii) नगरीकरण का विकास औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप हुआ है। (हाँ/नहीं)
   (iii) पचायती राज व्यवस्था लोकतात्रिक विकेन्द्रीकरण का परिणाम है। (हाँ/नहीं)
   (iv) सामाजिक विधानों ने ग्रामीणो को कोई लाभ नही पहुँचाया है। (हाँ/नहीं)
   (v) जमीदारी प्रथा का अर्थ भूमि का समान वितरण है। (हाँ/नहीं)
   [उत्तर-(i) हाँ, (ii) हाँ, (iii) हाँ, (iv) नहीं, (v) नहीं।]
2. निम्न वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए—
   (i) सामुदायिक योजनाओं का उद्देश्य ग्रामों का .... करना है।
   (ii) पचायती राज व्यवस्था को .... कहा जाता है।
   (iii) जजमानी प्रथा मे दो जातियाँ .... और .... थीं।
   (iv) बाल-विवाह निरोधक (संशोधक) अधिनियम सन् .... में बना था।
   (v) नागरिक अधिकार सुरक्षा अधिनियम .... में पारित हुआ।
   (vi) भारतीय ग्रामो के विकास के फलस्वरूप जजमानी प्रथा का .... हुआ है।
   [उत्तर- (i) पुनर्निर्माण एवं विकास (ii) त्रिस्तरीय व्यवस्था, (iii) जजमान और कमीन, (iv) 1978, (v) 1976, (vi) उन्मूलन]

अतिलघु-उत्तरीय प्रश्न

1. 'ग्रामीण' शब्द की व्याख्या कीजिए।
2. 'जजमानी प्रथा' का अर्थ बताइए।
3. 'संयुक्त परिवार' का अर्थ बताइए।

4. सामुदायिक विकास योजना का उद्देश्य बताइए।
5. ग्रामीण परिवारों में हुए कोई तीन परिवर्तन बताइए।

लघु-उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

1. ग्रामीण जाति व्यवस्था में परिवर्तन।
2. ग्रामीण जजमानी व्यवस्था में परिवर्तन।
3. ग्रामीण परिवारों में परिवर्तन।
4. ग्रामीण मूल्यों एवं मान्यताओं मे परिवर्तन।
5. सामुदायिक विकास योजनाएँ।
6. पंचायती राज व्यवस्था।
7. भूमि-सुधार के प्रयास।
8. जाति पंचायतें।

□□□

अध्याय - 17

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम

(Integrated Rural Development Programme)

भारत की बहुसंख्यक आबादी गाँवों में रहती आई है। सन् 1991 की जनगणना के अनुसार यह लगभग 74.3 प्रतिशत है और 70 प्रतिशत लोग खेती पर निर्भर है। इन लोगों को खेती से पूर्ण रोजगार नहीं मिल पाता अत ग्रामीण जनसंख्या में एक बडे पैमाने पर बेरोजगारी अथवा अल्परोजगार की समस्या विद्यमान है जिसका परिणाम निर्धनता होता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के अनन्तर ग्रामीणो की इस स्थिति से निपटने के लिए सरकार ने अनेक विकासोन्मुखी कार्यक्रम प्रारम्भ किए। पचवर्षीय योजनाओ में ग्रामीण विकास पर विशेष ध्यान दिया गया। 2 अक्टूबर, 1952 को 'सामुदायिक विकास कार्यक्रम' का शुभारम्भ इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम था। इसके पश्चात् 'लघु कृषक विकास एजेंसी', 'सीमान्त कृषक एवं कृषि श्रमिक परियोजनाएँ', 'रोजगार गारंटी योजना', 'काम के बदले अनाज', 'सूखा उन्मूलन क्षेत्र कार्यक्रम' आदि गरीबी दूर करने के लिए लगभग 20 कार्य आरम्भ किए गए। किन्तु इन सबसे ग्रामीणो की गरीबी और बेकारी को कम करने मे मनवाछित सफलता नही मिल सकी। इसका कारण यह रहा कि एक तो इन विकास कार्यक्रमों मे आपसी समन्वय का अभाव था। दूसरे, इन विभिन्न कार्यक्रमों का लाभ निर्धनों को न मिलकर उन्हें मिला जो पहिले से ही साधन सम्पन्न थे, जिनके पास भूमि व उत्पादन के अन्य साधनों की बहुतायत थी। अत निर्धन वर्ग के कृषको– 'सीमान्त कृषकों', 'कृषि श्रमिकों' एवं 'भूमिहीन कृषकों' के विकास के लिए कार्यक्रम बनाए गए।

भारत के ग्रामीण क्षेत्र में व्याप्त भयंकर गरीबी और बेकारी के निवारणार्थ बनाए गए विभिन्न कार्यक्रमों का सूत्रपात 'सहकारी समिति अधिनियम, 1904' को पारित करने के साथ ही प्रारम्भ हुआ जिसमे ग्रामीणो के सामाजिक-आर्थिक जीवन में सुधार करने के लिए उत्पादन, रोजगार, स्वास्थ्य, शिक्षा, परिवहन, व्यापार और विद्युत पूर्ति जैसे कार्यक्रमों को सम्मिलित किया गया। इन कार्यक्रमों का उद्देश्य न्यून आय वाले लोगों के जीवन स्तर मे सुधार लाना ओर उनको आत्मपोषित बनाना है ऐसे कार्यक्रमो मे महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम 'समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम' है।

वास्तव मे ये कार्यक्रम ग्रामीण परिवारो को गरीबी की रेखा से ऊपर उठाने, उन्हे साधन उपलब्ध कराने, ऋण सम्बन्धी सुविधाएँ देने एव उनकी आय बढाने के उद्देश्य से प्रारम्भ किए गए है। इन कार्यक्रमो का मुख्य लक्ष्य ग्रामीण क्षेत्रों की समस्याओ को एकीकृत ढंग से सुलझाना है।

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के उद्देश्य

'समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम' प्रमुखत: ग्रामीण क्षेत्रों के सर्वाधिक निर्धन परिवारों का चयन कर उन्हें निर्धनता की रेखा से ऊपर उठाने के उद्देश्य से सन् 1978-79 में प्रारम्भ किया गया। इस कार्यक्रम के प्रमुख उद्देश्य निम्नांकित हैं—

(1) ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि पर आधारित ऐसे कृषि मूलक उद्योगों की स्थापना करना जिससे रोजगार के नए अवसर उपलब्ध हो सकें।

(2) आधुनिक विज्ञान व तकनीकी की सहायता से ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करना, जिसका लाभ आर्थिक दृष्टि से पिछड़े लोगों को मिल सके।

(3) ग्रामीण क्षेत्रों के अत्यधिक पिछड़े वर्ग को आर्थिक सहायता उपलब्ध कराना, जिससे कि वह वर्ग सामाजिक-आर्थिक विकास के कार्यक्रम में अपना महत्त्वपूर्ण योग दे सके।

(4) गाँवों में अत्यधिक निर्धन परिवारों का चयन कर उनकी आय के साधनों को बढ़ाना जिससे उन्हें गरीबी की रेखा से ऊपर उठाया जा सके।

(5) कृषि-औद्योगिक केन्द्रों की स्थापना करना, जिससे करीब 7.5 करोड़ बेकार एवं अर्द्ध-बेकार लोगों को काम पर लगाया जा सके।

(6) ऐसे कार्य-स्तरों का निर्धारण करना जो भूमि और जल साधनों का पर्याप्त विकास कर सकें।

(7) कार्यक्रम का एक उद्देश्य निर्धन किसानों को आत्मनिर्भर बनाना एवं विकास की प्रक्रिया में उनकी सहभागिता को भी बढ़ाना है जिससे उनके मध्य पाई जाने वाली आर्थिक असमानताएँ कम हो सकें।

(8) पूर्ण रोजगार एवं भौतिक साधनों के विकास के लिए ऐसे कार्यक्रम बनाना जिससे अमीर और गरीब के बीच के असन्तुलन को कम किया जा सके।

(9) समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों के निर्धनतम परिवारों के रहन-सहन के स्तर को उन्नत बनाने के उद्देश्य से उन्हें आय सृजित करने वाली परिसम्पत्तियाँ, ऋण तथा अन्य साधन उपलब्ध कराना है जिससे वे गरीबी की रेखा से ऊपर उठ सकें।

सारांशत: समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम का उद्देश्य श्रम एवं प्राकृतिक संसाधनों का पूर्ण उपयोग करने हेतु ग्रामीण क्षेत्रों में क्षेत्रीय-परिस्थितियों पर आधारित छोटे-छोटे उद्योगों की स्थापना करना है। साथ ही नवीन वैज्ञानिक जानकारी का प्रयोग कर उद्योगों की उत्पादन क्षमता को बढ़ाना है। आम जनता को सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रमों में शामिल कर उन्हें जागरूक व समृद्ध बनाना है। इस प्रकार इस कार्यक्रम का उद्देश्य 'स्वरोजगार' के अनेक अवसर प्रदान कर सर्वाधिक गरीब परिवारों को आत्मनिर्भर बनाना है।

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम की कार्यनीति

(1) समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम सन् 1978-79 में प्रारम्भ किया गया था। प्रारम्भ में केवल 16 जिलों को इसमें शामिल किया गया था। किंतु इसके सफलतापूर्वक क्रियान्वयन के लिए

जिलों के स्थान पर विकास-खण्डों को इकाई मानना निश्चय किया गया। प्रारम्भ में (1978-79 में) देश के 2300 चुने हुए विकास खण्डों में इस कार्यक्रम को लागू किया गया और इसमे प्रति वर्ष 300 नए ब्लॉक शामिल करने का निर्णय लिया गया। अक्टूबर 1980 तक इस कार्यक्रम को 5011 विकास-खण्डों में लागू किया जा चुका था।

(2) समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम में सबसे गरीब परिवारो (जो गरीबी की रेखा से नीचे आते है) को लाभ पहुँचाने के उद्देश्य हेतु एक विशेष कार्यक्रम तैयार किया गया है, इसमें महिलाओं पर विशेष बल दिया गया है। एक बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि 'लक्षित वर्ग' के लोगों को ही लाभ प्रदान हो, तथा इसमें व्यक्ति के स्थान पर परिवार पर ध्यान दिया गया है। लक्षित वर्ग में उन समूहों को लिया जाता है जो गरीबी की रेखा से नीचे जीवनयापन करते है। इनमे लघु एव सीमान्त कृषक, कृषि एव गैर-कृषि मजदूर, ग्रामीण दस्तकार, अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लोगों को शामिल किया जाता है।

(3) कृषि विस्तार की सेवाएँ सभी किसानो को उपलब्ध कराई गई हैं और कार्यक्रम में यह निश्चय किया गया है कि छोटे और सीमान्त किसान परिवारों को कृषि के क्षेत्र मे उचित मार्ग दर्शन दिया जाए।

(4) समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम मे कृषि के अतिरिक्त सिचाई योजना, डेयरी उद्योग, पशुपालन, मछली-पालन, वन-उद्योग और स्थानीय खाद और ईंधन आदि स्रोतो के विकास पर जोर दिया गया है।

(5) केन्द्र सरकार द्वारा प्रत्येक जिला स्तर पर इस कार्यक्रम के लिए जिला ग्रामीण एजेंसियों की स्थापना की गई है जिसमे परियोजना निदेशक नियुक्त किए गए है। इस एजेंसी को गरीबी की रेखा से नीचे जीवन बसर कर रहे परिवारो के चयन, इनके विकास हेतु पचवर्षीय जिला विकास योजना तथा वार्षिक कार्य योजना बनाने का काम सौपा गया है। इन विकास योजनाओ को जिला सलाहकार समिति और विकास से संबद्ध अन्य अधिकारियो के अनुमोदन हेतु भेजा जाता है। अनुमोदन के उपरांत इसके कार्यान्वियन के लिए इसे बैको के पास भेजा जाता है।

(6) इस प्रकार इस कार्यक्रम को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए जिला-खण्ड और ग्राम-स्तर पर कार्यान्वयन एजेंसियों में गरीबों को प्रतिनिधित्व देने के लिए उपयुक्त यन्त्र का भी विकास किया गया है।

(7) समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम से सम्बन्धित विभिन्न योजनाएँ राज्य सरकार द्वारा स्वीकृत की जाती हैं। राज्य स्तर पर इस कार्यक्रम का कार्यान्वयन एक 'राज्य स्तरीय समन्वय समिति' करती हैं। राज्य का मुख्य सचिव इस समिति का अध्यक्ष होता है।

(8) जिला स्तर पर इस कार्यक्रम का क्रियान्वयन 'जिला ग्रामीण विकास अभिकरण' द्वारा किया जाता है।

(9) ब्लॉक स्तर पर इस कार्यक्रम के क्रियान्वयन की जिम्मेदारी 'खण्ड विकास अधिकारी' की है।

(10) समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम निर्धनता को समाप्त करने के लिए बनाया गया है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सर्वाधिक गरीब परिवारो की उत्पादक सम्पत्तियाँ, उन्नत तकनीकी,

और विशेष कुशलता प्राप्त करने पर जोर दिया गया है। इस कार्यक्रम में गरीब परिवारों के लिए उचित पोषाहार, प्राथमिक शिक्षा, परिवार कल्याण, प्रौढ शिक्षा, बाल एवं महिला-कल्याण आदि पर विशेष बल दिया गया है। इस प्रकार समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम न केवल गरीबी उन्मूलन का कार्यक्रम है, बल्कि यह सामाजिक सेवाएँ भी उपलब्ध कराता है।

इस समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम की दो महत्त्वपूर्ण योजनाएँ हैं जिनके विषय में प्रकाश डालना आवश्यक है क्योंकि ये दोनों ही योजनाएँ ग्रामीण क्षेत्रो के गरीबी के स्तर से नीचे जीवन यापन करने वाले लोगों को स्वरोजगार देने के लिए है। ये योजनाएँ हैं– (1) ट्राइसम और (2) डवाकरा।

(1) ट्राइसम– ग्रामीणों को स्वरोजगार दिलाने हेतु ट्राइसम योजना 15 अगस्त, 1979 मे शुरू की गई थी, और अब तक गरीबी की रेखा से नीचे के 6.9 लाख से अधिक परिवारो के लोगों को तकनीकी कार्यकुशलता प्रदान कराई जा चुकी है। इसमें अनुसूचित जाति और जनजाति के 30 प्रतिशत युवक और 33.33 प्रतिशत महिलाएँ होनी चाहिएँ। इसमें चयन के लिए खण्ड विकास अधिकारी अपने क्षेत्र के लक्षित वर्ग के लाभार्थियो से आवेदन-पत्र आमन्त्रित करता है। फिर जाँच के बाद जिला ग्रामीण विकास एजेंसी को सूची भेज दी जाती है जो विभिन्न विभागो के जिला स्तर के अधिकारियो के साथ परामर्श करके उनकी क्षेत्रीय योजनाओं को ध्यान मे रखते हुए आवश्यक व्यवसायों का चयन करती है। इस प्रकार ट्राइसम के द्वारा अधिक से अधिक युवतियो और युवाओ को प्रशिक्षित किया जा चुका है। सातवीं योजना मे 1,78,680 युवाओं को प्रशिक्षित करने का लक्ष्य रखा गया था जिसमें से योजना काल में 1,19,019 युवाओ को प्रशिक्षित किया गया और वर्ष 1992-93 मे 57,511 युवाओ को प्रशिक्षित किया गया है।

(2) डवाकरा– डवाकरा कार्यक्रम सामाजिक, आर्थिक तथा शिक्षा के प्रति एक सुनिश्चित दृष्टिकोण विकसित करने के लिए, विशेषत ग्रामीण क्षेत्रों मे महिलाओं और शिशुओ के विकास की योजना है। इस कार्यक्रम को 1982-83 मे सभी राज्यो मे 50 चुनिंदा जिलो में एक **प्रायोगिक परियोजना** के रूप में शुरू किया गया था। 1985-86 के वर्ष में इसे प्रत्येक केन्द्र शासित क्षेत्र के एक जिले मे प्रारम्भ किया गया था और अब तक इस योजना को 106 जिलो में कार्यान्वित किया जा चुका है। गरीबी की रेखा से नीचे बसर कर रहे परिवारो की 15-20 महिलाओं के एक समूह को एक ग्रुप मे आयोजित किया गया, जिससे उन्हे समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत सहायता प्राप्त करने वाले सभी परिवारो के लिए उपलब्ध सामान्य सुविधाओ के अतिरिक्त कुछ अन्य लाभ भी दिए जा सकें। इस कार्यक्रम मे गरीबी की रेखा से नीचे जीवन निर्वाह करने वाली 3,93,641 महिलाओ को लाभ भी हुआ है। यह कार्यक्रम महिलाओं के सामाजिक और आर्थिक स्तर को सुधारने मे सहायक सिद्ध हो सके इसके लिए, महिला ओर बाल-विकास, स्वास्थ्य तथा परिवार कल्याण और शिक्षा विभागो मे तालमेल रखा गया है। इस तरह यह कार्यक्रम हमारे देश की बेरोजगारी दूर करने एव देश की उन्नति का एक महत्त्वपूर्ण घटक बन गया है।

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम : छठी और सातवीं योजना के लक्ष्य

छठी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इस कार्यक्रम के क्रियान्वयन मे उल्लेखनीय प्रगति हुई। इस योजना अवधि मे 165.6 लाख परिवारो को इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सहायता प्रदान की गई।

छठी पंचवर्षीय योजना में समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत अनुमानत: 3000 परिवारो को विशिष्ट सहायता देने का लक्ष्य रखा गया था— इनमे से 2000 परिवार कृषि से सम्बन्धित, 500 परिवार ग्राम एवं कुटीर उद्योगों में तथा 500 परिवार सेवा क्षेत्र के अंतर्गत आने वाली परियोजना से सम्बन्धित हो सकते हैं। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत आने वाले परिवारों मे से चालीस प्रतिशत अनुसूचित जाति और जनजाति परिवार के हैं।

सातवीं परियोजना के अंतर्गत (1994-95) निर्धनता-अनुपात को कम करके 10 प्रतिशत तक लाने के उद्देश्य से लगभग दो करोड़ परिवारो को सहायता पहुँचाने का लक्ष्य रखा गया है। छठी योजना के 50 प्रतिशत से 60 प्रतिशत के बीच जो लाभार्थी गरीबी की रेखा को पार न कर सके हो, उन्हें सातवी योजना में सहायता पहुँचाई जायेगी। इस योजना में कुल 1864 4 करोड रुपए केन्द्रीय सरकार द्वारा खर्च करने का प्रावधान रखा गया। अनुमानत 1609.6 करोड रुपए की राशि राज्य एव केन्द्र शासित क्षेत्रो की सरकारे व्यय करेगी। इस तरह इस योजना मे कुल 3474 करोड रुपए व्यय करने का अनुमान है।

राजस्थान में 1995-96 मे गरीबी उन्मूलन एवं ग्रामीण विकास पर 7 अरब 67 करोड रुपया खर्च करने की घोषणा की गई है। 1994-95 में इस मद मे पाँच अरब दस करोड रुपया खर्च किया गया था। 1995-96 के वित्तीय वर्ष मे उपलब्ध प्रावधानो से समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के तहत गरीबी की रेखा से नीचे जीवनयापन करने वाले एक लाख 46 हजार चयनित परिवारो को इन्दिरा आवास, नवीन कूप निर्माण और आय के अतिरिक्त ससाधान जुटाने के लिए आर्थिक सहायता प्रदान की जाएगी।

गाँव को केन्द्र मानकर ग्रामीण क्षेत्र मे आधारभूत सुविधाओ के विस्तार के लिए सामुदायिक एव सामाजिक परिसम्पत्तियो का निर्माण कराने और स्थानीय स्तर पर लोगो को रोजगार उपलब्ध कराने के लिए करीब दस करोड मानव दिवस रोजगार सृजित किए जाएँगे।

सातवी योजना मे **'समन्वित विकास कार्यक्रम'** को अधिक प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से एक **12-सूत्रीय योजना** तैयार की गई है। इसमें प्रतिवर्ष दस लाख लाभार्थियो को सहायता देना, प्रति परिवार औसत राशि को 3300 रुपए से बढाकर 6000 रुपए करना, महिलाओ को 30 प्रतिशत लाभ देना, प्रशिक्षण देने के लिए प्रशिक्षण एवं तकनीकी केन्द्र खोलना, बैंको की कार्यकुशलता सुधारना, स्वयसेवी सस्थाओ का अधिक सहयोग लेना और लाभार्थियो के अधिकारों एव लाभो के प्रति अधिक जागरूक रहने आदि पर विशेष ध्यान दिया जाएगा।

वित्तीय सहायता— किसी भी कार्यक्रम की सफलता उसको मिलने वाली वित्तीय सहायता पर अधिक निर्भर करती है। इस कार्यक्रम की सफलता मे भी वाणिज्यिक तथा सहकारी बैंकिग सस्थाओ का महत्वपूर्ण सहयोग रहा है। कमजोर वर्गों के लिए कर्ज लेने के मध्य आने वाली परेशानियो को दूर करने के उद्देश्य से बैको की कार्य पद्धति मे बहुत सुधार किए गए है। स्वरोजगार को बढाने और उत्पादक सम्पत्ति को बढाने के लिए ऋण उपलब्ध कराए गए है। अब ऋण उपलब्ध कराने के लिए बैक अधिकारी जिला विकास अभिकरण द्वारा भेजे गए आवेदन-पत्रो पर तुरत कार्यवाही करके 15 दिन के अतर्गत उनका निपटारा कर देते है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक लाभार्थी को ऋण पास बुक दी गई है जिसमे ऋण की राशि का पूरा ब्यौरा लिखा होता है। कभी-कभी इस कार्य के लिए 'शिविर' लगाए जाते है। अधिकारी व लाभार्थियो का सीधा सम्पर्क स्थापित होकर ऋण सम्बन्धी औपचारिकताएँ पूरी की जाती हैं।

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के लाभार्थियों की सुरक्षा का ध्यान रखते हुए अप्रैल 1988 में भारतीय जीवन बीमा के सहयोग से ''सामूहिक जीवन बीमा योजना'' भी शुरू की गई है जिसमें 18 वर्ष से 60 वर्ष तक के लाभार्थियो को शामिल किया जाता है। यह योजना लाभार्थी की अकाल मृत्यु, दुर्घटना अथवा अपंग होने की स्थिति में उसके परिवार की आर्थिक संकट से रक्षा करती है।

इस प्रकार इस कार्यक्रम के लिए **'व्यावसायिक बैंक'**, **'सहकारी बैंक'** तथा **'क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक'** द्वारा आर्थिक सहायता दी जाती है। इस प्रकार लक्षित समूह में से सबसे अधिक जरूरतमद लोगों को वित्तीय सहायता देकर उनका आर्थिक उन्नयन किया जाता है।

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम का मूल्यांकन

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम पर छठी पचवर्षीय योजना मे 4,762.78 करोड रुपए खर्च किए गए। योजना अवधि में 165.62 लाख परिवारों को इस कार्यक्रम के अतर्गत सहायता पहुँचाई गई। सहायता प्राप्त करने वाले परिवारो में अनुसूचित जाति-जनजाति के परिवारो का लक्ष्य एक-तिहाई रखा गया, जबकि वास्तविक लक्ष्य 39 प्रतिशत रहा। योजना के दौरान 3101.6 करोड़ का ऋण वितरित किया गया, जो लक्ष्य का 103 प्रतिशत है।

सातवीं योजना में इस कार्यक्रम के अंतर्गत 8,688.35 करोड रुपए व्यय किए गए और 18 लाख परिवारों को लाभान्वित किया गया। इस कार्यक्रम को 1978-79 में शुरू किया गया था और 2 10.80 से इसे पूरे भारत में लागू किया गया। सन् 1989 तक 81 प्रतिशत परिवारों ने 3,500 रुपए वाली गरीबी-रेखा को और 28 प्रतिशत परिवारों ने 6,400 रुपए सीमा वाली गरीबी की रेखा को पार कर लिया है।

सन् 1991-92 तक अनुसूचित जाति-जनजाति के 49.48 प्रतिशत परिवार लाभान्वित हुए है। महिलाओं मे 1991-92 तक 25.6 प्रतिशत महिलाएँ इस कार्यक्रम से लाभान्वित हुई है।

इससे स्पष्ट होता है कि यह कार्यक्रम नि संदेह सही दिशा में है। इस समय आवश्यकता केवल इस बात की है कि जिस परिवार को आर्थिक सहायता प्रदान की जाए, उस परिवार के लिए एक ऐसी परिसम्पत्ति का निर्माण हो जाए जिससे परिवार की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति सुगमता से की जा सके। इसके लिए प्रक्रिया में कुछ और सुधार आवश्यक हैं।

समन्वित ग्रामीण विकास योजना का संगठन

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम का क्रियान्वयन दिनाक 2.10.80 से सम्पूर्ण भारत में प्रारम्भ किया गया है। इस योजना को लघु कृषक विकास एजेंसी से संबद्ध करके 20 सूत्री कार्यक्रम का प्रमुख अंग बनाया गया है। ग्रामीण युवकों के लिए स्वरोजगार प्रशिक्षण देना और ग्रामीण क्षेत्रों मे महिलाओ और बच्चों का विकास— इस कार्यक्रम के दो प्रमुख भाग है। समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम केन्द्र सरकार द्वारा प्रायोजित योजना है, जिसमें कुल राशि का 50 प्रतिशत भाग केन्द्र सरकार द्वारा और 50 प्रतिशत भाग राज्य सरकारों द्वारा व्यय किया जाता है। इस कार्यक्रम की सफलता तभी हो सकती है जब अतिनिर्धन परिवारों का चयन बहुत सावधानी व सही रूप में किया जाए, जिससे आर्थिक सहायता का लाभ लक्षित परिवारों को ही मिले। इसके लिए कार्यक्रम को चार स्तरों— केन्द्र, राज्य, जिला और खण्ड— पर विभाजित किया गया है—

(1) **केन्द्र स्तर पर 'ग्रामीण विकास मंत्री'** इस कार्यक्रम का निर्धारण करता है। वह कार्यक्रम से सम्बन्धित नीतियों का निर्धारण करता है और उन्हे वित्तीय सहायता उपलब्ध कराता है। ग्रामीण विकास मंत्री की सहायतार्थ एक केन्द्रीय समिति का निर्माण किया गया है।

(2) **राज्य स्तर पर** इस कार्यक्रम का कार्यान्वयन एक **'राज्य स्तरीय समन्वय समिति'** करती है। राज्य का मुख्य सचिव इस समिति का अध्यक्ष होता है। समन्वय समितियों की समय-समय पर बैठके होती हैं जिनमे इस कार्यक्रम के क्रियान्वयन की समीक्षा कर, इसमे तेजी लाने के लिए आवश्यक निर्देश दिए जाते हैं।

(3) **जिला स्तर पर** इस कार्यक्रम का क्रियान्वयन **'जिला ग्रामीण विकास अभिकरण'** द्वारा किया जाता है। इसमे परियोजना निदेशक नियुक्त किए गए है। चूंकि यह कार्यक्रम प्रत्येक खण्ड के लिए व्यापक योजना तैयार करने पर बल देता है अत जिला ग्रामीण विकास अभिकरण के अंग के रूप मे जिला स्तर पर एक तीन सदस्यों वाली **'योजना टीम'** की स्थापना की जाती है जिसमे एक अर्थशास्त्री या सांख्यिकीविद्, एक ऋण योजना बनाने वाला अधिकारी और एक लघु और कुटीर उद्योग अधिकारी होता है। ये एजेंसियाँ या अभिकरण सभी जिलो मे स्थापित किए गए हैं।

(4) **खण्ड स्तर पर** इस समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम को लागू करने का काम सामुदायिक विकास खण्ड का है। इसके लिए **'खण्ड विकास अधिकारी'** को जिम्मेदारी सौंपी गई है। यह ग्राम स्तर पर कार्यकर्त्ताओं के सौजन्य से इसके प्रभावी कार्यान्वयन का प्रयास करता है।

खण्ड विकास अधिकारी निर्धन परिवारों का पता लगाकर उन्हे स्वरोजगार हेतु ऋण दिलवाने की सिफारिश करता है। कृषि, पशुपालन, मछली पालन, कुटीर उद्योग आदि के लिए ऋण उपलब्ध कराए जाते हैं जो 3,000 रुपए तक के हो सकते है। इनमे से आधा ऋण लाभार्थी परिवार चुकाता है, और आधा ऋण सरकारी सहायता के रूप मे उन्हे दिया जाता है। इस प्रकार अति निर्धन परिवार इस ऋण से अपने रोजगार को आरम्भ कर आत्मनिर्भर हो सकते हैं।

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम की उपयोगिता (महत्त्व)

(1) **गरीबी कम करने में सहायक**— ग्रामो में व्याप्त गरीबी ही ग्राम-विकास की सबसे बड़ी बाधा है। छठी पचवर्षीय योजना मे 165 5 लाख गरीब परिवारो को आर्थिक सहायता उपलब्ध कराई गई और सातवीं योजना मे 181 8 लाख गरीब परिवारो को आर्थिक सहायता देकर लाभान्वित किया गया है। इस प्रकार समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम गरीबी उन्मूलन की दिशा में एक प्रगतिशील कदम है जो गरीबी की रेखा पार करने मे सहायक हो रहा है।

(2) **बेरोजगारी दूर करने में साधक**— समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम न केवल गरीबी को दूर करने का साधन है अपितु यह बेरोजगारी दूर कर, लोगो को स्वावलम्बी बनाने मे भी साधक सिद्ध हुआ है। गरीबी की रेखा से नीचे जीवन बिता रही देश की 48 प्रतिशत जनसख्या के जीवन मे एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है। कृषि, उद्योग, सेवा व व्यवसाय आदि क्षेत्रो मे रोजगार के नए अवसर जुटाने मे इस कार्यक्रम का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। छठी पचवर्षीय योजना मे 165 लाख परिवारो को स्वरोजगार के अवसर उपलब्ध कराए गए और सातवी योजना मे 200 लाख परिवारो को लाभान्वित करने का लक्ष्य रखा गया है। इस प्रकार ग्रामीण विकास कार्यक्रम बेरोजगारी दूर करने में साधक का कार्य कर रहा है।

(3) अनुसूचित जातियों-जनजातियों के उत्थान में सहयोगी– समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम ने अनुसूचित जातियो-जनजातियो के लिए अनेक उपयोगी योजनाएँ जुटाई है। छोटे कृषक, सीमान्त कृषक एवं भूमिहीन श्रमिको मे अनुसूचित जाति-जनजातियो के परिवारों का चयन किया गया है और उन्हे रोजगार के अवसर उपलब्ध कराए गए है– इन वर्गों के लिए 33 प्रतिशत सहायता का लक्ष्य छठी पंचवर्षीय योजना में रखा गया और सातवीं पंचवर्षीय योजना में 45.5 प्रतिशत अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के परिवारो को सहायता देने का लक्ष्य रखा गया है। इस प्रकार इन जातियों के उत्थान मे ग्रामीण विकास कार्यक्रम सहयोगी सिद्ध हुआ है।

(4) विकास कार्यक्रमों में ग्रामीणों की सहभागिता को बढ़ाने में सहयोगी– समन्वित ग्रमीण विकास कार्यक्रम गरीबी की रेखा से नीचे जीवन जीने वाले लोगो को वित्तीय सहायता प्रदान कर उन्हें स्वरोजगार के अवसर जुटाने का प्रयत्न करता है। इन रोजगारो का चुनाव लाभार्थी को करना होता है। लाभार्थी क्षेत्र विशेष की परिस्थितियों, उपलब्ध साधनों को ध्यान में रखकर रोजगार-योजना निर्मित करता है– ग्रामीणो का सहयोग भी उमे प्राप्त होता है तभी योजना सफल हो पाती है– योजना का सफल क्रियान्वयन ग्रामीण स्तर को भी उन्नत बनाता है।

(5) महिला एवं शिशु कल्याण मे सहयोगी– समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम ने महिलाओं के आर्थिक उत्थान मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाही है। उन्हें आर्थिक सहायता देकर स्वरोजगारोन्मुखी बनाया जाता है। कई योजनाएँ जैसे–ट्राइसम, ड्वाकरा आदि कार्यक्रम प्रारम्भ किए गए हैं जो महिलाओ और शिशु कल्याण के लाभार्थ कार्यरत है। इन स्वरोजगार योजनाओ के परिणामस्वरूप अनेक ग्रामीण महिलाओ को कुटीर उद्योग व सेवा व्यवसायो में काम मिला है। ड्वाकरा कार्यक्रम के अंतर्गत गरीबी की रेखा से नीचे जीवन जीने वाली 3,79,641 महिलाओ को लाभ पहुँचा है। इससे उनका सामाजिक स्तर भी उन्नत हुआ है।

(6) आर्थिक असमानता को कम करने में सहयोगी– समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम ने निर्धनतम परिवारो को स्वरोजगार के अवसर उपलब्ध कराए हैं, इससे उनका आर्थिक स्तर सुधरा है, वे अपना अस्तित्व समझने लगे है– सरकार भी इस विषय मे प्रयासरत है कि सहायता का लाभ निर्धनो को ही मिले। इस प्रकार निर्धनतम परिवारो का जीवन-स्तर उन्नयन होगा तो उससे आर्थिक असमानता को कम करने में भी सफलता मिलेगी।

(7) देश को प्रगति के पथ पर ले जाने में सहयोगी– समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम गरीबी-रेखा से नीचे जीवन जीने वाले लोगो के आर्थिक उन्नयन का कार्यक्रम है। इसके लिए सरकार ऋण सुविधा उपलब्ध कराकर उन्हे खाद, बीज, उर्वरक, कृषि उपकरण आदि उपलब्ध कराती है, इससे विभिन्न क्षेत्रो मे रोजगार के अवसर बढते है। इन रोजगारो से गरीब अपना जीवन-स्तर ऊँचा करेगा तो देश मे भी खुशहाली होगी और समाज के कमजोर वर्गों के आर्थिक-उन्नयन से देश एक दिन प्रगति के पथ पर अवश्य अग्रसर होगा।

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम की कमियाँ

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम जिस उद्देश्य को लेकर प्रारम्भ हुआ है उसकी पूर्ति करने मे पूर्णतया सफल नहीं हो सका है, इसका कारण यह है कि इस कार्यक्रम की कुछ कमजोरियाँ हैं– जो निम्नलिखित है–

(1) सही लाभार्थियों का चुनाव न हो पाना– इस कार्यक्रम की एक बड़ी कमजोरी यह है कि अनेक बार सही लाभार्थी का चयन नहीं हो पाता। पंच, सरपंच, व प्रधान आदि के दबाव के कारण ग्राम सेवक सही परिवार का चयन न करके उनका चयन कर लेते है जो पहले से ही गरीबी की रेखा को पार कर चुके होते है अत. निर्धनतम परिवार आर्थिक सहायता से वंचित रह जाते है और अन्य लोग लाभ ले लेते है।

(2) कार्यक्रम की सही जानकारी न मिलना– अनेक बार सरकारी कर्मचारियों व सक्षम अधिकारियों की विकास कार्यो के प्रति उदासीनता के कारण कार्यक्रमो की जानकारी निर्धन लोगो को नही हो पाती और नेताओ और सक्षम अधिकारियों के सम्पर्क मे रहने वाले परिवारों को उन योजनाओं का लाभ मिल जाता है। इस रूप में योजनाओं का लाभ निर्धन वर्ग तक कम ही पहुँच पाता है।

(3) व्यावहारिक ज्ञान का अभाव– जिन लोगों को आर्थिक सहायता उपलब्ध कराई जाती है उनको व्यवसाय सम्बन्धी ज्ञान नहीं होता ऐसी स्थिति मे रुपए प्राप्त करके केवल वह उनका दुरुपयोग ही करता है क्योंकि वह अपना रोजगार कैसे शुरू करे ? कैसे चलाए ? जब तक इस बात का व्यावहारिक ज्ञान उसे नहीं होगा तब तक वह कोई भी व्यवसाय सही रूप से नहीं कर सकता अत. स्वरोजगार के लिए आवश्यक ज्ञान के अभाव में लाभार्थी प्राप्त ऋण व आर्थिक सहायता का उपयोग सही रूप से नही कर पाता।

(4) सरकारी वित्तीय सहायता राशि का कम होना– जो राशि अथवा ऋण गरीब लोगों को स्वरोजगार हेतु सरकार की ओर से दिया जाता है उसकी मात्रा बहुत कम होती है। अनेक बार ऋण के लालच में कुम्हार, बढई आदि अपना परम्परागत व्यवसाय छोड देते है और सरकारी वित की राशि कम होने के कारण कोई स्वरोजगार भी प्रारम्भ नही कर पाते। ऐसी स्थिति मे सरकारी सहायता का दुरुपयोग ही होता है। ऋण भी खर्च हो जाता है और स्थिति भी नहीं सुधर पाती।

(5) अशिक्षा– ग्रामीण जनसख्या प्राय अशिक्षित है। अत उनकी सहायता के लिए बनाई गई योजनाओ की न तो उन्हे सही जानकारी होती है, न ही उन्हे सही रूप मे वे समझते हैं इससे वे शोषण का शिकार होते ही रहते है और उनके हिस्से का लाभ दूसरे लोगों को मिल जाता है।

(6) अधिकारियों के मध्य तालमेल का अभाव– ग्रामीण विकास से सम्बन्धित कोई भी योजना एकाकी कारगर नही हो सकती। केन्द्र से लेकर खण्ड स्तर तक उसमे तालमेल बनाए रखना पडता है किन्तु प्राय देखा जाता है कि खण्ड अथवा जिला-स्तर पर कार्यरत अधिकारियो और साथ ही अन्य विभागो, जैसे– कृषि, बागवानी, मछली-पालन व जिला-उद्योग आदि का जिला ग्रामीण विकास एजेंसियो और खण्ड स्तर के अधिकारियो के बीच तालमेल नहीं रह पाता, इससे योजनाएँ सही रूप मे कार्यरत नही हो पाती हैं।

(7) भ्रष्टाचार का प्रसार– आज हमारे समाज मे चारो ओर भ्रष्टाचार फैला हुआ है। गरीब लोगो को सरकार ऋण उपलब्ध कराती है जो बैको के द्वारा उन्हे प्राप्त होता है लेकिन बैक से ऋण लेते समय बैक अधिकारियो को रिश्वत देनी पडती है। फलस्वरूप वित्तीय सहायता को प्राप्त करने मे बैक और यहाँ तक कि समन्वित ग्रामीण विकास के कार्यकर्त्ताओ को भी रिश्वत देने के पश्चात् जितनी राशि बच पाती है, उससे लाभार्थी सही रूप मे लाभान्वित नहीं हो पाते।

इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक कारण हैं जो इस प्रकार हैं–

(8) लाभार्थियों को सहायता देने से पूर्व व पश्चात् सरकारी एजेंसियों का समर्थन नहीं मिल पाता। परिसम्पत्तियों की मरम्मत एवं रख-रखाव की कोई सुविधाएँ नहीं होतीं।

(9) विकास कार्यक्रमों से सम्बन्धित अधिकारियों एवं कार्यकर्त्ताओं में न तो कर्त्तव्यपरायणता की भावना होती है, न ही उनमें कार्य के प्रति जोश होता है, इससे सही लाभ लाभार्थियों को वे नहीं दे पाते।

(10) विभिन्न स्तरों पर जल्दी-जल्दी स्थानान्तरण और परियोजना अधिकारी, जिला ग्रामीण विकास एजेंसियों के प्रभारी जैसे मुख्य पदों के खाली रहने के कारण प्रशासनिक ढाँचे की कार्यकुशलता और प्रभावशीलता पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है।

(11) स्वास्थ्य, शिक्षा एवं पशुचिकित्सा सेवाओं के लिए कोई कार्यक्रम नहीं हैं।

(12) द्वितीय और तृतीय क्षेत्रों में अधिक सख्या में रोजगार की स्थापना के लिए कोई कार्यक्रम तैयार नहीं किए गए हैं।

(13) कार्यक्रम के सम्बन्ध में सबसे बडी कमजोरी यह है कि सरकारी आँकड़े कार्य की सफलता को बहुत बढा-चढाकर बताते है, जबकि वास्तविकता कुछ और ही होती है। न तो ऐसा है कि निर्धनतम परिवारो को बहुत अधिक लाभ मिला है न ही उन्हें वित्तीय सहायता उस अनुपात में दी गई है। जैसे– सरकारी आँकडो के अनुसार छठी योजना के समय में ही 165.5 लाख परिवार लाभान्वित हो चुके है, किंतु सर्वेक्षणो की रिपोर्ट के अनुसार यह प्रतिशत बहुत कम है। अत कार्यक्रमों का कमजोर पक्ष अनुवर्ती कार्यक्रमों पर निगरानी का अभाव है।

यदि वास्तव में देश को उन्नति के मार्ग पर ले जाना है तो उसके लिए कुछ और प्रयास करने अपेक्षित हैं।

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम की सफलता के लिए कतिपय सुझाव– किसी कार्यक्रम की सफलता के लिए कार्यक्रम के प्रति सचेतनता और पूर्ण जानकारी का होना अत्यावश्यक है तभी उसका पूरा लाभ मिलता है। इस कार्यक्रम की सफलता के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते है–

(1) सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस कार्यक्रम के अंतर्गत चयनित अशिक्षित आशार्थियों को प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम के माध्यम से शिक्षित किया जाए और उन्हे समय-समय पर कार्यक्रम की गतिविधियों से भलीभाँति अवगत कराया जाए।

(2) ग्रामीण तरुण वर्ग को चयन में प्राथमिकता दी जाए, उन्हें आवश्यक ऋण उपलब्ध कराया जाए जिससे वे स्वरोजगार योजना के अंतर्गत व्यवसाय का भली-भाँति चयन कर उसे संचालित कर सकें।

(3) ग्रामीण क्षेत्र मे निर्धन व्यक्तियों को सही लाभ मिले इसके लिए एक शक्तिशाली संगठन का निर्माण किया जाना आवश्यक है। यह संगठन निर्बल पक्ष को योजना का पूरा लाभ पहुँचाएगा और साथ ही बिचौलियो की भ्रष्टता को कमजोर करेगा।

(4) ऋण उपलब्ध कराते समय गरीबी की मात्रा को ध्यान मे रखा जाए। विकास खण्ड के लिए निर्धारित राशि को प्राथमिकता न दी जाए।

(5) **लाभार्थी का सर्वेक्षण** उचित ढंग से किया जाए। इसके लिए ग्राम पंचायत एवं ग्राम्य सहकारी साख समिति के कार्यकर्त्ताओं का पूरा सहयोग लिया जाए, जिससे किसी प्रकार का राजनैतिक भेदभाव न हो सके।

(6) युवकों और महिलाओं को स्वरोजगार हेतु अधिक **व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र** खोले जाएँ और प्रशिक्षण की परिसमाप्ति पर एक कार्य योजना बनाकर उसके अनुसार उन्हें ऋण-सहायता उपलब्ध कराई जाए।

(7) ऋण सुविधा ऐसे व्यावसायिक क्षेत्र के लिए सुलभ कराई जाए, जिसके उत्पादन की गाँव के बाहर पर्याप्त माँग हो। इसके विक्रय की उचित व्यवस्था की जाए। **उचित दर पर कच्चे माल की आपूर्ति तथा ग्रामोद्योग संस्थाओं के माध्यम से विक्रय की व्यवस्था** की जानी चाहिए।

(8) **ऋण राशि को अलाभकारी कार्यों में न लगाया जाए।** यदि ऐसा उदाहरण देखने में आए तो लाभार्थी को कार्यक्रम के अंतर्गत मिलने वाली छूट से वंचित किया जाए और उस पर अतिरिक्त जुर्माना भी किया जाए।

(9) प्रत्येक लाभार्थी को **स्वास्थ्य, सुरक्षा एवं पशु पोषण सम्बन्धी अल्पकालिक प्रशिक्षण** दिया जाए। इसकी व्यवस्था उसी गाँव मे की जाए, जिससे प्रशिक्षार्थी को अपना गाँव छोड़कर बाहर जाने की असुविधा का सामना न करना पड़े।

(10) प्रशिक्षण शिविरों के माध्यम से लोगो में **यह प्रेरणा जागृत की जाए कि वे आर्थिक सहायता प्राप्त कर स्वयं को समुन्नत बनाएँ।** सहायता तो केवल एक बार दी जा सकती है, उसके पश्चात् तो उन्हे ही प्रयासरत रहना है।

(11) एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी हो सकता है कि ऋण उपलब्ध कराने के स्थान पर लक्षित **वर्ग को स्थाई सवैतनिक रोजगार उपलब्ध करा दिया जाए।** इससे न तो ऋण राशि का अपव्यय होगा और न ही लक्षित वर्ग को स्वरोजगार स्थापित करने के मध्य आने वाली कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

(12) राशि का दुरुपयोग रोकने के लिए उनको वस्तु व उपकरण आदि **स्वयं सरकार द्वारा खरीदकर दिए जा सकते हैं।** किंतु इस कार्य के लिए कर्त्तव्यनिष्ठ कार्यकर्त्ताओं का सहयोग अपेक्षित है।

(13) ग्रामीण निर्धनो के वास्तविक उत्थान के लिए आवश्यक है कि रोजगार विशेष के लिए **उस समय के बाजार-मूल्य का पता लगाकर उसके समकक्ष ही ऋणराशि उपलब्ध कराई जाए।**

(14) **पिछड़े वर्गों में जाति की सामाजिक स्थिति के आधार पर प्रति व्यक्ति औसत ऋण का बँटन समान हो।** इससे जातीय वैमनस्य एवं साम्प्रदायिकता की भावना को रोका जा सकेगा।

(15) समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम की सफलता मे **जो कर्मचारी अपना दायित्व कर्त्तव्य-निष्ठा से निभा रहे हैं उन्हें पारितोषिक दिया जाना चाहिए।** इससे उनमे कार्य के प्रति जागरूकता पैदा होगी।

अन्तत यह कहा जा सकता है कि समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम गरीबी से निपटने का एक अद्वितीय प्रयास हे और अपनी दिशा में यह सफलतापूर्वक कार्यरत भी है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि कार्यक्रम से सम्बन्धित जिन कमियो को प्रकाश में लाया जा रहा है उनमें अपेक्षित सुधार किया जाए। यदि कार्यक्रम के कार्यान्वयन के कदम सही दिशा में उठते रहेंगे तो यह आशा की जा सकती है कि आने वाले वर्षों में ग्रामीण विकास कार्यक्रम निर्धनता की रेखा से नीचे जीवन जीने वाले ग्रामीणों, महिलाओं और पिछड़े वर्गों को अन्य वर्गों के समकक्ष लाने में अहम् भूमिका निभा सकेगा।

प्रश्न

1. समन्वित ग्रामीण विकास से आप क्या अर्थ लेते हैं ? इस कार्यक्रम के उद्देश्यो का वर्णन कीजिए। (मा.शि.बो. अजमेर, 1994)
2. समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के मार्ग में क्या-क्या प्रमुख बाधाएँ है ? (मा.शि. बो. अजमेर, 1994)
3. समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम पर एक निबन्ध लिखिए।
4. समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम का अर्थ और उसकी प्रकृति पर प्रकाश डालिए।
5. समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के मध्य आने वाली बाधाओं पर प्रकाश डालते हुए उनके निराकरण के प्रयास सुझाइए।
6. समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम की कार्यनीति पर प्रकाश डालिए।
7. समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम का मूल्यांकन कीजिए।
8. समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम की उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।
9. समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम की सफलता के कतिपय सुझाव प्रस्तुत कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नलिखित वाक्यों में रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए—
   - (i) समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम का लक्ष्य .... जीवन यापन करने वाले व्यक्तियो को आर्थिक सहायता उपलब्ध कराना है।
   - (ii) समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम सन् ... . में प्रारम्भ किया गया।
   - (iii) समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम को प्रारम्भ मे . ...जिलो मे शुरू किया गया था।
   - (iv) . . . . पर समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम का क्रियान्वयन जिला ग्रामीण विकास अभिकरण द्वारा किया जाता है।
   - (v) ब्लॉक स्तर पर ग्रामीण विकास कार्यक्रम की जिम्मेदारी .... की होती है।
   - (vi) राज्य स्तर पर ग्रामीण विकास कार्यक्रम का क्रियान्वयन .... करती है।

[उत्तर-(i) गरीबी की रेखा से नीचे, (ii) 1978-79, (iii)16, (iv) जिला स्तर, (v) खण्ड विकास अधिकारी, (vi) राज्य स्तरीय समन्वय समिति]

2. निम्नलिखित के सही जोड़े बनाइए–

1. महिला एवं शिशु विकास की योजना	(A) ग्रामीण विकास मंत्री
2. केन्द्र स्तर	(B) 2 अक्टूबर, 1952
3. जिला स्तर	(C) 1978-79
4. सामुदायिक विकास कार्यक्रम	(D) डवाकरा
5. समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम	(E) जिला ग्रामीण विकास अभिकरण

[उत्तर- (1) (D), (2) (A), (3) (E), (4) (B), (5) (C)]

3. निम्नलिखित वाक्यों में से सत्य एवं असत्य कथनों का चयन कीजिए–

(i) समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम का उद्देश्य ग्रामीणो को निर्धनता की रेखा से ऊपर उठाना है।

(ii) केन्द्र सरकार द्वारा प्रत्येक जिला स्तर पर समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के लिए जिला ग्रामीण एजेंसियों की स्थापना नहीं की गई है।

(iii) 'ट्राइसम योजना' ग्रामीणो को स्वरोजगार उपलब्ध कराने हेतु 15 अगस्त, 1979 को प्रारम्भ की गई थी।

(iv) 'डवाकरा' योजना ग्रामीण क्षेत्रो मे महिलाओ और शिशुओ के विकास की योजना नही है।

(v) समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम का लक्ष्य जनसख्या का नियत्रण करना है।

[उत्तर- सत्य कथन (i), (iii), असत्य कथन (ii), (iv), (v)]

4. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए–

1. लक्षित-समूह।
2. समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के तीन उद्देश्य।
3. ट्राइसम योजना।
4. डवाकरा योजना।
5. समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के सातवी योजना के लक्ष्य।
6. समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम मे वित्तीय सहायता।
7. केन्द्र और जिला स्तर पर समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम का सगठन।
8. समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम की तीन प्रमुख कमियाँ।
9. समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम की तीन उपयोगिताएँ।
10. 'खण्ड स्तर' पर समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम का संगठन।

□□□

अध्याय 18

पंचायती राज

(Panchyati Raj)

भारतवर्ष की अधिकाश जनसख्या सदैव से ग्रामो में निवास करती रही है। आज भी लगभग 75 जनसख्या भारत के ग्रामों मे निवास कर रही है। इसीलिए सभी समाजशास्त्रियों ने भारत को ग्रामीण प्रधान देश कहा है। भारत में ग्रामों का संगठन, व्यवस्था तथा प्रशासन का कार्य आदिकाल से ग्राम-पचायतें करती आ रही है। ग्राम पचायते लोकतत्रात्मक शासन व्यवस्था एवं संगठन की आधारशिला है। देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था में पंचायतो का महत्त्वपूर्ण स्थान प्राचीनकाल से ही रहा है। ब्रितानिया साम्राज्य स्थापित होने तक ये ग्रामीण पंचायतें सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक गतिविधियो को संचालित, नियत्रित और निर्देशित करती रही थी। रामकृष्ण मुकर्जी के अनुसार अंग्रेजों ने भारत में अपनी राजनैतिक पकड सुदृढ करने के लिए ग्राम पंचायतो को धीरे-धीरे मृतप्राय कर दिया था। आर्थिक शोषण करने के लिए भारत को आधुनिकता, औद्योगीकरण और नगरीकरण का रूप दिया। इससे ग्रामों की अर्थव्यवस्था चरमरा गई। भारतीय ग्रामीण अनेक सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं से ग्रसित हो गए। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ग्राम पंचायतो के महत्त्व को जानते थे। इसीलिए आपने पंचायतों के द्वारा राजनैतिक और आर्थिक विकेन्द्रीकरण करने पर जोर दिया था। आप प्रत्येक ग्रामीण की राष्ट्र के सभी क्षेत्रो मे सहभागिता स्थापित करना चाहते थे।

महात्मा गाँधी के जोर देने के कारण ही स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने पुन ग्राम पचायतो को ग्रामो के पुनरुत्थान करने का महत्त्वपूर्ण साधन माना। केन्द्रीय सरकार ने समय-समय पर पुनर्जीवित करने के लिए अनेक प्रयास किए। इनमे उल्लेखनीय प्रयास सविधान का 40वाँ अनुच्छेद तथा 73वाँ सशोधन है। राज्य सरकार पर राजस्थान सरकार ने अनेक उल्लेखनीय कार्य किए हैं। राजस्थान पहला राज्य रहा है जिसने बलवत राय मेहता समिति के सुझावों के आधार पर त्रि-स्तरीय पंचायती राज व्यवस्था को अपनाया तथा सन् 1944 के सविधान के 73वें संशोधन के अनुसार इस व्यवस्था मे तुरन्त सशोधन एव परिवर्तन कार्यान्वित किए। इसी सदर्भ मे यहाँ पर ग्रामीण समुदायों मे ग्राम पचायत, पचायत समिति तथा जिला परिषद के विभिन्न पहलुओ, भूमिका, सगठन, परिवर्तन आदि की विवेचना की जाएगी। सर्वप्रथम प्राचीन भारत मे ग्राम पचायतो के स्वरूप पर प्रकाश डाला जाएगा।

प्राचीन भारत में ग्राम पंचायतों का स्वरूप

भारत की ग्राम पंचायतो का इतिहास अति प्राचीन है। प्राचीनकाल में पचायतें सामाजिक, आर्थिक और सामुदायिक गतिविधियो का सचालन करती थी। ग्रामीण जीवन के सभी क्षेत्रो पर इनका अधिकार और नियत्रण था—उद्योग, व्यापार, प्रशासन, नागरिक-शिक्षा और धर्म आदि कार्यकलापो का नियमन इनके हाथ में था। हमारे प्राचीन ग्रंथो मे पचायतो के बारे मे उद्धरण मिलते है। ऋग्वेद, वाल्मीकि-विरचित रामायण और महाभारत मे 'पंच' और 'पंचायत' शब्दो का उल्लेख है। 'पंच परमेश्वर' के रूप में गाँवों मे पचो को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था—सख्या मे पाँच होने के कारण ही ये पच कहलाते थे। 'कौटिल्य के अर्थशास्त्र' मे इस पर विस्तार से लिखा गया है। ग्यारहवीं शताब्दी मे 'नीतिसार' मे शुक्राचार्य ने इनका उल्लेख किया है। 'बौद्धकाल' मे इस देश मे अनेक छोटे-छोटे गणराज्य थे। अत गाँव की इन सस्थाओ का महत्व और बढ गया। जातक कथाओ से इनकी पुष्टि होती है। मौर्यकाल मे देश मे एक शक्तिशाली सत्ता की स्थापना हो गई थी, फिर भी ग्रामो की स्वायत्तता को नष्ट नही किया गया। पचायत की शक्तियाँ ज्यो की त्यो रखी गईं। मध्यकालीन भारत मे मुस्लिम शासको ने भी ग्रामों की स्थानीय स्वतत्रता को नष्ट नही किया।

अंग्रेजो ने धीरे-धीरे पचायतो के सभी प्रकार के प्रशासनिक कार्यों को अपने अधिकार में ले लिया। इस तरह ग्रामीण समुदायो की आत्मनिर्भरता समाप्त हो गई और ग्रामीण पचायतो का महत्व भी समाप्त हो गया। प्रारम्भिक अवस्था मे इन पंचायतो को मृतप्राय कर दिया गया था, किन्तु लॉर्ड रिपन तथा मेयो ने इन स्थानीय सस्थाओ को ग्रामो मे पुनर्जीवित करने के लिए बड़ा प्रयास किया। 1901 मे विकेन्द्रीयकरण कमीशन ने पंचायतो को पुनर्जीवित करने की सिफारिश की और अनेक प्रान्तों में इसके आधार पर ग्राम पचायत एक्ट पास किए गए।

ग्रामों मे पचायते लोकतत्र की धड़कन होती है। महात्मा गाँधी ने कहा था, "सच्चा स्वराज केवल चंद लोगो के हाथ मे सत्ता आ जाने से नही बल्कि इसके लिए सभी मे क्षमता आने से आएगा। केन्द्र मे बैठे केवल 20 व्यक्ति सच्चे लोकतत्र को नही चला सकते। इसको चलाने के लिए निचले स्तर पर प्रत्येक गाँव के लोगों को शामिल करना पड़ेगा।"

पडित नेहरू ने कहा था, "वास्तविक बदलाव निस्सदेह गाँव के भीतर से आता है, गाँव मे रहने वाले लोगो से ही आता है और वह बाहर से नही थोपा जाता।"

इस प्रकार गाँधी और नेहरू के सपनो को साकार करने के लिए स्वतत्रता प्राप्ति के बाद भारत मे ग्राम पचायतो का पुन गठन किया गया।

स्वतंत्र भारत में पंचायती राज

भारत के स्वतत्र हो जाने के उपरान्त पुनरुत्थान की ओर ध्यान दिया गया। गाँधीजी का मानना था कि लोकतांत्रिक आजादी को भारत के हर गाँव मे स्वराज्य सस्थाओ मे निहित होना चाहिए। उनकी मान्यता थी कि सत्ता का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। गाँव के प्रत्येक व्यक्ति की सत्ता

में भागीदारी होनी आवश्यक है। उनके इसी विचार को चरितार्थ करने के उद्देश्य से संविधान की धारा 40 में यह व्यवस्था की गई, "राज्य ग्राम पंचायतों का संगठन करेगा और उनको समस्त अधिकार प्रदान करेगा जिससे वे स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने के योग्य हो जाएँ।"

इस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्ति के अनन्तर भारत के ग्रामों में लोकतांत्रिक प्रणाली अपनाई गई। ग्रामीण जनता को स्वयं अपने प्रतिनिधि चुनने का अवसर प्राप्त हुआ। राज्यो में ग्राम पंचायतों की स्थापना की जाने लगी। 1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम और 1953 में राष्ट्रीय विस्तार सेवा योजना का शुभारम्भ ग्रामीणों के सर्वांगीण विकास की दृष्टि से किया गया। 1957 में बलवन्त राय मेहता कमेटी ने पंचायती राज की योजना प्रस्तुत की। 12 जनवरी, 1958 को राष्ट्रीय विकास परिषद के लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के बारे में बलवन्त राय मेहता कमेटी की सिफारिशो का समर्थन कर दिया गया। बलवन्त राय मेहता समिति ने ग्रामवासियों में सक्रिय भागिता के उद्देश्य से विकास और पुनर्निमाण को ध्यान में रखते हुए **लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण** की योजना प्रस्तुत की, जिसे सम्पूर्ण देश में **'पंचायती राज'** के रूप में जाना गया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत **'तीन स्तरीय व्यवस्था'** प्रस्तुत की गई। इस पंचायती राज के विकास के लिए ग्राम स्तर पर ग्राम-पंचायत, खण्ड-स्तर पर पंचायत-समिति और जिला-स्तर पर जिला-परिषद् की स्थापना की गई। पंचायती राज का मुख्य लक्ष्य लोकतंत्र को वास्तविक रूप प्रदान करना था।

केन्द्र सरकार ने विकेन्द्रीकरण के लिए पंचायती राज की मेहता समिति की इस योजना को एक आदर्श प्रतिमान के रूप में स्वीकार तो कर लिया लेकिन यह प्रत्येक राज्य की इच्छा पर छोड़ दिया गया कि वह पंचायती राज को जिस रूप में चाहे अपने राज्य में अपना सकता है। ऐसा केन्द्र सरकार ने इसलिए किया था कि स्थानीय स्वायत्त शासन राज्य सूची का विषय था। पंचायती राज सस्थाओ को और अधिक महत्त्वपूर्ण एवं व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने के लिए केन्द्र सरकार ने इन संस्थाओं को 73वें संविधान संशोधन अधिनियम के द्वारा संवैधानिक स्तर पर प्रदान कर दिया है। इस अधिनियम का प्रस्ताव संसद में 72वें संविधान संशोधन अधिनियम के रूप में 1991 मे रखा गया था लेकिन पारित होते-होते यह 73वाँ संविधान संशोधन अधिनियम 1992 और प्रवर्तित होते-होते उसमे एक वर्ष और लग गया। इस प्रकार यह 73वाँ सविधान संशोधन अधिनियम (पचायती राज से सम्बन्धित) भारत सरकार के राजपत्र में 26 अप्रैल, 1993 को प्रकाशित और प्रवर्तित हुआ है। **इस उपर्युक्त व्यवस्था के द्वारा पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक मान्यता प्रदान कर दी गई है।** इस सविधान सशोधन के महत्त्वपूर्ण पक्षो तथ्य सम्बन्धित तथ्यो का वर्णन प्रासंगिक रूप से यथास्थान किया गया है।

राजस्थान भारतीय सघ का ऐसा राज्य है जो पचायतों की स्थापना करने में सर्वथा सक्रिय एवं प्रथम रहा है। राजस्थान मे पचायती राज की त्रिस्तरीय व्यवस्था 1959 मे अपनाई गई थी लेकिन राजस्थान के ग्रामों मे ग्राम पचायतो का औपचारिक गठन राजस्थान पंचायत अधिनियम, 1953 के द्वारा पहले से ही स्थापित हो चुका था।

इस देश में सर्वप्रथम पंचायती राज की स्थापना 2 अक्टूबर, 1959 को गाँधी जयन्ती के अवसर पर देश के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने राजस्थान के जिले 'नागौर' में की। पंचायती राज के शुभारम्भ के अवसर पर नेहरू ने कहा था, "गाँवो का रक्त शहरो के ढाँचे को मजबूत करने वाला सीमेण्ट बनाता है। मैं चाहता हूँ कि वह रक्त जो शहरो की धमनियों को फुला रहा है, पुन गाँवो की धमनियों में बहने लगे।"

राजस्थान सरकार ने 73वें संविधान संशोधन के प्रमुख प्रावधानो के अनुसार 23 अप्रैल, 1994 को राजस्थान में पारित अब तक के सभी पंचायती राज अधिनियमो को समेकित और संशोधित करते हुए एक नयी विधि राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 को स्वीकृति प्रदान की है। इस अधिनियम के द्वारा राज्य में अब तक पारित राजस्थान पंचायत अधिनियम, 1953 और उसमे समय-समय पर किए गए समस्त संशोधन तथा राजस्थान पंचायत समिति एव जिला परिषद अधिनियम, 1959 एवं उसमे किए गए सभी संशोधन निरसित हो गए है। अब राजस्थान की पचायती राज सस्थाएँ राज्य में 23 अप्रैल, 1994 से प्रवर्तित राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 से नियंत्रित, निर्देशित एवं संचालित होती हैं।

इस प्रकार राजस्थान मे पचायती राज की स्थापना के बाद पूरे देश में पंचायती राज सस्था के विकास को संस्थागत साधन के रूप में स्वीकृति प्राप्त हुई। वर्तमान में मेघालय और नागालैण्ड को छोडकर शेष समस्त राज्यो में पचायती राज योजना लागू की गई है। सन् 1988 तक भारत मे 20,624 ग्राम पचायते थी और इस समय देश में लगभग 2.20 लाख ग्राम पंचायते, 4,500 पचायत समितियाँ और 351 जिला परिषदें हैं।

अब ग्राम सभा, ग्राम पंचायत, पंचायत समिति और जिला परिषद का राजस्थान ग्राम पंचायत अधिनियम 1953, राजस्थान पंचायत समिति एव जिला परिषद अधिनियम 1959 एवं राजस्थान पंचायती राज अधिनियम 1994 और 73वाँ संविधान संशोधन अधिनियम 1993 के संदर्भ मे विस्तार से विवेचन किया जायेगा।

ग्राम सभा

एक पचायत क्षेत्र के सभी वयस्क नागरिकों के समूह को ग्राम सभा कहा जाता है। प्रत्यक्ष प्रजातत्र में किसी राज्य या क्षेत्र के समस्त वयस्क नागरिक एक स्थान पर एकत्र होकर समय-समय पर समाज के विभिन्न कार्यों का संचालन करते है। इस प्रकार ग्राम सभा प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का एक स्वरूप है जिसे भारत के ग्रामों में कार्यान्वित किया गया है। महात्मा गाँधी ने भारत मे सच्चे लोकतंत्र की कामना की थी। उनके अनुसार केन्द्र में बैठे 20 व्यक्ति सच्चे लोकतत्र को नहीं चला सकते। गाँधी जी ने ग्राम स्वराज्य की कल्पना की थी जिसमें "गाँव" विकेन्द्रीकृत राजनैतिक सत्ता का एक ऐसा घटक माना गया था जिसके माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति शासन के कार्यों मे प्रत्यक्ष भाग ले सके। ग्राम सभा उसी कल्पना को साकार रूप प्रदान करने का प्रयास है।

बलवंत राय मेहता समिति ने पंचायती राज का त्रिस्तरीय ढाँचे का जो सुझाव दिया था उसमें उन्होंने ग्राम सभा का कोई प्रावधान रखा था। फिर भी राज्यों ने ग्राम सभा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए पंचायती राज व्यवस्था के आधार के रूप में इसे विकसित किया। अब यह व्यापक रूप से स्वीकार किया जा रहा है कि पंचायनी राज में ग्राम सभा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ग्राम सभा के माध्यम से ग्रामीणो को प्रभावित करने वाले सभी मामलों पर जनमत का स्पष्टीकरण हो जाता है और ग्राम पंचायत को अपने कार्य करने के लिए मार्गदर्शन प्राप्त हो जाता है।

राजस्थान में ग्राम-सभा

राजस्थान में ग्राम-सभा का प्रावधान उस समय जोड़ा गया था जब 1959 में राजस्थान ने पंचायती राज विकेन्द्रीकरण की मेहता समिति योजना को कार्यान्वित किया था। मूल ग्राम-पंचायत अधिनियम, 1953 में इस हेतु जो नया प्रावधान सेक्शन 23 (ए) जोड़ा गया था उसका सार निम्न है—

प्रत्येक ग्राम पंचायत अपने क्षेत्र के सभी वयस्क नागरिकों की सभा आमन्त्रित करेगी, जिसके आयोजन का तरीका सरकार द्वारा सुझाया जाएगा।

इस प्रकार बुलाई गई सभा में पंचायत द्वारा किए गए कार्यों और प्रगति का विवरण प्रस्तुत किया जाएगा तथा उसे विषय पर नागरिकों द्वारा सभा में दिए गए सुझावों को ग्राम पंचायत की आगामी बैठक में विचारार्थ रखा जाएगा।

73 वें संविधान संशोधन में ग्राम सभा का प्रावधान

भारत का सविधान 73वाँ संविधान सशोधन अधिनियम, अनुच्छेद 243 ए मे ग्राम-पचायत को सवैधानिक मान्यता प्रदान की गई है। इसमें प्रावधान किया गया है कि ग्राम स्तर पर ग्राम सभा ऐसी शक्तियो का प्रयोग और ऐसे कार्यों का निर्वाह कर सकेगी जो राज्य विधान मण्डल द्वारा अधिनियम बनाकर प्रस्तावित किए जाये। राजस्थान सहित सभी राज्य सरकारों ने इसका पालन करते हुए ग्राम सभा का प्रावधान किया है।

राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 में ग्राम-सभा का प्रावधान

23 अप्रैल, 1994 को प्रवर्तित राजस्थान पंचायतीराज अधिनियम में, अध्याय दो में 'ग्राम-सभा' शीर्षक से उसकी संकल्पना और व्यवस्थाओं का स्पष्ट एव विस्तृत विवरण दिया गया है। राजस्थान पंचायतीराज अधिनियम, 1994, धारा 2 में लिखा है, "प्रत्येक पंचायत सर्किल के लिए एक ग्राम-सभा होगी जिसमें पचायत क्षेत्र के भीतर समाविष्ट गाँव या गाँवों के समूह से सम्बन्धित निर्वाचक नामावलियों में रजिस्ट्रीकृत व्यक्ति होंगे।"

ग्राम सभा की बैठक

सामान्यतया सभी राज्यों में ग्राम सभा की वर्ष मे दो बैठके होती हैं। उड़ीसा राज्य में एक

बैठक होती है। राजस्थान में 1953 के अधिनियम में जोडे गए प्रावधान के अनुसार दो बैठको की व्यवस्था थी। ग्राम सभा की एक बैठक मई से जुलाई और दूसरी बैठक अक्टूबर से दिसम्बर माह के बीच आयोजित की जानी चाहिए।

नवीन अधिनियम 1994 के अनुसार प्रत्येक वर्ष मे दो बैठके होंगी। पहली, वित्तीय कार्य के प्रथम त्रिमास मे और दूसरी, अन्तिम त्रिमास मे होगी। एक-तिहाई से अधिक सदस्यो के द्वारा लिखित अपेक्षा किए जाने पर या, यदि सम्बन्धित पचायत समिति या जिला परिषद या राज्य सरकार द्वारा अपेक्षित हो, तो ग्राम सभा की बैठक, ऐसी अपेक्षा के 30 दिवस के अन्दर आहूत की जाएगी।

विचारार्थ विषय

राजस्थान पचायतीराज अधिनियम, 1994, धारा 2 मे ग्राम सभा की वित्तीय वर्ष के प्रथम त्रिमास की बैठक मे निम्न विषय सम्मिलित किए जायेंगे—(क) पूर्ववर्ती वर्ष के लेखों का वार्षिक विवरण, (ख) पूर्ववर्ती वित्तीय वर्ष के प्रशासन की रिपोर्ट, (ग) वित्तीय वर्ष के लिए प्रस्तावित विकास और अन्य कार्यक्रम, और (घ) पिछली सपरीक्षा रिपोर्ट और उसके लिए दिए गए उत्तर।

वित्तीय वर्ष के अन्तिम त्रिमास मे आयोजित की जाने वाली बैठक मे पचायत द्वारा, ग्राम-सभा के समक्ष निम्न विषय विचारार्थ रखे जायेगे—(क) वर्ष के दौरान उप-व्यय का विवरण, (ख) वर्ष मे लिए जाने वाले भौतिक और वित्तीय कार्यक्रम (ग) वित्तीय वर्ष के प्रथम त्रिमास में की गई बैठक मे प्रस्तावित क्रियाकलाप के विभिन्न क्षेत्रो में किए गए किन्हीं भी परिवर्तन से सम्बन्धित विभिन्न प्रस्ताव, और (घ) तैयार किया गया पचायत का बजट।

ग्राम सभा की किसी भी बैठक मे ऐसे अन्य विषय जिसे पचायत, पंचायत समिति, जिला परिषद, राज्य सरकार या इस निमित्त प्राधिकृत कोई भी अधिकारी रखे जाने की अपेक्षा करे, रखे जायेंगे। ग्राम सभा के सुझावो पर पचायत विचार करेगी। ग्राम सभा की बैठक को सुनिश्चित करने के लिए राजस्थान सरकार ने 17 जून, 1994 को तत्कालीन पचायती राज अधिनियम, 1953 मे संशोधन किया था कि पंचायत समिति की अधिकारिता के क्षेत्र मे बुलाई जाने वाली ग्राम सभा में या तो विकास अधिकारी या उसके द्वारा नाम निर्देशित कोई अधिकारी उपस्थित रहेगा तथा सभा को सफल बनाएगा। इसी प्रावधान को 1944 के अधिनियम मे समाविष्ट कर लिया गया है।

गणपूर्ति

ग्राम सभा की बैठक के लिए गणपूर्ति, सदस्यो की कुल सख्या का दशांश होगी, किन्तु गणपूर्ति के अभाव मे एक बार स्थगित की गई बैठक को दुबारा आहूत करने पर गणपूर्ति की आवश्यकता नही होगी। बैठक का स्थान ग्राम पचायत का कार्यालय या पचायत भवन होता है।

पीठासीन अधिकारी—राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1944, धारा 4 में ग्राम सभा की बैठक के बुलाने एवं अध्यक्षता के सम्बन्ध में पूर्व प्रावधानों को दोहराया गया है, जो निम्न है— ग्राम सभा की बैठक पंचायत के सरपंच, उसकी अनुपस्थिति में उप-सरपंच के द्वारा बुलाई जाएगी और बैठक की अध्यक्षता भी सरपंच, उसकी अनुपस्थिति में उप सरपंच द्वारा की जाएगी। इन दोनों की अनुपस्थिति की दशा में उपस्थित सदस्यों के बहुमत से निर्वाचित किए गए ग्राम सभा के किसी सदस्य के द्वारा की जाएगी।

संकल्प—ग्राम सभा का सम्बन्धित विषयों से सम्बन्धित कोई भी सकल्प बैठक में उपस्थित सदस्यों के बहुमत मे पारित करना होगा। ग्राम पंचायतों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे ग्राम सभा की बैठक में पचायत के कार्यक्रमों और कार्यक्रमो की प्रगति का विवरण प्रस्तुत करें। निर्वाचित ग्राम पंचायत का यह दायित्व है कि वह ग्राम सभा द्वारा व्यक्त विचारों का ध्यान रखे।

1994 के अधिनियम के अनुसार ग्राम सभा की बैठक की तारीख, समय और कार्य सूची आदि की सूचना ग्रामवासियों को 15 दिन पूर्व दी जानी चाहिए। यह सूचना पंचायत क्षेत्र के प्रत्येक ग्राम के प्रमुख स्थानों या लिखित में चिपकायी जानी चाहिए। प्रत्येक ग्राम में ढोल बजाकर बैठक की सूचना प्रसारित करनी चाहिए। ग्राम पंचायत के सभी निर्वाचित अधिकारी, पंचायत सचिव, ग्राम में कार्यरत सरकारी कर्मचारी, अध्यापक, ग्राम सेवक आदि का यह दायित्व है कि वे क्षमतानुसार बैठक की सूचैना का प्रसारण करें।

बैठक की कार्यवाही का अभिलेखन—राजस्थान के पंचायतीराज अधिनियम के नियम यह प्रावधान करते है कि ग्रामसभा की बैठक की कार्यवाही लिखित में अभिलेखन किया जाएगा जो अध्यक्ष द्वारा हस्ताक्षरित होगा। सरपंच इस विवरण को ग्राम पंचायत की आगामी बैठक में प्रस्तुत करेगा। इस नए अधिनियम में यह व्यवस्था की गई है कि सम्बन्धित पंचायत समिति का विकास अधिकारी या उसके द्वारा नाम निर्देशित कोई प्रसार अधिकारी ग्राम सभा की बैठकों में उपस्थित रहेगा और वह ऐसी बैठको के कार्यवृत्तों का, पंचायत के सचिव द्वारा सही-सही अभिलेखन किए जाने के लिए उत्तरदायी होगा। इस व्यवस्था के द्वारा निर्वाचित ग्राम पंचायत पर जनता द्वारा प्रत्यक्ष नियंत्रण की आशा की गई है।

ग्राम सभा के सामान्य विचार-विमर्श के विषय-सादिक अली, पंचायती राज अध्ययन दल की रिपोर्ट, 1964 मे ग्राम सभा की बैठक में सामान्य विनार विमर्श के लिए निम्न विषयों का सुझाव दिया है—

(1) पंचायत का बजट, (2) पंचायत की ऑडिट रिपोर्ट और उसका अनुपालन, (3) पंचायत की योजना, (4) योजना की प्रगति और विकास की विभिन्न प्रवृत्तियो की रिपोर्ट, (5) पंचायत के कामकाज का विवरण, (6) ग्राम सभा के निर्णयों की क्रियान्विति का लेखा-जोखा,

(7) ऋण और सहायता के रूप में ग्राम धनराशि के उपयोग की रिपोर्ट, (8) सहकारी आन्दोलन, सहकारिताओ से सम्बन्ध रखने वाले आम विषय तथा सहकारी समितियो द्वारा सुझाए गए मुद्दो का विवरण, (9) ग्रामीणों के सामान्य हितों के मामले जैसे चरागाह, जलाशय, सार्वजनिक कुएँ आदि (10) ग्राम पाठशाला का कार्य संचालन और (11) महत्त्वपूर्ण सूचनाओ और निर्णयो की जानकारी। इस रिपोर्ट में यह भी सुझाव दिया गया था कि ग्राम सभा की बैठको मे प्रारम्भिक एक घण्टे का समय प्रश्नोत्तर के लिए रखा जाना चाहिए।

ग्राम सभा की अप्रभावी भूमिका : एक मूल्यांकन

भारत सरकार द्वारा 1982 में पचायती राज की संरचना मे ग्राम सभा की भूमिका के अध्ययन के लिए नियुक्त दल का निष्कर्ष है कि जिन राज्यों मे ग्राम सभा का प्रावधान था वहाँ ग्राम सभा प्रभावहीन संस्था सिद्ध हुई है। इसने ग्रामीणो पर कोई प्रभाव नही डाला। राजस्थान मे ग्राम सभा को सक्रिय बनाने के समय-समय पर अनेक प्रयास किए गए लेकिन इसमे कोई सफलता नही मिली। सादिक अली प्रतिवेदन, 1964 का निष्कर्ष यही है कि ग्राम सभा प्रभावशाली संस्था नहीं बन पाई है। इसमें कहा गया है कि बैठकें नियमित रूप से नहीं होती हैं। सामान्यत बैठको मे उपस्थिति अच्छी नहीं होती है तथा अभी तक लोगों मे ग्राम सभा ने आवश्यक उत्पाद और रुचि पैदा नही की है। ग्राम सभा का आयोजन सरकारी पहल से होता है लेकिन ग्रामीणों की उपस्थिति निराशाजनक होती है। महिलाओं की संख्या तो नगण्य ही रहती है।

निष्क्रियता के कारण

सादिक अली प्रतिवेदन में ग्राम सभा की निष्क्रियता के निम्न कारण बताए गए है— (1) उचित प्रचार का अभाव, (2) अनुपयुक्त समय, (3) सरपंच की उदासीनता, (4) कानूनी मान्यता का अभाव, (5) कार्य और कार्यक्षेत्र की अपर्याप्तता, (6) लोगो की निरक्षरता, (7) सचिव सम्बन्धी सहायता का अभाव। 1994 के अधिनियम मे इस कमी को पूरा कर दिया गया है। कुछ अन्य अध्ययनो से पता चला है कि लोगो को जानकारी ही नही है कि ग्राम पचायत के अतिरिक्त ग्राम सभा नामक भी कोई संस्था उनके ग्राम मे है। ऐसा भी पाया गया है कि ग्राम सभा के लिए ग्राम पचायत मे उपयुक्त स्थान का अभाव रहता है जहाँ ग्राम के समस्त वयस्क लोग सुविधाजनक रूप से एकत्र हो सके। सामान्यतया एक ग्राम पचायत मे एक से अधिक गाँव सम्मिलित होते है। पचायत क्षेत्र के अन्य गाँवो के लिए दूरी की असुविधा के कारण उपस्थिति कम रहती है। पचायत के निर्वाचित सदस्य ग्राम सभा के आयोजन मे रुचि नही लेते क्योंकि उनसे सभा मे ग्राम पचायत के कार्यों के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर किए जाते है। इससे बचने के लिए वे ग्राम सभा की उपेक्षा करते है। ग्रामीण जनता ग्राम सभा मे इसलिए रुचि नही लेती क्योंकि सत्ता पक्ष अनावश्यक रूप से छाया रहता है, जनसाधारण को बोलने का अवसर नही दिया जाता। पराजित पक्ष भी ऐसी बैठकों का सामूहिक बहिष्कार करते है।

ग्राम सभा को प्रभावी बनाने के सुझाव

अनेक अध्ययनों से स्पष्ट हो गया है कि पंचायती राज व्यवस्था तथा ग्रामीण विकास को जनतांत्रिक बनाने के लिए ग्राम सभा को सार्थक और प्रभावी बनाना अत्यावश्यक है। इसे प्रभावी, सार्थक तथा सशक्त बनाने के लिए राजस्थान में पंचायती राज पर नियुक्त उच्च स्तरीय गिरधारीलाल व्यास समिति, 1973 ने निम्न सिफारिशें की थीं—

1. प्रत्येक ग्राम पंचायत के क्षेत्र के ग्राम सेवक, ग्रुप सचिव तथा सरपंच के लिए ग्राम सभा मे उपस्थित रहना अनिवार्य कर देना चाहिए। सरपंच द्वारा ग्राम सभा की बैठक आयोजित करना नियमों द्वारा अनिवार्य कर देना चाहिए। ग्राम सभा की बैठक में प्रसार अधिकारी तथा विकास अधिकारियों की उपस्थिति अनिवार्य कर देना चाहिए। राजस्थान मे सुझाव 1994 के अधिनियम द्वारा निर्णायक सीमा तक कार्यान्वित कर दिए गए हैं।
2. वर्तमान मे ग्राम सभा की बैठकें फसल बोने तथा फसल काटने के समय होती है। इसे बदल कर मई-जून तथा दिसम्बर-जनवरी में आयोजित करनी चाहिए।
3. ग्राम सभा की बैठक के परिणामों को सार्थक बनाना चाहिए, इससे जनता की भागीदारी धीरे-धीरे बढ़ेगी। ग्राम सभा के लिए गणपूर्ति निर्धारित नहीं करनी चाहिए।
4. पटवारी ग्रामीण जनता के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कर्मचारी होता है। इसलिए उसकी उपस्थिति ग्राम सभा मे अनिवार्य कर देनी चाहिए।
5. ग्राम सभा की बैठको में लम्बे-चौड़े भाषणो के स्थान पर नागरिको को प्रश्न पूछने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए तथा उनकी जिज्ञासा को सतुष्ट करना चाहिए।
6. ग्राम सभा की बैठकों में दिए गए सुझावों और विचारों को लिखा जाए उन पर ग्राम पंचायत की अगली बैठक में विचार किया जाए तथा जो कार्यवाही की जाए उससे अगली ग्राम सभा की बैठक मे ग्रामवासियों को अवगत कराया जाए।
7. पचायत समिति के पदाधिकारियों तथा ग्राम सेवक को ग्राम सभा की बैठकों में उपस्थित रहना चाहिए तथा दौरे के कार्यक्रम सभा की तिथि में नहीं रखने चाहिए।
8. पंचायत क्षेत्र के विद्यालयों के अध्यापकों के लिए भी ग्राम सभा की बैठकों में भाग लेना अनिवार्य किया जाना चाहिए।
9. तहसीलदार, नायब तहसीलदार, क्षेत्रीय उपखण्ड अधिकारी को भी इन बैठको में यथासभव उपस्थित रहना चाहिए। प्रसार अधिकारी द्वारा किए गए कार्यों का मूल्यांकन एवं विचारविमर्श किया जाना चाहिए।

10. ग्राम सभा की बैठकों को आकर्षक बनाने के लिए बैठकों के समय सिनेमा, कठपुतली का प्रदर्शन, आदि के कार्यक्रम रखने चाहिए।

11. ग्राम सभा ग्राम पचायत मे वैसी ही है जैसे केन्द्रीय सरकार की सरचना में संसद ग्राम सभा की बैठक मे पचायत क्षेत्र की योजना, पाठशालाओ के कार्य, चरागाह, तालाब, कूप, पचायत, बजट आदि विषयों पर विचार विमर्श करना चाहिए।

संविधान के 73 वे संशोधन तथा राजस्थान सरकार ने इस सशोधन अधिनियम के अनुसार विनिर्मित नए पंचायती राज अधिनियम, 1994 में ग्राम सभा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। आशा है अब यह ग्राम सभा एक प्रत्यक्ष लोकतंत्र की सशक्त इकाई के रूप मे कार्य कर सकेगी।

ग्राम-पंचायत

ग्राम-पचायत ग्राम-सभा की कार्यकारिणी है। ग्राम-पचायत के सदस्यों—पचों और सरपंच, का निर्वाचन ग्राम सभा के सदस्य गुप्त मतदान द्वारा करते है। भारत में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण ग्राम पंचायतो तथा ग्राम सभा के माध्यम से ही साकार हुआ है । स्वतत्रता प्राप्ति के बाद भारत मे लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा को बलवन्त राय मेहता समिति की अभिशंसाओं ने गति प्रदान की। राजस्थान में मेहता समिति द्वारा सुझाया गया पंचायती राज का त्रिस्तरीय ढाँचा 1959 में अपनाया गया था परन्तु राजस्थान के ग्रामो में पचायतो का औपचारिक गठन राजस्थान पचायत अधिनियम, 1953 के प्रवर्तन के साथ पहले ही हो गया था। अब हम राजस्थान में ग्राम पचायत द्वारा विभिन्न पहलुओ की विवेचना करेंगे।

राजस्थान में ग्राम पचायत—राजस्थान मे ग्राम पचायत का गठन सर्वप्रथम राजस्थान पंचायत अधिनियम, 1953 के द्वारा हुआ था। इस अधिनियम मे पचायत के सदस्यो को पच, उप सरपच और सरपंच के निर्वाचन एव योग्यताओ का विवरण दिया हुआ था। इस अधिनियम मे पचायत के सहवरित सदस्यों एव सह सदस्यो के सम्बन्ध मे भी आवश्यक प्रावधानो का उल्लेख दिया हुआ था।

73वें संविधान सशोधन में ग्राम पंचायत का प्रावधान—पचायती राज व्यवस्था का उद्देश्य ग्रामों के गरीब और सर्वहारा वर्ग को न्याय दिलाना है। जब केन्द्रीकृत नियोजन अशिक्षित और भोले-भाले ग्रामीणो के साथ एकात्मकता का अनुभव नहीं कर पाता तो उसके कल्याणार्थ पचायती राज व्यवस्था का निर्माण 1959 मे किया गया। पचायती राज को सही रूप मे क्रियान्वित करने मे स्वर्गीय प्रधानमत्री राजीव गाँधी ने महत्त्वपूर्ण पहल की। 22 दिसम्बर, 1992 को लोक सभा ने सविधान मे संशोधन का एक विधेयक पारित किया। राज्य-सभा ने उसे अगले ही दिन पास कर दिया और इसे 24 अप्रैल, 1993 को राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल गई। इस 73 वे संविधान संशोधन अधिनियम के अनुसार पंचायतोंको सभी स्तरो पर वित्तीय और प्रशासनिक अधिकारों के हस्तांतरण को सवैधानिक मान्यता दे दी गई है। हमारे देश की अनुमानत 75 प्रतिशत जनसख्या ग्रामो में निवास करती है। इन

लोगों के सही विकास के लिए त्रिस्तरीय पंचायती प्रणाली स्थापित करने की व्यवस्था है, जिसके अन्तर्गत पंचायतों के लिए हर पाँच वर्ष बाद चुनाव कराना अनिवार्य होगा। सभी राज्यों, केन्द्रशासित प्रदेशों ने पंचायती राज कानून बना लिए हैं, जिन्हे अपने यहाँ लागू करने के लिए वे कृत संकल्प हैं।

इस कानून के लागू होने के बाद हर गाँव की ग्राम-सभा होगी जिसके अधिकार और कर्तव्य राज्य विधान मण्डल तय करेंगे। प्रत्येक राज्य में 'पंचायतें'—ग्राम मध्य और जिला-स्तर पर बनाई जायेंगी। इससे पूरे प्रदेश मे पंचायती राज का ढाँचा समान हो जाएगा। सभी स्तरों पर प्रत्यक्ष मतदान से चुनाव होंगे। हर स्तर पर अनुसूचित जाति-जनजाति के लिए सीटें निर्धारित होंगी। महिलाओं के लिए समुचित आरक्षण की व्यवस्था है। ग्राम पंचायतों को कृषि, भूमि, जल-संरक्षण, पेयजल, स्वास्थ्य, स्वच्छता, परिवार कल्याण, महिला कल्याण, संचार, रोजगार कार्यक्रम, गरीबी-उन्मूलन आदि को अपने हाथ में लेना होगा।

इस प्रकार पंचायती राज व्यवस्था के वर्तमान कानून के अन्तर्गत ग्राम पंचायतों के लिए 30,000 करोड़ रुपये का प्रावधान आठवी पंचवर्षीय योजना में किया गया है और नवीं पंचवर्षीय योजना में यह रकम बढाकर 90,000 करोड रुपये करने का विचार किया जा रहा है।

अंतत ग्रामीणों के भविष्य को सुधारने की दृष्टि से पंचायती राज की पुनर्स्थापना-राजनैतिक सत्ता और आर्थिक विकेन्द्रीकरण का नया अध्याय है जिसमें महात्मा गाँधी के ग्राम-स्वराज के स्वप्न को मूर्त रूप देने की दिशा में एक पहल की गई है।

ग्राम पंचायतों के विकास के लिए सरकार द्वारा किए गए प्रयत्न

ग्रामों के विकास एवं पुनर्निर्माण में ग्राम पंचायतों की महती भूमिका है, अत इनके उन्नयन के लिए सरकार समय-समय पर प्रयासरत रहती है। संविधान में संशोधन करके, उनके नियमों की अनुपालना कराने का कार्य कराती है जिससे ग्रामोत्थान कार्यक्रम को गति मिल सके।

संवैधानिक प्रयास—सन् 1994 में 64वे संविधान सशोधन के रूप में पंचायती राज विधेयक लाया गया, किन्तु वह पारित नहीं हो सका। अभी हाल में पारित संविधान के 73 वें एवं 74वें संशोधनों के अनुसार इन संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। इस सशोधन द्वारा पंचायतो और नगरपालिकाओ के नाम से दो नवीन अध्याय समाविष्ट किए गए तथा इन स्वायत्तशासी संस्थाओं के कार्यक्षेत्र को निर्धारित करने वाली दो नई अनुसूचियाँ जोड़ी गईं, ये संविधान सशोधन अधिनियम 24 अप्रैल, 1993 से जम्मू-कश्मीर को छोड़कर पूरे भारत में लागू हो गए।

(1) सविधान के अनुच्छेद 243 ख मे प्रत्येक राज्य के लिए त्रिस्तरीय पंचायतों के गठन की व्यवस्था की गई है। पंचायत समिति के प्रधान का निर्वाचन पंच-सरपंच द्वारा न होकर, पंचायत समिति ने उन सदस्यों द्वारा किए जाने का प्रावधान किया गया है जो दो-तीन पंचायतों पर सीधे जनता द्वारा एक सदस्य के रूप मे निर्वाचित होकर आयेंगे। जिला स्तर पर भी प्रमुख का चयन वे सदस्य करेंगे जो जिला परिषद् के लिए जनता से सीधे चुनकर आयेंगे।

(2) संविधान के 73 वें और 74 वें संशोधनों में पंचायतों और नगरपालिकाओं के कुल स्थानों में से महिलाओं के लिए एक-तिहाई स्थान आरक्षित किए गए है जिनमें अनुसूचित जाति और जनजाति की महिलाओं के लिए भी स्थान सुरक्षित होंगे।

(3) संविधान के अनुच्छेद '243 ड़' तथा अनुच्छेद '74' द्वारा इन स्वायत्तशासी संस्थाओं का कार्यकाल 5 वर्ष निर्धारित किया गया है।

(4) इन संस्थाओं को सशक्त एवं सुदृढ बनाने के उद्देश्य से संविधान में—ग्यारहवीं एवं बारहवीं—दो नई अनुसूचियाँ जोड़ी गई है। अनुच्छेद '243 छ' तथा अनुच्छेद '243 थ' के द्वारा इनको आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के लिए योजना तैयार करने तथा ग्यारहवीं और बारहवीं अनुसूची में वर्णित विषयों सहित ऐसी योजनाओं को क्रियान्वित करने का अधिकार दिया गया है।

(5) संविधान के अनुच्छेद '243 ज' तथा अनुच्छेद '243 भ' में पंचायतों एवं नगरपालिकाओं को आर्थिक स्वायत्तता देने के लिए प्रावधान किए गए है। अनुच्छेद '243 झ' तथा '243 म' में राज्य-वित्त-आयोग की स्थापना का प्रावधान किया गया है।

(6) अनुच्छेद 'झ' तथा अनुच्छेद 'य' में इन संस्थाओं के लेखों के संधारण एवं अंकेक्षण के बारे में प्रावधान किए गए हैं।

(7) संविधान के 74वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद '243, 21 एवं 243 म' के द्वारा जिला आयोजन समितियों के गठन की व्यवस्था की गई है।

इसके अतिरिक्त राजस्थान के लिए राजस्थान विधान सभा में 9 अप्रैल, 1994 को पंचायती राज विधेयक, 1994 संशोधित रूप में पारित हो गया जिसमें ग्राम पंचायतों, पंचायत समितियों और जिला-परिषदों में महिलाओं, अनुसूचित जाति, जनजाति और पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई है।

उपर्युक्त वर्णित संवैधानिक प्रयासों के अतिरिक्त सरकार द्वारा इनके विकास के लिए निम्नलिखित प्रयत्न किए गए हैं—

(1) ग्राम पंचायत के कार्यकर्ताओं और अधिकारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करना।

(2) ग्राम पंचायत के कार्यों के मूल्यांकन और समस्या को जानकर उनके निवारणार्थ समितियों के गठन की व्यवस्था करना।

(3) ग्राम पंचायतों को आर्थिक सहायता प्रदान करना।

(4) ग्राम पंचायतों को सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय विस्तार सेवा के साथ आबद्ध कर देना, जिससे उनका संचालन सुचारु रूप से हो सके।

(5) ग्राम पंचायतों को न्याय सम्बन्धी कार्य सौंपकर उनके अधिकार क्षेत्र की वृद्धि करना।

इनके साथ ही केन्द्र सरकार ग्राम पंचायतो के सुचारु रूप से संचालन के लिए समय-समय पर राज्य सरकारों को निर्दिष्ट करती रहती है, किन्तु पंचायतो के कार्य-क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप को कम करने का भी प्रयास करती है।

पंचायतों की असफलता के कारण

स्वतंत्रता प्राप्ति के अनन्तर पंचायतों के कार्यों में मंदता आ गई है। अनेक समस्याएँ ऐसी है, जिनके कारण ग्राम पंचायतें अपना कार्य सफलतापूर्वक करने में अक्षम रही हैं। वे समस्याएँ अथवा कारण निम्नलिखित हैं—

(1) शिक्षा का अभाव—ग्रामीणों में शिक्षा का अभाव पाया जाता है और इस कारण से वे अपना हित-अहित भी नहीं समझ पाते। पंचायतो के महत्त्व, उनके द्वारा किए जाने वाले विकास कार्यों के प्रभाव और स्वयं अपनी भूमिका को भी वे नहीं समझ पाते। यह पंचायतो की असफलता का एक महत्त्वपूर्ण कारण है।

(2) जातिवाद एवं साम्प्रदायिकतावाद—पंचायतों में जातिवाद और साम्प्रदायिकतावाद का आधिक्य हो गया है। सशक्त लोग अपने बाहुबल, धन शक्ति, शक्तिशाली जातीय प्रभुत्व के जोर पर पंचायतों पर हावी रहते है और गरीब लोग पंचायतो के चुनावों मे भाग नहीं ले पाते।

(3) गुटबन्दी—ग्रामो में गुटबन्दी की अधिकता होती है। भ्रष्टाचार अकुशलता राजनैतिक हस्तक्षेप, भाई-भतीजावाद और गुटबन्दी ने अपनी जड़ें गहराई में फैला दी हैं जिनके कारण कटुता, सघर्ष और अनेक अनियमितताएँ उभर रही है। लोग दलीय-स्वार्थों की पूर्ति को ही अपना लक्ष्य समझते है। इससे पचायती राज असफलता की ओर अग्रसर हो रहा है।

(4) वित्त का अभाव—पंचायती राज संस्थाओ के पास स्वयं का निजी बजट नहीं है। धनाभाव के कारण पंचायती राज द्वारा किए गए विकास कार्यक्रमो से गाँव की प्रगति नही हो पाती। सरकार के अधिकाश विकास कार्यक्रमो के क्रियान्वयन में पंचायती राज संस्थाओं की भूमिका अनिवार्य होती है किन्तु धन की कमी के कारण विकास-कार्य अधूरे ही रह जाते है।

(5) सत्ता के विकेन्द्रीकरण का अभाव—पंचायतों का कार्य यदि सभी की भागीदारी से हो तो उसमे सफलता मिलने की आशा होती है किन्तु अधिकाश ग्रामीण विकासात्मक कार्य उन व्यक्तियों के द्वारा पूरे किए जाते है जिनके न तो पंचायतो में आस्था होती है और न ही विश्वसनीयता। राज्य सरकारो द्वारा पचायतो को भग कर दिया जाता है। सत्ता का विकेन्द्रीकरण न होकर पंच और सरपंच का पद प्रमुख हो जाता है। समृद्ध आर्थिक और सामाजिक पृष्ठभूमि वाले लोग पंचायतों पर हावी रहते है, जिनमे सेवा जैसी भावना बिल्कुल नहीं होती।

(6) अधिकारियों में परस्पर तनाव—पचायतों में कार्य करने वाले सक्षम अधिकारियों में आपसी वैमनस्य व स्वार्थ के कारण तनाव बना रहता है और वे पचायत के हित के लिए न सोचकर

आपसी संघर्ष में लगे रहते हैं। विधायक और सांसद भी अपने राजनैतिक हितों की पूर्ति के लिए पंचायती राज के अधिकारियों पर दबाव डालते है। इसलिए कार्यकर्ताओं में तनाव बना रहता है।

(7) ग्राम पंचायत की अधिकार-विहीनता—ग्राम पंचायत सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्था होते हुए भी उसके पास प्रशासनिक व वित्तीय अधिकारों का पूर्णतया अभाव है जिसके कारण विकास कार्यों में यह अपनी कोई भूमिका नहीं निभा पाती। इसे बिल्कुल कुंठित बना दिया गया है, इसका कोई उल्लेखनीय स्थान नहीं है। ग्रामसभा का अस्तित्व साल में एक या दो बार बैठकों का आयोजन कर उसे कागजी कार्यवाही बना देने तक ही सीमित है। फलत: ग्रामीण विकास योजनाओं में उसे जनता का सहयोग भी नहीं मिल पाता।

(8) सामंजस्य का अभाव-ग्राम पंचायत और पंचायत समितियों के मध्य कोई सामंजस्य नहीं है—जिला स्तर तक भी समन्वय नहीं दिखाई देता। जिस तरह खण्ड-स्तर पर कार्यकर्ताओं में सामंजस्य हो वैसा ही जिला स्तर के कार्यकर्ताओं में होना चाहिए जिससे विकास से सम्बन्धित कार्यान्वयन सफलतापूर्वक हो सके—चूँकि विकास-खण्ड से जिला स्तर तक सामंजस्य का अभाव रहता है, इस कारण उनके मध्य उपस्थित विवाद पंचायती राज की शक्ति को क्षीण बना देता है।

(9) योग्य कर्मचारियों का अभाव—अशिक्षा और राजनैतिक चेतना के अभाव के कारण पंचायती राज संस्थाओं का संचालन मंद गति से हो रहा है—पंचायतों में चुनाव भी समय पर नहीं होते, कार्यकर्ता इसके लिए प्रयास भी नहीं करते, न ही वे इसके महत्त्व के प्रति सजग है।

(10) योग्य नेतृत्व का अभाव—पंचायतों की असफलता का एक कारण यह भी है कि नेता लोग अपने राजनैतिक एवं व्यक्तिगत हितों की पूर्ति के लिए पंचायत के धन का दुरुपयोग करते है। ग्रामवासियों के कल्याण-कार्यों के स्थान पर वे कुछ लोगों के ही हित के लिए कार्य करते है। ऐसा प्रतीत होता है कि पंचायती राज संस्था देश की राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थितियों के अनुकूल नहीं है। कार्यकर्ताओं को कोई प्रशिक्षण भी नहीं दिया जाता। साथ ही इसके विकास के लिए उचित वातावरण भी नहीं है।

उपर्युक्त कारणों ने पंचायती राज व्यवस्था को निष्क्रिय, दीन-हीन और अप्रभावी बना दिया है। किसी समय में इन पंचायतों की न्याय-प्रक्रिया में पंच-परमेश्वर की दुहाई दी जाती थी आज उसके न्यायिक पक्ष को बिल्कुल ही विस्मृत कर दिया गया है।

पंचायतों को सफल बनाने हेतु कतिपय सुझाव

राजस्थान राज्य विधि आयोग ने न्यायमूर्ति विनोद शंकर दवे की अध्यक्षता में गंभीर चिंतन-मनन के उपरान्त 73वें संशोधन अधिनियम में निर्धारित मानदण्डों के अनुरूप वर्तमान पंचायतों में संशोधन के लिए कतिपय महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए है। इन सुधारों को सभी प्रदेशों की पंचायतों को सफल बनाने के लिए अपनाया जा सकता है। ये महत्त्वपूर्ण सुझाव अग्रलिखित है—

(1) ग्राम-सभा पंचायती राज की आधारशिला है। उसकी दो बैठकों के बीच 6 माह से अधिक का अन्तराल नहीं होना चाहिए।

(2) दो या दो से अधिक गाँवों को मिलाकर किसी पंचायत का गठन किया जाता है, तो सम्पूर्ण गाँव को किसी एक ही पंचायत में सम्मिलित किया जाए। ऐसा न हो कि किसी गाँव का कुछ भाग किसी एक पंचायत में रहे, और कुछ भाग दूसरी पंचायत में।

(3) एक पंचायत के लिए एक सरपंच तथा न्यूनतम 10 व अधिकतम 25 पंच होने चाहिए। सरपंचों का चुनाव सीधे मतदाताओं द्वारा किया जाए, इससे भ्रष्टाचार को बढ़ावा नहीं मिलेगा।

(4) पंचो के चुनाव मे आयु के साथ-साथ साक्षरता का मापदण्ड भी निर्धारित किया जाए। ज्यादा शैक्षिक योग्यता न हो तो भी पढ़ने-लिखने की क्षमता रखने वाला व्यक्ति पच चुना जाए।

(5) महिलाओं को साक्षरता में मापदण्ड में छूट दी जा सकती है किन्तु यदि कोई महिला एक बार पाँच वर्ष तक अथवा उससे अधिक अवधि तक किसी पचायत की पंच रह जाती है तो वह पुन. पंच के लिए तभी प्रत्याशी बन सकेगी जब उस अवधि मे वह कुछ पढना-लिखना सीख जाए।

(6) यदि कोई पंच या सरपंच वर्ष की कुल बैठकों मे से एक-तिहाई बैठकों से अधिक बैठको मे अनुपस्थित रहे तो उसका पद रिक्त समझा जाना चाहिए।

(7) सरपंच के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव के लिए तीन-चौथाई बहुमत के स्थान पर दो-तिहाई बहुमत रखा जाना चाहिए।

(8) न्याय उप-समितियों की व्यवस्था शुरू की जानी चाहिए और पक्षकारों में पारस्परिक प्रेम, स्नेह और बधुत्व की भावना पुन स्थापित करने के लिए राजीनामे के प्रयास किए जाने चाहिए।

(9) न्याय उप-समिति को एक हजार तक के मूल्याकन वाले मामलों की सुनवाई करने के बाद दो हजार तक के मूल्याकन वाले मामलों की सुनवाई का अधिकार देना चाहिए।

(10) न्याय उप-समिति को एक हजार तक के मूल्यांकन वाले मामलों की सुनवाई करने के बाद दो हजार तक के मूल्यांकन वाले मामलों की सुनवाई का अधिकार देना चाहिए।

(11) वादी को ऐसी न्याय समिति मे मामला प्रस्तुत करने का अधिकार दिया जाए जहाँ प्रतिवादी निवास करता हो या कारोबार करता हो।

(12) पचायती राज सस्थाओ को ऋण उपलब्ध कराने के लिए पंचायत राज-वित-निगम स्थापित करना चाहिए।

(13) प्रत्येक जिले मे कम-से-कम एक ऐसे प्रशिक्षण संस्थान की स्थापना की जाए जिससे निरीह व्यक्तियो की सत्ता में भागीदारी सुनिश्चित हो सके।

(14) जनता को पंचायती राज संस्थाओं से सम्बन्धित कानूनों से अवगत कराने के लिए विशेष अभियान चलाना चाहिए जिससे जनता को पचायतों के अधिकार और सीमाओ की जानकारी हो सके।

(15) पचायती राज के विषय मे चिन्तन करने में जनता की सहभागिता सुनिश्चित की जानी चाहिए क्योंकि लोग ही सबसे अधिक अच्छी तरह अपनी समस्याओ व आवश्यकताओ से परिचित रहते है।

इस प्रकार जनता के सहयोग से पंचायती राज एक कारगर भूमिका निभा सकता है।

राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 में ग्राम पंचायत का प्रावधान

राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 मे पचायतो के गठन के लिए कहा गया है कि राज्य सरकार, राजपत्र मे अधिसूचना द्वारा किसी गाँव या गाँवो के किसी समूह को समाविष्ट करने वाले किसी भी अन्य क्षेत्र को पंचायत सर्किल घोषित कर सकेगी, इस रूप मे घोषित किए गए प्रत्येक स्थानीय क्षेत्र के लिए एक पचायत होगी।

पचायत की संरचना-राजस्थान पचायती राज अधिनियम, 1994 मे लिखा है कि पचायत में एक सरपच होगा तथा प्रत्येक वार्ड से प्रत्यक्षत निर्वाचित पच होंगे। प्रत्येक पचायत मे एक सरपच होगा जो सम्पूर्ण पचायत सर्किल के निर्वाचकों द्वारा विहित रीति से सीधा निर्वाचन किया जाएगा। राज्य सरकार ही प्रत्येक पंचायत सर्किल के लिए वार्डो की संख्या निर्धारित करेगी। इस बात का ध्यान रखा जाएगा कि प्रत्येक वार्ड की जनसख्या सम्पूर्ण पंचायत सर्किल मे समान हो। इस अधिनियम के अनुसार तीन हजार तक की जनसंख्या वाले किसी पंचायत समिति मे 9 वार्ड होंगे। जिस पंचायत सर्किल की जनसख्या तीन हजार से अधिक होगी वहाँ तीन हजार से अधिक के प्रत्येक एक हजार या उसके भाग के लिए दो की वृद्धि कर दी जाएगी। इस नवीन पचायती राज अधिनियम के अनुसार ग्राम पचायत मे अब केवल दो कोटि के निर्वाचित प्रतिनिधि होंगे—एक सरपच और उतने पच जितने पचायत मे वार्ड होंगे। 1953 के पचायत अधिनियम के अनुसार ग्राम पचायत मे कतिपय निर्वाचित सदस्य, सहवरित सदस्य, सह सदस्य, उप सरपंच और पच होते थे। अब नवीन संरचना सरल है तथा *पूर्ववर्ती जटिलताओ को समाप्त कर दिया गया है।*

स्थानों का आरक्षण—राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 की धारा 15(11) के अनुसार (क) अनुसूचित जातियों, (ख) अनुसूचित जनजातियो और (ग) पिछड़े वर्गो के लिए प्रत्येक पंचायतीराज संस्था में प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा भरे जाने वाले स्थान आरक्षित किए जाएँगे। इन आरक्षित स्थानों की संख्या उस इकाई में प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा भरे जाने वाले स्थानों की कुल संख्या के साथ या न्यूनतम वही अनुपात होगा जो कि पंचायती राज संस्था क्षेत्र में ऐसे वर्गों की जनसख्या

का उस क्षेत्र की कुल जनसंख्या के साथ हो। ऐसा आरक्षित स्थान, सम्बन्धित संस्था में विभिन्न वार्डों या निर्वाचन क्षेत्र के किए चक्रानुक्रम द्वारा आवंटित किए जा सकेंगे। इस अधिनियम मे यह प्रावधान भी किया गया है कि उपर्युक्त रीति से आरक्षित स्थानों की कुल संख्या के एक-तिहाई स्थान अनुसूचित जातियो, अनुसूचित जनजातियो यथास्थिति, पिछड़े वर्गों की महिलाओं के लिए आरक्षित किए जायेंगे। इस अधिनियम की धारा 15 (3) के अनुसार यह प्रावधान रखा गया है कि प्रत्येक पंचायती राज संस्था में प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा भरे जाने वाले स्थानों की कुल संख्या के एक-तिहाई स्थान जिनमें अनुसूचित जातियों अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गों की महिलाओं के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या सम्मिलित है, महिलाओं के लिए आरक्षित होगे और ऐसे स्थान सम्बन्धित संस्था मे विभिन्न वार्डों या निर्वाचन क्षेत्रों के लिए चक्रानुक्रम द्वारा ऐसी रीति से आवंटित किए जायेगे, जो विहित किए जाये।

सरपंच के पद पर आरक्षण—राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 की धारा 16 मे पंचायत के सरपंच पर या अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियो और पिछड़े वर्गों तथा महिलाओं के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई है। यह आरक्षण इन वर्गों की जनसंख्या तथा राज्य की कुल जनसंख्या के निकटतम अनुपात के अनुसार किया जायेगा। आरक्षित जातियों में से कुल संख्या के एक-तिहाई स्थान महिलाओ के लिए आरक्षित किये जायेंगे और उन्हें विभिन्न पंचायतों मे चक्रानुक्रम द्वारा आवंटित किया जाएगा।

ग्राम पंचायत का कार्यकाल और निर्वाचन—राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994 की धारा 17 (1) ग्राम पंचायत सहित प्रत्येक पंचायतीराज संस्था के लिए 5 वर्ष के कार्यकाल (इससे अधिक नहीं) का निर्धारण करता है। इस धारा की उपधारा (2) के अनुसार पंचायतीराज संस्थाओ के सभी निर्वाचनों के लिए निर्वाचक नामावलियो की तैयारी तथा उनके सचालन का अधीक्षण, निदेशन और नियत्रण एक राज्य निर्वाचन आयोग में निहित करता है।

इस अधिनियम की धारा 22 में निर्वाचन अपराधों, धारा 23 में निर्वाचन परिणामो के सम्यक प्रकाशन, धारा 24 में चुने गये सदस्यों तथा अध्यक्ष के शपथ तथा धारा 25 में उनके कार्यभार सम्भाले जाने सम्बन्धी प्रावधान स्पष्ट किए गए है।

ग्राम पंचायत की बैठकें

ग्राम पचायत की बैठक 15 दिन मे कम से कम एक बार होना आवश्यक है। कोई पंचायत अपने कार्यों के लिए उतनी बार भी कर सकती है जितनी बार आवश्यक हो। साधारण बैठक के लिए सात दिन तथा विशेष बैठक के लिए तीन दिन का नोटिस आवश्यक है। बैठक की सूचना में स्थान, तारीख, समय तथा विचार किए जाने वाले विषयो का वर्णन करते हुए सभी सदस्यो, सम्बद्ध अधिकारियो को भेजा जाना चाहिये। इसे पंचायत के सूचना पट्ट पर भी लगना चाहिए। पचायत के सदस्यो की कुल सख्या के एक-तिहाई द्वारा लिखित आग्रह पर भी बैठक बुलाई जा सकती है।

पंचायत की बैठक की अध्यक्षता सरपंच और उसकी अनुपस्थिति मे उप सरपच तथा दोनो की अनुपस्थिति में उपस्थित सदस्य अपने में से किसी एक को अध्यक्ष चुनेंगे।

ग्राम पंचायत के कार्य और शक्तियाँ

राजस्थान सरकार द्वारा प्रवर्तित पंचायतीराज अधिनियम, 1994 की धारा 50 के अनुसार प्रथम अनुसूची में पचायतों के लिए निम्नलिखित कार्य एव शक्तियाँ निर्धारित की गई हैं—

1. साधारण कार्य—(1) पंचायत क्षेत्र के विकास के लिए वार्षिक योजनाएँ तैयार करना, (2) वार्षिक बजट तैयार करना, (3) प्राकृतिक आपदाओं में सहायता जुटाना, (4) लोक सम्पत्तियों पर के अधिक्रमण हटाना, (5) सामुदायिक कार्यों के लिए स्वैच्छिक श्रम और अभिदान का सगठन, और (6) गाँव (गाँवों) की आवश्यक सांख्यिकी रखना।

2. प्रशासन के क्षेत्र में—(1) परिसरों का संख्याकन, (2) जनगणना करना, (3) पंचायत सर्किल मे कृषि उपज के उत्पादन को बढाने के लिए कार्यक्रम बनाना, (4) ग्रामीण विकास स्कीमों के कार्यान्वयन के लिए आवश्यक प्रदायों और वित्त की अपेक्षा दर्शित करने वाला विवरण तैयार करना, (5) ऐसी प्रणाली के रूप में कार्य करना जिसके माध्यम से केन्द्रीय या राज्य सरकार द्वारा किसी भी प्रयोजन के लिए दी गई सहायता पंचायत सर्किल में पहुँचे, (6) सर्वेक्षण करना, (7) पशु स्टैण्डों, खलिहानो, चरागाहों और सामुदायिक भूमियों पर नियंत्रण, (8) ऐसे मेलों, तीर्थयात्राओ और उत्सवों की, जिनका प्रबन्ध राज्य सरकार या किसी पंचायत समिति द्वारा नहीं किया जाता है, स्थापना रख-रखाव और विनियमन, (9) बेरोजगारी की सांख्यिकी तैयार करना, (10) ऐसी शिकायतों की समुचित प्राधिकारियो को रिपोर्ट करना, जो पंचायत द्वारा दूर नहीं की जा सकती हों, (11) पंचायत अभिलेखों की तैयारी, संधारण और अनुरक्षण करना, (12) जन्म, मृत्यु और विवाहो की ऐसी रीति और ऐसे प्ररूप मे रजिस्ट्रीकरण, जो राज्य सरकार द्वारा इस निमित्त साधारण या विशेष आदेश द्वारा अधिकथित किया जाये, और (13) पचायत सर्किल के भीतर के गाँव के विकास के लिए योजनाएँ तैयार करना।

3. कृषि विस्तार सहित कृषि—(1) कृषि और बागवानी की प्रोन्नति और विकास, (2) बजर भूमियो का विकास, (3) चरागाहो का विकास और रख-रखाव और उनके प्राधिकृत अन्य सक्रमण और उपयोग को रोकना।

4. पशुपालन, डेयरी और कुक्कट पालन—(1) पशुओ, कुक्कटो और अन्य पशुधन की नस्ल का विकास, (2) डेयरी उद्योग, कुक्कट पालन और सूअर-पालन की प्रोन्नति, और (3) चरागाह विकास।

5. मत्स्य पालन—(1) गाँव (गाँवों) मे मत्स्य पालन का विकास करना।

6. सामाजिक और फार्म वानिकी, लघु वन उपज, ईंधन और चारा—(1) गाँव और जिला सड़को के पार्श्वों पर और उसके नियंत्रण के अधीन की अन्य लोक भूमियो पर वृक्षो का रोपण और

परिरक्षण, (2) ईंधन रोपण और चारा विकास, (3) फार्म वानिकी की प्रोन्नति, और (4) सामाजिक वानिकी और कृषिक पौधशालाओं का विकास करना।

7. लघु सिंचाई—(1) 50 एकड़ तक सिंचाई करने वाले जलाशयों का नियंत्रण और रख-रखाव।

8. खादी, ग्राम और कुटीर उद्योग—(1) ग्रामीण और कुटीर उद्योगों को प्रोन्नत करना, और (2) ग्रामीण क्षेत्रों के फायदे के लिए चेतना शिविरों, सेमीनारों और प्रशिक्षण कार्यक्रमों, कृषि और औद्योगिक प्रदर्शनियों का आयोजन करना।

9. ग्रामीण आवासन—(1) अपनी अधिकारिता के भीतर मुक्त आवास स्थलों का आवटन, और (2) आवासों, स्थलों और अन्य निजी तथा लोक सम्पत्तियों से सम्बन्धित अभिलेख रखना।

10. पेयजल—(1) पेयजल कुओं, जलाशयो और तालाबो का निर्माण, मरम्मत और रख-रखाव. (2) जल प्रदूषण का निवारण और नियंत्रण, और (3) हैण्ड पम्पो का रखरखाव और पम्प और जलाशय योजनाएँ बनाना।

11. सड़कें, भवन, पुलियाएँ, पुल, नौघाट, जलमार्ग और अन्य संचार साधन—(1) ग्राम सड़कों, नालियों और पुलियाओं का निर्माण और रख-रखाव, (2) अपने नियंत्रण के अधीन के या सरकार या किसी भी लोक प्राधिकरण द्वारा उसे अन्तरित भवनों का रख-रखाव और, (3) नावों, नौघाटों और जल मार्गों का रखरखाव करना।

12. ग्रामीण विद्युतीकरण, जिसमें लोक मार्गों और अन्य स्थानों पर प्रकाश व्यवस्था करना और उसका रख-रखाव सम्मिलित है।

13. गैर-परम्परागत ऊर्जा स्रोत—(1) गैर-परम्परागत ऊर्जा कार्यक्रमों की प्रोन्नति और रख-रखाव, (2) सामुदायिक गैर-परम्परागत ऊर्जा युक्तियों का, जिसमे गोबर गैस संयत्र सम्मिलित है, रख-रखाव और (3) विकसित चूल्हों और अन्य दक्ष ऊर्जा युक्तियों का प्रचार करना।

14. गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम—(1) अधिकाधिक नियोजन और उत्पादक आस्तियों आदि के सृजन के लिए गरीबी उन्मूलन सम्बन्धी जन चेतना को और उसमें भागीदारी को प्रोन्नत करना, (2) ग्राम सभाओ के माध्यम से विभिन्न कार्यक्रमो के अधीन हिताधिकारियों का चयन, और 3 उपर्युक्त के प्रभावी कार्यान्वयन और अनुवीक्षण मे भाग लेना।

15. शिक्षा प्राथमिक—(1) समग्र साक्षरता कार्यक्रम के लिए लोक चेतना प्रोन्नत करना और ग्राम शिक्षा समितियों में भाग लेना, और (2) प्राथमिक विद्यालयो और उनके प्रबन्ध मे लड़को का और विशेष रूप मे लड़कियो का पूर्ण नामांकन और उपस्थिति सुनिश्चित करना।

16. प्रौढ़ और अनौपचारिक शिक्षा—(1) प्रौढ़ साक्षरता कार्यक्रम को प्रोन्नत करना और उसका अनुवीक्षण करना।

17. पुस्तकालय—(1) ग्राम पुस्तकालय और वाचनालय की व्यवस्था करना।

18. सांस्कृतिक क्रियाकलाप—(1) सामाजिक और सांस्कृतिक क्रियान्वयन को प्रोन्नत करना।

19. बाजार और मेले—(1) मेलो मे (पशु मेलो सहित) और उत्सवो का विनियमन करना।

20. ग्रामीण स्वच्छता—(1) सामान्य स्वच्छता रखना, (2) लोक सड़कों, नालियों, जलाशयो, कुओं और अन्य लोक स्थानो की सफाई, (3) श्मशान और कब्रिस्तान भूमियो का रख-रखाव और विनियमन, (4) ग्रामीण शौचालयो, सुविधा पार्कों, स्नान स्थलो और सोक पिटों इत्यादि का निर्माण और रख-रखाव। (5) अदावाकृत शवो और जीव-जन्तु शवो का निपटारा, और (6) धोने और स्नान के घाटों का प्रबन्ध और नियन्त्रण करना।

21. लोक स्वास्थ्य और परिवार कल्याण—(1) परिवार कल्याण कार्यक्रमो का क्रियान्वयन, (2) महामारी की रोक और उपचार के उपाय, (3) मांस, मछली और अन्य विनश्वर खाद्य पदार्थों के विक्रय का विनियमन, (4) मानव और पशु टीकाकरण के कार्यक्रम में भाग लेना, (5) खाने और मनोरंजन के स्थानों का अनुज्ञापन, (6) आवारा कुत्तो का नाशन, (7) खालो और चमड़ो के संस्करण, चर्मशोधन और रंगाई का विनियमन, और (8) आपराधिक और हानिकारक व्यापारो का विनियमन करना।

22. महिला और बाल विकास—(1) महिला और बाल कल्याण कार्यक्रमो के क्रियान्वयन में भाग लेना, (2) विद्यालय स्वास्थ्य और पोषाहार कार्यक्रमो को प्रोन्नत करना, और (3) आँगनबाड़ी केन्द्रो का पर्यवेक्षण करना।

23. विकलांगों और मंदबुद्धि वालों के कल्याण सहित समाज कल्याण—(1) विकलांगो, मंदबुद्धि वालो और निराश्रितो के कल्याण सहित समाज कल्याण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन मे भाग लेना, और (2) वृद्ध और विधवा पेंशन तथा सामाजिक बीमा योजनाओं मे सहायता करना।

24. कमजोर वर्गों और विशेषतया अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों का कल्याण—(1) अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियो, पिछड़े वर्गों और अन्य कमजोर वर्गों के सम्बन्ध मे जनजागृति को प्रोन्नत करना, और (2) कमजोर वर्गों के कल्याण के लिए विनिर्दिष्ट कार्यक्रमो के कार्यान्वयन मे भाग लेना।

25. लोक वितरण व्यवस्था—(1) आवश्यक वस्तुओ के वितरण के सम्बन्ध मे जन जागृति को प्रोन्नत करना, और (2) लोक वितरण व्यवस्था का अनुवीक्षण करना।

26. सामुदायिक आस्तियों का रख-रखाव—(1) सामुदायिक आस्तियो का रख-रखाव करना तथा 2 अन्य सामुदायिक आस्तियों का परिरक्षण और रख-रखाव करना।

27. धर्मशालाओं और ऐसी ही संस्थाओं का निर्माण और रख-रखाव।

28. पशुशेडों, पोखरों और गाड़ी स्टैण्डों का निर्माण और रख-रखाव।

29. बूचड़खानों का निर्माण और रख-रखाव।

30. लोक उद्यानों, खेल के मैदानों इत्यादि का रख-रखाव।

31. लोक स्थानों में खाद के गड्ढों का विनियमन।

32. शराब की दुकानों का विनियमन।

33. पंचायतों का सामान्य शक्तियाँ

इस अधिनियम के अधीन उसे सौपे, या प्रत्यायोजित किये गये कृत्यों के क्रियान्वयन के लिए आवश्यक या आनुषंगिक सभी कार्य करना, और विशिष्टतया तथा पूर्वगामी शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, उसके अधीन विनिर्दिष्ट की गई सभी शक्तियों का प्रयोग करना।

राज्य सरकार का नियंत्रण—राजस्थान के नवीनतम अधिनियम 1994 की धारा 92 से लेकर धारा 115 द्वारा राज्य सरकार, पंचायत सहित सभी पंचायतीराज संस्थाओ के प्रशासन सम्बन्धी समस्त विषयो मुख्य नियत्रक प्राधिकारी होगी और किसी पचायतीराज संस्था और उसकी स्थायी समिति द्वारा पारित सकल्प या आदेश को लिखित आदेश द्वारा रद्द कर सकेगी। इन धाराओं मे मुख्यत 1994 के अधिनियम द्वारा प्रदत्त शक्तियों का दुरुपयोग, शक्तियों के निष्पादन से मानव जीवन, व्यक्ति के स्वास्थ्य सुरक्षा या सम्पत्ति को खतरा होने की संभावना, या शाति भंग होने की सभावना, अधिनियम द्वारा अधिरोपित किसी कृत्य के पालन मे पक्षपात की दोषी हो, या सक्षम नहीं है, राज्य सरकार उचित कार्यवाही कर सकती है। राज्य सरकार किसी पंचायतीराज सस्था के स्थानों की सख्या मे भी परिवर्तन कर सकती है।

स्थानीय वित्त आयोग तथा निर्वाचन आयोग का गठन—राजस्थान सरकार ने 73वे सविधान सशोधन अधिनियम के प्रावधानो के अनुसरण में स्थानीय निकायों की वित्तीय स्थिति को सुदृढ़ बनाने एव स्थानीय निकायो द्वारा लगाए जाने वाले करों के सम्बन्ध में राय देने तथा राज्य सरकार के वित्तीय स्रोतों मे से स्थानीय संस्थाओं को दिए जाने वाली सहायता के आधार सुझाने हेतु पूर्व मत्री व पूर्व सासद कृष्ण कुमार गोयल की अध्यक्षता मे 1994 के प्रारम्भ मे प्रथम स्थानीय वित्त आयोग का गठन कर दिया गया है।

निष्कर्ष—यह कहा जा सकता है कि 73वे सविधान संशोधन के परिणामस्वरूप राजस्थान राज्य सरकार के पचायती राज अधिनियम, 1994 के जारी करने से ग्राम स्तर पर ग्राम-सभा और ग्राम पंचायत की सरचना और कार्यों मे व्यापक परिवर्तन आ गए है।

पंचायत समिति

बलवत राय मेहता समिति ने ग्रामीण विकास के लिए त्रिस्तरीय संरचना का सुझाव दिया था। *ग्राम के स्तर पर ग्राम पंचायत, तहसील अथवा खण्ड स्तर पर पचायत समिति और जिले के* स्तर पर जिला परिषद का गठन किया जाता है। कई ग्राम पंचायत मिलकर पचायत समिति का गठन करती है और कई पंचायत समिति मिलकर जिला परिषद का गठन करती हैं। इस समय सम्पूर्ण देश के विभिन्न *राज्यों में लगभग 4500 पंचायत समितियाँ कार्यरत है।*

मेहता समिति के सुझाव के अनुसार पचायती राज के प्रवर्तन के पश्चात ग्रामीण विकास को गतिशील बनाने की दृष्टि से प्रत्येक जिले को कुछ विकास खण्डों मे विभाजित किया गया। इसी विकास खण्ड को पचायत समिति कहा गया। यह विकास खण्ड इकाई तहसील नामक राजस्व इकाई के भौगोलिक क्षेत्र से मिलती-जुलती है। इनका क्षेत्राधिकार और भौगोलिक क्षेत्र भिन्न है। तहसील राजस्व कार्य करती है। वही विकास खण्ड नागरिकों का बहुमुखी विकास के लिए नियोजन और योजनाओं को कार्यान्वित करने की एजेन्सी है।

73 वे सविधान सशोधन अधिनियम के द्वारा सभी राज्यो मे पंचायत समिति मे एकरूपता आ गई है। पूर्व मे इसमे एकरूपता नहीं थी। सविधान संशोधन अधिनियम के पूर्व सभी राज्यो में इसकी सरचना में निर्वाचित, पदेन, सहयोगी और सहयोजित सदस्य सम्मिलित किए जाते थे। पंचायत समिति के कार्यकरण में राज्य की अनुसूचित जातियो, जनजातियों तथा पिछड़ी जातियो एवं उनकी महिलाओं को पचायत समिति मे प्रतिनिधित्व देने के लिए उनका सहवरण का प्रावधान था। कुछ राज्यो मे पंचायत समिति क्षेत्र की सहकारी समितियो तथा सार्वजनिक जीवन, लोक-प्रशासन तथा ग्रामीण विकास का अनुभव रखने वाले व्यक्तियों को भी पचायत समिति मे प्रतिनिधित्व देकर उनके विशेष ज्ञान का जनहित में लाभ उठाने का प्रावधान किया गया था।

अब 73 वे सविधान सशोधन अधिनियम के 1993 मे प्रवर्तन के बाद भारत के सभी राज्यो में पचायत समिति की सरचना मे परिवर्तन करके एकरूपता स्थापित की गई है।

राजस्थान में पंचायत समिति की संरचना

पहले राजस्थान में पचायत समिति की सरचना राज्य के 1959 के अधिनियम पर आधारित थी। इस अधिनियम के अनुसार पचायत समिति मे उस क्षेत्र की सभी पचायतो के सरपच, पचायत समिति क्षेत्र से निर्वाचित विधान सभा के सदस्य और सम्बन्धित उपखण्ड अधिकारी (एस डी ओ.) पदेन सदस्य होते थे। इनके अतिरिक्त कतिपय निर्वाचित सदस्यो, सहयोजित व सहवरित सदस्यों एव सह सदस्यों की सदस्यता का भी प्रावधान था।

अब राजस्थान पचायती राज अधिनियम, 1994 के द्वारा इसमे 73वे सशोधन के अनुसार परिवर्तन कर *दिया गया है तथा इसकी संरचना अग्र प्रकार होगी—*

अब पंचायत समिति में उसके अधिकारिता के क्षेत्र में आने वाली पंचायतों के सरपंच पदेन सदस्य नहीं होंगे अपितु सम्पूर्ण पंचायत समिति क्षेत्र को कतिपय निर्वाचन क्षेत्रों में विभक्त किया जाएगा और उन निर्वाचन क्षेत्रों से प्रत्यक्ष रूप से सदस्य चुने जायेंगे और वे अपने-अपने क्षेत्र का पंचायन समिति में प्रतिनिधित्व करेंगे। इस अधिनियम में यह प्रावधान भी है कि एक लाख तक की जनसंख्या वाली पंचायत समिति के क्षेत्र में प्रत्यक्षत. निर्वाचन के लिए 15 निर्वाचन क्षेत्र बनाए जायेंगे और जिस पंचायत समिति की जनसंख्या एक लाख से अधिक हो, प्रत्येक 15 हजार या उसके भाग के लिए 15 की उक्त न्यूनतम संख्या में 2 की वृद्धि की जायेगी। पंचायत समिति की उपर्युक्त संरचना में प्रत्यक्षत चुने जाने वाले सदस्यो के लिए आरक्षण की व्यवस्था सम्बन्धी प्रावधानों का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।

कार्यकाल और निर्वाचन—राज्यों की सरकारें विभिन्न पंचायती राज संस्थाओं के चुनाव या तो समय पर नहीं करवाती थीं या निर्वाचित निकायों को समय से पूर्व भंग कर देती थीं। केन्द्रीय सरकार के लिए यह गम्भीर चिन्ता का विषय था। इसको नियंत्रित और व्यवस्थित करने के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा 73 वे सविधान संशोधन मे यह प्रावधान कर दिया गया कि प्रत्येक स्तर पर पचायती राज संस्था का कार्यकाल 5 वर्ष होगा तथा संस्थाओं का निर्धारित कार्यकाल समाप्त होने के पूर्व ही उसके नए चुनाव करवाए जाने चाहिए। इस प्रावधान का अनुसरण करते हुए राजस्थान सरकार ने अपने नवीन पचायती राज अधिनियम, 1994 मे यही व्यवस्था कर दी है।

पंचायत समिति के पदाधिकारी—पंचायत समिति में ग्राम पंचायत से सीधे चुने गए प्रतिनिधियो के अतिरिक्त प्रधान, उप-प्रधान, विकास अधिकारी और प्रसार अधिकारी प्रमुख पदाधिकारी होते है जो पंचायत समिति का कार्य संचालन करते हैं। प्रधान और उप-प्रधान पंचायत समिति मे जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं जबकि विकास अधिकारी एवं अन्य प्रसार अधिकारी राज्य की नियमित लोक सेवा के अग होते है।

पंचायत समिति की बैठकें, गणपूर्ति और प्रक्रिया—राजस्थान मे 1994 के अधिनियमानुसार पचायत समिति एक माह में कम से कम एक बार बैठक आयोजित करेगी। पचायत समिति के कुल सदस्यो के एक-तिहाई सदस्यों के निवेदन पर 15 दिन के अन्दर प्रधान को बैठक बुलानी होगी। सामान्य बैठक के लिए 10 दिन तथा विशेष बैठक के लिए 7 दिन का नोटिस देना आवश्यक है। नोटिस में बैठक का समय, स्थान, दिन तथा विचार किए जाने वाले विषयों को स्पष्ट करना आवश्यक है।

किसी भी पचायती राज संस्था की बैठक के लिए एक-तिहाई सदस्यो की उपस्थिति आवश्यक है। निश्चित समय पर गणपूर्ति न होने पर बैठक का अध्यक्ष 30 मिनिट तक प्रतीक्षा करेगा और इसके उपरान्त भी गणपूर्ति अर्थात् एक-तिहाई सदस्य नही होते है तो अगले दिन या निश्चित किए गए भावी दिन तक के लिए स्थगित कर देगा। अगली बैठक में गणपूर्ति होती है या नही, विचार नहीं किया जाएगा। अर्थात् इस बैठक में गणपूर्ति होना आवश्यक नहीं है।

सम्बन्धित पचायती राज सस्था की बैठक की अध्यक्षता उस संस्था का अध्यक्ष या उसकी अनुपस्थिति मे उपाध्यक्ष के द्वारा की जाएगी। दोनों की अनुपस्थिति में उपस्थित सदस्य अपने में से किसी एक को अध्यक्षता के लिए चुनेंगे। बैठक मे सभी प्रश्नों, विषयो आदि का निर्णय बहुमत से किया जाएगा। पक्ष और विपक्ष के मत समान होने पर निर्णायक भी मत दे सकता है।

पंचायत समिति के कार्य एवं शक्तियाँ—ग्रामीण क्षेत्रों में पचायत समिति को विकास कार्यक्रमो को कार्यान्वित करने का दायित्व दिया गया है। 1994 की अधिनियम की द्वितीय अनुसूचि में राज्य की पंचायत समितियों द्वारा किए जाने वाले कार्यों एवं शक्तियों का विवरण दिया गया वो निम्न है—

1. साधारण कृत्य—(1) अधिनियम के आधार पर सौंपे गये और सरकार या जिला परिषद द्वारा समनुदेशित कार्यक्रमों के सम्बन्ध में वार्षिक योजनाएँ तैयार करना और उन्हें जिला योजना के साथ एकीकृत करने के लिए विहित समय के भीतर जिला परिषद को प्रस्तुत करना, (2) पंचायत समिति क्षेत्र मे की सभी पंचायतों की वार्षिक योजनाओं पर विचार करना और उन्हें समेकित करना और जिला परिषद को समेकित योजना प्रस्तुत करना, (3) पंचायत समिति का वार्षिक बजट तैयार करना, (4) ऐसे कृत्यों का पालन और ऐसे कार्यों का निष्पादन करना जो उसे सरकार या जिला परिषद द्वारा सौंपे जायें, और (5) प्राकृतिक आपदाओं में सहायता उपलब्ध कराना।

2. कृषि विस्तार को सम्मिलित करते हुए कृषि—(1) कृषि और बागवानी की प्रोन्नति और विकास करना, (2) बागवानी पौधशालाओं का रख-रखाव करना, (3) रजिस्ट्रीकृत बीज उगाने वालो को बीजो के वितरण में सहायता करना, (4) खादों और उर्वरकों को लोकप्रिय बनाना और उनका वितरण करना, (5) खेती के समुन्नत तरीकों का प्रचार करना, (6) पौध संरक्षण, राज्य सरकार की नीति के अनुसार नकदी फसलों का विकास करना, (7) सब्जियों, फलो और फूलों की खेती को प्रोन्नत करना, (8) कृषि के विकास के लिए साख सुविधाएँ उपलब्ध कराने मे सहायता करना, और (9) कृषकों का प्रशिक्षण और प्रसार क्रियाकलाप करना।

3. भूमि सुधार और मृदा संरक्षण—सरकार के भूमि सुधार और मृदा संरक्षण कार्यक्रमों के कार्यान्वयन में सरकार और जिला परिषद की सहायता करना।

4. लघु सिंचाई, जल-प्रबन्ध और जल-विभाजक विकास—(1) लघु सिचाई कार्यों, एनिक्टों, लिफ्ट सिंचाई, सिंचाई कुओं, बाँधों, कच्चे बँधों का निर्माण और रख-रखाव, और (2) सामुदायिक और वैयक्तिक सिचाई कार्यों का कार्यान्वयन।

5. गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम—गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमो, विशेषत एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम, ग्रामीण युवा स्वरोजगार प्रशिक्षण, मरु विकास कार्यक्रम, सूखा सभाव्य क्षेत्र कार्यक्रम, जनजाति क्षेत्र विकास, परावर्तित क्षेत्र विकास उपागमन, अनुसूचित जाति विकास निगम कार्यक्रमो आदि का आयोजन और कार्यान्वयन करना।

6. पशुपालन, डेयरी और कुक्कट पालन—(1) पशु चिकित्सा और पशुपालन सेवाओं का निरीक्षण और रख-रखाव, (2) पशु, कुक्कुट और अन्य पशुधन की नस्ल को सुधार करना, (3) डेयरी उद्योग, कुक्कट पालन और सूअर पालन की प्रोन्नति, (4) महामारी और सांसर्गिक बीमारियों की रोकथाम, और (5) समुन्नत चारे और दाने का पुन स्थापना करना।

7. मत्स्य पालन—मत्स्य पालन विकास को प्रोन्नत करना।

8. खादी, ग्राम और कुटीर उद्योग—(1) ग्रामीण और कुटीर उद्योगों को प्रोन्नत करना, (2) सम्मेलनों, गोष्ठियो और प्रशिक्षण कार्यक्रमो, कृषि और औद्योगिक प्रदर्शनियों का आयोजन करना, (3) मास्टर शिल्पी से, और तकनीकी प्रशिक्षण संस्थाओ मे, बेरोजगारी ग्रामीण युवाओं का प्रशिक्षण और, (4) बढ़ी हुई उत्पादकता लेने के आधुनिक वैज्ञानिक तरीको का लोकप्रिय बनाना।

9. ग्रामीण आवासन—आवासन योजनाओं का कार्यान्वयन और आवास उधार किस्तों की वसूली करना।

10. पेयजल—(1) हैण्डपम्पो और पंचायतों की पम्प और जलाशय योजनाओं की देखरेख करना, उनकी मरम्मत और रखरखाव, (2) ग्रामीण जल प्रदाय योजनाओं का रख-रखाव, (3) जल प्रदूषण का निवारण और नियंत्रण और (4) ग्रामीण स्वच्छता कार्यक्रमों का कार्यान्वयन करना।

11. सामाजिक और फार्म वानिकी, ईंधन और चारा—(1) अपने नियंत्रण के अधीन की सड़को के पार्श्वों और अन्य लोक भूमियों पर, विशेषत चरागाह भूमियो पर वृक्षो का रोपण और परिरक्षण, (2) ईंधन रोपण और चारा विकास, (3) फार्म वानिकी की प्रोन्नति और, (4) बंजर भूमि का विकास करना।

12. सड़कें, भवन, पुलियाएँ, पुल, नौघाट, जलमार्ग और अन्य संचार साधन—(1) ऐसी लोक सड़को, नालियो, पुलियाओ और अन्य संचार साधनों का, जो किसी भी अन्य स्थानीय प्राधिकरण या सरकार के नियत्रण के अधीन नही है, निर्माण और रख-रखाव, (2) पचायत समिति मे निहित किसी भी भवन या अन्य सम्पत्ति का रख-रखाव, और (3) नावो, नौघाटो और जल मार्गों का रख-रखाव करना।

13. गैर-परम्परागत ऊर्जा स्रोत—गैर-परम्परागत ऊर्जा स्रोतों विशेषत सौर प्रकाश और ऐसी ही अन्य युक्तियो की प्रोन्नति और रख रखाव करना।

14. प्राथमिक विद्यालयों सहित शिक्षा—(1) सम्पूर्ण साक्षरता कार्यक्रमो को सम्मिलित करते हुए प्राथमिक शिक्षा, विशेषत बालिका शिक्षा, का संचालन, (2) प्राथमिक विद्यालय भवनों और अध्यापक आवासो का निर्माण, मरम्मत और रख-रखाव, (3) युवा क्लबों और महिला मण्डलों के माध्यम से सामाजिक शिक्षा की प्रोन्नति, और (4) अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति/

अन्य पिछडे वर्गों के गरीब विद्यार्थियों को पाठ्य पुस्तकों, छात्रवृत्तियों, पोशाकों और अन्य प्रोत्साहनो का वितरण करना।

15. तकनीकी प्रशिक्षण और व्यावसायिक शिक्षा—ग्रामीण शिल्पी और व्यावसायिक प्रशिक्षण की प्रोन्नति करना।

16. प्रौढ़ और अनौपचारिक शिक्षा—(1) सूचना, सामुदायिक मनोरजन केन्द्रों और पुस्तकालयो की स्थापना, और (2) प्रौढ साक्षरता का क्रियान्वयन करना।

17. सांस्कृतिक क्रियाकलाप—सामाजिक और सांस्कृतिक क्रियाकलापों, प्रदर्शनियों, प्रकाशनों की प्रोन्नति करना।

18. बाजार और मेले—पशु मेलों सहित मेलो और उत्सवों का विनियमन करना।

19. स्वास्थ्य और परिवार कल्याण—(1) स्वास्थ्य और परिवार कल्याण कार्यक्रम का क्रियान्वयन, (2) प्रतिरक्षीकरण और टीकाकरण कार्यक्रमों की देखरेख करना, (3) मेलों और उत्सवों पर स्वास्थ्य और स्वच्छता, और (4) औषधालयो (एलोपैथिक और आयुर्वेदिक, यूनानी, होम्योपैथिक) सामुदायिक और प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों, उप केन्द्रो आदि का निरीक्षण और नियंत्रण करना।

20. महिला और बाल विकास—(1) महिला और बाल विकास से सम्बन्धित कार्यक्रमों का क्रियान्वयन, (2) एकीकृत बाल विकास योजनाओं के माध्यम से विद्यालय स्वास्थ्य और पोषाहार कार्यक्रमो का कार्यान्वयन, (3) महिला और बाल विकास कार्यक्रमो मे स्वैच्छिक संगठनों के भाग लेने को प्रोन्नत करना, (4) आर्थिक विकास के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल विकास समूह बनाना और सामग्री के उपापन तथा विपणन में सहायता करना।

21. विकलांगों और मंदबुद्धि वालों के कल्याण सहित कल्याण—(1) विकलांगों, मंदबुद्धि वालो और निराश्रितों के कल्याण सहित समाज कल्याण कार्यक्रम करना, और (2) वृद्ध और विधवा पेंशन और विकलांग पेंशन मंजूर करना।

22. कमजोर वर्गों और विशिष्टत: अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गों का कल्याण—(1) अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, पिछड़े वर्गों और अन्य कमजोर वर्गों के कल्याण की प्रोन्नति करना, और (2) ऐसी जातियो और वर्गों का सामाजिक अन्याय और शोषण से सरक्षा करना।

23. सामुदायिक आस्तियों का रख-रखाव—(1) अपने मे निहित या सरकार द्वारा या किसी भी स्थानीय प्राधिकरण या संगठन द्वारा अन्तरित सभी सामुदायिक आस्तियो का रख-रखाव करना और (2) अन्य सामुदायिक आस्तियों का परिरक्षण और रखरखाव करना।

24. सांख्यिकी—ऐसी सांख्यिकी का संग्रहण और संकलन जो पंचायत समिति, जिला परिषद या राज्य सरकार द्वारा आवश्यक पायी जाये।

25. आघात सहायता—अग्नि, बाढ़, महामारी या अन्य व्यापक आपदाओं के मामले मे सहायता करना।

26. सहकारिता—सहकारी गतिविधियों को, सहकारी समितियों की स्थापना और सुदृढ़ीकरण मे सहायता करके प्रोन्नत करना।

27. पुस्तकालय—पुस्तकालयो की प्रोन्नति करना।

28. पंचायतों का उनके सभी क्रियाकलापों और गाँव और पंचायत योजनाओं के निर्माण में पर्यवेक्षण और मार्गदर्शन।

29. प्रकीर्ण—(1) अन्य बचतों और बीमा के माध्यम से मितव्ययिता को प्रोत्साहित करना, और (2) पशु बीमा सहित दुर्घटना, अग्नि, मृत्यु आदि के मामलों मे सामाजिक बीमा दावे तैयार करने और उनके संदाय में सहायता करना।

30. पंचायत समितियों की साधारण शक्तियाँ—इस अधिनियम के अधीन सौंपे गये, समनुदिष्ट या प्रत्यायोजित किये गये कृत्यो के क्रियान्वयन के लिए आवश्यक या आनुषंगिक सभी कार्य करना और विशिष्टतया और पूर्वगामी शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना इसके अधीन विनिर्दिष्ट की गयी सभी शक्तियों का प्रयोग करना।

जिला परिषद

बी आर मेहता ने लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की जो त्रि-स्तरीय योजना का सुझाव दिया था उसमे जिला परिषद सर्वोच्च इकाई थी। मेहता समिति ने खण्ड स्तर पर स्थापित पंचायत समिति को महत्वपूर्ण स्थान दिया था। इसीलिए इस समिति ने जिला स्तर पर किसी प्रभावशाली संस्था की आवश्यकता नही समझी। समिति की यह भी मान्यता थी कि यदि दोनो स्तरों (खण्ड एव जिला) पर प्रभावशाली सस्थाएँ स्थापित कर दी गईं तो उनमे परस्पर टकराव, सघर्ष, खिचाव एवं तनाव की सम्भावनाएँ बढ़ जायेगी। इसीलिए इस मेहता समिति ने जिला स्तर पर जिला परिषद को एक प्रभावहीन एव केवल पर्यवेक्षकीय इकाई के रूप में रखने का सुझाव दिया। इस समिति ने इस लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की सर्वोच्च सस्था 'जिला-परिषद' को मौलिक कार्यक्षेत्र एवं महत्वपूर्ण दायित्व सौपने के स्थान पर इसे अपने अधीन गठित की जाने वाली पंचायत समितियो, एवं उनके क्षेत्रो की ग्राम पचायतो के निदेशन, पर्यवेक्षण, नियत्रण एव समन्वय स्थापित करने का कार्य ही दिया था। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, 'जिला-परिषद' जिला स्तर पर गठित एक ऐसी सस्था एवं संगठन है जो स्वतत्रता प्राप्ति के बाद मे जिलो मे विकास की योजनाओ और कार्यक्रमों के निष्पादन करने मे पर्यवेक्षक की भूमिका कुशलतापूर्वक कर रहा है। राष्ट्रीय विकास परिषद ने यह बात राज्यो

1. *अधिनियम की धारा 14 की उपधारा 2 के अधीन विनियमित किए गए प्रादेशिक निर्वाचन* क्षेत्रों से प्रत्यक्ष निर्वाचित सदस्य,
2. ऐसे निर्वाचन का प्रतिनिधित्व करने वाले लोकसभा और राज्य विधानसभा के सभी सदस्य, जिनमें जिला परिषद क्षेत्र सम्पूर्णत या भागत. समाविष्ट हो, और
3. जिला परिषद क्षेत्र के निर्वाचकों के रूप में रजिस्ट्रीकृत राज्यसभा के सभी सदस्य।

खण्ड 'ख' और 'ग' में निदिष्ट सदस्यों पिछड़े वर्गों के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में *स्थान आरक्षित किए जाएँगे। इन प्रत्येक वर्ग में किए गए आरक्षित स्थानों* में महिलाओं के लिए एक-तिहाई स्थान आरक्षित किए जायेंगे।

जिला परिषद का कार्यकाल एवं निर्वाचन—अन्य पंचायती राज संस्थाओं की भाँति जिला परिषद का कार्यकाल भी पाँच वर्ष का होगा। राज्य के निर्वाचन आयोग पर इनके चुनाव कराने का दायित्व रखा गया है। राज्य निर्वाचन आयोग के पर्यवेक्षक के अधीन विहित रीति से निर्वाचन के लिए निर्वाचक नामावलियों को तैयार करवाया जायेगा।

जिला परिषद की बैठकें, गणपूर्ति

(1) बैठकें—जिला परिषद प्रत्येक त्रिमास मे कम-से-कम एक बैठक करेगी। यह बैठक पूर्ववर्ती बैठक मे निश्चित किए गए स्थान और समय में होगी। बैठक का स्थान जिला परिषद की स्थानीय सीमा में रखा जाएगा। लेकिन किसी नवगठित जिला परिषद की प्रथम बैठक जिला परिषद मुख्यालय पर होगी जिसका समय और स्थान जिला परिषद के मुख्य कार्यपालक अधिकारी द्वारा निश्चित किया जायेगा। इस प्रथम बैठक की अध्यक्षता भी मुख्य कार्यपालक अधिकारी द्वारा की जाएगी। प्रमुख जब उचित समझे बैठक बुला सकता है। जिला परिषद के एक तिहाई सदस्यों की लिखित माँग किए जाने पर प्रमुख 10 दिन के अन्दर बैठक आयोजित करेगा।

(2) गणपूर्ति—किसी भी पचायतीराज सस्था जिसमे जिला परिषद भी सम्मिलित है, की बैठक में *गणपूर्ति के लिए एक-तिहाई सदस्यो की उपस्थिति आवश्यक है। अध्यक्षता करने वाले* अधिकारी बैठक की गणपूर्ति नहीं होने पर निश्चित समय से आधे घण्टे तक इन्तजार करने के बाद बैठक को स्थगित करेगा तथा अगली बैठक का दिन एव समय निश्चित करेगा। ऐसी बैठक का नोटिस जिला परिषद के कार्यालय पर चिपका दिया जायेगा तथा गणपूर्ति पर विचार नही किया जायेगा।

जिला परिषद की बैठक की अध्यक्षता प्रमुख और उसकी अनुपस्थिति में उप-प्रमुख द्वारा की जाएगी। दोनों की अनुपस्थिति में उपस्थित सदस्य अपने में से किसी एक को अध्यक्षता करने के लिए चुनेंगे। यह चुना हुआ व्यक्ति हिन्दी पढ़ने और लिखने में समर्थ होना चाहिए।

जिला परिषद के कार्य एवं शक्तियाँ—राजस्थान राज्य के नवीनतम अधिनियम में जिला परिषद के अग्र कार्य एव शक्तियो का प्रावधान रखा है—

1. साधारण कृत्य—जिले के आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के लिए योजनाएँ तैयार करना, और ऐसी योजनाओं का, अगली मदों में प्रगणित विषयों सहित विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में समन्वित क्रियान्वयन सुनिश्चित करना।

2. कृषि—(1) कृषि उत्पादन मे वृद्धि करने के और समुन्नत कृषि उपकरणों के उपयोग और विकसित कृषि पद्धतियों के अंगीकरण को लोकप्रिय बनाने के उपायो को प्रोन्नत करना, (2) कृषि मेलों और प्रदर्शनियों का सचालन करना, (3) कृषको को प्रशिक्षण दिलवाना, एव (4) भूमि सुधार और भूमि संरक्षण करना।

3. लघु सिंचाई, भू-जल स्रोत और जल-विभाजक विकास—(1) 'ग' और 'घ' वर्ग के 2500 एकड तक के लघु सिंचाई संकर्मों और लिफ्ट सिचाई संकर्मों का सन्निर्माण, नवीकरण और रख-रखाव करना, (2) जिला परिषद के नियत्रणाधीन सिंचाई योजनाओ के अधीन जल के समय पर और समान वितरण और पूर्ण उपयोग तथा राजस्व वसूली के लिए उपबन्ध करना, (3) भू-जल स्रोतों का विकास, (4) सामुदायिक पम्प सैट लगाना, और (5) जल-विभाजक विकास कार्यक्रम को पूर्ण करना।

4. बागवानी—(1) ग्रामीण पार्क और उद्यान, और (2) फलों और सब्जियों की खेती करवाना।

5. सांख्यिकी—(1) पंचायत समितियो और जिला परिषद के क्रियाकलापों से सम्बन्धित सांख्यिकीय और अन्य सूचना का प्रकाशन, (2) पंचायत समितियो और जिला परिषद के क्रियाकलापों के लिए अपेक्षित आँकडों और अन्य सूचना का समन्वय और उपयोग, और (3) पचायत समितियो और जिला परिषद को सौंपी गयी परियोजनाओं और कार्यक्रमों का सावधिक पर्यवेक्षण और मूल्यांकन करना।

6. ग्रामीण विद्युतीकरण—(1) ग्रामीण विद्युतीकरण की प्रगति का मूल्याकन करना, और (2) कनेक्शन, विशेषरूप से विद्युत कनेक्शन, कुटीर ज्योति और अन्य कनेक्शन करवाना।

7. मृदा संरक्षण—(1) मृदा संरक्षण कार्य, और (2) मृदा विकास कार्य करना।

8. सामाजिक वानिकी—(1) सामाजिक और फार्म वानिकी, बागान और चारा विकास को प्रोन्नत करना, (2) बंजर भूमि का विकास, (3) वृक्षारोपण के लिए आयोजन करना और अभियान चलाना तथा कृषिक पौधशालाओं को प्रोत्साहन, (4) वन भूमियों को छोडकर, वृक्षों का रोपण और रखरखाव, और (5) राजमार्गों और मुख्य जिला सडको को छोडकर, सडक के किनारे-किनारे वृक्षारोपण करना।

9. पशुपालन और डेयरी—(1) जिला और रैफरल अस्पतालो को छोड़कर, पशु चिकित्सालयो की स्थापना और रखरखाव, (2) चारा विकास कार्यक्रम, (3) डेयरी उद्योग, कुक्कट

पालन और सुअर पालन को प्रोन्नत करना और (4) महामारी और सांसर्गिक रोगो की रोकथाम करना।

10. मत्स्य पालन— (1) मत्स्य पालक विकास एजेन्सी के समस्त कार्यक्रम, (2) निजी और सामुदायिक जलाशयों के मत्स्य संवर्धन का विकास, (3) पारम्परिक मत्स्यापन में सहायता करना, (4) मत्स्य विपणन सहकारी समितियों का गठन करना, और (5) मछुआरो के उत्थान और विकास के लिए कल्याण कार्यक्रम आयोजित करना।

11. घरेलू और कुटीर उद्योग— (1) परिक्षेत्र में पारम्परिक कुशल व्यक्तियों की पहचान और घरेलू उद्योगों का विकास करना, (2) कच्चे माल की आवश्यकताओं का निर्धारण करना, (3) परिवर्तनशील उपभोक्ता माँग के अनुसार डिजाइन और उत्पादन करना, (4) कारीगरों और शिल्पियो के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजना करना, (5) उप-मद (4) के अधीन के कार्यक्रम के लिए बैंक ऋण दिलवाने हेतु सम्पर्क करना, और (6) खादी, हाथकर्घा, हस्तकला और ग्राम तथा कुटीर उद्योगों को प्रोन्नत करना।

12. ग्रामीण सड़कें और भवन—(1) राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गों से भिन्न सडकों का निर्माण और रख-रखाव करना, (2) राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गो से भिन्न मार्गो के नीचे आने वाले पुल और पुलियाएँ, (3) जिला परिषद के कार्यालय भवनों का निर्माण और रख-रखाव, (4) बाजार, शैक्षणिक सस्थाओं, स्वास्थ्य केन्द्रो को जोडने वाली मुख्य सम्पर्क सडको और आन्तरिक क्षेत्रों से सम्पर्क सड़को की पहचान, और (5) नयी सडकों के लिए और विद्यमान सडको को चौडा करने के लिए भूमियों का स्वैच्छिक अभ्यर्पण कराना।

13. स्वास्थ्य और स्वास्थिकी—(1) सामुदायिक और प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रो, औषधालयो, उप-केन्द्रो की स्थापना और रख-रखाव, (2) आयुर्वेदिक, होम्योपैथिक, यूनानी औषधालयों की स्थापना और रख-रखाव, (3) प्रतिरक्षीकरण और टीकाकरण कार्यक्रम का क्रियान्वयन, (4) स्वास्थ्य शिक्षा क्रियाकलाप, (5) मातृत्व और शिक्षा क्रियाकलाप, (6) परिवार कल्याण कार्यक्रम, (7) पचायत समितियो और पचायतों की सहायता से स्वास्थ्य शिविरों का आयोजन, और (8) पर्यावरण प्रदूषण के विरुद्ध उपाय करना।

14. ग्रामीण आवासन— (1) बेघर परिवारों की पहचान, (2) जिले में आवास-निर्माण का क्रियान्वयन, और (3) कम लागत आवासन को लोकप्रिय बनाना।

15. शिक्षा—(1) उच्च प्राथमिक विद्यालयो की स्थापना और रख-रखाव सहित शैक्षणिक क्रियाकलापो को प्रोन्नत करना, (2) प्रौढ शिक्षा और पुस्तकालय सुविधाओ के लिए कार्यक्रमों की योजना बनाना, (3) ग्रामीण क्षेत्रो मे विज्ञान और तकनीकी के प्रचार के लिए प्रसार कार्य, और (4) शैक्षणिक क्रियाकलापो का सर्वेक्षण और मूल्यांकन करना।

16. समाज कल्याण और कमजोर वर्गों का कल्याण—(1) अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गों को छात्रवृत्तियाँ, वृत्तिकाएं, बोर्डिंग अनुदान और पुस्तकें और अन्य उपसाधन क्रय करने के लिए अन्य अनुदान देकर शिक्षा सुविधाओं का विस्तार, (2) निरक्षरता उन्मूलन और साधारण शिक्षा के लिए नर्सरी विद्यालयों, बाल वाड़ियों, रात्रि विद्यालयों और पुस्तकालयों का संगठन करना, (3) अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गों को कुटीर और ग्रामीण उद्योगों में प्रशिक्षण देने के लिए आदर्श कल्याण केन्द्रों और शिल्प केन्द्रों का संचालन, (4) अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गों के सदस्यों द्वारा उत्पादित माल के विपणन के लिए सुविधाएँ उपलब्ध करवाना, (5) अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गों की सहकारी समितियों का गठन करना, और (6) अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गों के उत्थान और विकास के लिए अन्य कल्याणकारी कार्यक्रमों का अभिकल्पन व क्रियान्वयन, (7) गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों की योजना बनाना, उनका पर्यवेक्षण, मूल्यांकन करना और क्रियान्वयन करना।

18. समाज सुधार क्रियाकलाप—(1) महिला संगठन और कल्याण, (2) बाल संगठन और कल्याण, (3) स्थानीय आवारागर्दी का निवारण, (4) विधवा, वृद्ध और शारीरिक रूप से निःशक्त निराश्रितों के लिए पेंशनों की और बेरोजगारों और अन्तर्जातीय विवाह के युगलों, जिनमें से एक किसी अनुसूचित जाति या किसी अनुसूचित जनजाति का सदस्य हो, के लिए भत्तों की मंजूरी और वितरण की देखरेख करना, (5) अग्नि नियंत्रण, (6) अन्धविश्वास, जातिवाद, छुआछूत, नशाखोरी, खर्चीले विवाह और सामाजिक समारोहों, दहेज तथा दिखावटी उपभोग के विरुद्ध अभियान, (7) सामुदायिक विवाह और अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित करना, (8) आर्थिक अपराधों, जैसे तस्करी, कर वंचन, खाद्य अपमिश्रण के विरुद्ध सतर्कता, (9) भूमिहीन श्रमिकों को सौंपी गयी भूमि का विकास करने में सहायता, (10) जनजातियों द्वारा अन्य संक्रमित भूमियों का पुनर्ग्रहण, (11) बन्धुआ मजदूरों की पहचान करना, उन्हें मुक्त कराना और उनका पुनर्वास, (12) सांस्कृतिक और मनोरंजन क्रियाकलापों का आयोजन करना, (13) खेल-कूद और खेलों को प्रोत्साहन तथा ग्रामीण स्टेडियमों का निर्माण, (14) पारम्परिक उत्सवों को नया रूप देना और उन्हें समाज-प्रिय बनाना, (15) निम्नलिखित के माध्यम से मितव्ययिता और बचत की प्रोन्नति करना—(क) बचत की आदतों की प्रोन्नति, (ख) अल्प बचत अभियान, (ग) कूट साहूकारी प्रथाओं और ग्रामीण ऋणग्रस्तता के विरुद्ध लड़ाई।

19. जिला परिषदों की साधारण शक्तियाँ—इस अधिनियम के अधीन सौंपे, या प्रत्यायोजित किये गये कृत्यों के क्रियान्वयन के लिए आवश्यक सभी कार्य करना और निम्नलिखित के लिए आवश्यक शक्तियों का प्रयोग करना—(1) लोक उपयोगिता के किसी भी कार्य का या उसमें निहित या उसके नियंत्रण या प्रबन्ध के अधीन की किसी संस्था का प्रबन्ध और रख-रखाव, (2) ग्रामीण हाटों और बाजारों का अर्जन और रख-रखाव, (3) पंचायत समितियों या पंचायतों को तदर्थ अनुदानों का

वितरण करना और उनके कार्य का समन्वय करना; (4) कष्ट निवारण के उपायों को अंगीकार करना, (5) जिले मे पंचायत समितियों द्वारा तैयार की गयी विकास योजनाओं और कार्यक्रमों को समन्वित और एकीकृत करना, (6) जिले में पंचायत समितियों के बजट प्राक्कलनों की परीक्षा करना और उन्हें मंजूर करना, (7) एकाधिक खण्डो में विस्तृत किसी कार्यक्रम को हाथ में लेना और निष्पादित करना, (8) जिले में पंचों, सरपंचों, प्रधानों और पंचायत समितियों के सदस्यों के शिविरों, संगोष्ठियो, सम्मेलनो का आयोजन करना, (9) किसी भी स्थानीय प्राधिकरण से उसके क्रियाकलापों के बारे में सूचना देने की अपेक्षा करना, और (10) किन्ही विकास कार्यक्रमों को जो लगे हुए दो या अधिक जिलों की जिला परिषदों के बीच मे परस्पर तय पायी जायें, संयुक्त रूप से हाथ में लेना और निष्पादित करना।

निष्कर्ष—यह कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पंचायती राज संस्था का क्रमश· विकास होता रहा है। इसमे राजस्थान राज्य सरकार द्वारा विशेष कार्य किया गया है। यह सर्वदा इसके विकास मे अग्रणी रहा है। केन्द्र सरकार द्वारा 73वें संविधान संशोधन के द्वारा यह अपेक्षा की जाती है कि सम्पूर्ण भारत में निकट भविष्य मे पचायती राज द्वारा राष्ट्र के सभी क्षेत्रों मे प्रत्येक ग्रामीण की सहभागिता स्थापित हो जाएगी तथा गाँधीजी के सच्चे स्वराज की स्थापना की सम्भावना बढ़ती नजर आ रही है।

प्रश्न

1 ग्राम पचायतों के लिए सरकार द्वारा किए गए प्रयत्नो पर प्रकाश डालिए।

2. 73वे सविधान संशोधन मे किए गए पचायतीराज से सम्बन्धित प्रावधानो का विवेचन कीजिए।

3. राजस्थान सरकार द्वारा पचायतीराज अधिनियम, 1994 मे किए गए ग्राम सभा सम्बन्धित प्रावधानो की विवेचना कीजिए।

4 राजस्थान पचायतीराज अधिनियम, 1994 की समीक्षा कीजिए।

5 अनुसूचित जातियो, अनुसूचित जनजातियो, पिछड़े वर्गों एवं महिलाओं के लिए पंचायती राज की विभिन्न संस्थाओं में आरक्षण के प्रावधानों पर प्रकाश डालिए।

6 पचायती राज से आपका क्या आशय है ? ग्रामीण पुनर्निर्माण मे इसकी क्या भूमिका है ?

7 पंचायती राज के इतिहास पर एक दृष्टि डालते हुए स्वतत्र भारत मे ग्राम पंचायतो के गठन पर प्रकाश डालिए।

8. पचायती राज की तीन स्तरीय व्यवस्था को समझाइए। (एक पृष्ठ में)

(मा.शि.बो. अजमेर, 1994)

9. ग्रामीण पुनर्निर्माण में ग्राम पंचायतों का क्या महत्त्व है ? विभिन्न क्षेत्रों में इसके कार्यों को बताइए।

10. पंचायतों की असफलता के कारणों का उल्लेख कीजिए।

11. पंचायतों को सफल बनाने हेतु कतिपय सुझाव दीजिए। (मा.शि.बो. अजमेर, 1995)

12. ग्राम पंचायत के कार्यों की विवेचना कीजिए। (एक पृष्ठ में)

(मा.शि.बो. अजमेर, 1995)

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नांकित वाक्यों में कोष्ठकों में दिए गए शब्दों में से उपयुक्त उत्तर का चयन करके रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए—

    (1) ग्राम स्तर पर पंचायतों का संगठन तीन भागों में विभाजित है। इसे .... कहते हैं। (ग्राम पंचायत/त्रिस्तरीय व्यवस्था)

    (2) एक गाँव के सभी वयस्क सदस्य .... के सदस्य होते हैं।

    (ग्राम-सभा/न्याय पंचायत)

    (3) कई ग्राम पंचायतें मिलकर एक .... का निर्माण करती हैं।

    (विकास खण्ड/ग्राम सभा)

    (4) जिला स्तर पर .... की स्थापना की जाती है।

    (जिला परिषद/पंचायत समिति)

    (5) खण्ड स्तर पर .... की स्थापना की जाती है।

    (ग्राम सभा/पंचायत समिति)

उत्तर—(1) त्रिस्तरीय व्यवस्था, (2) ग्राम सभा, (3) विकास खण्ड, (4) जिला परिषद, (5) पंचायत समिति

2. निम्नलिखित वाक्यों को पूरा कीजिए—

    (1) ग्राम में निवास करने वाला प्रत्येक वयस्क व्यक्ति .... का सदस्य होता है।

    (2) ग्राम सभा का सदस्य बनने के लिए व्यक्ति की कम-से-कम उम्र .... वर्ष होनी चाहिए।

    (3) पंचायती राज संशोधन अधिनियम को .... राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल गई।

(4) अब सभी राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों में ....बना लिए गए हैं।

उत्तर—(1) ग्राम सभा, (2) 18, (3) 24 अप्रैल, 1993, (4) पंचायती राज कानून

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. ग्राम-पंचायतों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।
2. ग्राम-सभा को स्पष्ट कीजिए।
3. ग्राम पंचायत के आवश्यक कार्यों पर प्रकाश डालिए।
4. ग्राम पंचायत में विभिन्न वर्गों के लिए आरक्षण सम्बन्धी प्रावधान पर प्रकाश डालिए।
5. पचायत समिति की कार्य प्रणाली बताइए।
6. जिला-परिषद् के कार्य बताइए।

अतिलघु-उत्तरीय प्रश्न

1. पंचायती राज अधिनियम, 1993।
2. ग्राम पचायतो के सामाजिक कार्य।
3. पचायतों को सफल बनाने हेतु 5 सुझाव दीजिए।
4. ग्राम पंचायतो के विकास के लिए सरकार द्वारा बनाए गए तीन संवैधानिक प्रयास।
5. पचायतों की असफलता के तीन कारण बताइए।
6. ग्राम सभा की असफलता के तीन कारण बताइए।
7. ग्राम सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष बताइए।
8. पचायत समिति के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष बताइए।
9. ग्राम पंचायत के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष बताइए।
10. जिला परिषद के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष बताइए।
11. केन्द्र सरकार द्वारा पारित 73वे संशोधन की तीन मुख्य बाते बताइए।
12. राजस्थान सरकार द्वारा पारित पचायती राज से सम्बन्धित दो अधिनियमो को बताइए।

अध्याय - 19

विवाह, परिवार तथा जाति से सम्बन्धित सामाजिक विधान

(Social Legislation related to Marriage, Family and Caste)

राज्य समय-समय पर सामाजिक समस्याओं के समाधान करने के लिए जो कानून पारित करता है उन्हे सामाजिक विधान कहते हैं। सामाजिक विधानों का उद्देश्य सामाजिक संगठन और *व्यवस्था को बनाए रखना है। सामाजिक व्यवस्था एक गत्यात्मक संगठन है।* इनमें परीवर्तन होता रहता है। नई-नई परिस्थितियाँ, सामाजिक कुरीतियाँ, अन्धविश्वास और प्रतिकूल प्रथाएँ, रूढ़ियाँ आदि बनती तथा पनपती रहती है। इनको नियंत्रित करने, सुधार करने तथा समाप्त करने के लिए सामाजिक विधानो की आवश्यकता पड़ती रहती है। सामाजिक प्रतिमान, जैसे— जनरीतियाँ, लोकाचार, प्रथाएं, सस्थाएँ आदि को सामाजिक विधानों की श्रेणी में रखा जा सकता है। प्रमुख *सामाजिक विधानो अथवा अधिनियमो का अध्ययन करने से पहले इनका अर्थ, परिभाषा और* महत्व को समझना आवश्यक है।

सामाजिक विधान का अर्थ एवं महत्व

सामाजिक विधान राज्य द्वारा पास किए गए वे कानून है जो सामाजिक-कुरीतियो को दूर करने, सामाजिक विघटन को रोकने तथा समाज-सुधार के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ समुत्पन्न करने के उद्देश्य से बनाए जाते है। सामाजिक विधान मे समाज सुधार सम्बन्धी, सामाजिक-समस्याओ से सम्बन्धित एवं सामाजिक आदर्शों से सम्बन्धित नियमो को प्रतिपादित किया जाता है— इस प्रकार सामाजिक विधानों मे आदर्श एव व्यवहार दोनो सन्निहित है। केवल किताबी आदर्श समाज को सगठित नही कर सकते अत. ऐसे विधान समाज के लिए महत्त्वपूर्ण होते है जो व्यावहारिक भी हो।

निष्कर्षत समाज की आवश्यकताओ, समाज कल्याण तथा सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए समय-समय पर राज्य द्वारा जो अधिनियम पारित किए जाते है उन्हें सामाजिक विधान कहा जाता है।

भारत में सामाजिक विधानों की आवश्यकता तथा महत्त्व— सामाजिक सुधार की दृष्टि से भारत में सामाजिक विधानों का अत्यधिक महत्त्व है। हिन्दू समाज में अनेक कुरीतियाँ व्याप्त हैं जो समाज की प्रगति में बाधक हैं— उन्हें दूर करने के लिए सामाजिक नियमों की आवश्यकता है जिससे समाज की समस्याओं को नियमबद्ध ढँग से दूर किया जा सके। भारत में सामाजिक विधानों की आवश्यकता एवं महत्त्व को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

(1) भारत में अनेक कुरीतियाँ व्याप्त हैं जिनको दूर किए बिना समाज किसी भी क्षेत्र में प्रगति नहीं कर सकता—भारत में विभिन्न धर्म, जाति, सम्प्रदाय आदि के लोग निवास करते हैं जिनके रीति-रिवाज आदि में पर्याप्त भिन्नता है— ये भिन्नताएँ अपराधों का निर्धारण करने में बाधक हैं—सभी देशवासियों को समानता सिखाने के लिए सामाजिक विधान की आवश्यकता है।

(2) भारतीय समाज में अनेक रूढ़ियाँ, प्रथाएँ, अंधविश्वास आदि प्रचलित है जिनका विरोध आज की परिस्थिति में होना आवश्यक है। यदि देश को अंधविश्वासों, रूढ़ियों से ऊपर उठा कर प्रगति के पथ पर ले जाना है तो नवीन सामाजिक विधानों का निर्माण करना होगा क्योंकि प्रगति के लिए परिवर्तन आवश्यक है।

(3) भारत मे स्त्रियों को उच्च सामाजिक परिस्थिति प्रदान नहीं की गई बल्कि प्राचीन काल से ही वे घर की चारदीवारी मे बंद हैं—उन्हें विवाह, सम्पत्ति, परिवार, धर्म, राजनीति आदि से सम्बन्धित सभी प्रकार के अधिकारों से वंचित रखा गया है। आधुनिक समय मे पुरुषो के समान स्त्रियो की स्थिति का निर्धारण करने के लिए व उन्हें अपने अधिकारो से अवगत कराने के लिए सामाजिक विधानो की निर्मिति अत्यावश्यक है।

(4) समाज को नियमित रूप से संचालित करने के लिए, समाज के कल्याण एव सुधार के लिए अनेक ऐसे नियत्रणो की आवश्यकता है जो सामाजिक विषमता, अस्पृश्यता, पिछड़ापन, शोषित वर्ग की समस्या, असमान-खण्ड-विभाजन आदि पर रोक लगाकर समाज को प्रगति के मार्ग पर ले जा सकें—अत इन असमानताओं के निवारण के लिए सामाजिक विधान आवश्यक हैं।

(5) भारत मे कुछ जातियाँ सवर्ण कहलाती हैं और कुछ अछूत व अस्पृश्य जातियाँ है जिन्हें सभी प्रकार के अधिकारों से वंचित रखा गया है। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि क्षेत्रो में ये सवर्ण जाति से निम्न स्तर पर गिनी जाती हैं। इन्हे उच्च जाति के समान अधिकार दिलाने के लिए सामाजिक विधानो का निर्माण अत्यावश्यक है।

(6) उपर्युक्त समस्याओ के अतिरिक्त बाल-विवाह, विधवा-पुनर्विवाह-निषेध, दहेज प्रथा, अतर्जातीय विवाह पर रोक, बहुपत्नी विवाह आदि अनेक सामाजिक समस्याएँ इस प्रकार की है जो समाज को विघटित कर रही हैं— आज इन समस्याओ पर विचार करके इनमे नवीन परिवर्तन लाना आवश्यक है। देश मे स्वतत्रता, समानता, भाईचारा आदि की स्थापना के लिए प्रजातंत्र के नियमो की स्थापना आवश्यक है। अत सामाजिक अधिनियम समाज की प्रगति मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते है। इस प्रकार सामाजिक अधिनियमो की सामाजिक समस्याओ के निराकरण मे अहं भूमिका हो सकती है। अब अंग्रेजी शासन काल एव स्वतत्र भारत मे निर्मित सामाजिक विधानो पर प्रकाश डाला जायेगा।

अंग्रेजी शासन काल में बने सामाजिक विधान (अधिनियम)

अंग्रेजो ने भारतीय जीवन एव उनके रीतिरिवाजों में कोई परिवर्तन नहीं किया क्योंकि अंग्रेजों ने यह नीति बना ली थी कि वे भारतीय रीति-नीति से सम्बन्धित मामलो में हस्तक्षेप नही करेंगे। इस कारण उनके समय मे बहुत कम सामाजिक विधान बने। कुछ अधिनियम विवाह से सम्बन्धित बने, जिनका उद्देश्य परम्परागत निषेधो को दूर करना, हिन्दू स्त्रियों को अधिकार प्रदान करना आदि थे। *अंग्रेजी शासनकाल में निर्मित कुछ सामाजिक अधिनियम इस प्रकार हैं*—

1. सती प्रथा निषेध अधिनियम, 1829— सन् 1829 से पूर्व भारत में सती प्रथा का प्रचलन था। विधवा स्त्री को मृत पति के साथ चिता मे जल जाने के लिए बाध्य किया जाता था। धार्मिक दृष्टि से यह उचित माना जाता था क्योंकि सती होने वाली स्त्री को स्वर्ग प्राप्त होता है, ऐसा प्रलोभन दिया जाता था। मुसलमानो के भारत मे आने के पश्चात् रक्त की शुद्धता बनाए रखने के लिए हिन्दू *स्त्रियो, लड़कियो के मुसलमानों के साथ विवाहों को रोकने के लिए बाल-विवाह और सती प्रथा का* प्रचलन हुआ। मुसलमान हिन्दू विधवाओ से विवाह करने को तत्पर थे— इसलिए विधवाओं से *छुटकारा पाने के लिए सती प्रथा का प्रचलन हुआ जहाँ उन्हें जबर्दस्ती चिता में जलने को बाध्य* किया जाता था। राजा राम मोहन राय जैसे समाज सुधारको ने इस अमानवीय प्रथा की समाप्ति के लिए आंदोलन किया और 1829 मे 'सती प्रथा निषेध' अधिनियम बना जिसके अनुसार यदि कोई *व्यक्ति किसी विधवा स्त्री को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे सती होने में सहायता करता है, तो वह* दण्डनीय अपराध माना जायेगा।

इस अधिनियम के परिणामस्वरूप सतीप्रथा मे कमी आई और आज यह पूरी तरह समाप्त हो *गई है। राजस्थान में 1987 में जयपुर के समीप दिवराला गाँव मे रूपकवर नामक स्त्री के सती होने* पर सम्पूर्ण भारत में इसकी आलोचना हुई। 6 दिसम्बर, 1987 को ससद द्वारा सती निवारण विधेयक *पारित हुआ जो इस प्रकार है*—

(1) सती होने का प्रयास करने पर वही सजा दी जायेगी जो आत्महत्या के प्रयास पर दी जाती है। (2) सती होने के लिए प्रेरित करने वाले को फाँसी अथवा आजीवन कारावास दिया जायेगा। (3) सती को महिमामण्डित करने पर एक से सात साल की सजा तथा पाँच से तीस हजार रुपए तक की जुर्माने की सजा दी जाएगी। (4) यदि किसी पर सती होने के लिए उकसाने का प्रयास करने के मामले मे मुकदमा चलता है तो यह साबित करने का जिम्मा उसी पर होगा कि उसने यह अपराध नही किया है। (5) *अपराध के लिए सजा प्राप्त व्यक्ति सती की सम्पत्ति का पैतृक अधिकारी नहीं माना* जाएगा। (6) सजा प्राप्त व्यक्ति सजा के दौरान और रिहाई के पाँच साल बाद तक ससद या विधान *सभा का चुनाव नहीं लड़ सकेगा (7) राज्य सरकारे ऐसे मुकदमो की सुनवाई के लिए एक या* अधिक विशेष न्यायालय बनाएँगी एवं विशेष सरकारी वकील नियुक्त करेंगी।

2. हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856— सन् 1856 से पूर्व हिन्दू समाज मे धार्मिक मान्यताओ के आधार पर विधवा-विवाह पर पूर्ण प्रतिबन्ध था। न तो विधवाओ को पुनर्विवाह की स्वीकृति थी, न ही मृत पति की सम्पत्ति मे कोई अधिकार प्राप्त था। बाल-विवाह और कुलीन-विवाह के प्रचलन के कारण विधवाओ की सख्या में तीव्रता से वृद्धि हुई—अनेक विधवाएँ धर्म परिवर्तन *कर मुसलमान या ईसाई बन गई थी। उनकी दशा बड़ी दयनीय थी।*

आर्य समाज, ब्रह्मसमाज, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा राजा राममोहन राय ने इस समस्या पर ध्यान केन्द्रित किया। उनके प्रयासों के परिणामस्वरूप 1856 में हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम बना। इस अधिनियम की मुख्य बातें इस प्रकार थीं—

(1) दूसरे विवाह के समय यदि किसी स्त्री के पहले पति की मृत्यु हो चुकी है तो ऐसा विवाह वैध है।

(2) इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न संतानें वैध होगी।

(3) विधवा के नाबालिग होने पर एवं पहले पति से उनके यौन सम्बन्ध न होने पर पुनर्विवाह के लिए दादा, पिता, बड़े भाई अथवा निकट के रक्त सम्बन्धी आदि की स्वीकृति की आवश्यकता है।

(4) विधवा के बालिग होने और पहले पति से उसके यौन सम्बन्ध स्थापित हो चुकने पर पुनर्विवाह के लिए किसी की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं।

(5) पुनर्विवाह करने वाली विधवा का अपने पूर्व मृत पति की सम्पत्ति मे कोई अधिकार शेष नहीं रहेगा।

(6) यदि मृत पति ने वसीयतनामे में उसे पुनर्विवाह की आज्ञा प्रदान कर दी है, तो प्रथम पति की सम्पत्ति मे उसका अधिकार सुरक्षित रहेगा।

(7) पुनर्विवाह के पश्चात् स्त्री को नये परिवार मे वे सभी अधिकार प्राप्त होंगे जो पहली बार विवाह करने पर उसे प्राप्त होते।

3. बाल-विवाह निरोधक अधिनियम, 1929 (शारदा एक्ट)— भारत में बाल-विवाह की समस्या ब्रिटिश काल तक इतनी बढ़ी कि उसके गंभीर परिणाम सामने आने लगे जिसके निवारण के लिए सन् 1860 और 1891 मे अधिनियम बनाए गए जिनमे लड़की की न्यूनतम आयु 10 वर्ष और लड़के की 12 वर्ष निर्धारित की गई किन्तु यह उम्र अधिक उपयोगी नहीं रही फलस्वरूप 'बाल विवाह निरोधक अधिनियम' पारित किया गया जिसे 'शारदा एक्ट' कहा जाता है। यह अप्रैल, 1930 से सम्पूर्ण देश में लागू कर दिया गया—इस अधिनियम की मुख्य धाराएँ इस प्रकार हैं—

(1) विवाह के समय लड़के की आयु 18 वर्ष और लड़की की आयु 15 वर्ष होना आवश्यक है— इससे कम आयु मे होने वाले विवाहो को 'बाल-विवाह' माना जायेगा, जो इस कानून के अनुसार दण्डनीय है।

(2) यदि 18 वर्ष से अधिक और 21 वर्ष से कम आयु का लड़का 16 वर्ष की आयु से कम आयु की लड़की से विवाह करता है तो उसे 15 दिन का कारावास अथवा एक हजार रुपया जुर्माना अथवा दोनों ही सजाएँ हो सकती हैं।

(3) लड़के की आयु 21 वर्ष से अधिक होने पर जुर्माना के साथ तीन माह की सजा भी हो सकती है (यदि लड़की की आयु 15 वर्ष से कम हो)।

(4) जो व्यक्ति बाल-विवाह कराने मे सहायता देंगे, जैसे— माता-पिता, पण्डित, नाई आदि उन्हें तीन माह का कारावास और जुर्माना भी हो सकता है।

(ii) मिताक्षरा से प्रभावित परिवारों में बिना वसीयत किए मृतक की विधवा को संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में अपने पति के हिस्से की सम्पत्ति पर अधिकार होगा किन्तु वह सम्पत्ति का सीमित उपयोग कर सकती है— उसे न तो किसी को दे सकती है, न बेच सकती है।

(iii) अन्य नियमों से नियंत्रित परिवारो में विधवा को अपने मृत पति की सम्पत्ति मे लडकों के समान ही हिस्सा दिया जायेगा।

5. अलग रहने और भरण-पोषण हेतु स्त्रियों का अधिकार अधिनियम, 1946— सन् 1946 मे कुछ विशेष परिस्थितियो में पति से अलग रहने वाली स्त्रियों को भरण-पोषण सम्बन्धी अधिकार दिए गए। लेकिन स्त्री को यह अधिकार तभी मिल सकता था, जब— (i) पति किसी ऐसे घृणित रोग से पीड़ित हो जो उसे पत्नी के संसर्ग से न हुआ हो।

(ii) पति निर्दयता का व्यवहार करता हो जिससे पत्नी उसके साथ रहना खतरनाक समझती हो।

(iii) पति ने अपनी पत्नी को छोड रखा हो।

(iv) पति ने दूसरा विवाह कर लिया हो।

(v) पति ने धर्म-परिवर्तन कर लिया हो।

(vi) पति किसी अन्य स्त्री से सम्बन्ध रखता हो। अलग रहने की डिग्री होने पर न्यायालय को पति की आय व स्थिति के अनुसार स्त्री को उसके भरण-पोषण की राशि दिलवाने का अधिकार दिया जाता है।

स्वतंत्र भारत में बने सामाजिक विधान

भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् हिन्दू कानूनों में सुधार करने व नए कानून बनाने की माँग अधिक बढ़ी जिसके परिणामस्वरूप सर्वप्रथम 1948 मे 'हिन्दू कोड बिल' पेश किया गया। सन् 1950 मे नया संविधान बना और हिन्दू कोड बिल, जो पहले स्थगित हो गया था, को अब पुन पास कराये जाने का प्रयत्न किया गया लेकिन इस समय भी कोई निर्णय नहीं हो सका। बाद मे 1955 मे भारत मे नए सामाजिक अधिनियम बनाए गए और भारत सरकार ने विवाह, परिवार, सामाजिक स्थिति— सम्पत्ति उत्तराधिकार, अस्पृश्यता, दहेज आदि से सम्बन्धित अनेक अधिनियम पारित किए। कुछ प्रमुख अधिनियम इस प्रकार है—

1. विशेष विवाह अधिनियम, 1954— किसी भी धर्म को न मानने वालो को परस्पर विवाह की स्वीकृति देने के लिए 1872 मे विशेष विवाह अधिनियम पारित किया गया। सन् 1923 मे इसमे संशोधन कर विभिन्न जातियो के बीच होने वाले विवाह को वैध घोषित कर दिया। इसके आधार पर 1954 मे विभिन्न धर्मों व जातियों के लोगों को परस्पर विवाह की अनुमति दे दी गई—इसमे एक-विवाह की व्यवस्था है तथा 21 वर्ष से कम आयु का लड़का व 18 वर्ष से कम आयु की लड़की का विवाह माता-पिता/संरक्षक की स्वीकृति से होगा। इसमें विशेष परिस्थिति के कारण दोनों के असहमत हो जाने पर अलग-अलग रहने की भी व्यवस्था है।

2. हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955— सन् 1955 मे हिन्दू विवाह अधिनियम, जम्मू व काश्मीर को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में लागू किया गया। इस अधिनियम के द्वारा विवाह से सम्बन्धित पूर्व मे पास किए गए सभी अधिनियम रद्द कर दिए गए और बौद्ध, जैन, सिक्ख सहित सम्पूर्ण हिन्दू

जाति पर एक समान रूप से इसे लागू किया गया। इस अधिनियम में हिन्दू विवाह की प्रचलित विभिन्न विधियों को मान्यता प्रदान की गई है तथा सभी जातियों को तलाक के अधिकार प्रदान किए गए हैं। इस अधिनियम की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

विवाह की शर्तें— किन्हीं दो हिन्दुओं (स्त्री-पुरुषों) के बीच विवाह सम्बन्ध मान्य होगा यदि वे निम्नलिखित शर्तें पूरी करते हों—

(i) स्त्री एवं पुरुष दोनों में से किसी का दूसरा जीवन-साथी विवाह के समय जीवित न हो। (ii) वर-वधू दोनों में से विवाह के समय कोई भी पागल अथवा जड़ बुद्धि (Idiot) न हो। (iii) विवाह के समय वर-वधू की आयु क्रमशः 18 वर्ष और 15 वर्ष से कम न हो (अब यह आयु क्रमश. 21 वर्ष और 18 वर्ष कर दी गई है)। (iv) दोनों पक्ष निषेधात्मक सम्बन्धों की श्रेणी में न आते हों अर्थात् उनमें निकट रक्त सम्बन्ध न हों (यदि उनकी प्रथा इस प्रकार के विवाहों की अनुमति नहीं देती हो)। (v) दोनों पक्ष सपिण्ड न हों, यदि उनकी परम्परा के अनुसार ऐसे विवाह मान्य है तो उस विवाह को मान्यता दी जायेगी। (vi) यदि वधू की उम्र 18 से कम है तो उसके अभिभावकों की स्वीकृति आवश्यक है, अभिभावक न होने पर अनुमति के बिना भी ऐसा विवाह वैध है। विवाह की आयु में वृद्धि के कारण अब यह धारा अपने आप निरर्थक हो गई है।

विवाह सम्बन्ध की समाप्ति— निम्नलिखित स्थितियों में विवाह होने पर उसे रद्द किया जा सकता है—

(i) विवाह के समय दोनों में से किसी एक पक्ष का भी जीवन-साथी जीवित हो और उसे तलाक नहीं दिया गया हो। (ii) विवाह के समय एक पक्ष नपुंसक हो। (iii) विवाह के समय कोई भी पक्ष जड़बुद्धि अथवा पागल हो। (iv) विवाह के एक वर्ष के अंदर यह प्रमाणित हो जाए कि प्रार्थी अथवा उसके संरक्षक की स्वीकृति बलपूर्वक या कपट से ली गई है। (v) विवाह के एक वर्ष के भीतर यह प्रमाणित हो जाए कि विवाह के समय पत्नी किसी अन्य पुरुष से गर्भवती थी और प्रार्थी इस बात से भिज्ञ न था।

न्यायिक पृथक्करण— इस अधिनियम की धारा 10 के अनुसार कुछ आधारों पर पति-पत्नी को अलग रहने की आज्ञा दी जा सकती है। यदि वे पृथक् रहकर मतभेदों को भुलाने में सफल हो जाते हैं तो वैवाहिक सम्बन्धों की पुनर्स्थापना की जा सकती है। न्यायिक पृथक्करण के निम्न आधार हैं—

(i) प्रार्थी को यदि दूसरे पक्ष ने बिना किसी उचित कारण के प्रार्थना-पत्र देने के दो वर्ष पूर्व से छोड़ रखा हो। (ii) प्रार्थी के साथ दूसरे पक्ष द्वारा क्रूरता से व्यवहार किया जाता हो। (iii) प्रार्थना-पत्र देने के एक वर्ष पूर्व से दूसरा पक्ष असाध्य कुष्ठ रोग से पीड़ित हो। (iv) दूसरे पक्ष को कोई ऐसा संक्रामक रोग हो जो प्रार्थी के संसर्ग से न हुआ हो। (v) यदि दूसरा पक्ष प्रार्थना-पत्र देने के एक वर्ष पूर्व से पागल हो। (vi) यदि दूसरे पक्ष ने विवाह के बाद अन्य व्यक्ति के साथ संभोग किया हो।

यदि दो वर्ष में उनके सम्बन्ध नहीं सुधरते तो वे तलाक के लिए प्रार्थना-पत्र दे सकते हैं।

विवाह विच्छेद— निम्नलिखित आधारों पर न्यायालय विवाह-विच्छेद की स्वीकृति दे सकता है। ये आधार धारा 13 के अनुसार हैं।

(i) दूसरा पक्ष व्यभिचारी हो। (ii) दूसरे पक्ष ने धर्म-परिवर्तन कर लिया हो। (iii) दूसरा पक्ष असाध्य कुष्ठ रोग से पीड़ित हो। (iv) दूसरा पक्ष संन्यासी हो गया हो। (v) पिछले सात वर्षों से दूसरा पक्ष लापता हो या वह जीवित न सुना गया हो। (vi) दूसरे पक्ष ने न्यायिक पृथक्करण के एक वर्ष या उससे अधिक अवधि के बाद तक पुन सहवास न किया हो। (vii) दूसरे पक्ष ने दाम्पत्य अधिकारों के पुन स्थापना की डिग्री हो जाने के दो वर्ष बाद तक उस पर अमल न किया हो। (viii) पति बलात्कार, गुदा-मैथुन अथवा पशुगमन का दोषी हो।

उपर्युक्त दोनों अधिनियमों से स्पष्ट है कि न्यायिक पृथक्करण और विवाह-विच्छेद दो भिन्न बातें हैं। पृथक्करण की आज्ञा देकर न्यायालय दोनों पक्षों को समझौते के अवसर प्रदान करता है। यदि दोनों साथ रहने को सहमत न हों तो विवाह-विच्छेद की स्वीकृति प्रदान की जाती है। कुछ परिस्थितियों में विवाह-विच्छेद की सीधी अनुमति दी जा सकती है।

सामान्य धाराएँ– (i) विवाह-विच्छेद के लिए आवेदन-पत्र विवाह के एक वर्ष बाद ही दिया जा सकता है। (ii) अदालत द्वारा विवाह-विच्छेद की राजाज्ञा मिलने के एक वर्ष के अंदर ही अपील नहीं की जाती है तो दोनों पक्षों को पुनर्विवाह करने का अधिकार होगा। (iii) न्यायालय बच्चों की शिक्षा-दीक्षा, देखभाल एव रहने के सम्बन्ध मे अन्तरिम और स्थाई आदेश दे सकता है। (iv) इस अधिनियम मे पति अथवा पत्नी के लिए निर्वास धन की व्यवस्था की गई है। वह राशि उस समय तक दी जायेगी जब तक निर्वास धन प्राप्त करने वाला दूसरा विवाह न कर ले। इस प्रकार पृथक्करण और विवाह-विच्छेद सरल कार्य नहीं है।

3. अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955– अस्पृश्यता को दूर करने, अस्पृश्यों पर विभिन्न निर्योग्यताओ को लागू करने वाले व्यक्तियों को सजा देने तथा पिछड़े वर्गों को सामाजिक समानता प्रदान करने के लिए सम्पूर्ण भारत में 1 जून, 1955 से अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955 लागू किया गया। इसकी 17 धाराओ द्वारा अस्पृश्यों की सभी प्रकार की निर्योग्यताओं को दूर कर दिया गया है, जैसे– अस्पृश्य जातियों को पूजा-स्थानों, मनोरजन के स्थानों, चिकित्सालयों, शिक्षण सस्थाओ आदि मे प्रवेश करने एव उनका उपयोग करने की स्वीकृति मिल गई है तथा अस्पृश्यता सम्बन्धी आचरण करने व उसे प्रोत्साहित करने वाले व्यक्ति को छ माह का कारावास अथवा 500 रु जुर्माना अथवा दोनो सजाएँ दी जा सकती हैं।

उपर्युक्त अधिनियम की कमियो को दूर करने के लिए अथवा इस कानून को अधिक प्रभावी बनाने के लिए भारत सरकार ने एक पृथक् नागरिक अधिकार सुरक्षा कानून, 1976 पास किया है। यह अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955 का ही संशोधित रूप है। इसके प्रमुख प्रावधान इस प्रकार है–

(1) प्रथम बार अस्पृश्यता सम्बन्धी अपराध के लिए 6 माह की कैद तथा 500 रु. तक के जुर्माने की व्यवस्था की गई है। दूसरी बार अपराध करने पर 6 माह से 1 वर्ष की कैद तथा 500 रु. तक के जुर्माने की और तीसरी बार अपराध करने पर एक वर्ष से दो वर्ष की कैद तथा 1,000 रु. तक जुर्माने का प्रावधान है।

(2) अस्पृश्यता के अपराध से दण्डित लोग लोकसभा व विधानसभा में चुनाव नहीं लड़ सकते।

(3) अस्पृश्यता का प्रचार करना और उसे किसी रूप में न्यायोचित ठहराना भी दण्डनीय अपराध होगा।

(4) अस्पृश्यता को ज्ञातव्य अपराध घोषित किया गया है जिसके अनुसार पुलिस बिना किसी शिकायत के सीधी कार्यवाही कर सकती है। ऐसे अपराध में वादी और प्रतिवादी को किसी प्रकार का कोई समझौता करने की आज्ञा नहीं होगी।

(5) यदि कोई सरकारी कर्मचारी अस्पृश्यता से सम्बन्धित जाँच के कार्य की जानबूझ कर उपेक्षा करेगा तो उसके इस कार्य को प्रोत्साहन करने वाला और दण्डनीय अपराध माना जाएगा।

(6) पूजा स्थानों पर जहाँ सर्वसाधारण जनता जाती रहती है किसी भी रूप में अस्पृश्यता बरतना दण्डनीय अपराध होगा।

(7) सामूहिक रूप से अस्पृश्यता सम्बन्धी अपराध करने पर ऐसे किसी क्षेत्र के लोगों पर सामूहिक जुर्माना करने का अधिकार राज्य सरकार को दिया जाता है।

(8) इस कानून का उल्लंघन करने वाले लोगों को दण्ड देने हेतु विशेष अधिकारी की नियुक्ति और मामलों की सुनवाई हेतु विशेष अदालतों के गठन की व्यवस्था की गई है।

उपर्युक्त कानून की सफलता के लिए अस्पृश्यता-निवारण सम्बन्धी प्रचार-साहित्य, व दृश्य-श्रव्य उपकरणों का प्रबन्ध सरकार कर रही है। यदि वास्तव में इसमें पूर्ण सफलता प्राप्त हो जाती है तो एक गंभीर समस्या से छुटकारा मिल सकेगा।

5. हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956— इस अधिनियम के पारित होने से पूर्व उत्तराधिकार की दो प्रणालियाँ प्रचलित थीं— मिताक्षरा और दायभाग। इनके अनुसार स्त्रियों को सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्राप्त करने में अनेक वैधानिक बाधाएँ थीं। सन् 1937 के उत्तराधिकार अधिनियम से भी स्थिति में सुधार नहीं हुआ क्योंकि इसके द्वारा स्त्रियों को सम्पत्ति में सीमित अधिकार ही दिए गए थे। सम्पत्ति अधिकार की बाधाओं को समाप्त करने के और स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार प्रदान करने के लिए हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 पारित किया गया जिसकी मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(i) उत्तराधिकार से सम्बन्धित मिताक्षरा और दायभाग नियमों को समाप्त कर मृतक की सम्पत्ति पर लागू होने वाले उत्तराधिकार की समान व्यवस्था की गई। अर्थात् सभी हिन्दुओं पर एक-सा नियम लागू किया गया।

(ii) विधवा स्त्री अपने मृत पति से प्राप्त अपने हिस्से की सम्पत्ति का अपनी इच्छानुसार प्रयोग कर सकती है। अर्थात् सम्पत्ति को बेचने और दान देने का भी उसे अधिकार है। किन्तु यदि वह पुनर्विवाह कर लेती है तो मृत पति की सम्पत्ति पर उसका कोई अधिकार नहीं रहेगा।

(iii) इस अधिनियम के द्वारा स्त्रियों को पुरुषों के समान ही सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त होगा।

(iv) लड़की को भी अपने मृत पिता की सम्पत्ति में लड़के के बराबर हिस्सा प्राप्त होगा।

(v) इस अधिनियम में किसी स्त्री को बीमारी, अंग की खराबी अथवा किसी अन्य शारीरिक दोष के आधार पर उत्तराधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता।

(vi) पुत्र की मृत्यु होने पर माता को भी पुत्र की सम्पत्ति में उसकी (विधवा) पत्नी और बच्चों के समान एक भाग प्राप्त होगा। पत्नी के रूप में सभी को अपने मृत पति की सम्पत्ति में लड़के के हिस्से के बराबर ही उत्तराधिकार प्राप्त होगा। यदि कोई सन्तान नहीं हो तो विधवा को मृत पति की सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार होगा।

(vii) यदि पिता की मृत्यु के पूर्व ही उसके पुत्र अथवा पुत्री की मृत्यु हो गई हो तो उस पुत्र अथवा पुत्री की सन्तानों को अपने पिता अथवा माता के हिस्सों को प्राप्त करने का अधिकार होगा जो उनमें बराबर के अनुपात में बँट जाएगा।

6. हिन्दू नाबालिग संरक्षकता अधिनियम, 1956— इस अधिनियम के पूर्व नाबालिग बच्चे के पिता की मृत्यु होने पर सरक्षक बनने का अधिकार केवल पितृ पक्ष को ही था। सम्पत्ति का दुरुपयोग होने पर भी माँ कुछ नहीं कर सकती थी। 1956 से यह अधिनियम लागू हुआ जिसमें उपर्युक्त कमियों को दूर किया गया। इसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) इस अधिनियम के अनुसार 18 वर्ष से कम आयु का बच्चा या बच्ची नाबालिग है।

(ii) सरक्षकों में पहला स्थान पिता का और दूसरा स्थान माँ का होगा। नाबालिग विवाहित लड़की का सरक्षक उसका पति होगा।

(iii) यदि माता-पिता दोनों की मृत्यु हो चुकी है तो नाबालिग बच्चे का संरक्षक न्यायालय नियुक्त करेगा यदि माता-पिता की मृत्यु के पूर्व किसी को सरक्षक नियुक्त न किया गया हो।

(iv) कोई भी संरक्षक बच्चों की सम्पत्ति को पाँच वर्षों से अधिक की अवधि के लिए पट्टे पर नहीं दे सकता। न्यायालय की अनुमति के बिना सरक्षक न संपत्ति को बेच सकता है, न गिरवी रख सकता है और न ही उपहार के रूप में दे सकता है।

(v) माता-पिता की मृत्यु होने पर नाबालिग बच्चे की सम्पत्ति की रक्षा के लिए संरक्षक नियुक्त किए जाने का प्रावधान भी इस अधिनियम में है। संरक्षक नियुक्त करते समय न्यायालय नाबालिग बच्चे के कल्याण को ध्यान में रखेगा।

6. हिन्दू दत्तक ग्रहण और भरण-पोषण अधिनियम, 1956— यह अधिनियम 21 दिसम्बर, 1956 से लागू किया गया है। इसमें गोद लेने व स्त्रियों तथा उनके आश्रितों के भरण-पोषण के विषय में व्यवस्थाएँ की गई है। गोद लेने सम्बन्धी व्यवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

(i) गोद लेने वाला व्यक्ति 18 वर्ष से कम आयु का न हो। वह पागल न हो। यदि वह लड़के को गोद लेता है तो उसके पहिले से ही कोई स्वाभाविक या गोद लिया हुआ पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र न हो। यदि लड़की को गोद लेना हो तो उसकी कोई पुत्री, पौत्री या प्रपौत्री न हो।

(ii) जिस लड़के या लड़की को गोद लिया जाता है वह हिन्दू हो (अब लड़के ही नहीं वरन् लड़कियों को भी गोद लिया जा सकता है)।

(iii) पत्नी के जीवित होने पर पति द्वारा उसकी सहमति से ही किसी को गोद लिया जा सकता है।

(iv) पहले केवल पुरुष ही गोद ले सकते थे अब स्त्रियाँ भी गोद ले सकती हैं। विवाहित स्त्री को गोद लेने के पूर्व अपने पति की स्वीकृति लेनी होगी। अविवाहित, विधवा या तलाकशुदा स्त्री भी किसी लडकी अथवा लडके को गोद ले सकती है।

(v) जिस लडकी अथवा लडके को गोद लिया जा रहा है वह हिन्दू हो, अविवाहित हो और 15 वर्ष से कम आयु का हो। एक ही बालक को दो व्यक्ति गोद नहीं ले सकते।

(vi) गोद लेने वाला अपने से विषम लिंग के बच्चों (जैसे पुरुष किसी लड़की को या स्त्री किसी लडके) को गोद ले रहा हो तो उनकी आयु के बीच 21 वर्ष का अन्तर अवश्य हो।

(vii) गोद लेने के लिए बच्चों के मूल माता-पिता को कोई धन न दिया जाए।

(viii) गोद चले जाने वाले बच्चे का अपने मूल माता-पिता की सम्पत्ति मे कोई अधिकार नही होता।

(ix) वैध रीति से गोद चले जाने के बाद गोद गया हुआ बच्चा पुन अपने मूल परिवार मे नहीं लौट सकता है।

7. भरण-पोषण अधिनियम— इसके अन्तर्गत भरण-पोषण प्राप्त करने का अधिकार अब स्त्री और पुरुष दोनो को ही दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि अब केवल स्त्री ही अपने पति से भरण-पोषण की राशि पाने का दावा नही कर सकती, बल्कि पुरुष भी अपनी पत्नी की सम्पत्ति मे से भरण-पोषण की राशि पाने का दावा कर सकता है, यदि उसके पास आय के दूसरे साधन न हों।

भरण-पोषण के हकदार व्यक्तियों को पाँच भागों में विभाजित किया गया है— (1) पत्नी, (2) विधवा पुत्र-वधू, (3) नाबालिग सन्तान, (4) वृद्ध एवं रोगग्रस्त माता-पिता (5) अन्य आश्रित व्यक्ति।

इस अधिनियम के द्वारा हिन्दू स्त्रियों को तलाक अथवा पृथक्करण की स्थिति मे सरक्षण प्रदान कराना उद्देश्य है।

8. स्त्रियों और कन्याओं का अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम, 1956— भारतीय समाज में वेश्यावृत्ति और अनैतिक व्यापार को समाप्त करने के उद्देश्य से सामाजिक तथा नैतिक स्वास्थ्य विज्ञान समिति द्वारा सन् 1955 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की गई और 1 मई, 1958 से सम्पूर्ण देश में यह अधिनियम पास किया गया है। इसकी मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(i) वेश्यावृत्ति एक दण्डनीय अपराध है। इस अधिनियम के अनुसार कोई स्त्री जो धन या वस्तु के बदले अवैध यौन सम्बन्ध के लिए अपना शरीर अर्पित करती है, 'वेश्या' है तथा अपने शरीर को इस प्रकार यौन सम्बन्ध के लिए अर्पण करना ही वेश्यावृत्ति है।

(ii) वेश्यालयों में रहने वाला व्यक्ति (सन्तान के अतिरिक्त) 18 वर्ष से अधिक का है और वह वेश्या की आय पर आश्रित रहता है तो उसे दो वर्ष का कारावास अथवा एक हजार रुपए का दण्ड दिया जा सकता है।

(iii) वेश्यालय चलाने वाले व्यक्ति को 1 से 15 वर्ष तक की कैद तथा दो हजार रुपये तक का जुर्माना देने की व्यवस्था है।

(iv) वेश्यावृत्ति मे लगी 21 वर्ष से कम आयु की लड़की जो वेश्यावृत्ति मे संलग्न है उसके लिए पुनर्वास और सुधार के लिए संरक्षण-गृहो में भेजने की व्यवस्था है।

(v) किसी लड़की को वेश्यावृत्ति के लिए फुसलाना, बाध्य करना, नजरबन्द करना और उसके साथ रहना दण्डनीय अपराध है।

9. दहेज निरोधक अधिनियम, 1961— दहेज की समस्या हिन्दू समाज में अपना भीषण रूप धारण किए हुए है। इस समस्या को हल करने के लिए मई, 1961 में 'दहेज निरोधक अधिनियम' पारित किया गया। इसकी प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(i) इस अधिनियम में दहेज को इस रूप में परिभाषित किया गया है— "विवाह के पूर्व अथवा पश्चात् विवाह की एक शर्त के रूप में एक पक्ष या व्यक्ति द्वारा दूसरे पक्ष को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दी गई कोई भी सम्पत्ति या मूल्यवान वस्तु 'दहेज' कहलायेगी।"

(ii) विवाह के अवसर पर दी जाने वाली भेंट या उपहार दहेज नहीं माना जाएगा।

(iii) यदि कोई व्यक्ति इस कार्य में मदद करता है या दहेज लेता-देता है तो उसे छः माह का कारावास और पाँच हजार रुपये तक का दण्ड दिया जा सकता है।

(iv) दहेज लेने व देने सम्बन्धी किया गया कोई भी समझौता गैर-कानूनी होगा।

(v) विवाह में भेंट-स्वरूप दी गई वस्तुओं पर कन्या का अधिकार होगा।

(vi) धारा 7 के अनुसार न्यायालय के द्वारा ऐसे अपराधों पर भी विचार किया जायेगा, जब ऐसी शिकायतें किसी व्यक्ति द्वारा लिखित रूप में विवाह होने के एक वर्ष के अन्दर की जाएँ। इसकी सुनवाई प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट के कोर्ट में होगी।

1961 के इस अधिनियम को 1986 में संशोधित कर इसे और सख्त बना दिया गया है जिसमें बिना किसी शिकायत के भी पुलिस और प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट ऐसे मामलों की रिपोर्ट तथा जाँच कर सकते है। अनेक स्थानों, जैसे— उड़ीसा, बिहार, प. बंगाल, हरियाणा, पंजाब, हिमाचल प्रदेश और उत्तर प्रदेश सरकारो ने उसे संशोधित कर कठोर बना दिया है।

हिन्दू विवाह पर नवीन सामाजिक विधानों का प्रभाव तथा विवाह की आधुनिक प्रवृत्तियाँ— स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् बने सामाजिक विधानों में विवाह की धारणा, स्वरूप व इसकी मान्यताओं आदि में उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं— इनमे हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1956, हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 व दहेज निरोधक अधिनियम, 1961 आदि को लिया जा सकता है। इन सामाजिक विधानो का हिन्दू विवाह पर अनेक क्षेत्रों में प्रभाव पड़ा है, जिसे निम्नांकित रूपो में देखा जा सकता है—

1. हिन्दू विवाह एक समझौता— प्राचीन हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार था जिसमें विवाह से सम्बन्धित अनेक धार्मिक क्रियाएँ करनी होती थी तथा विवाह सम्बन्धों की स्थापना परिवार का दायित्व था किन्तु हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अनुसार विवाह को एक समझौते के रूप मे देखा जाने लगा है, धार्मिकता से इसका सम्बन्ध अब नही रह गया है।

2. एक-विवाह का प्रचलन— हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के पास होने के पूर्व भारत मे बहुपत्नी एवं बहुपति विवाह का प्रचलन था और कुलीन विवाह की शर्त ने उसे खूब प्रोत्साहित किया था। अब बहु-विवाह के स्थान पर एक-विवाह को मान्यता दी गई है। अब कोई भी पक्ष पहले साथी के जीवित रहते दूसरा विवाह नही कर सकता। इस प्रकार हिन्दू विवाह मे एक-विवाह ही प्रमुख समाजिक मूल्य है।

3. विवाह-विच्छेद— इस अधिनियम के अन्तर्गत विशेष परिस्थितियों में स्त्री-पुरुषों को समानत: न्यायिक पृथक्करण एवं विवाह-विच्छेद का अधिकार प्रदान किया गया है। इससे पूर्व विवाह को जन्म-जन्मान्तर के सम्बन्ध के रूप में माना जाता था। यह धारणा अब समाप्त हो चुकी है जिसके परिणामस्वरूप स्त्रियों का शोषण अब समाप्त हो गया है और उन्हें अनेक सामाजिक अधिकार प्रदान किए गए हैं, उनकी स्थिति सभी क्षेत्रों में सुधरी है।

4. विवाह सम्बन्धी निषेधों में अन्तर— पहले विवाह सम्बन्धों की स्थापना के पूर्व गोत्र, शासन, प्रवर जाति आदि अनेक नियमों की पालना करनी पड़ती थी जिसके परिणामस्वरूप विवाह का क्षेत्र बहुत सीमित हो गया था— अब नवीन विधान के अनुसार गोत्र, जाति आदि के बन्धन समाप्त कर दिए गए हैं। अब कोई भी जाति (हिन्दू, जैन, बौद्ध, सिक्ख आदि) परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर सकती है। इस प्रकार विवाह सम्बन्धी निषेधों में अन्तर के कारण विवाह का क्षेत्र विस्तृत हो गया है।

5. विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहन— हिन्दू परिवारों में विधवा स्त्रियों को पुनर्विवाह के अधिकार न देकर उनका अमानवीय शोषण किया जाता था। अब कानून द्वारा विधवाओं को दूसरा विवाह करने की स्वीकृति प्रदान की गई है इससे विधवाओं की स्थिति में सुधार हुआ है। इस प्रकार नए अधिनियमों ने सामाजिक न्याय के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं।

6. बाल-विवाह की समाप्ति— नवीन अधिनियम में विवाह के लिए लड़के की आयु 21 वर्ष एवं लड़की की आयु 18 वर्ष निर्धारित करके बाल-विवाह पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। आधुनिक समय में शिक्षा के प्रसार ने विलम्ब-विवाह को बढ़ावा दिया है। इससे स्त्री-पुरुष दोनों के व्यक्तित्व मे अनेक रूपों में आशातीत परिवर्तन हुए हैं। उनके स्वास्थ्य में सुधार हुआ है व मृत्युदर में भी कमी आई है किन्तु ग्रामों में अभी भी छोटी उम्र के बालक-बालिकाओं का विवाह कर दिया जाता है, वहाँ इस नियम का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है।

7. दहेज प्रथा पर प्रतिबन्ध— दहेज निरोधक अधिनियम, 1961 के द्वारा अब किसी भी रूप में दहेज लेना अथवा दहेज देना एक दण्डनीय अपराध घोषित किया जा चुका है जिसके परिणामस्वरूप खुले रूप में तो अब दहेज की माँग नहीं की जाती किन्तु लड़के की शिक्षा व योग्यता के आधार पर इसमें वृद्धि हो रही है— यद्यपि नवयुवक व नवयुवतियाँ इसके पक्ष में नही हैं किंतु अधिनियम पूर्ण रूप मे प्रभावी नहीं हो पा रहा है।

8. अन्तर्जातीय विवाह की स्वीकृति— विलम्ब-विवाह की प्रवृत्ति, दहेज पर प्रतिबन्ध, आदि ने विवाह का क्षेत्र विस्तृत कर दिया है। वर्तमान समाज में अन्तर्जातीय विवाह को कानूनी मान्यता मिल जाने से अब दूसरी जाति में विवाह होने लगे हैं जिन्हें पहले अमान्य माना जाता था।

9. जीवन-साथी चुनने की स्वतन्त्रता— प्राचीन समय में जीवन-साथी का चुनाव परिवार के बड़े लोगो की इच्छा से किया जाता था। लड़की व लड़के को साथी के चुनाव करने की स्वतंत्रता नहीं थी किन्तु अब वे अपनी इच्छा से साथी का चयन कर सकते हैं। यह नवीन अधिनियमों का परिणाम है।

10. बेमेल विवाह की समाप्ति—प्राचीन समय में कुलीन-विवाह की मान्यता के कारण तथा दहेज से बचने के कारण बेमेल विवाह हो जाया करते थे। माता-पिता इस बात का ध्यान नहीं रखते

थे कि दोनों की उम्र में कितना अन्तर है जिसका परिणाम यह होता था कि लड़की जल्दी विधवा हो जाती या अन्य कोई गम्भीर समस्या उत्पन्न हो जाती—अब वर-वधू जीवन-साथी का चयन आपस में देखकर स्वयं की इच्छा से करते है। अन्तर्जातीय विवाह के कारण भी बेमेल विवाह की समाप्ति हो रही है।

11. प्रेम-विवाह को स्वीकृति— बालविवाह की समाप्ति के कारण अब विलम्ब-विवाह का प्रचलन हो गया है। लड़की-लड़के साथ-साथ शिक्षा ग्रहण करते हैं तथा जीविकोपार्जन करते हैं। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप अनेक क्षेत्रों में लड़की-लड़कों की निकटता होने लगी है जिससे परस्पर प्रेम-रोमांस पर आधारित विवाह होने लगे हैं। चलचित्रों के प्रभाव ने भी इसमें सहयोग किया है— कानून भी इसमें बाधा नहीं है लेकिन अपरोक्ष रूप से सहयोगी या सहायक अवश्य कहा जा सकता है।

12. पत्नी की स्थिति में अन्तर— वर्तमान कानून में पति-पत्नी को समानता का स्तर प्रदान किया गया है। अनेक अधिनियम स्त्रियों की स्थिति के सुधार के लिए बनाए गए हैं— अत प्राचीन समय की तुलना में आज स्त्री को पति की सहधर्मिणी, सहचारिणी, मित्र, साथी के रूप में माना जाने लगा है— परिवार में भी उसे प्रतिष्ठा मिलने लगी है। इस प्रकार आज पत्नी की स्थिति में पूर्व की तुलना में अन्तर आया है।

13. समूह विवाह— दहेज से मुक्ति पाने के लिए कई शहरों में अब समूह विवाह होने लगे है जिनमें खर्चे की दृष्टि से सुविधा मिली है— गरीबो को राहत मिली है। इनमे अनेक जोडे (लड़की-लडके) एक साथ विवाह-बन्धन में बन्ध जाते हैं। ऐसे विवाहों को आज अच्छा माना जाता है।

14. वैवाहिक नियमों में एकरूपता— हिन्दू विवाह अधिनियम के पूर्व विवाह सम्बन्धी नियम भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न थे, जैसे—मिताक्षरा और दायभाग द्वारा नियन्त्रित परिवारों के नियम, रीति-रिवाज अलग-अलग थे— किन्तु अब सम्पूर्ण देश मे विवाह के नियमों में एकरूपता आ गई है। सभी पर एक-से विवाह के नियम लागू किए जाते है।

15. सामाजिक व मानसिक सुरक्षा— प्राचीन समय मे धनी परिवार अपने पागल, गुप्त रोगों से ग्रसित, कोढ़ी व मानसिक दृष्टि से क्षीण रोगी आदि लडकों का विवाह कर लड़की का जीवन नारकीय बना देते थे किन्तु अब अधिनियम से ऐसे विवाहो पर रोक लगा दी गई है।

16. विवाहों की अनिवार्यता समाप्त— प्राचीन समय में विवाह एक धार्मिक कृत्य समझा जाता था। विशेष रूप से पंच ऋणो से मुक्ति पाने की मान्यता व मोक्ष के सिद्धान्त ने गृहस्थाश्रम की अनिवार्यता को विशेष महत्ता प्रदान की। किन्तु आज वैवाहिक मान्यताएँ बदल रही हैं। विवाह एक समझौता माना जाने लगा है इसलिए यदि योग्य साथी नहीं मिलता तो युवक-युवतियाँ विवाह नही करते है और इसे बुरा भी नही माना जाता है। इस प्रकार विवाह में परिवार वालो का हस्तक्षेप भी कम हो गया है। अनेक लडकी-लडके विवाह को अपनी स्वतंत्रता में बाधक मानते हैं इसलिए वे अविवाहित रहना पसद करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नवीन सामाजिक विधानो का प्रभाव हिन्दू विवाह पर अनेक रूपो में परिलक्षित हो रहा है जिसके कारण विवाह की प्रकृति व उसका स्वरूप बदल गया है।

परिवार एवं स्त्रियों की स्थिति पर सामाजिक अधिनियमों का प्रभाव

प्राचीन भारत में स्त्रियों की स्थिति पर्याप्त दयनीय थी– उन्हें सभी अधिकारों से वंचित रखा जाता था। नए सामाजिक अधिनियमों ने उनकी स्थिति में आशातीत परिवर्तन किये हैं। सम्पत्ति उत्तराधिकार, भरण-पोषण, नाबालिग संरक्षकता, बाल-विवाह, विधवा-पुनर्विवाह, दहेज, तलाक जैसे महत्त्वपूर्ण विधानों ने स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को अनेक रूपों में प्रभावित किया है। इन प्रभावों को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है।

(1) सर्वप्रथम हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के द्वारा बहुपत्नी विवाह की प्रथा को समाप्त कर स्त्रियों को न्यायपूर्ण वैवाहिक जीवन व्यतीत करने का अवसर प्रदान किया गया है।

(2) इस अधिनियम ने स्त्रियों को विवाह-विच्छेद के भी पर्याप्त अधिकार दिए हैं। इसका प्रभाव यह हुआ है कि पुरुष वर्ग परिवार में स्त्रियों को सम्मानपूर्वक स्थान देना अपना कर्त्तव्य समझने लगे है।

(3) शारीरिक दोष के आधार पर स्त्रियों को उत्तराधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता।

(4) तलाक प्राप्त स्त्रियो को पुनर्विवाह का अधिकार प्राप्त हुआ है।

(5) विधवा स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार प्राप्त हुआ है।

(6) परिवार में स्त्री व पुरुष को समान अधिकार प्राप्त हुए हैं।

(7) निस्संतान स्त्रियों को गोद लेने का अधिकार मिला है।

(8) नाबालिग संरक्षकता अधिनियम के आधार पर स्त्री को अपने बच्चों की सम्पत्ति का संरक्षक बनने का अधिकार मिला है।

(9) दहेज निरोधक अधिनियम के फलस्वरूप स्त्रियाँ दहेज के विरोध में आवाज उठाने को प्रोत्साहित हुई हैं।

(10) दहेज की सम्पत्ति पर भी उनका अधिकार हो गया है।

(11) विशेष स्थितियों मे स्त्रियों को पृथक् रहने पर भरण-पोषण के अधिकार प्राप्त हुए हैं।

(12) बाल-विवाह की समाप्ति हुई है।

(13) सम्पत्ति अधिकार के परिणामस्वरूप स्त्रियो की स्थिति परिवार में सुदृढ़ हुई है।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी अधिकारो के प्रावधान का परिणाम यह हुआ है कि अब स्त्रियो मे अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता पैदा हुई है। संयुक्त परिवार से अलग रहकर वे अपना जीवन अपने ढँग से जीने के लिए आग्रह करने लगी हैं, जिससे संयुक्त परिवार विघटित हो रहे हैं। स्त्रियो ने शिक्षा, व्यवसाय, जागृति में वृद्धि की है। वे धार्मिक रूढ़ियो, मान्यताओं का विरोध करने लगी हैं–उनमे सामाजिक-चेतना विकसित हुई है। अब वे सामाजिक, राजनैतिक क्षेत्रों में भी सक्रिय रूप से भाग लेने लगी हैं। स्त्रियों की मनोवृत्तियों में आने वाला यह परिवर्तन आगे आने वाली पीढ़ियों को अवश्य प्रभावित करेगा।

सामाजिक विधानों का जाति पर प्रभाव

समय-समय पर जो सामाजिक विधान पारित हुए है उनके जाति-प्रथा पर भी अनेक प्रभाव पड़े है, जो निम्नांकित है—

1. सामाजिक विधानों ने जाति-प्रथा की सदस्यता को गतिशील बना दिया है। अब व्यक्ति जन्म के स्थान पर अपने गुणों— शिक्षा, बुद्धिमत्ता आदि के आधार पर समाज में उच्च स्थान प्राप्त कर सकता है। विधानों ने जन्म पर आधारित सदस्यता के महत्त्व को घटाया है। (2) ये विधान भारतीय समाज को जातिव्यवस्था से वर्ग-व्यवस्था में परिवर्तित कर रहे हैं। (3) उच्च जातियों का महत्त्व कम होता जा रहा है। (4) पहिले व्यवसाय जन्म पर आधारित थे परन्तु अब व्यवसायों को चुनने की स्वतंत्रता हो गई है। (5) जातिगत खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाजों में भी तेजी से परिवर्तन हुआ है। अब ये प्रतिबन्ध पहिले जैसे कठोर नहीं हैं। (6) विवाह के क्षेत्र में भी परिवर्तन हो रहा है। क्योंकि अन्तर्जातीय विवाह करने लगे है। (7) जजमानी प्रथा प्राय समाप्त-सी हो गई है। (8) सामाजिक विधान अस्पृश्यता को समाप्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। छुआछूत, पवित्रता-अपवित्रता आदि रूढ़ियाँ एवं अन्धविश्वास कम हो रहे हैं। अस्पृश्य जातियों की सभी निर्योग्यताएँ कानूनी दृष्टि से समाप्त होने के साथ-साथ व्यवहार में भी समाप्त हो रही हैं। अब अस्पृश्य जातियों के लोग अस्पृश्य नहीं रहे हैं, वे सभी सार्वजनिक स्थानों, मन्दिरो, धार्मिक स्थानों, कुओं, तालाबों, शिक्षण सस्थाओं, आदि का उपयोग करने लगे हैं जैसे उच्च जातियाँ करती हैं। विधानों ने अस्पृश्यता निवारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

सामाजिक विधानों के प्रभाव का मूल्यांकन

सामाजिक अधिनियमों का विस्तार से अध्ययन करने के उपरांत अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ये विधान हमारी सामाजिक समस्या को हल करने में कहाँ तक सफल हुए हैं, सामाजिक विधानो का पिछड़े वर्ग के उत्थान में कितना सहयोग रहा है ?

जहाँ तक सैद्धान्तिक दृष्टि से देखा जाए तो इन विधानो का प्रभाव हमारे सामाजिक जीवन पर अत्यधिक पड़ा है, जैसे—

(i) सयुक्त परिवार के स्थान पर एकाकी परिवारों की वृद्धि हुई है।

(ii) परिवार व समाज में पुरुषों का एकाधिकार समाप्त हुआ है।

(iii) स्त्री-पुरुषो को सभी क्षेत्रों मे समानाधिकार मिले है।

(iv) स्त्रियों की दृष्टि से देखें तो विवाह-विच्छेद, नाबालिग-संरक्षकता, भरण-पोषण, गोद लेना, सम्पत्ति-अधिकार आदि ने स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा को बढ़ाया है।

(v) अस्पृश्य जातियों की सभी निर्योग्यताएँ समाप्त हो गई है।

(vi) न्यायिक, सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक सभी क्षेत्रों में अस्पृश्य जातियों को समान अधिकार प्राप्त हुए हैं।

(vii) अस्पृश्य जातियों को शिक्षा की सुविधा दिए जाने से शिक्षा मे तेजी से वृद्धि हो रही है।

(viii) सरकारी नौकरियों मे अस्पृश्य जाति के व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व है।

इस प्रकार नवीन विधानों ने भारतीय समाज को समतावादी समाज की स्थिति में पहुँचा दिया है जहाँ सवर्ण और अस्पृश्य जातियों के मध्य संघर्ष की स्थिति कम हुई है—उनमें सामाजिक चेतना बढ़ी है, शोषण समाप्त हुआ है। स्त्रियों को भी समानाधिकार प्राप्त हुए हैं।

किन्तु व्यावहारिक रूप से इसका मूल्यांकन किया जाए तो स्थिति इतनी सुदृढ़ स्पष्ट प्रतीत नहीं होती। कहना न होगा कि स्त्रियों को परिवार व समाज में अभी भी पुरुषों की तुलना में हेय दृष्टि से ही देखा जाता है। सामाजिक अधिनियमों के उपरांत भी विधवा-विवाह को आज भी अच्छा नहीं माना जाता, बाल-विवाह अभी भी हो रहे हैं। अन्तर्जातीय विवाहों पर कड़े प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं। व्यावहारिक रूप से स्त्रियाँ अपने अधिकारों से वंचित हैं। दहेज समस्या आज और भी द्विगुणित होती जा रही है। सम्पत्ति के अधिकारों से महिलाएँ अभी भी अनभिज्ञ हैं।

निम्न जातियों को भी व्यावहारिक स्तर पर समानता नहीं मिल सकी है—उनके प्रति वैसा ही भेदभाव रखा जाता है। अत्याचारों की घटनाएँ आज भी सुनाई पड़ती हैं—अस्पृश्य वर्ग को सवर्ण के समकक्ष किसी भी क्षेत्र में मान्यता नहीं मिली है। सामाजिक विधानों का उद्देश्य सामाजिक बुराइयों को दूर करना व समाज कल्याण है किन्तु उसकी कितनी व्यावहारिक उपयोगिता दिखाई देती है यह इस तथ्य पर अधिक निर्भर है कि लोगों को इन विधानों के विषय में कितनी जानकारी है ? वे इस विषय में जागरूक कितने हैं ? वास्तविकता तो यह है कि इन विधानों का उतना उपयोग नहीं हुआ जितना होना चाहिए। सामाजिक चेतना, शिक्षा आदि ही हमें अपने अधिकारों के प्रति सजग कर सकते हैं, यदि इस ओर सामान्य-जन पूर्ण चेतन्य रहे।

सामाजिक विधानों की व्यावहारिक असफलता का क्या कारण है, कौन-कौन-से कारक इसके लिए उत्तरदायी हैं, इस पर विस्तार से अध्ययन किया जा सकता है और उन कारणों को जानकर उस दिशा में प्रयास किया जा सकता है तभी समाजवाद का नारा सही अर्थों में प्रतिफलित होगा।

सार रूप में सामाजिक विधानों की असफलता के लिए निम्नलिखित कारण उत्तरदायी हैं—(i) शासन स्वयं कानूनों की पालना के प्रति उदासीन रहा है। (ii) जन-साधारण को कानून का भली-भाँति ज्ञान नहीं है इसलिए वे कानून का सहयोग ही नहीं ले पाते। (iii) धार्मिक विश्वास, रूढ़ियाँ आदि सबसे बड़ी बाधा हैं। (iv) स्त्रियाँ पुरुषों पर आर्थिक रूप से निर्भर हैं इस कारण पुरुषों के विरुद्ध अपने अधिकारों का उपयोग नहीं कर सकतीं। (v) जातीय-नियमों की कठोरता के कारण अन्तर्जातीय विवाह की अवहेलना एवं अस्पृश्य जातियों के साथ असमानता का व्यवहार हो रहा है जो सामाजिक अधिनियमों की असफलता के कारण है। (vi) निर्धनता भी सामाजिक विधानों की असफलता का कारण रही है।

सामाजिक विधानों की व्यावहारिक सफलता

यदि हम भारत में यह चाहते हैं कि सामाजिक विधान केवल सैद्धान्तिक रूप से ही हमें आश्वासन न देते रहें, व्यावहारिक जीवन में भी इनकी सफलता हो तो इसके लिए यह आवश्यक है कि—

(i) इनके पक्ष में जनमत तैयार किया जाए। रेडियो, अखबार, टेलीविजन, विचार गोष्ठियाँ और रंगमंच-अभिनय आदि के द्वारा जन-जागृति उत्पन्न की जाए जिससे जन-साधारण में यह

चेतना पैदा हो कि सामाजिक विधान उनके लिए ही निर्मित हैं और इनका उपयोग किन-किन स्थितियों में उनको करना चाहिए।

(ii) ग्रामीण जनता को विशेष रूप से उसके अधिकार-कर्तव्यो से जागृत कराया जाए, इसके लिए उसे कानूनी सहायता नि शुल्क दी जाए व समय-समय पर कानूनी सलाह दी जाए।

(iii) सरकार स्थान-स्थान पर ऐसे सेवा केन्द्र स्थापित करे जहाँ लोगों को उनके अधिकार व कर्त्तव्यों के प्रति सचेष्ट किया जाए।

(iv) सम्बन्धित अधिकारियो के दृष्टिकोण मे भी परिवर्तन लाना आवश्यक है। जनता के प्रति उनका सकारात्मक दृष्टिकोण होना आवश्यक है तभी वे जनता के दुख व कठिनाइयों को आश्वस्त होकर सुन सकेंगे।

(v) शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार हो तथा प्रारम्भ से ही सामाजिक विधानों की उपयोगिता को शैक्षिक पाठ्यक्रम का विषय बनाया जाए।

(vi) सामाजिक शोध व अनुसंधान किए जायें और शोधकर्ताओं के सहयोग से सामाजिक विधानों के प्रभाव को जन-साधारण तक सरलीकृत रूप में प्रेषित किया जाए।

अत में कहा जा सकता है कि यदि इस दिशा में प्रयास किया जायेगा तो अवश्य सफलता मिलेगी— नियोजित सामाजिक विधान ही सामाजिक परिवर्तन के महत्त्वपूर्ण आधार है। सामाजिक विधान ही समाज के पुनर्निर्माण मे उपयोगी सिद्ध होंगे।

प्रश्न

1. 'विशेष विवाह अधिनियम, 1954' के प्रमुख सामाजिक प्रभावो का उल्लेख कीजिए।
2. 'हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955' के प्रमुख सामाजिक प्रभावो का उल्लेख कीजिए।
3. 'भारत मे सामाजिक विधान' विषय पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
4. हिन्दू विवाह पर नए सामाजिक विधानो का प्रभाव बताइए।
5. हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के प्रमुख प्रावधानों का विस्तृत वर्णन कीजिए। इन प्रावधानो ने हिन्दू विवाह की समस्याओ को कहाँ तक हल किया है ?
6. हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की विवेचना कीजिए। इसने हिन्दू स्त्रियो को किस प्रकार प्रभावित किया है ?
7. निम्नलिखित अधिनियमों के भारतीय समाज की स्त्रियो पर क्या प्रभाव पडे ?
   (i) हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956
   (ii) हिन्दू नाबालिग सरक्षकता अधिनियम, 1956
   (iii) हिन्दू दत्तक ग्रहण और भरण-पोषण अधिनियम, 1956
   (iv) स्त्रियो का अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम, 1956
8. 'अस्पृश्यता अधिनियम, 1955' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
9. भारतवर्ष में सामाजिक विधानो के समाजशास्त्रीय महत्व पर प्रकाश डालिए।

10. अस्पृश्य जातियों की स्थिति को सुधारने के लिए कौन-कौन-से वैधानिक उपाय किए गए हैं ?
11. भारत में सामाजिक विधानों का अस्पृश्यता पर प्रभाव बताइए।
12. भारतीय समाज पर वर्तमान सामाजिक कानूनों के प्रभावों का विश्लेषण कीजिए।
13. *अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम की प्रमुख धाराओं पर प्रकाश डालिए। (दो पृष्ठों में)* (मा.शि.बो. अजमेर, 1994)
14. हिन्दू विवाह से सम्बन्धित तीन प्रमुख अधिनियमों का उल्लेख कीजिए। संक्षेप में इनके प्रभाव भी बताइए।
15. हिन्दू स्त्रियों की स्थिति में सुधार से सम्बन्धित तीन प्रमुख अधिनियमों के नाम बताइए। इनके स्त्रियों पर क्या प्रभाव पड़े ? संक्षेप में वर्णन कीजिए।
16. *उन सामाजिक अधिनियमों का उल्लेख कीजिए जिनके द्वारा हिन्दू विवाह में परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया गया। (दो पृष्ठों में)* (मा.शि.बो. अजमेर, 1994)
17. "शारदा एक्ट" की प्रमुख धाराओं का उल्लेख कीजिए। (एक पृष्ठ में) (मा.शि.बो. अजमेर, 1994)

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (उत्तर सहित)

1. निम्नलिखित अधिनियम किन वर्षों में पारित हुए हैं ? उस वर्ष को अधिनियम के सामने लिखिए—

(i) *अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम (..............)*
(ii) हिन्दू विवाह अधिनियम (.............)
(iii) दहेज निरोधक अधिनियम (..............)
(iv) विशेष विवाह अधिनियम (..............)
(v) हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम (. ....)
[उत्तर-(i) *1955*, (ii) *1955*, (iii) *1961*, (iv) *1954*, (v) *1956*]

2. *(i) हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 में विवाह की आयु क्या है ?(.. .. ..)*
(ii) बाल-विवाह निरोधक अधिनियम किस वर्ष में बना ? (.. ....)
(iii) स्त्रियों व कन्याओं का अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम कब पारित हुआ ? (. ..... - ....)
(iv) दहेज निरोधक अधिनियम किस वर्ष पारित हुआ ? (..............)
[उत्तर-(i) लड़के की 21 वर्ष तथा लडकी की 18 वर्ष, (ii) 1929, (iii) 1956, (iv) 1961]

3. 'हाँ' अथवा 'नहीं' में उत्तर दीजिए—

(i) सती-प्रथा को समाप्त करने का प्रयास राजा राममोहन राय ने किया था।
(ii) आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती थे।
(iii) बाल-विवाह निरोधक अधिनियम, 1929 'शारदा एक्ट' के नाम से जाना जाता है।
(iv) ब्रह्म समाज के प्रवर्तक महात्मा गाँधी थे।
[उत्तर- (i) हाँ, (ii) हाँ, (iii) हाँ, (iv) नहीं]

4. निम्नलिखित अधिनियमों में से कौन-कौन-से अधिनियम समाज-सुधार से सम्बन्धित हैं—
   (i) भूमि चकबन्दी अधिनियम
   (ii) शारदा एक्ट
   (iii) राजस्थान पंचायत राज अधिनियम
   (iv) दहेज निरोधक अधिनियम
   [उत्तर-(ii), (iv)]
5. निम्नलिखित कथनों को सही करके लीखिए—
   (i) हिन्दू विवाह अधिनियम सन् 1950 में पारित हुआ।
   (ii) विधवा पुनर्विवाह अधिनियम सन् 1956 में बना था।
   (iii) अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम सन् 1855 में पारित हुआ था।
   [उत्तर-(i) 1955, (ii) 1856, (iii) 1955]
6. निम्नलिखित वाक्यों को पूरा कीजिए—
   (i) दहेज निरोधक अधिनियम सन् .... में पारित हुआ था।
   (ii) हिन्दू स्त्रियों को सम्पत्ति में अधिकार सर्वप्रथम सन्............ में मिला।
   (iii) बाल-विवाह निरोधक अधिनियम सन् .... में पारित हुआ था।
   [उत्तर-(i) 1961, (ii) 1937, (iii) 1929]
7. निम्नलिखित प्रावधान किन सामाजिक अधिनियमों के अन्तर्गत रखे गए हैं—
   (i) एक-विवाह की शर्तें।
   (ii) धारा 17 के द्वारा अस्पृश्यों की सभी निर्योग्यताओं को समाप्त करना।
   (iii) विधवा स्त्री अपने मृत पति से प्राप्त अपने हिस्से की सम्पत्ति का अपनी इच्छानुसार प्रयोग कर सकती है।
   [उत्तर-(i) हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955, (ii) अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम 1955, (iii) हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956]

□□□

अध्याय - 20

पंचवर्षीय योजनाएँ तथा सामाजिक परिवर्तन

(Five Year Plans and Social Change)

भारत की स्वतंत्रता के पश्चात्, प्रजातान्त्रिक सरकार का उद्देश्य देश की जनता का जीवन स्तर उन्नत करना रहा है। पंडित नेहरू की यह परिकल्पना थी कि देश की चतुर्मुखी प्रगति के लिये उसकी आधारशिला इस प्रकार रखी जाए कि आगे चलकर वह अपने पैरों पर खडा हो सके। अत: देश की जनता की आर्थिक स्थिति को सुदृढ बनाने के लिए योजनाबद्ध तरीके से कार्य करने हेतु 1951 से पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से देश की आर्थिक स्थिति को गतिशील करने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई।

वास्तव में अंग्रेजी शासन के दौरान देश की आर्थिक स्थिति बडी दुर्बल हो गई थी। अर्थ-तंत्र की नींव डगमगाने से अनेक सामाजिक-आर्थिक समस्याये सामने आने लगी थीं जिनसे उबरने का एक मात्र प्रयास देश का योजनाबद्ध तरीके से विकास करना था। योजनाबद्ध कार्य के द्वारा एक निश्चित चरण में अपने सामाजिक लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है। आज जब भारत विकसित राष्ट्रों की श्रेणी में आने के लिए प्रयासरत है तो उसके लिये यह अत्यावश्यक है कि वह अपने सामाजिक -आर्थिक विकास को योजनाबद्ध रूप से करे क्योंकि बिना सुनियोजन के देश की समस्याओं से नहीं निपटा जा सकता। भारत में पंचवर्षीय योजनाओं का प्रारंभ 1951 से किया गया है। अब तक आठ पंचवर्षीय योजनाओं का गठन हो चुका है जिनमें देश के कल्याणार्थ अनेक कार्य किए जा चुके हैं।

पंचवर्षीय योजनाओं का विस्तार से अध्ययन करने के पूर्व नियोजन का अर्थ और भारत में इसकी आवश्यकता पर एक दृष्टि डालना आवश्यक है।

नियोजन (आयोजन) का अर्थ और परिभाषा—

1.ग्रिफिन और इनास ने कहा है "नियोजन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये एक उपयुक्त साधन है तथा मानवीय क्रियाओं की उद्देश्यपूर्ण दिशा है।"

2.एल.एस. लारवेन के अनुसार, "नियोजन सामान्यतया मानवीय शक्ति को विवेकपूर्ण एवं इच्छित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आदेशित करने का एक प्रयत्न है।"

3. गुन्नार मिर्डल ने कहा है, "नियोजन से तात्पर्य एक देश की सरकार द्वारा साधारणतया अन्य सामूहिक समितियों की सहभागितापूर्ण सामाजिक नीतियों को तार्किकता सहित समन्वित

करने का चेतन प्रयास है जिससे आगामी विकास के चाहे गए उद्देश्यों, जो राजनैतिक प्रक्रिया द्वारा निर्धारित होते है (उन), तक पूर्ण रूप से तथा शीघ्रता से पहुँचा जा सके।"

4. योजना आयोग, भारत सरकार ने कहा है, "नियोजन वास्तव में सुपरिभाषित सामाजिक उद्देश्यो की दृष्टि से अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिये अपने साधनो को संगठित करने तथा उपयोग मे लाने की विधि है।"

उपर्युक्त विद्वानो ग्रिफिन, इनास, लारविन, मिर्डल और योजना आयोग की परिभाषाओ से यह निष्कर्ष निकलता है कि नियोजन एक व्यवस्थित और क्रमबद्ध मानव संगठन का प्रयास है जो उपलब्ध साधनो से अधिकतम लक्ष्यों को कम-से-कम समय में प्राप्त करने का प्रयास करता है।

नियोजन के उद्देश्य .-नियोजन का उद्देश्य मानवीय स्वतत्रता और बौद्धिकता का विकास करना है। नियोजन का उद्देश्य सीमित साधनों का इस ढंग से उपयोग करना है जिससे अधिकाधिक उद्देश्यों की पूर्ति की जा सके।

नियोजन को प्रमुखत: दो प्रकार का माना जा सकता है—

(1) आर्थिक नियोजन (2) सामाजिक नियोजन।

आर्थिक नियोजन— आर्थिक नियोजन का उद्देश्य अविकसित क्षेत्रों का विकास करना और आर्थिक असमानता को दूर करना है। आर्थिक नियोजन के क्षेत्र में कृषि, व्यापार, उद्योग-धन्धे, यातायात संचार, रोजगार, खनिज-पदार्थ और प्रति व्यक्ति अधिकतम आय आदि उद्देश्यों को लिया जा सकता है।

सामाजिक नियोजन— सामाजिक नियोजन का उद्देश्य सामाजिक पुनर्निर्माण के कार्यक्रम को क्रियाशील बनाए रखना है। सामाजिक नियोजन के क्षेत्र में शारीरिक एव मानसिक दृष्टि से अक्षम व्यक्तियो के लिए तथा समाज के पिछडे वर्गों के उन्नयन के लिये कार्यक्रम बनाना व उन्हें क्रियान्वित करना, मातृत्व एव शिशु कल्याण शराबबंदी, स्वास्थ्य और शिक्षा में सुधार और सामाजिक कुरीतियो का निवारण आदि आते हैं।

सारांश में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक नियोजन का उद्देश्य सम्पूर्ण समाज का सभी प्रकार से कल्याण करना है तथा समाज के प्रत्येक सदस्य को सुरक्षा प्रदान करना है। समाज में सामाजिक न्याय, समानता, स्वतन्त्रता तथा भ्रातृत्व के वातावरण का निर्माण करना है। भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सविधान तथा पचवर्षीय योजनाओं के द्वारा उपर्युक्त लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास किया जा रहा है। एक शब्द मे कहें तो समाजवादी समाज की स्थापना का उद्देश्य रखा गया है। भारत मे सामाजिक नियोजन के उद्देश्य, वर्णन तथा व्याख्या समय-समय पर होती रही है। जहाँ तक सवैधानिक नियोजन का प्रश्न है,वह तो सन् 1950 में संविधान का निर्माण करके कर दिया गया है। उनको पचवर्षीय योजनाओं के द्वारा व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया जाता रहा है। पचवर्षीय योजनाओ तथा अन्य कार्यक्रमों के द्वारा भारत में नियोजन किया जाता रहा है जिसके उद्देश्य शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, शोषण से रक्षा, कृषि क्षेत्र में सुधार, वास्तविक प्रजातन्त्र की स्थापना व देश को समृद्ध बनाना आदि हैं।

भारत में नियोजन की आवश्यकता तथा महत्त्व— भारत में नियोजन की आवश्यकता मुख्यत: सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और ग्रामीण क्षेत्र तथा समाज कल्याण, जनसंख्या नियंत्रण आदि में है। इनका वर्णन निम्नलिखित प्रकार से है—

1. सामाजिक क्षेत्र— भारत मे समय-समय पर सरकारी , अर्द्धसरकारी और गैर-सरकारी संगठनों द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार समाज के विभिन्न क्षेत्रों में परिवर्तन लाने के प्रयास किये जाते रहे हैं। विभिन्न नियोजित सामाजिक कार्यक्रमो द्वारा समाज की अनेक समस्याओं, कुरीतियों, अन्धविश्वासों, प्रथाओं आदि को बदलने का प्रयास किया गया, कानून बनाए गए। सती -प्रथा, *विधवा-पुनर्विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, बाल-विवाह निरोधक अधिनियम आदि नियोजित* सामाजिक परिवर्तन के उदाहरण हैं। सरकार और समाज सुधारकों के प्रयास इस क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं। अभी भी भारत में समाज से सम्बन्धित अनेक समस्याएँ हैं जिन्हें नियोजन के द्वारा समाप्त करने के लिए प्रयास किये जा रहे हैं, इनमें उल्लेखनीय समस्याएँ— बाल-विवाह, विधवा-पुनर्विवाह, अन्त जाति विवाह, पर्दा-प्रथा, दहेज, अशिक्षा, अस्पृश्यता, जाति-व्यवस्था के प्रतिबन्ध आदि हैं। इनके अतिरिक्त बाल-भिक्षावृत्ति, भिक्षावृत्ति, बाल-अपराध, वेश्यावृत्ति, क्षेत्रवाद, साम्प्रदायिकता, भाषावाद, छात्र-असन्तोष, भ्रष्टाचार, बेकारी आदि अनेक सामाजिक समस्याएँ हैं जिनको समाप्त करने के लिए नियोजन कार्यक्रम चल रहे है, उनका मूल्यांकन किया जाता रहा है तथा नई-नई योजनाएँ तैयार की जाती रही हैं। नियोजन का सबसे प्रमुख लक्ष्य उपर्युक्त समस्याओं को समाप्त करके समाज की व्यवस्था को सुधारना है।

2. *समाज कल्याण— भारत में अनेक क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ नियोजित समाज कल्याण कार्यक्रमो* की विशेष आवश्यकता रही है। आदिम-समाज, गिरिजन समाज, पिछड़ी जातियाँ, दलित वर्ग आदि की स्थिति बहुत दयनीय है। इनके सुधार के लिए राज्य एव केन्द्र सरकार ने अनेक समाज कल्याण कार्यक्रम चला रखे है। नियोजन के द्वारा इन समाजों का विकास करने का प्रयास किया जा *रहा है तथा विभिन्न समस्याएँ, जैसे—अज्ञानता, अन्धविश्वास, बेकारी, बीमारी, सामाजिक शोषण,* दरिद्रता, पिछड़ापन, शारीरिक और मानसिक असमर्थता आदि को दूर करने का प्रयास किया जा रहा है। इस प्रकार के नियोजन कार्यक्रमो को समाज कल्याण के अन्तर्गत रखा गया है। इन उपर्युक्त क्षेत्रों के अतिरिक्त शिशु कल्याण, मातृत्व कल्याण, श्रम-कल्याण, परिवार नियोजन आदि के लिये *भारत में नियोजन की विशेष आवश्यकता है।*

3. आर्थिक क्षेत्र— कोई भी नियोजित कार्यक्रम आर्थिकी से असम्बन्धित नहीं हो सकता है। कोई भी समाज, देश या राष्ट्र कभी भी नियोजित आर्थिक परिवर्तन से स्वतन्त्र नहीं हो सकता। जब से नियोजित परिवर्तन का हथियार मानव के हाथ लगा है तब से आर्थिक लक्ष्य सर्वोपरि रहा है। सभी समाजों में, सभी कालों में नियोजित आर्थिक परिवर्तन किसी न किसी रूप मे सामाजिक परिवर्तन का अंग रहा है। भारत मे स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस पर विशेष ध्यान दिया गया है क्योंकि गरीबी, बेरोजगारी, शोषण, आर्थिक विषमता, आर्थिक तथा सामाजिक असुरक्षा, वर्ग संघर्ष आदि जटिल समस्याओं का निराकरण नियोजित कार्यक्रम के द्वारा ही अल्पकाल मे सम्भव हो सकता है। आर्थिकी से सम्बन्धित जितनी भी समस्याएँ हैं वे समाज के कमजोर वर्गों से सम्बन्धित होती हैं तथा उनका आर्थिक कल्याण सरकार ही कर सकती है। इसीलिए विभिन्न योजनाओं द्वारा निर्धन वर्ग की आर्थिक स्थिति को सुधारने तथा परिवर्तन करने के लिये सरकार सतत प्रयास करती रही है तथा इसमें आशातीत सफलता भी मिली है। निर्धन वर्ग की स्थिति मे सुधार भी आया है।

4. राजनैतिक क्षेत्र— नियोजन का एक महत्त्वपूर्ण प्रकार राजनैतिक भी है। सामाजिक परिवर्तन लाने मे राजनैतिक नियोजन की भी अहम् भूमिका है जिसे निम्नलिखित प्रकार से देखा जा सकता है। समय-समय पर सरकार अनेक नियम तथा अधिकार देकर सामाजिक जीवन में परिवर्तन लाने

के लिये योजनाबद्ध रूप से कार्य करती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत का जो संविधान बना तथा पंचवर्षीय योजनाएँ बनाई तथा कार्यान्वित की गईं उनमें मुख्य लक्ष्य भारत में लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना करना रहा है। इसमें राज्य द्वारा समाजवाद लाने का प्रयास किया जाता रहा है। नियोजन द्वारा समाजवाद लाने के लिये प्रजातांत्रिक पद्धति अपनाई गई जो प्रत्येक नागरिक को समानता, स्वतन्त्रता, बन्धुत्व, सामाजिक-न्याय आदि प्रदान करती है। इसमें राजनैतिक क्षेत्र में नियोजित परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाता है।

5. धार्मिक क्षेत्र— धर्म के द्वारा नियोजित सामाजिक परिवर्तन किए गये हैं। धर्म के द्वारा मानव सामाजिक व्यवस्था को नियंत्रित रखा जाता है। हिन्दू समाज में धर्म के द्वारा अनेक योजना-बद्ध विधि से सामाजिक परिवर्तन किए गये जो समाज के लिये लाभदायक अथवा हानिकारक सिद्ध हुये। मध्यकाल तथा स्मृतिकाल मे धर्म के नाम से समाज में अनेक परिवर्तन, जैसे— स्त्री-शिक्षा पर प्रतिबन्ध, सती प्रथा, अस्पृश्यता, विधवा पुनर्विवाह प्रतिबन्ध, बाल-विवाह आदि का प्रयास प्रारम्भ किया गया जो कालान्तर में कुरीतियों, कुप्रथाओं के रूप में विकसित हो गया।

दूसरी ओर अनेक धार्मिक सुधार आन्दोलन चले जो एक प्रकार से नियोजित सामाजिक परिवर्तन करने के उद्देश्य से प्रारम्भ हुए, जैसे— बौद्ध धर्म (अशोक के शासन काल में), जैन धर्म, ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि। ब्रह्म समाज के प्रयासों द्वारा सती-प्रथा निरोधक अधिनियम तथा विधवा पुनर्विवाह अधिनियम सरकार को बनाने पड़े। आर्य समाज के द्वारा हिन्दू धर्म तथा समाज को नियोजित रूप से परिवर्तित करने का प्रयास किया गया जिसमें अन्धविश्वास, छुआछूत की भावना (अस्पृश्यता), धार्मिक कट्टरता, कर्म-काण्ड की जटिलता आदि को समाप्त करने का प्रयत्न होता रहा है। भारतवर्ष में अनेक धार्मिक सगठनों द्वारा नियोजित सामाजिक परिवर्तन हुए हैं। इनमें उल्लेखनीय धार्मिक सगठन, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म आदि हैं।

6. जनसंख्या नियंत्रण— जनसंख्या के आकार और घनत्व का सीधा सम्बन्ध समाज की खुशहाली, जन्म-दर, मृत्यु-दर आदि के साथ है। इसलिए समाज में नियोजन द्वारा जनसंख्या को बढ़ाना अथवा घटाना आवश्यकतानुसार महत्त्वपूर्ण होता है। भारत में जनसंख्या की वृद्धि बहुत तीव्र गति से हो रही है इसलिए अनेक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के बाद भी देश की स्थिति दयनीय है। विभिन्न क्षेत्रों में उल्लेखनीय प्रगति का लाभ जनसंख्या की वृद्धि के कारण नगण्य हो जाता है। भारत में नियोजित सामाजिक परिवर्तन द्वारा लक्ष्यों को तभी प्राप्त किया जा सकता है जब जनसंख्या की वृद्धि को रोका जाए। इसके लिये परिवार नियोजन कार्यक्रम चलाया जा रहा है। तेजी से जनसंख्या के बढ़ने को रोकने के लिये गर्भपात को भी वैधानिक मान्यता दे दी गई है। जब तक जनसाधारण परिवार नियोजन के कार्यक्रम को अपना कर जनसंख्या की वृद्धि को रोकने में सहयोग नहीं देंगे तब तक भारत में चलाए जा रहे अनेक आर्थिक, सामाजिक आदि नियोजित परिवर्तन के कार्यक्रमों के लक्ष्य भी प्राप्त नहीं हो पाएंगे।

7. नगर नियोजन— कई शताब्दियों तक लोग अपने मकानों को अपनी इच्छानुसार बना लेते थे। 20 वीं शताब्दी तक नगरो के निर्माण की योजनाबद्ध पद्धति से बसावट पर सामान्यतया ध्यान नहीं दिया गया है लेकिन आज इसके प्रति जागरूकता दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। नगर नियोजन पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। मानव समाज की विभिन्न आवास सम्बन्धी आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर नगरो का निर्माण किया जाता है। इससे सम्बन्धित अनेक कानून पारित किए

प्रथम पंचवर्षीय योजना

(1951-56)

द्वितीय महायुद्ध के कारण एवं देश के विभाजन के परिणामस्वरूप समाज के समक्ष अनेक समस्याएँ आ गई थीं। अनेक शरणार्थी भारत में आ गये थे, जिनको बसाना था। देश की आर्थिक-दशा जीर्ण-शीर्ण स्थिति में थी, खाद्यान्न व कच्चा माल अपर्याप्त था। देश की अधिकांश जनता जो ग्रामों में निवास कर रही थी, उसके लिये कृषि, शिक्षा, कुटीर-उद्योग, यातायात, चिकित्सा व स्वास्थ्य आदि की सुविधाएँ उपलब्ध करानी थीं, इन सब समस्याओं को सुलझाने के लिये व देश की अर्थ-व्यवस्था को सुनियोजित करने के उद्देश्य से सन् 1946 मे के.सी. नियोगी की अध्यक्षता में 'सलाहकार योजना बोर्ड' स्थापित हुआ। उसने योजना आयोग गठित करने की सलाह दी, जिसके परिणामस्वरूप 15 मार्च, 1950 को पडित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता मे **'राष्ट्रीय योजना आयोग'** की स्थापना की गई। 16 माह के विचार-विमर्श के उपरांत पाँच वर्ष का कार्यक्रम देश के विकास की दृष्टि से बनाया गया। जिसे **'प्रथम पंचवर्षीय योजना'** कहा जाता है। इसकी अवधि 1 अप्रैल, 1951 से 31 मार्च, 1956 थी।

योजना व्यय— प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में कुल योजना व्यय 1,960 करोड़ रुपये था। उस समय देश में उपस्थित खाद्य-संकट के समाधान हेतु एव औद्योगिक कच्चे माल की प्राप्ति के लिये इस योजना में कृषि को प्रमुखता दी गई और कृषि और सामुदायिक विकास पर 290 करोड रुपये, सिंचाई एवं बाढ नियन्त्रण पर 430 करोड रुपये व्यय किये गये जो कुल योजना व्यय का 30 6 प्रतिशत था। उद्योग और खनिज पर 55 करोड रुपये, परिवहन और संचार पर 518 करोड रुपये, और अन्य मदों पर 225 करोड रुपये व्यय किये गये।

योजना की उपलब्धियाँ— इस योजना काल में सबसे अधिक महत्त्व कृषि और सिंचाई को दिया गया। यह सम्पूर्ण योजना -बजट का 44.6 प्रतिशत था। औद्योगिक क्षेत्र पर योजना- लागत का कुल 5 प्रतिशत व्यय किया गया, जो बहुत कम था। विद्युत-विकास, सामुदायिक विकास और समाज-कल्याण को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया। पिछडे वर्गों के कल्याण पर केवल 2.03 करोड रुपये खर्च किये गये। अनुसूचित जातियों के कल्याण के लिये 7.8 करोड रुपये और जनजातियो पर 1 10 करोड रुपये व्यय किये गये। इस समय एक **"समाज कल्याण बोर्ड"** की स्थापना- दुर्गाबाई देशमुख की अध्यक्षता में की गई जिसका कार्य स्वास्थ्य, शिक्षा, अपग बच्चो व स्त्रियो के कल्याण के लिये कार्य करना था। इस योजना काल के अन्त में 18 प्रतिशत की वृद्धि हुई और योजना के पूरे बजट में से मात्र दो-तिहाई खर्च हुआ।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

(1956- 61)

सन् 1956-61 के मध्य द्वितीय पंचवर्षीय योजना लागू की गई। इस योजना काल में कृषि की अपेक्षा उद्योग को अधिक प्राथमिकता प्रदान की गई। इस काल में योजना के समक्ष प्रमुख उद्देश्य लोगों के रहन-सहन के स्तर को उन्नत करना था। इसके लिये भारी उद्योगों को विकास करना व लोगों को अधिकाधिक रोजगार के अवसर प्रदान करना, प्रमुख लक्ष्य रखा गया जिससे राष्ट्रीय

.इस योजना काल में कुल राशि का 17 प्रतिशत समाज-कल्याण कार्यों पर व्यय किया गया। स्वास्थ्य, शिक्षा, विस्थापितों के पुनर्वास, अपराध- निवारण और जल-पूर्ति आदि के लिये भी पर्याप्त प्रयास किए गये, किन्तु प्रति व्यक्ति आय में कोई अंतर नहीं पड़ा। इस काल में अंतर्राष्ट्रीय बैंक से भी काफी ऋण लेना पड़ा। इस प्रकार इस योजना में अर्थव्यवस्था अति दीन-हीन स्थिति में हो गई।

योजना की छुट्टी का काल अथवा योजना अवकाश

तृतीय योजना के अन्त मे अर्थ-व्यवस्था पर अत्यधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ा परिणामत: योजना आयोजकों ने चतुर्थ योजना के स्थान पर तीन वार्षिक योजनाएँ क्रियान्वित कीं। इन वार्षिक योजनाओं का मूल लक्ष्य खाद्यान्न संकट को समाप्त करना रखा गया। इस कारण कृषि को उच्च प्राथमिकता दी गई। सन् 1966 से 1969 तक के काल में तीन वार्षिक योजनाएँ इस प्रकार बनाई गईं– (1) 1966-67 का काल जिसमे 2,082 करोड़ रुपये व्यय प्रस्तावित किया गया और वास्तविक व्यय 2,137 करोड़ हुआ, (2) 1967-68 का काल जिसमें 2,246 करोड़ प्रस्तावित व्यय रखा गया और 2,205 करोड़ वास्तविक व्यय हुआ और (3) 1968-69 का काल जिसमें प्रस्तावित व्यय 2,337 करोड़ और वास्तविक व्यय 2,283 करोड रहा। इन कालों में तृतीय पचवर्षीय योजना काल की अवधि में हुई कमियो को दूर करने का कार्य किया गया। इसमें तृतीय पचवर्षीय योजना के बचे हुये कार्यों को पूरा किया गया। इसी कारण इस काल को 'योजना की छुट्टी का काल' अथवा 'योजना-अवकाश' कहा जाता है।

इन तीनो कालो का कुल योजना व्यय 6,625 करोड़ रुपये हुआ। कृषि और सिंचाई पर 426 करोड और 471 करोड़ रुपये खर्च किये गए। परिवहन व संदेशवाहन पर 1,107 करोड, शिक्षा पर 207 करोड, नियोजन पर 752 करोड, पिछडे वर्गों के कल्याण पर 68. 5 करोड़ रुपये खर्च किये गये।

चौथी पंचवर्षीय योजना

(1969-74)

चौथी पचवर्षीय योजना 1969 मे शुरू की गई। इस योजना के उद्देश्य– 5.5% वार्षिक वृद्धि दर से *आर्थिक विकास करना, आय के वितरण में असमानताओ को कम करना, समानता और* सामाजिक न्याय मे वृद्धि करना, देश का तीव्रता से विकास करना, जनसंख्या वृद्धि को रोकना, इसके लिये परिवार नियोजन कार्यक्रम को विस्तार से लागू करना, बेरोजगारी को रोकना, आय की असमानता को कम करना और देश को आत्मनिर्भरता प्रदान करना– थे।

योजना-व्यय– *इस योजना काल में 15, 779 करोड रुपये व्यय किए गये। इनमें से कृषि पर 2,320 करोड,* सिचाई पर 1,354 करोड, शक्ति पर 1,932 करोड़, परिवहन एवं संचार पर 3,080 करोड़, स्वास्थ्य पर 403 4 करोड़, परिवार-नियोजन पर 315 करोड, जलपूर्ति व सफाई पर 407 3 करोड और पिछड़े लोगों के कल्याण पर 142.4 करोड़ रुपये खर्च किए गये।

योजना की उपलब्धियाँ– चौथी पंचवर्षीय योजना ने *न तो खाद्यान्नो मे आत्म-निर्भरता प्राप्त* की और न ही इस योजना मे बेरोजगारी में कमी हुई। मुद्रास्फीति भी और जटिल हो गई। इस प्रकार यह योजना आर्थिक विकास लाने में सफल नही रही।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना

(1974-79)

इस योजना का मुख्य लक्ष्य, गरीबी- उन्मूलन और आत्मनिर्भरता प्राप्त करना था। निर्धन व्यक्तियों को निर्धनता की रेखा से ऊपर उठाने के लिये 1972-1973 की कीमतों को आधार मानकर 40 रुपये प्रति व्यक्ति प्रतिमाह की आय को निश्चित करने के लिये रोजगार के अवसरों का विस्तार, आत्मनिर्भरता, न्यूनतम मजदूरी निश्चित करना, और क्षेत्रीय असंतुलनों को दूर करने आदि के लिये प्रयास किए गये।

योजना-व्यय— इस योजना काल में 53,411 करोड रुपये का प्रस्तावित व्यय तय किया गया जिसे बाद में बढ़ाकर 63,751 करोड़ रुपये कर दिया गया। इसमें कृषि पर 4,805 करोड़, सिंचाई और बाढ नियंत्रण पर 3,877 करोड़ रुपये व्यय किये गये। इसमें कृषि-विकास की वार्षिक दर का लक्ष्य 5.5 प्रतिशत रखा गया, जिसे पूरा कर लिया गया। इस समय उद्योग एवं संचार पर 10,201 करोड, परिवहन और संचार पर 6,917 करोड़, शिक्षा पर 1,285 करोड़, समाज कल्याण पर 119 करोड़, और अन्य मदों पर 5,703 करोड रुपये खर्च किये गये। श्रम-कल्याण पर 57 करोड़ और परिवार-नियोजन पर 516 करोड़ रुपये खर्च किये गये।

योजना की उपलब्धियाँ— यह योजना सन् 74 से 79 तक के लिये थी किन्तु 1977 में कांग्रेस की हार और जनता पार्टी की जीत के कारण जनता दल सरकार ने इस योजना को 31 मार्च, 1978 को ही समाप्त कर दिया। छठी योजना को उसी समय प्रारम्भ कर दिया गया किन्तु जब कांग्रेस सरकार ने जनता पार्टी को हराकर पुनः सत्ता हासिल की तो पाँचवीं योजना के काल को 74 से 79 तक बताया।

वास्तव में इस योजना काल में किसी भी क्षेत्र में कोई विशेष लक्ष्य प्राप्त नहीं किये जा सके। हाँ, खाद्यान्न के क्षेत्र में अवश्य सफलता हासिल की गई। फिर भी कृषि उत्पादकता और विकास की दृष्टि से पंचम पंचवर्षीय योजना संतोषजनक नहीं कही जा सकती।

छठी पंचवर्षीय योजना

(1980-85)

इस योजना काल में जो महत्वपूर्ण लक्ष्य निर्धारित किये गये, वे इस प्रकार हैं— आर्थिक और तकनीकी क्षेत्र में आधुनिकीकरण को बढ़ावा देना, ऊर्जा-विकास करना, गरीबी समाप्त करना व विकास की दर में उल्लेखनीय वृद्धि करना।

योजना-व्यय— इस योजना काल मे 8,75,000 करोड़ रुपये व्यय करने का लक्ष्य रखा गया। इस काल में कुल योजना-व्यय का 28 प्रतिशत ऊर्जा-विकास पर खर्च किया गया, उसके बाद कृषि- विकास पर कुल व्यय का 26 प्रतिशत व्यय किया गया। शिक्षा के विकास की दृष्टि से इस काल में 11 से 14 वर्ष तक के 50 प्रतिशत बालकों को शिक्षित करने का लक्ष्य रखा गया। 50 लाख बच्चो को दोपहर का भोजन देने की योजना की गई। इस प्रकार इस काल मे शिक्षा पर 2,354 करोड़ रुपये का व्यय किया गया। स्वास्थ्य और परिवार कल्याण पर 2,831 करोड़ रुपये,

सामाजिक कल्याण कार्यक्रम पर 272 करोड रुपये, श्रम कल्याण पर 200 करोड रुपये खर्च किये गये। सभी प्रकार के श्रमिकों के लिये न्यूनतम मजदूरी अधिनियम लागू करने के प्रयास किये गये। परिवहन और संचार पर 15,702 करोड और शक्ति पर 15,018 करोड की राशि खर्च की गई।

योजना की उपलब्धियाँ— इस काल में दरिद्रता की समाप्ति का उद्देश्य प्रमुख था अत: इस योजना में आर्थिक विकास, आय की असमानता को कम करना, कमजोर वर्गो को ऊपर उठाना और बेरोजगारी उन्मूलन आदि पर विशेष बल दिया गया। इस योजना में विकास के क्षेत्र में अच्छी सफलता प्राप्त की गई। गरीबी की रेखा से नीचे जीवन जी रहे लोगों का अनुपात जो 77-78 में 48.3 प्रतिशत था, अब गिरकर 36.9 प्रतिशत रह गया। जनसंख्या नियंत्रण पर भी बल दिया गया। इसी काल में ग्रामीण-निर्धनता के निवारण के लिये 'समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम' प्रारम्भ किया गया।

सातवीं पंचवर्षीय योजना

(1985-90)

इस योजना काल में यह कल्पना की गई कि कृषि में उत्पादन का महत्त्वपूर्ण भाग लघु एवं सीमान्त किसानों तथा वर्षा वाले व शुष्क क्षेत्रों से प्राप्त किया जा सकेगा और सिचाई-सुविधाओं के विस्तार को सर्वोच्च महत्त्व दिया जायेगा। इस समय गरीबी और बेरोजगारी को दूर करने को प्राथमिकता दी गई। इस काल में खाद्यान्न, रोजगार और उत्पादकता मे वृद्धि— इन पर अत्यधिक जोर दिया गया।

योजना-व्यय— इस योजना में 34 खरब, 81 अरब 48 करोड़ रुपए व्यय करने का प्रावधान था। इनमे से कृषि-विकास सम्बन्धी कार्यक्रमो पर 39,769 करोड रुपये व्यय किये गये जो कुल योजना व्यय का 22.1 प्रतिशत था। कुल व्यय मे से 18 खरब रुपये सार्वजनिक क्षेत्र पर खर्च किए जाने का लक्ष्य रखा गया। ग्रामीण विकास पर 9,074.22 करोड़, शक्ति पर 54,821.26 करोड़, यातायात पर 22,791.02, विज्ञान और तकनीक पर 2,466 करोड तथा समाज सेवाओ पर 29,350 46 करोड़ खर्च किया गया।

योजना की उपलब्धियाँ— इस काल में कृषि, ग्रामीण-विकास और सामाजिक सेवाओं पर विशेष बल दिया गया था किन्तु कृषि और ग्रामीण विकास आदि में आशा के अनुरूप सफलता नहीं मिल सकी। यद्यपि इस समय सभी विकास कार्यक्रमों पर पर्याप्त राशि व्यय की गई थी। इस योजना में गरीबी और बेरोजगारी दूर करने, तथा सभी को मकान प्राप्त कराने, एवं स्वास्थ्य संरक्षा हेतु महत्त्वपूर्ण प्रयास किये गये

1 अप्रैल, 1990 से आठवी पंचवर्षीय योजना को प्रारम्भ किया जाना था किन्तु केन्द्रीय स्तर पर राजनैतिक अस्थिरता के कारण इसे अप्रैल 1992 से लागू करना पडा। इसके बीच के दो वर्षों के अन्तराल को (1990-91 और 1991-92) को 'वार्षिक-योजना-काल' माना गया। 1990-91 मे योजना-व्यय 61,523.1 करोड़ और 1991 -92 में योजना पर 2,316.8 करोड रुपये खर्च किए गये।

आठवीं पंचवर्षीय योजना

(1992-1997)

यह योजना वर्तमान में लागू है जो 1997 तक चलेगी। इस योजना के अंत तक ग्रामीण-विकास, निर्धनता की समाप्ति, जनसंख्या-नियंत्रण, शिक्षा एवं अनिवार्य आवश्यकताएँ सबको उपलब्ध कराने का लक्ष्य रखा गया है। इस काल में रोजगार को उपलब्ध कराने का प्रमुख लक्ष्य रखा गया है। नरसिम्हाराव सरकार के काल में प्रणव मुखर्जी ने 22 मई, 1992 को इस योजना को 'राष्ट्रीय विकास परिषद्' से पास करवाया।

योजना-व्यय— इस योजना काल में 8,98,000 करोड़ रुपये खर्च किये जायेंगे। कृषि-विकास कार्यक्रमों पर 1,48,800 करोड़ प्रस्तावित व्यय है। सार्वजनिक क्षेत्र पर 4,34,000 करोड़ खर्च करने का लक्ष्य रखा गया है। गरीबी- उन्मूलन, अशिक्षा की समाप्ति और सभी स्थानों पर पेयजल और प्राथमिक चिकित्सा उपलब्ध कराने पर विशेष बल दिया गया है। ऐसा प्रयास किया जा रहा है कि अधिकाधिक पूँजी ऐसे छोटे उद्योगों में लगाई जाए, जिनके गहन होने की संभावना हो। कृषि-उद्योग, सेवा क्षेत्र और निर्यात के विकास की दर में पूर्व की तुलना में अधिक वृद्धि की आशा की गई है। देश को आत्मनिर्भरता की ओर ले जाने में इस योजना में विशेष ध्यान दिया जायेगा।

सभी पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा देश को आगे बढ़ाने के लिए अनेक कार्यक्रम सरकार द्वारा चलाए गए। समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, ग्रामीण महिला एवं बाल विकास कार्यक्रम, स्वच्छ पेयजल एवं स्वच्छता और भूमि सुधार एवं भू-अभिलेख आदि पर आठवीं पचवर्षीय योजना में पर्याप्त राशि व्यय की जाएगी। इलेक्ट्रोनिकी, समन्वित ऊर्जा आयोजन कार्यक्रम और निर्धनता आदि पर विशेष जोर दिया जाएगा। इन सब कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप देश अवश्य प्रगति के पथ पर अग्रसर होगा। रोजगार के अवसर प्राप्त कराना, कमजोर वर्गों का उन्नयन, निर्धनता की परिसमाप्ति और ऊँच-नीच का भेद मिटाकर समाज को समता की ओर ले जाने का लक्ष्य पूरा कर लिया जाएगा।

पंचवर्षीय योजनाएँ : सामाजिक परिवर्तन एवं समाज कल्याण

पंचवर्षीय योजनाओं का लक्ष्य समाज के कमजोर वर्गों का उन्नयन करना है। देश में सामाजिक परिवर्तन लाने के लिये अनेक कार्यक्रम चलाए गये जिनका उद्देश्य समतावादी समाज की स्थापना करना है। अस्पृश्यता की समाप्ति और ऊँच-नीच की परिसमाप्ति के लिये समाज कल्याण कार्यक्रम की स्थापना की गई है। इन कल्याणकारी कार्यों का उद्देश्य पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से समाज में परिवर्तन लाना है। समाज कल्याणकारी कार्यक्रमों का अर्थ समाज के शोषित, पिछड़े और असहाय लोगों के कल्याणार्थ की जाने वाली सेवाओं से लिया जाता है, जिससे ये कमजोर वर्ग ऐसी स्थिति में आ सकें कि अपना विकास स्वयं कर सकें।

योजना आयोग के अनुसार— "समाज कल्याण कार्यक्रमों से जनता के अनेक पीड़ित वर्गों के कल्याण के सम्बन्ध में समाज की चिंता व्यक्त होती है और इन कार्यों में राष्ट्रीय विकास पर विशेष जोर दिया जाता है।"

दुर्गाबाई देशमुख ने समाज कल्याण कार्यक्रम को जनसंख्या के दुर्बल एवं पीडित हिस्से के लाभ के लिये किए जाने वाला विशेषीकृत कार्य बताया है जिसमें स्त्रियों, बच्चों, अपंगों और मानसिक रूप से विकृत व पीडित व्यक्तियों के कल्याणार्थ की जाने वाली सेवाएँ समाविष्ट हैं।

सारांशत: समाजकल्याण कार्यकम में समाज के कमजोर वर्गों के लाभार्थ विशेष प्रयास किए जाते हैं जिससे ये लोग आत्मविश्वास और आत्म-निर्भरता जागृत कर समाज के पुनर्गठन में अपना योगदान दे सकें। इन समाज कल्याण कार्यक्रमों द्वारा सामाजिक न्याय और सामाजिक सुरक्षा आदि के लिये प्रयास किया जाता है।

भारत सरकार द्वारा किए गए समाज कल्याण कार्य

सामाजिक नियोजन का उद्देश्य समाज कल्याण है। भारत में इस सम्बन्ध में एक लम्बे समय से प्रयास जारी है कि सामाजिक पुनर्निर्माण की दिशा क्या हो ? केन्द्रीय एवं राज्य सरकारें भी इस ओर विशेष प्रयत्नशील हैं। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये सन् 1953 में केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड की स्थापना की गई। 1965 में एक पृथक् समाज-कल्याण मन्त्रालय बनाया गया है। दोनों के समन्वित प्रयास से समाज कल्याण के लिये निम्नलिखित कार्य किए जा रहे हैं—

1. बाल-कल्याण— बाल कल्याण सबसे महत्वपूर्ण समाज-कल्यार्ण कार्य है। स्वतन्त्र भारत में सरकार द्वारा अनेक सामाजिक विधानों तथा कार्यक्रमों के द्वारा बाल-कल्याण के क्षेत्र में अत्यन्त सराहनीय कार्य किए गये हैं, जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं— पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में बालकों को पौष्टिक आहार प्रदान करने तथा संक्रामक बीमारियों से उनकी रक्षा करने व उनके स्वास्थ्य परीक्षण से सम्बन्धित कार्य हो रहे हैं जिससे सभी बालक स्वस्थ रह सकें । इसके लिये सरकार ने **बाल विकास सेवाएँ** (आई. सी.डी.एस.) प्रारम्भ की है। उस समय 1,605 **'समन्वित बाल विकास सेवाएँ'** सम्बन्धी कार्यक्रम देश में चल रहे हैं। सन् 1979 में भारत में **'राष्ट्रीय बाल कोष'** की भी स्थापना की गई है जिसका उद्देश्य बाल-कल्याण कार्यक्रमों की वृद्धि करना है। इस क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ कार्य करने वाले व्यक्ति को प्रशंसापत्र व 30,000 रुपए देने का प्रोत्साहन सरकार की ओर से दिये जाने का प्रावधान है, साथ ही संस्था को एक प्रशंसा-पत्र एवं 2 लाख रुपये की राष्ट्रीय पुरस्कार देने की व्यवस्था भी इस हेतु की गई है जिससे अधिकाधिक संख्या में बालको के उन्नयन के प्रयास किये जा सकें ।

'अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन' (आई.एल.ओ.) की प्रकाशित रिपोर्ट के आधार पर भारत में 1980 में 1 करोड 65 लाख बाल -श्रमिक थे। **कारखाना अधिनियम, 1948** में प्रावधान है कि 14 वर्ष से कम आयु के किसी बच्चे को कारखाने में काम पर न लगाया जाए। **'भारतीय खान नियम, 1952'** के अनुसार किसी भी 15 वर्ष से कम आयु के बालक को खानों में काम न करने दिया जाए। साथ ही 15 से 18 वर्ष के बालकों के लिए काम करने के घंटे, वेतन, छुट्टियाँ, स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाएँ, कार्य करने की दिशायें आदि भी निर्धारित की गई हैं, जिससे उनका स्वास्थ्य ठीक रहे तथा आर्थिक दृष्टि से उनकी प्रगति हो सके।

सरकार द्वारा प्राथमिक कक्षाओ के सभी बालकों को अनिवार्य नि शुल्क शिक्षा का प्रावधान किया जा रहा है जिसमे आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्ग भी अपने बालको को साक्षर बना सके। अनेक कार्यक्रम इस दृष्टि से समय-समय पर आयोजित किये जा रहे हैं। अनेक प्राथमिक स्तर की सम्थाएँ खोली जा रही है जिससे बौद्धिक दृष्टि से बालको का उन्नयन हो।

कल्याण के लिये छात्रावास एवं महिला मण्डल बनाए गये हैं। महिलाओं पर होने वाले अत्याचारों को रोकने की दृष्टि से अनेक प्रयास सरकारी स्तर पर किये जा रहे हैं। सन् 1975 का वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष के रूप में माना गया था जिसमें भारतवर्ष में भी अनेक कार्यक्रम महिलाओ की शिक्षा, आर्थिक व सामाजिक हितों की दृष्टि से आयोजित किये गये हैं। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में स्त्रियों के कल्याण कार्यक्रमों पर एक बड़ी राशि व्यय की जाती है। छठी योजना में 34.44 करोड़ रुपये महिला कल्याण कार्यक्रमों पर खर्च किये जाने का प्रावधान किया गया और सातवीं योजना मे इससे दोगुनी से भी अधिक मात्रा में राशि महिला विकास पर खर्च किये जाने का प्रावधान है। इस प्रकार महिलाओ के उन्नयन हेतु अनेक कार्यक्रमों की आयोजना नियोजित परिवर्तन के अन्तर्गत की जा रही है जिससे उनका शैक्षिक, सामाजिक तथा आर्थिक आदि दृष्टि से पूर्ण विकास हो सके।

सातवीं पंचवर्षीय योजना में महिला कल्याण पर 8,012.36 करोड़ रुपये व्यय किये जाने का प्रावधान है। 1986-87 में 'महिला विकास निगम' बनाये गये जिससे महिलाओं को अच्छे रोजगार उपलब्ध हो सकें। जनवरी 1992 में एक 'राष्ट्रीय महिला आयोग' गठित किया गया। जिसका उद्देश्य महिलाओ द्वारा सामाजिक-आर्थिक रूप से हो रहे अत्याचारों के विरोध में आवाज उठाना है। जरूरतमद महिलाओं को ऋण की सुविधा उपलब्ध कराने के उद्देश्य से एक 'राष्ट्रीय ऋण कोष' की स्थापना भी की जा रही है। इस प्रकार महिलाओं की स्थिति को सुधारने के लिये अनेक प्रयास किये जा रहे हैं।

3. अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं पिछड़े वर्गों का कल्याण– अनुसूचित जातियों, जनजातियो तथा पिछड़े वर्गो के कल्याण के लिये अनेक कार्य किये गये है। अनुसूचित जातियाँ व जनजातियाँ वे है जिनका नाम सविधान की अनुसूचि में दिया गया है और सरकार जिनके लिये विशेष सुविधाएँ प्रत्येक क्षेत्र में प्रदान कर रही है– पिछड़े वर्ग में वे लोग सम्मिलित हैं जो आज भी परम्परागत पेशा अपनाकर जीवन-यापन कर रहे हैं तथा अनेक सुविधाओं से आज भी वचित हैं। इनके लिये सरकार द्वारा हर क्षेत्र में सुविधाएँ दी जा रही हैं।

इन सभी के लिये शिक्षा व्यवस्था में विशेष सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। अखिल भारतीय आधार पर आयोजित की जाने वाली नियुक्तियों में अनुसूचित जाति, जनजाति के लिये 15 प्रतिशत स्थान और अन्य मे 16.66 व 7.5 स्थान क्रमशः सुरक्षित रखे गये हैं। अनेक छात्रवृत्तियाँ, छात्रावास सुविधा, नि.शुल्क पुस्तके आदि अनेक सहायता दी जाती है। आर्थिक दृष्टि से भी नौकरियों में आरक्षण, कृषि एव उद्योगों मे ऋण, भूमि वितरण, व्यावसायिक प्रशिक्षण आदि कार्यक्रम आयोजित किए जा रहे हैं। इनके लिये सभी योजनाओं मे पर्याप्त राशि व्यय की जा रही है। अब 1994-95 मे अनुसूचित जाति, जनजाति और पिछड़े वर्ग के कल्याण के लिये 982 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। इन वर्गों के लिये केन्द्रीय सरकार द्वारा 1993-94 में 58 करोड़ रुपये से बढ़ाकर 1994-95 में 76 करोड़ रुपये की सहायता की व्यवस्था की जा रही है। इन वर्गों के लिये खुली प्रतियोगिताओ एवं पदोन्नति में भी स्थान सुरक्षित किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त इन अनुसूचित जातियो व जनजातियों व पिछड़े वर्गों के लिये लोकसभा, विधानसभा, पंचायतों आदि मे स्थान सुरक्षित किए गए हैं। इस प्रकार सरकार द्वारा इनके उन्नयन के अनेकानेक प्रयास जारी हैं। लोकसभा के 543 स्थानों में से 79 अनुसूचित जातियो और 41 अनुसूचित जनजातियों के लिये स्थान सुरक्षित हैं। विधान सभाओं के 4047 स्थानों में से 557 स्थान अनुसूचित जाति और 527 अनुसूचित जनजाति के लिये सुरक्षित हैं। यह व्यवस्था सन् 2000 तक के लिये की गई है।

केन्द्र व राज्य स्तर पर सलाहकार समितियों का गठन इनके स्वास्थ्य, चिकित्सा, पीने के स्वच्छ पानी आदि की व्यवस्था के लिये किया गया है। सभी पंचवर्षीय योजनाओं में इन सभी के कल्याण के लिये अत्यधिक राशि व्यय की जाती है। केन्द्र सरकार अलग से सभी मदो पर राशि व्यय करती है। सातवीं पचवर्षीय योजना में इनके कल्याण के लिये 1,520.43 करोड़ रुपयो का प्रावधान किया गया है।

कुछ विशेष कार्यक्रम, जैसे— कुटीर-उद्योग एव कला-कौशल सिखाने के लिये बहुउदेशीय सहकारी समितियाँ व जनजातीय विकास खण्ड, जनजातीय अनुसधान संस्थान एव समन्वित जनजाति विकास जैसी योजनाएँ स्थापित की गई है, जिन पर अत्यधिक धनराशि व्यय की जा रही है जिससे इन वर्गों की आर्थिक व सामाजिक दृष्टि से उन्नति हो सके।

अनेक अधिनियम इनकी सुरक्षा की दृष्टि से पारित किये गये हैं, जैसे— 1955 मे अस्पृश्यता अधिनियम बनया गया। इन्हें गरीबी की रेखा से ऊँचा उठाने के लिये भी अनेक कार्य किये जा रहे हैं। अनेक केन्द्र, जैसे—'जनजातीय अनुसंधान केन्द्र', 'अनुसूचित जाति विकास' जैसे निगमों की स्थापना की गई है।

4. श्रम कल्याण— श्रमिकों की स्थिति भारत मे सदैव ही निम्न श्रेणी की रही है। पूँजीपति और मजदूर वर्ग के मध्य मतभेद सदैव दिखाई देता है। इसका कारण यह है कि मजदूर मेहनत करता है और लाभ मिलता है पूँजीपति को। इनका शोषण होता रहता है परिणाम है इनके स्तर में गिरावट। इस कारण सरकार का ध्यान इन लोगों की दशा को सुधारने के लिये गया। समय -समय पर अनेक अधिनियम बनाए गए व कल्याणकारी योजनाएँ बनीं, जिनसे श्रमिको को असुरक्षा, शोषण, कम आयु व कार्यकुशलता कमी आदि पर ध्यान दिया जा सके।

1948 में **फैक्ट्री एक्ट के अनुसार** 14 वर्ष की आयु कार्य करने के लिए निर्धारित कर दी और ट्रान्सपोर्ट वर्क्स एक्ट, 1961 ने 8 घंटे प्रतिदिन कार्य की व्यवस्था की। 1965 में बेकार व्यक्तियों के पंजीकरण की व्यवस्था की गई।

1956 में **'गन्दी बस्तियों से सम्बन्धित अधिनियम'** पारित हुआ जिसके आधार पर किसी क्षेत्र को मनुष्य के रहने के अयोग्य बताकर साफ कराया जा सकता है। 1970 मे **'ठेका मजदूरी अधिनियम'** बना जिसके अंतर्गत मजदूरी की अदायगी न होने पर मालिक को जिम्मेदार माना गया है।

1976 में **'औद्योगिक विवाद अधिनियम'** पारित हुआ जिसमे छुट्टी, तालाबंदी, आदि पर प्रतिबंध लगाए गये है।

1976 मे **समान पारिश्रमिक अधिनियम** पारित हुआ जिसके आधार पर स्त्री-पुरुष कर्मचारी समान वेतन के हकदार हैं।

1951 में **बागान श्रमिकों के लिये आवास, मनोरंजन, चिकित्सा एव शिक्षा सम्बन्धी नियम** निर्धारित किए गये।

बन्धुआ मजदूरों की दृष्टि से **20 सूत्री कार्यक्रम** के अन्तर्गत अनेक सुविधाओं की व्यवस्था की गई और श्रमिकों को कार्य मुक्त कर उनके पुनर्वास की व्यवस्था की गई। इसके अतिरिक्त ठेका मजदूरी अधिनियम, 1970; औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1952; कारखाना अधिनियम, 1948; आदि अनेक नियमों व उपनियमो के कार्य किए गये है। बोनस अधिनियम व श्रमकल्याण की

व्यवस्थाएँ भी की गई हैं। मोटर परिवहन मजदूरों एवं गोदी मजदूरों के हित के लिए अधिनियम बनाये गये हैं। राज्य सरकार अनेक श्रमकल्याण केन्द्रों की स्थापना करती है जिनके द्वारा मनोरंजन, शिक्षा, खेल और विभिन्न संस्कृति सम्बन्धी कार्यक्रमों के आयोजन समय-समय पर होते रहते हैं। अनेक योजनाओं में पर्याप्त राशि इन पर व्यय की जा रही है। सातवीं पंचवर्षीय योजना में श्रमकल्याण पर 332.72 करोड़ रुपये खर्च करने का प्रावधान किया गया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि श्रमिकों के कल्याण के लिए अनेकानेक सुविधाएँ सरकार द्वारा उपलब्ध कराई जाती हैं जिनसे आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक आदि दृष्टियों से इनकी उन्नति हो सके।

5. मद्य-निषेध– मद्य-पान बड़ी गम्भीर समस्या है, जिसमें अनेक व्यक्ति अपनी पारिवारिक व आर्थिक स्थिति को क्षीणतर बना लेते हैं। मद्यपान के अतिरिक्त निर्धनता, बेकारी, वेश्यावृत्ति व अपराध आदि भी व्यक्ति के जीवन को नर्कमय बना देते हैं। अत: इन सब पर रोक लगाने के लिये समय-समय पर प्रयास किए जाते रहे है। सरकार ने अनेक आयोगो का गठन किया है। सन् 1945 में **'नशा निषेध जाँच समिति'** गठित की गई। 1956 में एक प्रस्ताव पारित कर दूसरी योजना में *मद्य-निषेध को आवश्यक अंग बना दिया और 1975-76 तक मद्य-निषेध लागू करने की* सिफारिश की गई, जिसे विभिन्न चरणों में पूरा किया गया। अब सभी राज्यों, जैसे–पंजाब, हरियाणा, उत्तरप्रदेश, बिहार, हिमाचल प्रदेश आदि ने मद्य-निषेध को लागू किया है किन्तु इसमें अधिक सफलता अभी नहीं मिली है। इसका कारण है कि केवल अधिनियम बन जाने से ही कार्य नहीं होता, बल्कि इसके लिए एक समन्वित जनमत की आवश्यकता होती है। यद्यपि अनेक स्वयसेवी सस्थाएँ भी इस ओर प्रयासरत हैं। विद्यालय स्तर पर, रेडियो व टी.वी. पर भी इसके दुष्प्रभाव अनेक रूपो में बताए जाते हैं, समाज कल्याण मंत्रालय भी इसमें सहायता कर रहा है। सम्भव है भविष्य मे इन सब के प्रभाव से मद्य-निषेध लागू हो सके, लेकिन अभी तक तो इस ओर कोई अच्छा प्रभाव दिखाई नहीं दे रहा है।

6. राहत और पुनर्वास– भारत एक ऐसी मान्यता वाला देश है जहाँ अनेक बाह्य लोग समय-समय पर आते रहे और यहीं के अंग होते रहे– प्राचीन समय से यह परम्परा आज भी जीवित है। 1947 में भारत विभाजन के कारण करीब 90 लाख शरणार्थी यहाँ आए जिनको स्थापित करने की जिम्मेदारी यहाँ की सरकार ने ली। 1971 में भारत-पाकिस्तान युद्ध के कारण अनेक परिवारों को बसाने, रोजगार दिलाने का कार्य राजस्थान व गुजरात ने किया। बहुत बड़ी मात्रा में राशि इन पर व्यय की गई। श्रीलका से आए विस्थापितों को नागरिकता प्रदान करने के लिये प्रयास किए जा रहे हैं; उनके रहने, खाने व पुनर्वास की समरूप योजना बनाई गई है। इस प्रकार पुनर्वास कार्यक्रम के लिये बजट में भी करोड़ों रुपयों का प्रावधान रखा जाता है जिससे किसी भी अनाश्रित को अपना जीवन अर्थहीन न लगे।

7. प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम– भारत में शिक्षा का विकास 19वीं शताब्दी के बाद ईसाई मिशनरियों के परिणामस्वरूप हुआ। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व शिक्षा का प्रतिशत 7 था। स्वतंत्रता प्राप्ति के अनन्तर इस ओर अधिक ध्यान दिया गया। अनेक स्कूल, कॉलेज व विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई और यह तय किया गया कि अधिकाधिक व्यक्तियों को साक्षर बनाया जा सके। इस क्षेत्र में बालकों व बालिकाओं की साक्षरता का प्रतिशत तो कुछ बढ़ा है किन्तु प्रौढ़ वर्ग शिक्षा से अनभिज्ञ है। अत: प्रौढ़ो को साक्षर बनाने के लिए अनेक योजनाएँ प्रारम्भ की गई हैं। अनेक समाज शिक्षा केन्द्रो की स्थापना की गई है। चौथी पंचवर्षीय योजना से तो इस पर पर्याप्त राशि व्यय

की जा रही है और छठी योजना तक 10 करोड़ प्रौढ़ों को साक्षर बनाने का प्रयास किया गया है। इन पर 128 करोड़ रुपया खर्च करने का प्रावधान किया गया। सातवीं योजना में तो इसकी संख्या में और वृद्धि की गई जिसमें 360 करोड़ रुपये का प्रावधान है जिससे अधिकाधिक मात्रा में लोगों को साक्षर किया जा सके। इसके अतिरिक्त सामाजिक चेतना लाने की दृष्टि से भी अनेक कार्यक्रम सरकारी एवं गैर-सरकारी स्तर पर किए जा रहे हैं जिनका उद्देश्य व्यक्तियों को अपना अस्तित्व समझने, अपना जीवन विधिवत तरीके से व्यतीत करने का है। 1991 में 'राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा संस्थान' का गठन किया गया।

8. **स्वास्थ्य सुधार कार्यक्रम**— भारत में बीमारी एवं कुपोषण की समस्या गम्भीर रूप से है। लोगों को भोजन, निवास, चिकित्सा, मनोरंजन एवं शिक्षा आदि सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हैं जिससे असमय ही लोग दुर्बल, क्षीणकाय एवं वृद्ध दिखाई देने लगते हैं। स्वास्थ्य सुधार की दृष्टि से अनेक प्रयास सरकारी एवं गैरसरकारी अभिकरणों द्वारा किए जाते रहे हैं। पंचवर्षीय योजनाओं में इन पर पर्याप्त राशि व्यय की जाती रही है। मलेरिया, चेचक उन्मूलन, अन्धापन निवारण आदि के लिए निरन्तर प्रयास किए जा रहे हैं। सरकार कीटनाशक दवाइयाँ छिड़कने, कुओं के पानी की शुद्धि करने, वायु प्रदूषण रोकने, जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण करने, परिवार नियोजन को सफल बनाने तथा क्षय रोग जैसी बीमारियों पर नियंत्रण पाने के लिये विशेष ध्यान दे रही है। अन्धापन, कैंसर, गलगण्ड व बालकों की बीमारियों पर रोक भी लगी है और परिणामस्वरूप औसत आयु में वृद्धि हुई है। जन्मदर बढ़ी है व मृत्युदर में कमी हुई है। सातवीं योजना में स्वास्थ्य पर 3,392,89 करोड़ रुपये व्यय करने का प्रावधान है। गैर-सरकारी प्रयासों से भी इसमें सहायता मिली है। स्थान-स्थान पर मुफ्त दवाएँ वितरित करना, कैम्प लगवाना, जलपूर्ति व सफाई पर ध्यान देने से इसमें सफलता भी मिली है।

9. **असहायों का कल्याण**— ऐसे व्यक्ति जो शारीरिक अथवा मानसिक रूप से अस्वस्थ हैं उनके लिए गैर-सरकारी एवं सरकारी स्तर पर कार्य किए जाते रहे हैं जिससे समाज में वे अपने अस्तित्व को बनाए रख सकें। इस दृष्टि से राष्ट्रीय सलाहकार समिति की स्थापना की गई है जो शारीरिक व मानसिक दृष्टि से अक्षम लोगों को प्रशिक्षित कर उन्हें अपने पैरों पर खड़े होने योग्य बना सके। अनेक स्कूल अन्धे, गूंगे व बहरे लोगों के लिये खोले गए हैं। 12 अक्टूबर, 1977 से इंजन-चालित वाहनों को कर-मुक्त कर दिया गया है, जिनके मालिक अपंग हों तथा पैट्रोल व डीजल भी उन्हें आधी कीमत में उपलब्ध कराया जाता है।

देहरादून, बम्बई व कलकत्ता आदि स्थानों पर बड़े-बड़े स्कूलों की स्थापना की गई है जहाँ अपंग, गूंगे, बहरे व अन्धे व्यक्तियों को उचित प्रशिक्षण देकर संरक्षण प्रदान किया जाता है। जिससे आर्थिक दृष्टि से समृद्ध होकर ये लोग स्वतंत्र जीवन-यापन कर सकें। इस समय अन्धों को प्रशिक्षण देने के लिये ही 200 स्कूल खोले जा चुके हैं। बहरे लोगों के लिये 'नेशनल सेन्टर फॉर द डैफ' हैदराबाद में खोला गया है। देहली में दो केन्द्र हड्डियों में विकृति वाले व्यक्तियों के लिये तथा एक संस्थान कुष्ठ रोगियों के इलाज के लिये स्थापित है। मानसिक दृष्टि से क्षीण लोगों के प्रशिक्षण के लिए भी एक स्कूल दिल्ली में खोला जा चुका है।

सरकार ने वृद्धावस्था पेंशन की योजना निराश्रितों के लिए प्रारम्भ की है। प्रतिवर्ष अनेक पुरस्कारों की आयोजना विकलांगों के लिए की जाती है। योजना में इन मदों पर पर्याप्त मात्रा में राशि खर्च की जाती है। सन् 1982-83 में 'जिला पुनर्वास केन्द्रों' की स्थापना ग्रामीण विकलांगों के

पुनर्वास हेतु की जा चुकी है। सन् 1983-84 का वर्ष 'राष्ट्रीय विकलांग वर्ष' के रूप में मनाया गया था जिसमें अनेक कल्याणकारी कार्य किये गये। इस प्रकार मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ एवं शारीरिक रूप से असमर्थ व्यक्तियों को उचित दिशा प्रदान कर उन्हें संतुलित करने के प्रयास अनवरत किए जा रहे हैं जिससे उत्पादक कार्यों में भाग लेकर ये लोग सामाजिक प्रगति में योगदान दे सकें।

10. अन्य कल्याण कार्यक्रम– उपर्युक्त कार्यक्रमों के अतिरिक्त अन्य कार्यक्रमो का आयोजन भी सरकार द्वारा किया जा रहा है जिसका उद्देश्य समाज के प्रत्येक वर्ग को सुरक्षा प्रदान करना है। मद्य-पान, जुआखोरी, आत्महत्या, और नशीले पदार्थों पर रोक लगाने की दृष्टि से 1975 में 'राष्ट्रीय सामाजिक सुरक्षा संस्थान' बनाया गया।

वन्य जातियों, जो अपराधी है उनके उन्नयन के लिये भारत सरकार द्वारा 'क्रिमिनल ट्राइब एक्ट' बनाया गया, जिसमें अपराधी व्यक्तियों को वे सभी मूल अधिकार प्राप्त हैं जो सामान्य नागरिको को हैं।

अपराधियों के लिये आदर्श जेलो की व्यवस्था है व उन्हे विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक प्रशिक्षण देने की भी व्यवस्था की जाती है। प्रोबेशन व पैरोल जैसी सेवाएँ उनकी अपराधी प्रवृत्ति की मुक्ति के लिए दी जाती हैं। बाल अपराधियों एवं महिला अपराधियों के लिये– (i) सर्टिफाइड स्कूल, (ii) बाल-अपराधी न्यायालय तथा, (iii) बच्चो के लिए शिक्षा-व्यवस्था व प्रशिक्षण की सुविधा उपलब्ध कराई जाती है। स्त्री अपराधियों के लिये अलग जेल की व्यवस्था है।

भिक्षावृत्ति अधिनियम एवं कई स्थानो पर 'रैन बसेरा' व 'बैगर होम' की सुविधा भिक्षावृत्ति उन्मूलन की दृष्टि से की गई है।

वेश्यावृत्ति को रोकने की दृष्टि से भी 1956 मे अधिनियम पारित किया गया है, जिसमे स्त्रियों का 'अनैतिक व्यापार' रोकने का प्रयास किया गया है। इसके अतिरिक्त 'राष्ट्रीय सामाजिक सुरक्षा संस्थान' 1975 मे स्थापित किया गया है जिससे आत्महत्या व नशीले पदार्थों आदि पर रोक लगाई जा सके।

भारत सरकार द्वारा समाज-कल्याणार्थ अनेक क्षेत्रो में कार्य किए जाते हैं जिससे भारत में नियोजित परिवर्तन की दिशा स्पष्ट हो सके। इन समाज-कल्याण कार्यक्रमों के माध्यम से देश मे अनेक सामाजिक परिवर्तन हुए हैं। विभिन्न पचवर्षीय योजनाओं में इन समाज कल्याण कार्यक्रमो के कल्याणार्थ पर्याप्त राशि व्यय की गई है। इनका हमारे देश पर अच्छा प्रभाव पड़ा है। गरीबी और पिछड़ेपन से जूझ रहे उपेक्षित वर्गों को विषमताओं से मुकाबला करने के लिये अनेक कल्याणकारी योजनाएँ प्रारम्भ की गई है। शिक्षा का प्रसार सर्वत्र हो गया है। नगरीकरण और औद्योगीकरण के प्रभाव के परिणामस्वरूप देश आधुनिकीकरण की ओर बढ़ रहा है, अनेक कल-कारखाने स्थापित हुए हैं, जातीय बधनो मे शिथिलता आई है। परिवार पर भी इसका प्रभाव पड़ा है– सयुक्त परिवार टूट कर एकाकी परिवारो का निर्माण हुआ है, विवाह मे अब जीवन-साथी के चयन की स्वतन्त्रता हो गई है। विधवा-पुनर्विवाह, अतर्जातीय विवाह का प्रचलन बढ़ा है। स्त्रियाँ घर की चारदीवारी से बाहर निकलकर व्यवसाय के क्षेत्र में अग्रसर हो रही हैं। यही नही विकास का प्रभाव अनुसूचित जाति-जनजाति और पिछड़े वर्गों पर भी पड़ा है। अब ये लोग शिक्षा ग्रहण करने लगे हैं और इससे इनमे अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता बढ़ी है। सामाजिक और राजनैतिक विकास के परिणाम-स्वरूप वे अब सत्ता मे आने लगे है, उनमें नेतृत्व की चेतना जगी

है। स्थिति अब प्रदत्त के स्थान पर अर्जित हो गई है अर्थात् संस्तरणात्मक-व्यवस्था का वर्चस्व बढ़ा है।

इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन की दिशा में अनेकानेक उल्लेखनीय कार्य हुये हैं किंतु इसके उपरान्त भी यह कहा जा सकता है कि कमजोर वर्गों के उन्नयन के लिये अभी पर्याप्त कार्य करना शेष है क्योंकि सरकारी और गैर-सरकारी प्रयासो का जो लाभ इन्हें मिलना चाहिये था वह मिला नही है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि उपेक्षित वर्गो में व्याप्त विषमताओं को दूर करने के लिये कारगर प्रयास किये जाएँ।

प्रश्न

1. सामाजिक नियोजन से आप क्या समझते है। क्या सामाजिक परिवर्तन के लिये सामाजिक नियोजन आवश्यक है ?
2. सामाजिक कल्याण का अर्थ बताते हुये अनुसूचित जातियो के कल्याणार्थ किये गये प्रयासों पर विचार स्पष्ट कीजिये।
3. सातवीं पंचवर्षीय योजना पर प्रकाश डालिये।
4. 'पंचवर्षीय योजना और सामाजिक परिवर्तन' पर विस्तार से प्रकाश डालिए।
5. भारत में विभिन्न क्षेत्रों में नियोजन की आवश्यकता को स्पष्ट कीजिये।
6. 'भारत में पचवर्षीय योजनाएँ' विषय पर निबन्ध लिखिए।
7. 'महिला कल्याण' पर प्रकाश डालिये।
8. अनुसूचित जातियों -जनजातियों के कल्याणार्थ किये गये प्रयासो का उल्लेख कीजिये।
9. श्रम-कल्याण पर विस्तार से प्रकाश डालिये।
10. आठवीं पंचवर्षीय योजना का उल्लेख कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नलिखित वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :-
   - (i) प्रथम पंचवर्षीय योजना सन् ....में शुरू की गई ।
   - (ii) 15 मार्च, 1950 को जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में ....की स्थापना की गई।
   - (iii) दुर्गाबाई देशमुख की अध्यक्षता में एक . ...की स्थापना की गई।
   - (iv) तृतीय पंचवर्षीय योजना और चतुर्थ पचवर्षीय योजना के मध्य के काल को ....कहते हैं।
   - (v) पाँचवीं पंचवर्षीय योजना सन् . . से सन् ... .तक चली ।
   - (vi) 1990-91 और 1991-92 के दो वर्षों के अन्तराल को .. . . ..माना गया।
   - (vii) सन् 1953 में ....की स्थापना की गई है ।
   - (viii) राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन जनवरी . . . . . . में किया गया ।
   - (ix) आठवीं पंचवर्षीय योजना सन् . . .. .मे प्रारम्भ हुई ।

(x) तृतीय पंचवर्षीय योजना में कुल .... करोड़ रुपये खर्च किये गये।

[उत्तर - (i) 1951 , (ii) राष्ट्रीय योजना आयोग, (iii) समाज कल्याण बोर्ड (iv) योजना अवकाश, (v)1974 से 1979 तक, (vi) वार्षिक योजना काल, (vii) केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, (vii) 1992, (ix) 1992 (x) 8,576 करोड़]

109908

2. निम्नांकित के सही जोड़े बनाइये –

(1) ठेका मज़दूरी अधिनियम	(A) 1956
(2) गन्दी बस्तियों से सम्बन्धित अधिनियम	(B) 1829
(3) नशा निषेध जाँच समिति	(C) 1975
(4) सती निरोधक अधिनियम	(D) 1945
(5) अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष	(E) 1970

[उत्तर- 1 (E), 2 (A), 3 (D), 4 (B), 5 (C)]

3. निम्नलिखित वाक्यों में सत्य और असत्य वाक्यों का चयन कीजिये –

(i) अस्पृश्यता अधिनियम सन् 1955 में बनाया गया।

(ii) भारत की पाँचवीं पंचवर्षीय योजना 1976 में प्रारम्भ हुई।

(iii) आठवीं पंचवर्षीय योजना 1992 में शुरू हुई ।

(iv) सर्वाधिक महिला साक्षरता दर केरल में है ।

(v) 'राष्ट्रीय बाल कोष' की स्थापना का उद्देश्य महिलाओं का उत्थान करना है ।

[उत्तर - सत्य (i), (iii), (iv) तथा असत्य (ii) ,(v)]

4. निम्नलिखित में से कौनसे कार्य 'समाज कल्याण' के अन्तर्गत सम्मिलित किये जायेंगे ?

(i) गरीबी-उन्मूलन करना।

(ii) राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन ।

(iii) खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता का लक्ष्य।

(iv) अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ।

(v) बाल विकास सेवाओं का गठन।

[उत्तर (ii), (iv), (v)]

अतिलघु-उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए–

(1) मद्य -निषेध।

(2) प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम।

(3) योजना की छुट्टी का काल ।

(4) चौथी पंचवर्षीय योजना ।

(5) स्वास्थ्य सुधार कार्यक्रम।

□□□